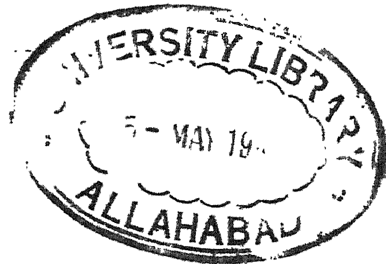
सत्यामृत

[मानव-धर्मशास्त्र]

[व्यवहार कांड]



प्रणेता

स्वामी सत्यभक्त

सत्याश्रम वर्धा

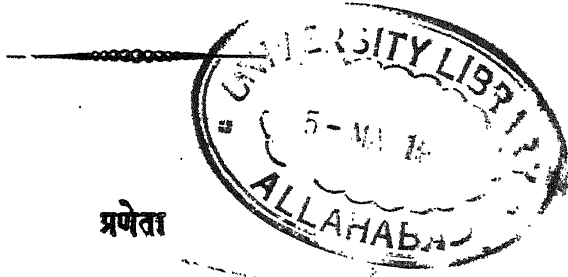
११९३५ इ० सं०

मूल्य पांच रुपया

सत्यामृत

[मानव-धर्मशास्त्र]

[व्यवहार कांड]



प्रणेता

स्वामी सत्यभक्त

सत्याश्रम वर्धा

११९४५ इ० सं०

मूल्य पांच रुपया

प्रकाशक के दो शब्द

सत्यामृत का व्यवहारकांड पाठकों की सेवा में समर्पित करते हुए मेरे आनन्द का पारावार नहीं है। जब मैं स्वामी सत्यभक्तजी की सेवा में रहने के लिये सपरिवार वर्धा आया तब मैंने उन से निवेदन किया था कि सत्यामृत के दो काण्ड तो बन गये हैं, अब तीसरा व्यवहार कांड भी बन जाना चाहिये। और तभी से सत्यामृत का व्यवहारकांड बनना शुरु हुआ और वह धीरे धीरे छपता भी रहा। पर स्वामी जी के ऊपर कार्य का बोझ अधिक होने से तथा प्रेस कागज आदि की कठिनाइयों से छपाई की प्रगति बहुत मन्द रही। छपाई में तीन साल से भी ऊपर लग गये। जब थोड़ा सा ही काम रह गया था तब घोषित कर दिया गया था कि दिसम्बर ४४ में व्यवहारकांड प्रकाशित हो जायगा पर तब भी न हो पाया। पर यह प्रसन्नता की बात है कि देर सबेर यह ग्रन्थरत्न प्रकाशित हो रहा है। बीच में कागज की ऐसी कठिनाई बढ़ गई थी कि कुछ समय तक इसमें हाथ का कागज लगता रहा। पर पीछे कागज कुछ मिल गया इसलिये फिर मील का कागज लगाया गया। कागज की भयंकर महँगाई, प्रेसों के बढ़े हुए खर्च और चार्ज के कारण व्यवहार कांड की कीमत कुछ अधिक रखना पड़ी है पर पाठक ग्रन्थ की उपयोगिता और भारतव्यापी महँगाई का खयाल कर दरगुजर करेंगे।

सत्यामृत या मानवधर्मशास्त्र आज के लिये परिपूर्ण धर्मशास्त्र है। वेद कुरान पिटक आदि की महत्ता का सन्मान रखते हुए मैं यह कह सकता हूं कि सत्यामृत उन सब का काफी विकसित रूप है। जो कि पुरानी किताबों को पढ़कर नहीं किन्तु जीती जागती दुनिया को पढ़कर बनाया गया है।

पाठकों को इसमें मानव जीवन की समस्याओं का अच्छी तरह समाधान मिलेगा। आत्म-परीक्षण जगन्निरीक्षण के साथ कर्तव्यपथ का स्पष्ट निर्देश मिलेगा, घर की छोटी छोटी बातों से लेकर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं तक का पूरा समाधान मिलेगा। मानव जीवन के कर्तव्य को समझने के लिये आध्यात्मिक सामाजिक, राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय राजनैतिक, सेवा के क्षेत्र में पथ प्रदर्शन के लिये इस ग्रन्थ रत्न का स्वाध्याय करना जरूरी है।

रघुनन्दन प्रसाद विनीत

प्रकाशक
रघुनन्दन प्रसाद विनीत
मंत्री-सत्याश्रम

मुद्रक
विज्ञानचन्द्र
मैनेजर--सत्येश्वर प्रेस

सत्याश्रम वर्धा

विषय-सूची

पहिला अध्याय
मनुष्य के दो अंग

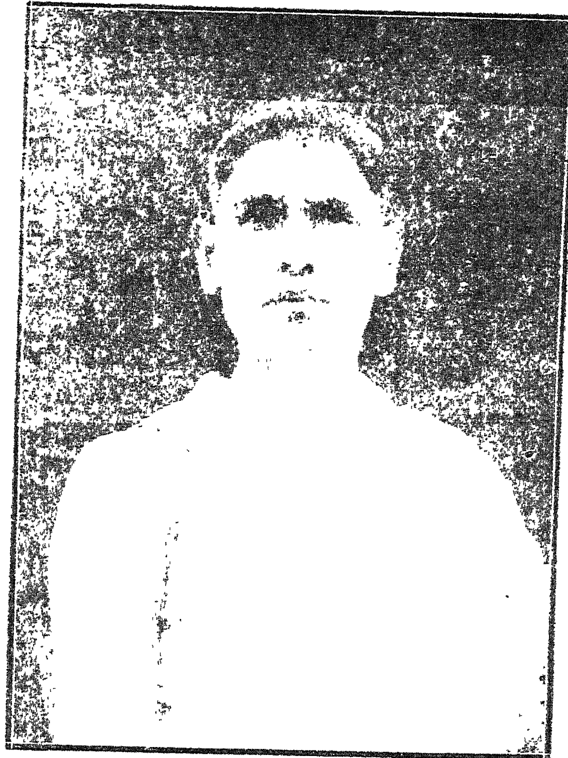
दूसरा अध्याय
कुटुम्ब

तीसरा अध्याय
समाज

चौथा अध्याय
संस्थाएँ

स्वामी सत्यभक्त

सत्यसमाज-- संस्थापक



सत्यामृत-- प्रणेता

मैं इसी दुनिया में एक ऐसे नये संसार के दर्शन करना चाहता हूँ जिसमें न साम्राज्यवाद हो न पूँजीवाद, न धर्म के झगड़े हों न जाति के, न धन की महत्ता हो न पशुबल की; सारी दुनिया का एक राष्ट्र हो, मनुष्यमात्र की एक जाति हो, नर-नारी का अधिकार और मान समान हो, सत्य ही ईश्वर हो, विवेक ही शास्त्र हो, विज्ञान और धर्म परस्पर पूरक हों, सदाचार या ईमानदारी लोगों का स्वभाव हो, एक का दुःख सबका दुःख हो, सारे विश्व का एक कुटुम्ब हो एक की जायदाद सब की जायदाद हो, कोई गरीब न हो। सत्यसमाज के द्वारा मैं ऐसे ही नये संसार की तरफ इस संसार को ले जाना चाहता हूँ सत्यामृत में ऐसे ही नये संसार का सन्देश है। नये संसार का निर्माण कर सत्यसमाज को विलीन हो जाना है और सत्यामृत को अजायबघर में बैठ जाना है।

—सत्यभक्त

सत्यामृत

[मा न व–ध र्म–शा स्त्र]

व्यवहार-कांड

प्रास्ताविक

व्यवहार आचार का ही एक अंग है। न व्यवहारहीन आचार को बनाया जा सकता है न आचारहीन व्यवहार को। दोनों का करीब एक ही अर्थ है; फिर भी यहां दोनों में कुछ मात्रा का अन्तर मान लिया गया है। आचार में संयम आदि भीतरी बातों पर विशेष जोर है और बाहरी पर कम, और व्यवहार में बाहरी बातों पर अधिक जोर है और भीतरी पर कम। व्यवहार की अपेक्षा आचार व्यक्तिनिष्ठ अधिक है। जब कि व्यवहार में लोगों के परस्पर सम्बन्ध पर अधिक जोर दिया जाता है। इस दृष्टि से व्यवहार आचार की अपेक्षा अधिक परिवर्तनीय है।

"आचार-कांड,, में कुछ स्थायी नैतिक तत्त्वों का विवेचन किया गया है। उनके बाहरी रूपों में परिवर्तन की आवश्यकता बहुत कम होगी और लम्बे अर्से में होगी। "व्यवहार-कांड" में कुछ तो ऐसी बातों का विवेचन करना है जो आचार कांड में कहने से रह गई हैं और कुछ ऐसी बातों का विवेचन करना है जिनसे मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्ध के तरीके मालूम हों; इस प्रकार 'व्यवहार-कांड' 'आचार-कांड' का पूरक और उसको और अधिक स्पष्ट-साफ़ करनेवाला है।

जिस समय आचार और व्यवहार में हमें विरोध दिखाई दे उस समय हमें चाहिये कि हम व्यवहार को आचार के अनुकूल बना लें बदल लें। इसका परिणाम यह होगा कि हम में रूढ़ि मूढ़ता न रहेगी। इस रूढ़ि मूढ़ता के कारण समझदार कहलाने वाला आदमी भी इतना नासमझ और अनुदार हो जाता है कि वह मनुष्यों के ही साथ भाईचारा नहीं निभा सकता। अपने ही व्यवहार को वह ध्रुव सत्य या पूर्ण सत्य समझ बैठता है, इसलिये आवश्यक है कि व्यवहार की कसौटी आचार और आचार की कसौटी लोक-कल्याण और सत्य-दृष्टि मानी जाय। व्यवहार के नियमों पर पुनर्विचार करने के लिये हर बारहवें वर्ष या हर बीसवें वर्ष एक जनसभा का आयोजन होना चाहिये। खैर,

एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से जो सम्बन्ध है उसीसे व्यवहार पैदा होता है। सबसे निकट दो व्यक्ति हैं नर और नारी, इसलिये इन्हीं के सम्बन्ध से व्यवहार-कांड का प्रारम्भ किया जाता है।

व्यवहार कांड (पहिला अध्याय)

मनुष्य के दो अंग

इस पृथ्वीतल पर जब से प्राणिसृष्टि हुई तभी से प्रत्येक प्राणी के नर और मादा के रूप में दो अंग हैं। प्राणिशास्त्र के अनुसार ये दोनों अंग पहिले एक ही शरीर में थे, प्राणी का विकास होने पर ये अलग अलग हो गये। अलग अलग तो हो गये, पर इनमें परस्पर का आकर्षण बना ही रहा और यही आकर्षण हुआ--सृष्टि का मूल और संसार का परमानन्द। इसलिये कहना चाहिये कि नर और मादा, पुरुष और स्त्री मिलकर पूरा प्राणी बनते हैं; अकेले अकेले दोनों अधूरे हैं।

तपस्या के विशेष अवसरों को छोड़कर बाकी अवसरों पर दोनों का सम्मिलित जीवन ही उचित और आदर्श-जीवन है। दोनों में अपनी अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो एक दूसरे की पूरक हैं। इसलिये साधारणतः दोनों का मिलकर रहना ही उचित है।

यह मिलन दो तरह का होता है एक सकाम मिलन दूसरा अकाम-मिलन। सकाम मिलन में काम-वासना की तृप्ति का भी समावेश होता है। यह जरूरी नहीं कि काम-वासना ही हो या वही मुख्य हो, कहना यही है कि सकाम मिलन में किसी न किसी अंश में वह भी होती है। तन मन वचन में, या तन का अवसर न हो तो आशा स्मरण आदि रूप में मन में ही होती है। अकाम-मिलन में काम-वासना नहीं होती; फिर भी आकर्षण होता है। जैसे बहिन-भाई में, माता-पुत्र में, पिता-पुत्री में।

सकाम-मिलन छः तरह का होता है। १ व्यभिचार, २ उपयोग-मिलन, ३ सन्तान-मिलन, ४- सहयोग-मिलन, ५ जीवन-मिलन, ६ उपयोग मिलन।

१ व्यभिचार--स्त्री-पुरुष का जो मिलन सामाजिक मर्यादा को तोड़कर सिर्फ सम्भोग क्रिया के लिये होता है, वह व्यभिचार है। इस में पुरुष को सन्तान आदि की जिम्मेदारी से कोई मतलब नहीं होता। साधारणतः सामाजिक जीवन के लिये यह मिलन खतरनाक है। इससे नारी के साथ अन्याय होता है और उस अन्याय का फल सन्तान को भी भोगना पड़ता है और सन्तान में तो नर और नारी दोनों होते हैं इसलिये अन्त में उससे सारे समाज की हानि होती है। साथ ही इससे गार्हस्थ जीवन भी बर्बाद हो जाता है। समाज में बड़ी अव्यवस्था फैलती है।

२ उपयोग मिलन—जो मिलन अस्थायी

है, पर जिसमें सामाजिक-रिवाज के कारण सन्तान सम्बन्धी जिम्मेदारी सम्हालने की ज़रूरत नहीं है बल्कि सामाजिक परिस्थिति ने जिसे किसी तरह उपयोगी बना दिया है वह उपयोग मिलन है। नियोग की प्रथा इसी प्रकार का मिलन है। उपयोग मिलन के पाँच भेद हैं—क—नियोग, ख—काम मिलन ग—आतिथ्य मिलन घ—अर्थ मिलन, ङ—रूढ़ि मिलन।

[क] नियोग—जब किसी वंश में कोई सन्तति नहीं होती और वंश चलाना ज़रूरी हो जाता है तब वधू के गर्भाधान के लिये किसी पुरुष को नियुक्त करना नियोग है। जैसा कि धृतराष्ट्र, पांडु और विदुर की माताओं के लिये व्यास का नियोग किया गया था। यह कामुकता का फल नहीं है इससे यह व्यभिचार-रूप नहीं कहा जा सकता, इसमें सन्तान की जिम्मदारी भी नियुक्त पुरुष की नहीं होती जिससे सन्तान मिलन कहा जाय, सन्तान की जिम्मेदारी पहिले से ही किसी व्यक्ति या कुटुम्ब की रहती है इसलिये नियुक्त पुरुष को इसकी जिम्मेदारी सम्हालने की ज़रूरत नहीं है। यह प्रथा समाज के लिये बहुत ज़रूरी तो नहीं है फिर भी कभी कुछ न कुछ उपयोग है, इसलिये यह उपयोग-मिलन का अंग है। पहिले एक ही तरह का नियोग माना जाता था, पर अब व्यापक विचार करने पर तीन तरह का कहना चाहिये--[१] वंशनियोग, [२] अबन्धननियोग, [३] आपन्नियोग।

[१] वंश नियोग—वंश की रक्षा के लिये जो नियोग किया जाता है वह वंश नियोग है, जैसे धृतराष्ट्र, पांडु आदि की माताओं के लिये वंशरक्षार्थ किया गया था।

[२] अबन्धन नियोग—समाज में पति-पत्नी के अधिकारों में काफ़ी विषमता है। कानून ने भी उस विषमता पर छाप लगा रक्खी है, नारी के लिये दाम्पत्य-जीवन बन्धन रूप बन गया है, इस बन्धन से उसकी स्वतन्त्रता को धक्का लगता है। वह सन्तान के लिये वह कष्ट उठाती है पर उसका मालिक पुरुष हो जाता है, ये सब बातें अगर किसी नारी को असह्य हैं, जब तक नारी के अधिकार उचित रूप में नहीं माने जाते और व्यवहार में नहीं आते तब तक वह विवाह करने को राजी नहीं है, पर सन्तान आदि की इच्छा है और उस जिम्मेदारी को उठाने की आर्थिक आदि सभी क्षमता भी उसमें है इसलिये वह किसी ऐसे पुरुष को नियुक्त करती है जो किसी दूसरी स्त्री का पति नहीं है तो उसका यह अबन्धन-नियोग कहलायगा।

मतलब यह कि नारी को दाम्पत्य जीवन सम्बन्धी स्वतंत्रता या योग्य अधिकारों के रक्षण के लिये जो अविवाहित जीवन बिताना पड़े और उसमें जो नियोग करना पड़े, वह अबन्धन नियोग है। इसमें व्यभिचार के समान हिंसा, झूठ, चोरी कुछ नहीं है इसलिये इसे व्यभिचार नहीं कह सकते। कुछ अंशमें सामाजिक प्रथा का भंग है, पर उस प्रथा के साथ रहनेवाली अनैतिकता या अन्याय को दूर करने के लिये उस प्रथा का भंग किया जाता है इसलिये प्रथाभंग होने पर भी उसे व्यभिचार नहीं कह सकते। यह नियोग बन्धन दूर करने के लिये किया जाता है इसलिये इसे अबन्धन नियोग कहना चाहिये।

[३] आपन्नियोग—विवाह के मार्ग में अनेक अनिवार्य संकटों के आने पर और कौमार्य जीवन बिताने में अक्षम होनेपर जो नियोग किया

जाय वह आपन्नियोग है।

बहुतसी जातियों में या प्रान्तों में यह रिवाज होता है कि लड़की का अभिभावक अगर हजारों रुपया वर को दे तभी योग्य वर मिल सकता है। इस कुप्रथा के कारण अच्छी से अच्छी लड़कियों की शादी नहीं हो पाती, इससे बहुत से माँ-बाप आत्महत्या कर लेते हैं, बहुत-सी लड़कियाँ जिन्दी जल मरतीं हैं अथवा माँ-बाप कंगाल हो जाते हैं अथवा लड़कियों की शादी बिलकुल अपात्र वरों के साथ करना पड़ती है, जिससे उनका जीवन नरक बन जाता है। इस संकट से सब बचना चाहते हैं पर, जब जो वर पक्ष में होता है तब वह इस निर्दय दहेज के प्रलोभन को नहीं जीत पाता। अगर लड़कीवाला इस कुप्रथा के विरोध में खड़ा होना चाहे तो उसकी लड़की बहुत वर्षों तक कदाचित जीवनभर अविवाहित रहे, यह सम्भावना पूरी है। इस कुप्रथा का विरोध करने के लिये अगर किसी लड़की को अविवाहित रहना ज़रूरी मालूम हो और सन्तान के लिये या कामवासना न जीतने के कारण वह नियोग करे तो वह आपन्नियोग कहलायगा। पर नियोग ऐसे पुरुष के साथ होना चाहिये जो किसी दूसरी स्त्री का पति न हो। उचित तो यही है कि जिस पुरुष से नियोग किया जाय उसीसे शादी कर ली जाय। पर हो सकता है कि उसमें दाम्पत्य-जीवन के लायक आर्थिक क्षमता न हो, चञ्चलचित्त होने से दाम्पत्य की स्थिरता न हो, दाम्पत्य के लायक स्थायी प्रेम न हो, या उस कुमारी का पति बनने लायक सब गुण न हों, तब वहाँ नियोग किया जा सकता है।

प्रश्न--जैसे वर-विक्रय दहेज आदि की कुप्रथा के कारण कन्या को नियोग करना पड़ सकता है, उसी प्रकार अगर कहीं कन्या-विक्रय आदि की कुप्रथा हो और उसके कारण पुरुष के लिये वे ही संकट हों जो कन्या के लिये कहे गये हैं, तो क्या वह भी नियोग करे?

उत्तर--पुरुष हो या स्त्री, दोनों के लिये नियोग की सुविधा समान रूप से दी जा सकती है। पर दोनों को इसके पहिले यह ज़रूरी है कि वह प्रान्तीय और जातीय बन्धन तोड़कर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश कर ले। फिर भी अगर विवाह न हो तो आपन्नियोग किया जा सकता है। पर इस नियोग में भी दो बातें होंगी। पहिली यह कि यह कार्य छिपकर न किया जाय, झूठ या चोरी का दोष न लगे। दूसरी बात यह कि ऐसे व्यक्ति से नियोग किया जाय जो दाम्पत्य बन्धन में न बँधा हो।

ये तीनों प्रकार के नियोग आपद्धर्म हैं, समाज की स्थायी व्यवस्था के लिये उपयोगी नहीं हैं।

प्रश्न--नियोग का इस प्रकार विधान कर देने पर क्या यह सम्भव नहीं है कि अधिकांश स्त्री पुरुष विवाह के बन्धन में बँधना ही न चाहें और दाम्पत्य के योग्य सम्बन्ध न मिलने के बहाने से सब नियोगी हो जायँ। इससे तो दाम्पत्य जीवन ही उठ जायगा।

उत्तर--दाम्पत्य का बन्धन व्यक्ति और समाज दोनों के लिये सुखकर, शान्तिकर और निराकुलता देनेवाला है, इसलिये इने गिने व्यक्ति ही नियोग का उपयोग कर सकते हैं और अगर जिम्मेदारी से बचने के लिये बहुतों ने ऐसा किया तो उन्हें भी मालूम हो जायगा कि जैसे वे

दूसरों की जिम्मेदारी से बचे हैं दूसरे भी उन की जिम्मेदारी से बचे हैं, इस प्रकार उनने अपने जीवन को असहाय और बेबुनियाद बना लिया है। यह अनुभव समाज में नियोगी व्यक्तियों की संख्या न बढ़ने देगा। अगर कभी ऐसा हो भी जाय तो उस समय हमें समाज की या सरकार की रचना ही बदल देना पड़ेगी। राज्य में पैदा होनेवाली सभी सन्तानों के पालन की जिम्मेदारी सरकार या समाज को अपने हाथ में ले लेना पड़ेगी। अगर यह न होगा तो नियोग राजमार्ग न बनेगा, वह आपद्धर्म के रूप में कहीं कभी ही दिखाई देगा।

[ख] **काम मिलन** —विवाह की प्रथा न होने पर और सन्तान का प्रश्न किसी दूसरे तरीके से हल हो जाने पर काम-वासना की तृप्ति के लिये जो स्त्री-पुरुष का मिलन है वह काम-मिलन है। अगर कोई ऐसी शासन पद्धति हो जाय, जिसमें राज्य में पैदा होनेवाली हर एक सन्तान के पालन-पोषण की जिम्मेदारी सरकार के हाथ में हो या और किसी संस्था के हाथ में हो, तो काम मिलन होगा। जैसे आर्यों में सतयुग में यह प्रथा थी कि उस समय स्त्रियाँ बिलकुल स्वतंत्र रहती थीं, विवाह की प्रथा ही न थी। उद्दालक ऋषि ने यह प्रथा चलाई। ऐसी हालत में इस कार्य को व्यभिचार नहीं कह सकते। यह सिर्फ काम-मिलन कहा जा सकता है।

[ग] **आतिथ्यमिलन** — अतिथि सत्कार के लिये ही जहाँ स्त्री-पुरुष का मिलन हो उसे आतिथ्य-मिलन कहते हैं। जैसे चिचनूक, चुकची, कमैस्केडल, अलीढस आदि जातियों में ऐसा रिवाज है कि जब कोई मेहमान उनके घर आता है तब वे अपनी बेटी या पत्नी सहवास के लिये उपस्थित कर देते हैं। यह प्रथा अच्छी नहीं है फिर भी इसे व्यभिचार नहीं कह सकते। यह अपने देशकाल का शिष्टाचार है, जिससे स्त्री-पुरुष में न तो चोरी का भाव आता है न उन्हें या उनके कुटुम्बियों को, पिता और पति को भी अप्रिय मालूम होता है। यह किसी खास देश-काल में शिष्टाचार या आतिथ्य के लिये उपयोगी मिलन है। निःसन्देह यह प्रथा अच्छी नहीं है दुनिया ने इसे छोड़ भी दिया है और यह बहुत अच्छा ही किया है।

[घ] **अर्थ मिलन** —जो कामवासना के कारण नहीं, किन्तु सामाजिक प्रथा के अविरुद्ध पैसा पैदा करने के लिये स्त्री-पुरुष का मिलन होता है वह अर्थ-मिलन है। कौंगो, रहीटी, मैकरोनेशिया, कैण्ड्रोन पीक्ल, जापान आदि में पहिले कुमारी लड़कियाँ पैसा पैदा करने के लिये जिस चाहे से सम्भोग करती थीं और इसे समाज में कोई बुरा नहीं कहता था बल्कि तारीफ़ तक होती थी; अभी भी कहीं कहीं यह प्रथा है। यह अर्थ-मिलन है। सामाजिक प्रथा ने इसके व्यभिचार दोष को दूर कर दिया है। यद्यपि आज के विकसित समाज की दृष्टि से यह भद्दी प्रथा है और कई तरह से हानिकर भी है, फिर भी इसे व्यभिचार नहीं कह सकते, यह अर्थोपयोगी होने से एक तरह का अर्थोपयोग-मिलन है।

[ङ] **रूढ़िमिलन** — सामाजिक रूढ़ि के कारण जो मिलन ज़रूरी बना दिया गया हो वह रूढ़ि-मिलन है। किसी किसी सम्प्रदाय में नव-वधू पहिली रात्रि में गुरु के पास भेजी

जाती है। बेबीलोन शहर में यह रिवाज़ था कि चाहे अमीर स्त्री हो चाहे गरीब, उसे एक बार वेश्या अवश्य बनना पड़ता था। आर्मीनियन जाति की स्त्री को विवाह के पहिले अनेटिस देवी के मन्दिर में जाकर वेश्या बनना पड़ता था। प्राचीन रोम में भी इसीसे मिलती जुलती प्रथा थी। प्रथा ने--भलेही वह कुप्रथा हो--अगर किसी मिलन को ज़रूरी बना दिया हो तो ऐसे मिलन को व्यभिचार की श्रेणी में नहीं लिया जा सकता, भले ही वह अन्य अनेक दृष्टियों से निन्दनीय हो। उपयोगिता कैसी भी हो पर है, इसलिये यह उपयोग-मिलन है। इस प्रकार पांच तरह का उपयोग-मिलन है।

व्यभिचार में व्यक्ति के वे अधिकार छिन जाते हैं जो सामाजिक रीति-रिवाज के अनुसार उसे मिले हैं। व्यभिचार से चोरी, हिंसा, झूठ आदि पाप भी आ जाते हैं इसलिये व्यभिचार तो हर तरह दूर करना चाहिये। पर यहां जो पांच तरह के उपयोग-मिलन हैं वे भी अच्छे नहीं हैं। ये बहिष्कृत हो चुके हैं, और बहिष्कृत ही रहना चाहिये। नियोग की भी आवश्यकता न रहे ऐसी कोशिश होना चाहिये। आज इसका उपयोग नहीं होता है पर परिस्थिति भी ऐसी हो जाना चाहिये जिससे इनकी आवश्यकता न रहे। इनमें से आतिथ्य-मिलन, अर्थ-मिलन और रूढ़ि-मिलन तो बिलकुल न होना चाहिये। नियोग और काम-मिलन आपद्धर्म के रूप में कहीं या कभी आ सकते हैं, पर उस परिस्थिति को बदल कर विवाह की तरफ़ समाज को ले जाना चाहिये और विवाह प्रथा को इस प्रकार निर्दोष बनाना चाहिये, जिससे नियोग और काम-मिलन की आवश्यकता ही न रहे।

३ सन्तान मिलन—काम-वासना की तृप्ति होजाने पर भी सन्तान के कारण जो स्त्री-पुरुष में सम्मिलन (दाम्पत्य) बना रहता है वह सन्तान-मिलन है। बहुत से पक्षियों में देखा जाता है कि मादा के गर्भवती होने पर नर और मादा दोनों मिलकर अंडों की सुरक्षा के लिये घोंसला बनाते हैं और अंडों की रक्षा करते हैं। इस प्रकार जहाँ सन्तान सम्बन्धी जिम्मेदारी निभाने तक दाम्पत्य बना रहता है उसे सन्तान-मिलन कहते हैं। मानव समाज में प्रायः यह प्रथा नहीं है न होना चाहिये।

४ सहयोग मिलन— एक जगह मिलकर रहने के लिये जिस सहयोग की ज़रूरत है वह जब तक बना रहे तब तक के लिये दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करना सहयोग-मिलन है। इस मिलन में विवाह प्रथा पूरे रूप में आ जाती है, और तलाक की गुंजाइश रहती है। अगर सहयोग के कारणों में विशेष बाधा न हो तो यह सम्बन्ध जीवन भर तक चलता है। फिर भी इसे जीवन-मिलन नहीं कह सकते; क्योंकि मिलन की मर्यादा जीवन नहीं सहयोग है।

५ जीवन मिलन—जीवन भर के लिये दाम्पत्य सम्बन्ध स्थापित करना जीवन-मिलन है। इसमें तलाक की गुंजाइश नहीं है; फिर भी दो में से किसी एक का जीवन समाप्त हो जाय तो पुनर्विवाह किया जा सकता है।

६ अभेद मिलन—जो दाम्पत्य मरने के बाद भी बना रहता है, वह अभेद-मिलन है। राम और सीता का मिलन अभेद-मिलन था। बहुत-सी विधवाएँ आज भी अभेद-मिलन का परिचय दिया करती हैं। यह प्रशंसनीय तो है पर ज़रूरी नहीं है।

इन छः प्रकार के मिलनों में सहयोग-मिलन जीवन-मिलन और अभेद-मिलन उत्तम श्रेणी के मिलन हैं। उपयोग-मिलन और सन्तान-मिलन मध्यम श्रेणी के मिलन हैं और व्यभिचार जघन्य श्रेणी का मिलन है।

इन छः प्रकार के मिलन में जो दाम्पत्य होता है वह दो प्रकार का है—१-सम और २-विषम। जिस दाम्पत्य में नर और नारी एक ही मिलन श्रेणी के हैं वह सम-दाम्पत्य है और जिसमें जुदी जुदी श्रेणी के हैं वह विषम-दाम्पत्य है। विषम-दाम्पत्य में नर-नारी समभाव को धक्का लगता है इसलिये एक तरफ शैतानियत बढ़ती है; दूसरी तरफ हैवानियत बढ़ती है। जीवन भी अशान्तिमय हो जाता है।

राजा दुष्यन्त शिकार खेलते हुए शकुन्तला के रूप से मुग्ध हो गया और एक व्यभिचारी के समान उससे मिला। भोली शकुन्तला ने उसे पति-रूप में वरण करके अभेद-मिलन किया। पर जब शकुन्तला राजा के पास गई, तब राजा ने भरी सभा में उसे अस्वीकार कर दिया। इस प्रकार दुष्यन्त शैतान बन गया। तेजस्विनी शकुन्तला भले ही हैवान न बनी पर उसकी काफी दुर्दशा हुई। विषम-दाम्पत्य का परिणाम प्रायः ऐसा ही होता है।

जहां पर विधुर को पुनर्विवाह की छुट्टी है पर विधवा को पुनर्विवाह की छुट्टी नहीं है, वहाँ भी विषम-दाम्पत्य है। वहाँ नारी हैवान बन जाती है और पुरुष शैतान बन जाता है, इसलिये अभेद-मिलन हो तो दोनों तरफ से होना चाहिये। इसी प्रकार अन्य मिलन भी दोनों तरफ से होना चाहिये, तभी व्यवस्था ठीक रह सकती है।

प्रश्न—जहां पर बहुपत्नीत्व का रिवाज है वहाँ क्या बहुपतित्व का भी रिवाज चालू किया जाय?

उत्तर—दोनों बुरे हैं। पर जहाँ पर बहुपत्नीत्व का रिवाज सहन किया जा सकता है वहाँ बहुपतित्व का रिवाज भी सहन होना चाहिये अन्यथा दोनों का हटाना ही ज़रूरी है।

प्रश्न—दोनों को मिटा देने से तलाक ज़रूरी हो जायगा और इससे नारी की दुर्दशा हो जायगी। मान लीजिये किसी एक श्रीमान् और समर्थ व्यक्ति की पत्नी वर्षों तक जानेवाले असाध्य रोग से पीड़ित है अथवा पागल है; इसलिये दाम्पत्य के अयोग्य है—ऐसी हालत में दाम्पत्य-मिलन का इच्छुक पति क्या करे? पहिला उपाय तो यह है कि उस पत्नी के रहने पर भी वह दूसरी शादी कर ले, जिससे पहिली पत्नी अनाथ न हो और उसका भी काम चल जाय। दूसरा उपाय यह कि पहिली पत्नी को तलाक देकर अनाथ बना दें और दूसरी शादी कर ले। अगर बहुपत्नीत्व को पसन्द न किया जाय तो दूसरा उपाय ही करना पड़ेगा—इससे स्त्रियों की बड़ी हानि होगी।

उत्तर—इस प्रकार के आपवादिक घटनाओं से जिस प्रकार बहुपत्नीत्व का समर्थन किया जा सकता है उसी प्रकार बहुपतित्व का भी समर्थन किया जा सकता है। मानलो किसी स्त्री का पति पागल, कोढ़ी या और किसी बड़े रोग से पीड़ित है, इस प्रकार वह दाम्पत्य के अयोग्य है तो उस स्त्री के सामने भी दो उपाय हैं पहिला यह कि वह पहिले पति के रहते हुए भी दूसरी शादी कर ले, जिससे पहिला पति अनाथ न हो, दूसरा उपाय यह है कि उसे तलाक देकर

अनाथ बना दे और दूसरी शादी कर ले । अगर बहुपतित्व को पसन्द न किया जाय तो दूसरा उपाय ही करना पड़ेगा। इससे बेचारे पति की दुर्दशा हो जायगी। अगर ऐसी घटनाओं से बहुपतित्व का समर्थन नहीं किया जा सकता तो बहुपत्नीत्व का भी समर्थन नहीं किया जा सकता। प्रसंग दोनों जगह एक-सा है।

प्रश्न—बहुपत्नीत्व के लिये दूसरी पत्नी मिल जाया करती है क्या बहुपतित्व के लिये दूसरा पति मिल सकता है?

उत्तर—तिब्बत आदि में जहाँ बहुपतित्व का रिवाज है वहां मिलते ही हैं। वेश्याओं को जब पुरुष मिल सकते हैं, पर-स्त्रियों के साथ व्यभिचार करनेवाले जब मिल सकते हैं, तब बहुपतित्व के लिये पति क्यों नहीं मिल सकते?

प्रश्न—बहुपत्नीत्व के साथ बहुपतित्व का रिवाज चलाने से बीमारी का इलाज न हुआ, बीमारी का बढ़ाना हुआ।

उत्तर—तराजू के एक ही पलड़े पर जब वजन होता है तब उसके दूसरे पलड़े पर भी वजन रख देने से तराजू का बोझ तो बढ़ता है पर तराजू के दोनों पलड़ों में जो समानता आती है, उससे तराजू सम्हालने में सुभीता ही होता है। पुरुषों को बहुपत्नीत्व के समान स्त्रियों को बहुपतित्व का अधिकार मिलने से बहुपत्नीत्व के मार्ग में रुकावट ही होगी और इससे एकपत्नीत्व और एकपतित्व का मार्ग ही निरापद होगा।

उचित तो यह है कि दोनों जीवन-मिलन का मार्ग स्वीकार करें..जबतक साथी जिन्दा रहे उसे न छोड़ें। यह मार्ग स्वीकार न किया जाय तो सहयोग-मिलन का मार्ग ग्रहण किया जाय, जिसमें तलाक की सुविधा हो। पर न्यायालय या पंचायत के द्वारा तलाक की दरख्वास्त तीन महीने बाद मंजूर की जाय, अगर तीन महीने बाद तक वे तलाक की दरख्वास्त पर डटे रहें तो तलाक मंजूर किया जाय।

अगर साथी [पति या पत्नी] दाम्पत्य के अयोग्य हो, गया हो आर्थिक और शारीरिक दृष्टिसे असमर्थ हो गया हो, तब तलाक के पहिले न्यायालय या पंचायत के जरिये उसके जीवन निर्वाह का योग्य प्रबन्ध कराना जरूरी समझा जाय, और यह बोझ तलाक देनेवाले पर या नये दम्पति पर पड़े। आर्थिक व्यवस्था का योग्य विचार योग्य न्यायालय या पंचायत ही कर सकती है। इसमें न बहुपत्नीत्व की जरूरत रहेगी न बहुपतित्व की। अगर किसी कारण कोई व्यक्ति ऐसी घटनाओं के कारण अनाथ ही हो जाय और उसका दूसरा उपाय न हो तो उसका उपाय सरकार को या समाज को करना चाहिये।

खैर, इस प्रश्न के साथ दायभाग आदि के प्रश्न भी आ जाते हैं, जिसका स्वतंत्र रूप में विचार किया जाना चाहिये, यहाँ तो इतना कहना ही ठीक है कि दाम्पत्य सम-मिलन ही रहना चाहिये विषम नहीं।

इस प्रकार छः तरह का समान मिलन होता है।

अकाम-मिलन—अकाम-मिलन वह है जिसमें दाम्पत्य सम्बन्धी काम-वासना नहीं होती किन्तु पवित्र आकर्षण होता है। पिता-पुत्री में, माता-पुत्र में, भाई-बहिन में या दम्पति को छोड़ कर अन्य पवित्र सम्बन्धों में जो आकर्षण होता है वह अकाम-मिलन है।

पशुओं में तथा कुछ जंगली जातियों के नर-नारी में सकाम-मिलन की ही मुख्यता है। मनुष्यता के साथ इस अविवेक का कोई सम्बन्ध नहीं। मनुष्य सभ्यता और शान्ति का आनन्द तभी ले सकता है, जब सकाम-मिलन के लिये एक व्यक्ति चुन कर बाकी सबके साथ उसका सम्बन्ध अकाम-मिलन का हो। इस विवेक का मुख्य सहारा विवाह है। विवाह चाहे सहयोग-मिलन के आधार पर हो चाहे जीवन-मिलन के आधार पर हो, हरएक समाज में जरूरी चीज है। मनुष्य के दो अंग इसी के जरिये मिलकर एक हो सकते हैं और मनुष्य पूरा प्राणी बन सकता है।

विवाह किसी व्यवस्थित विधान के द्वारा अधिक से अधिक आदमियों के सामने होना चाहिये। उस विधि में धर्म, जाति आदि का भेद भुलाकर नर-नारी समभाव का रूप प्रगट होना चाहिये।

कन्या-दान आदि की प्रथाएँ अनुचित हैं इससे नारी, दान की चीज़ समझी जाती है। जो दान की चीज़ है वह भोग और विक्रय की चीज़ भी कही जा सकती है, इससे कन्या-विक्रय आदि का समर्थन होता है; इसलिये विवाह में कन्यादान आदि न होना चाहिये।

विवाह का तरीका कैसा होना चाहिये इसका एक विधान यहां दिया जाता है, जो सर्व धर्म और जाति के लोगों के लिये ठीक कहा जा सकता है और जिसमें विवाह-संस्था के उपयोग और दृढ़ता का निर्देश है। और जिसमें नर और नारी को समान माना गया है।

विवाह-पद्धति

सूचनाएँ

१—विवाहोत्सव और विवाह-पद्धति का प्रयोजन वर-कन्या के हृदय में विवाह के महान उत्तरदायित्व का भान करा देना और उसके लिये साक्षियों का पीठ-बल उत्पन्न करना है; इसलिये विवाह यथासम्भव अधिक नर-नारियों की उपस्थिति में होना चाहिये।

२—'वर' शब्द का अर्थ दूल्हा है, चाहे वह कुमार हो विधुर हो या परित्यक्त हो। 'कन्या' शब्द का अर्थ दुलहिन है, चाहे वह कुमारी हो विधवा हो, या परित्यक्ता हो।

३—कन्या-विक्रय और वर-विक्रय दोनों ही अनुचित हैं। दहेज हुंडा आदि का रिवाज अनुचित है। कन्या-पक्ष ने कन्या का इतने वर्षों तक पालन-पोषण किया, यही बहुत उपकार है फिर उससे दहेज के रूप में कर लेना अत्याचार है। हां, कन्या—पक्ष वात्सल्यवश कन्या को कुछ दे तो यह उचित है परन्तु उस भेंट पर कन्या के सिवाय और किसी का अधिकार न होगा।

अगर वर-पक्ष कन्या-पक्ष को कुछ दे तो यह भी अन्याय है इससे वर-पक्ष की गरीबी बढ़ती है और उसका फल कन्या को भोगना पड़ता है। सन्तान के पालन-पोषण के बदले में किसी से कुछ न लेना चाहिये। इससे माता-पिता का ऋण चुकता है यही सन्तोष बहुत है।

किसी भी पक्ष से लेन-देन की बात हो तो उससे वर कन्या के उचित सम्बन्ध में बाधा पड़ेगी; इसलिये यह कुप्रथा न रहना चाहिये।

४—वर-पक्ष का कर्तव्य है कि वह कन्या

के लिये कुछ भेंट लावे। दोनों पक्षों की तरफ़ से दी गई भेंटें कन्या का स्त्री-धन कहलायगा। इस पर जीवन भर उसी का अधिकार रहेगा।

५-वर-पक्ष और कन्या-पक्ष में कोई पक्ष छोटा न समझा जाय। कन्या के माता-पिता मामा-मामी आदि गुरुजन वर-कन्या का विनय (पैर छूना आदि) न करें। अतिथि के समान सत्कार करना उचित है।

६-जिस दिन ऋतु अनुकूल हो, लोगों को फुरसत हो, हृदय में उत्साह और आनन्द हो, वही शुभ दिन और शुभ मुहूर्त है। विवाह-बिधि सुविधानुसार किसी भी समय रक्खी जा सकती है।

७-विवाह-विधि के लिये निम्नलिखित चीजों की ज़रूरत है।

(१) बर-कन्या और आचार्य के बैठने के लिये तीन आसन (कुर्सियों का भी उपयोग किया जा सकता है)।

(२) दिव्य स्थापना के लिये छोटी चौकोन टेबुल या स्टूल या बाजोट जिसकी ऊँचाई वर-वधू के बैठने के आसन से कुछ अधिक हो।

(३) दिव्य स्थापना। धर्मालय की मूर्तियों का चित्र, अथवा किसी पत्र पर लिखे हुए या खुदे हुए सब देवों के नाम अथवा थाली आदि में लिखे गये सबके नाम। लिखने के लिये चन्दन, केशर या कुंकू आदि रंग ठीक हैं।

(४) करीब २० गज सूत का एक लच्छा।

(५) सूत रंगने के लिये केशर, चन्दन अथवा केशरिया, गुलाबी या लाल रंग।

(६) परस्पर बर-वधू के गले में डालने के लिये दो पुष्प-मालाएँ।

(७) अगर अष्ट मङ्गल द्रव्य की स्थापना करना हो तो ये आठों चीजें भी हों। १ दीपक, २ लक्ष्मी [रुपया आदि], ३-दर्पण, ४-जलपात्र (कलशी), ५-तलवार, ६-पुस्तक, ७-लेखनी, ८ चर्खा। इनके छोटे छोटे नमूने रखना चाहिये। (विवाह-विधि में यह मंगल द्रव्य की विधि ज़रूरी नहीं है, इच्छा हो तो रक्खी जा सकती है)।

८-दिव्य स्थापना को बीच में करके उसके आसपास बर-कन्या और आचार्य सुविधानुसार बैठें।

विवाह विधि

९-बाद में निम्नलिखित मङ्गलाचरण पढ़ा जाय।

साक्षित्व

जिसकी किरण से विश्व में सज्ज्ञान का उद्योत है।
है सूर्य का भी सूर्य जो सारे गुणों का स्रोत है॥
सब सम्प्रदाय रँगे हुए जिसके अनोखे रंग में।
वह सत्य प्रभु साक्षी रहे इस शुभ विवाहप्रसंगमें॥१॥

सब सम्प्रदायों में रहा जिसका अकंटक राज्य है।
जो है कसौटी धर्म की जो प्रेम का साम्राज्य है॥
है फूलती फलती सदा सुख-शान्ति जिसके संग में।
माता **अहिंसा** हो यहां साक्षी विवाह-प्रसंगमें॥२॥

पुरुषत्व का आदर्श जग-विख्यात जिसका नाम है।
सर्वस्व-त्यागी, प्रवर-योगी और जो निष्काम है॥
जो सर्वदैव रँगा रहा कर्तव्य के ही रंग में।
साक्षी महात्मा **राम** हो वह इस विवाह-प्रसंग में॥३॥

जो कर्मयोगी ज्ञान-भोगी नीति का रक्षक रहा।
त्राता रहा जो पीड़ितों का दुष्ट-दल तक्षक रहा॥
हँसता रहा जो सम्पदा के रंग में या भंग में।
वह **कृष्ण** योगेश्वर रहे साक्षी विवाह-प्रसंग में॥४॥

जो निस्पृही था किन्तु था सेवक अखिल संसार का।
जिसको न लालच द्वेष था उपकार या अपकार का॥
जो वीरता की मूर्ति था अध्यात्म के रण-रंग में।
वह जिन महात्मा **वीर** हो साक्षी विवाह-प्रसंगमें॥५॥

जिसने विविध दुखकारणों से युद्ध जीवनभर किया।
संसार को सुखमय बनाने के लिये जीवन दिया॥
जो आ न पाया मारपापी के किसी भी ढंग में।
हो वह महात्मा बुद्ध साक्षी इस विवाह-प्रसंग में॥६॥
जो था पुरुष पर मां सरीखा प्रेम दिखलाता रहा।
मरते समय भी प्रेम का संगीत ही गाता रहा।
हँसता रहा जो वेदनाओं को छिपाकर अंग में।
ईसा महात्मा हो वही, साक्षी विवाह-प्रसंग में॥७॥
जो बर्बरों को भी सिखाने में हुआ कृतकृत्य था।
जो साम्यवादी था तथा सत्येश का सद्भृत्य था॥
जो वीरवर था न्याय के कर्तव्य के रण-रंग में।
हज़रत मुहम्मद हो वही साक्षी विवाह-प्रसंग में॥८॥

इसके अतिरिक्त और भी भजन गाये जा सकते हैं, जो समभाव के विघातक न हों।

परस्पर आकर्षण

१०—इसके बाद वर-कन्या एक दूसरे के सामने मुँह करके खड़े हो जाएँ और विवाह-बन्धन के लिये निम्न लिखित पद्य पढ़ें—

वर

जीवन का पथ विषम भयंकर विपदाओं का मेला।
पद पद पर हैं विकट प्रलोभन, कैसे चलूं अकेला?
इससे है याचना, साथ देकर क्या पूर्ण करोगी;
देकर देवि सहारा मेरी चिन्ता चूर्ण करोगी?

कन्या

देव यही याचना तुम्हारी है इच्छित वर मेरा?
पथ में खड़ी सोचती हूँ किस घर में करूँ बसेरा॥
दोनों हैं विकलांग पूर्ण होने के लिये मिलेंगे।
बीत जाँयगी विरत निशाएँ हृदय-सरोज खिलेंगे॥

परस्पर आकर्षण के बाद परस्परकी अनुकूलता जानने के लिये सप्तपदी करना चाहिये।

सप्तपदी ※

११—दाम्पत्य जीवन की दिव्यता तभी है, जब एक दूसरे के ऊपर शासन न करके परस्पर त्याग करें। अपनी त्याग भावनाएँ बतलाने के लिये यह सप्तपदी है—

पहिलापद—शील

वर

मनसे वचनसे कायसे निज—सहचरी—संतोष में।
पालन करूँगा सर्वदा लगने न दूंगा दोष मैं॥
माता सुता अथवा बहिन होगी मुझे पर कामिनी।
बन कर रहोगी देवि तुम मेरे हृदय की स्वामिनी॥

कन्या

मनसे वचनसे कायसे निशिदिन स्वपतिसंतोष में;
पालन करूँगी सर्वदा लगने न दूँगी दोष मैं॥
यह शील ही होगा मुझे गुण-रूप पुष्पोंकी लता।
बन कर रहोगे आर्य तुम मेरे हृदय के देवता॥

※ सूचना—जो लोग सप्तपदी पद्य में न कहना चाहें वे निम्न- लिखित गद्य-सप्तपदी का उपयोग कर सकते हैं—

वर की सप्तपदी [गद्य में]

१—मैं आज से स्वदारसन्तोष व्रत का पालन करूँगा, पर-स्त्री को मां बहिन, बेटी के समान समझूँगा।

२—तुम्हारे स्त्रीधन की सदा रक्षा करूँगा, उस पर तुम्हारा पूरा अधिकार होगा।

३—तुम्हारी धार्मिक स्वतन्त्रता में बाधा न डालूँगा।

४—तुम्हारा रहस्य किसी पर प्रगट न करूँगा।

५—मैं तुम्हारे जीवन की आवश्यकताएँ यथाशक्ति पूरी करूँगा।

६—बीमारी आदि में तुम्हारी सेवा और हरएक आपत्तियों से तुम्हारी यथाशक्ति पूरी रक्षा करूँगा।

७—तुम्हारे नियुक्त कार्यों में यथाशक्ति सहायता करूँगा।

दूसरापद–स्त्री-धन

वर

बिना तुम्हारी अनुमति पाये जीवन देवि तुम्हारा।
व्यय न करूँगा रक्षक हूँगा यह मेरा प्रण प्यारा॥
तुम जीवन की ज्योति बनोगी इस घर का उजियाला।
जो पाऊँगा दूँगा तुमको, पत्र पुष्प की माला॥

कन्या

अपने धनका दुरुपयोग कणभर भी नहीं करूँगी।
धन की है क्या बात प्राण भी देकर विपत हरूँगी॥
तुम मेरे सौभाग्य बनोगे और नयन के तारे।
तुम मेरे सर्वस्व रहोगे जीवन के उजियारे॥

तीसरापद–धार्मिक-स्वातन्त्र्य

वर

सत्य अहिंसा रूप और समभाव बढ़ानेवाला।
हो जो धार्मिक कार्य प्रेम का पाठ पढ़ानेवाला॥
उसमें बाधा कभी न दूंगा साधन सदा करूंगा।
यथा शक्ति मैं धर्म कार्य के विघ्न समस्त हरूंगा॥

कन्या की सप्तपदी

१– मैं आजसे स्वपतिसन्तोष का व्रत पालन करूँगी परपुरुष को पिता पुत्र या भाई के समान मानूंगी।

२–स्त्री-धन का दुरुपयोग कभी न करूंगी और न अनुचित तरीके से उसे बढ़ाने की कोशिश करूँगी।

३-मैं विवेकपूर्वक धर्म का पालन करूँगी। समभाव रखकर तुम्हारे धर्म में सहायता दूँगी। रूढ़ियों की गुलामी के कारण हठ न करूँगी।

४–तुम्हारा रहस्य किसी पर प्रगट न करूँगी।

५–घर की अवस्था देखकर ही मैं खर्च करूँगी अपव्यय कभी न करूँगी पूरी ईमानदारी से गृहप्रबन्ध करूँगी।

६-बीमारी आदि में तुम्हारी सेवा करूँगी। और भी हर तरह की आपत्तियों में यथाशक्ति सहायता दूंगी तथा साथ रहूंगी।

७–तुम्हारे कार्यों में यथाशक्ति सहयोग करूँगी।

कन्या

सत्य अहिंसा का पुनीत पथ कभी नहीं छोडूंगी।
अन्ध-भक्तिसे रूढ़ि राज्य से प्रेम नहीं जोडूंगी।
सर्व-धर्म समभाव सदा जीवन में अपनाऊंगी।
सत्य-धर्म का मर्म मनोमन्दिर में मैं लाऊंगी॥

चौथापद–रहस्य-गोपन

वर

बिना तुम्हारी अनुमति पाये कोई भी रहस्य की बात।
नहीं कहूंगा कभी किसी से नहीं करूंगा हृदयाघात॥
बिम्ब और प्रतिबिम्ब बनेंगे दोनों के मन एक समान।
दो तन एक प्राण बनकर हम साधेंगे अद्वैत महान॥

कन्या

अनुमति बिना न प्रगट करूँगी कोईभी रहस्यकी बात।
और न अपना भी रहस्य मैं रक्खूंगी तुमसे अज्ञात॥
एक बनेंगे दोनों मिलकर एक घाट पीवेंगे नीर।
दिखने भर को रह जावेंगे केवल अपने भिन्न शरीर॥

पांचवाँपद–आर्थिक-व्यवस्था

वर

होगी देवि तुम्हारी जो जो आवश्यकता जीवन की।
वह सब पूर्ण करूंगा चिन्ता मुझे न है तनकी धनकी॥
लक्ष्मी अगर रुष्ट भी होगी तो न कभी घबड़ाऊंगा।
मुट्ठीभर अनाज पाऊंगा पहिले तुम्हें चढ़ाऊंगा॥

कन्या

घरकी हालत देख मितव्ययिता का ध्यान रखूंगी मैं।
कभी अपव्यय करूंगी न मैं पूरी सेवा दूंगी मैं॥
मुट्ठीभर भी अन्न मिलेगा खुश होकर स्वीकारूंगी।
"जितनी लम्बी खौर रहेगी उतने पैर पसारूंगी"

छट्ठापद-सेवा

वर

रोग आदि विपदा आनेपर दूंगा साथ तुम्हारा।
दास बनूंगा पार करूंगा बिपदाओं की धारा॥

कन्या

जहां सत्य की भक्ति है वहां विवेक [illegible] ज्ञान ।
निर्भयता निःस्वार्थता वहीं स्वर्ग समान ॥

सुयश की भूमि हृदय को जान ।
करूंगी मैं विवेक सन्मान ॥
रक्खूंगी साहस शुद्ध विचार ।
सत्य ही होगा यश का सार ॥

सातवीं प्रदक्षिणा– दोनों साथ

वर

सारी विपदाएँ टलीं हुए प्रलोभन जीर्ण ।
प्रेम-दीप लेकर करें जीवन पथ उत्तीर्ण

न आगे पीछे का अब काम ।
प्रेममय गति होगी अविराम ॥
बनेंगे दोनों मिलकर एक ।
रहेगा जाग्रत पूर्ण विवेक ॥
दुःख सुख में होगा समभाव ।
नहीं होगा कटूक्ति का घाव ॥
प्रेम से कार्य प्रेम से बात ।
प्रेम से होगा पूर्ण प्रभात ।

कन्या–पाया मैंने पुण्य से यह सुयोग्य सत्संग ।

रँगा रँगा हृदय अब [illegible] ॥
न [illegible]
बनाऊंगी घर को सुखधाम ॥
बनेगा दोनों का पथ एक ।
न होगी मेरी तेरी टेक ॥
प्रलोभन विपदाओं का जोर ।
न आने पावेगा इस ओर ॥
बनेगा प्रेम हमारा प्राण ।
सत्य प्रभु से होगा कल्याण ॥

१७–इस के बाद वर वधू एक दूसरे के गले में माला पहिनायें ।

१८–इसके बाद [illegible] पढ़ा जाय मङ्गल [illegible] शान्ति [illegible] होता रहे तो और भी अच्छा ।

मङ्गलाष्टक

[१]

धर्मों का भी धर्म गुणों का ईश्वर जग का स्वामी ।
जिसके चरण चिह्न से बनता जगत सौख्य पथ गामी ॥
जिसके वरद हस्त के नीचे सौख्यसदन है सारा ।
जगत्पूज्य भगवान सत्य वह मङ्गल करे तुम्हारा ॥

[२]

सब धर्मों की सकल महात्मा पुरुषों की जो माता ।
जिसकी गोदी में अञ्चल के नीचे है सब साता ॥
प्रेममयी चित् शान्तिमयी सब धर्मों का ध्रुवतारा ।
जगदम्बा भगवती अहिंसा मङ्गल करे तुम्हारा ॥

[३]

सत्य उपासक सच्चा शासक दुख सुख समताधारी ।
विपत्प्रलोभन–विजयी ज्ञानी कंटकमय–पथ–चारी ॥
जंगल में मंगलकर्ता वह राम जगत का प्यारा ।
देवी सीता सहित सब तरह मङ्गल करे तुम्हारा ॥

[४]

कर्मयोग की मूर्ति प्रेम का पुंज [illegible]
योग [illegible]
मुरलीधारी [illegible]
गीता-गायक कृष्ण [illegible] तुम्हारा ॥

[५]

अनेकान्त-सिद्धान्त-प्रणेता कठिन--तपस्या-धारी ।
परम अहिंसक सत्पथदर्शक ज्ञानी सत्य--पुजारी ॥
महिला जन पशुगण का रक्षक शूद्रों का भी प्यारा ।
महावीर अरहंत सर्वदा मंगल करे तुम्हारा ॥

[६]

मध्यम मार्ग-प्रणेता जग का नेता परम अकामी ।
करुणाशाली गुणगणमाली श्रमण संघ का स्वामी ॥

दूसरी प्रदक्षिणा--वर आगे

वर

देवि, करेंगे दुष्ट जन हम पर चोट कठोर ।
रहने दो मुझको यहां तुम आगे की ओर ॥
रखूंगा तुमको अपनी ओट ।
सहूंगा मैं छाती पर चोट ॥
न होने दूंगा तुमको कष्ट ।
करूंगा अरियों का बल नष्ट ॥

१ कन्या

ज्यों समझो त्यों ही चलो लेकर मुझको साथ ।
यह मेरा सौभाग्य है पाया तुम-सा नाथ ॥

तीसरी प्रदक्षिणा--कन्या आगे

कन्या

गृह प्रबन्ध का क्षेत्र यह मुझ पर छोड़ो आर्य ।
रहने दो आगे मुझे करने को गृह-कार्य ॥
उठाऊंगी मैं घर का भार ।
रहूंगी मैं श्रम को तैयार ॥
झंझटों बीच रहूंगी धीर ।
न छोडूंगी कटूक्ति के तीर ॥

२ वर

मेरी गृह-देवी बनो मेरे सिर का ताज ।
मिली स्वामिनी भाग्य से मुझ सेवक को आज ॥

चौथी प्रदक्षिणा--वर आगे

वर

देवि, परीक्षा-स्थल विकट यह आर्थिक संग्राम ।
लक्ष्मी है चंचल विकट क्षण छाया क्षण घाम ॥
लगाऊंगा मैं अपनी शक्ति ।
न्यायपूर्वक लूंगा सम्पत्ति ।
करूंगा तनमन से श्रम घोर ।
देवि, रहने दो अग्रिम ओर ॥

कन्या

देव रहो आगे भले, पर मैं भी हूं साथ ।
सदा तुम्हारे कार्य में मैं भी दूंगी हाथ ॥

पांचवीं प्रदक्षिणा--कन्या आगे

कन्या

यह सेवा का क्षेत्र है, है यह मेरा धाम ।
रहने दो आगे करूं, मैं सेवा का काम ॥
समझती हूँ सेवा में स्वर्ग ।
स्वार्थ का नाश पूर्ण अपवर्ग ॥
न समझूंगी इसमें अपमान ।
करूंगी हँसकर जीवन-दान ॥

वर

सेवा को तैयार है देवि सदा यह दास ।
पथ-प्रदर्शिका तुम बनो दूर करो सब त्रास ॥

छट्टी प्रदक्षिणा--वर आगे

वर

मानवता पर धर्म पर, हों दोनों बलिदान ।
प्रगति-निरोध न कर सकें रूढ़ि मूढ़ता मान ॥
विकट है जन-सेवा की राह ।
चाहते हैं सब रूढ़ि प्रवाह ॥
त्याग पर भी है अत्याचार ।
सेवकों पर भी पाद प्रहार ॥
करूँगा मैं कुरूढ़ि का भंग ।
देवि तुम रहना मेरे संग ॥
न यश अपयश की हो पर्वाह ।
सत्य की, सेवा की हो चाह ॥

१- पाठान्तर

जैसा अवसर हो करो तुम वैसा ही काम ।
आज मिला सौभाग्य से मुझ दासी को राम ॥

२— पाठान्तर

मेरी गृह देवी बनो मेरे सिर का ताज ।
सीता-सी मूरति मिली मुझ सेवक को आज ॥

माङ्गलिक द्रव्य जीवनोपयोगी वस्तुओं के स्मारक हैं। दीपक, लक्ष्मी, दर्पण और जलपात्र ये नारियों के और तलवार आदि पुरुषों के कार्य क्षेत्र के स्मारक हैं। देने लेने का मतलब यह है कि वर कन्या के और कन्या, वर के साधनों की पूर्ति करेगी। किसी समय आठों का एक के हाथ में आनेका मतलब यह है कि कठिन अवसर आने पर दोनों का काम वर करेगा या कन्या करेगी। अवसर निकल जाने पर अपने-अपने हिस्से का काम दोनों करेंगे। आचार्य का काम है कि वह आदान-प्रदान की क्रिया के समय उसका मतलब समझाता जाय।

१५—इसके बाद प्रदक्षिणा-विधि (भाँवर) करना चाहिये। जहाँ लोग इस विधि का उपयोग न करना चाहें किन्तु एक दूसरे को माला या अँगूठी पहिनावें वहां प्रदक्षिणा-विधि के पद्य पढ़ने की ज़रूरत न रहेगी। प्रदक्षिणा के समय दोनों का एक-एक हाथ केशरिया रंगमें रँगे हुए लम्बे सूत्र में फँसा देना चाहिये। सूत्र इतना लम्बा हो कि प्रदक्षिणा में वर-वधू के आगे पीछे होने में बाधा न आने पावे। सूत्र बाँधकर आचार्य कहे—

आचार्य—

याद रखो यह चंद्रचकोर समान परस्पर प्रेम न छूटे।
छूट सके धनधान्य सभी पर देव चिरन्तन प्रेम न छूटे॥
फोड़ सके भँवरा लकड़ी पर कोमल पत्र सरोज न फूटे।
साँकल टूट सके पर प्रेम-रंगी यह कोमल डोर न टूटे।

जहां प्रदक्षिणा विधि न होगी वहां मङ्गलाष्टक आदि पढ़कर विवाह-विधि समाप्त कर दी जायगी। परन्तु जहां प्रदक्षिणा करना हो वहां प्रदक्षिणा के बाद मंगलाष्टक आदि पढ़कर विवाह-विधि समाप्त की जाय।

१६—एक एक प्रदक्षिणा जीवन के एक एक कार्य की निशानी है। जिस कार्य में नारी की प्रधानता है उसमें नारी आगे रहेगी, जिसमें नर की प्रधानता है उसमें नर आगे रहेगा। पहिली और सातवीं प्रदक्षिणा में दोनों साथ रहेंगे। वेदी के सामने खड़े होकर वर और कन्या को अपने अपने हिस्से का पद्य अच्छे स्वर में पढ़ना चाहिये, बाद में प्रदक्षिणा देना चाहिये। आवश्यकता होने पर आचार्य उन पद्यों को पढ़ता जाय और वर-कन्या दुहराते जाँय। यदि लज्जा आदि कारणों से यह भी असम्भव हो तो आचार्य ही पद्य पढ़ दे। शीघ्रता हो और प्रदक्षिणा भी आवश्यक हो तो पद्यों के पढ़े बिना भी प्रदक्षिणा की जा सकती है। प्रदक्षिणा के मतलब आचार्य समझा दे।

पहिली प्रदक्षिणा—दोनों साथ

वर

जीवन का पथ है विकट, अंधकार है घोर।
संकटमय कंटक बिछे और प्रलोभन चोर॥
छूटने पावे ज़रा न साथ।
पकड़ कर रखना मेरा हाथ॥
बनो तुम देवि, प्रकाश तरंग।
दिखाओ पथ मुझको रह संग।

कन्या

यह मेरा सौभाग्य है मिला तुम्हारा साथ।
मेरी मंज़िल पार हो पकड़ तुम्हारा हाथ॥
पड़ा है जीवन-पंथ अपार।
हुई हूँ चलने को तैयार॥
शक्ति है तनिक न है कुछ साज।
तुम्हीं अब रखना मेरी लाज॥

कि.ी तरह का और अगर तुम्हारा संकट आवेगा
झट दौड़े बिना न तुमका हाथ लगा पावेगा ॥

कन्या

विपदाओं में सङ्ग रहूंगी बनी रहूंगी दासी।
छोड़ूंगी सर्वस्व, रहूंगी बस सेवा की प्यासी ॥
सेवा की पवित्र वेदी पर जीवन बलि कर दूंगी।
अपने प्राण निचोड़ तुम्हारी सेवा में धर दूंगी ॥

सातवां पद—सहयोग

वर

होगा तुम्हारा कार्य जो उसमें रहूँगा साथ मैं।
होगी सदा इच्छा यही कुछ तो बटाऊँ हाथ मैं ॥
कोशिश करूँगा सर्वदा हममें सदा सहयोग हो।
मिलकर हमारा योग हो मिलकर हमारा भोग हो ॥

कन्या

आलस्यको तजकर करूँगी सब तरह सहकार मैं।
अपने प्रयत्नों से तुम्हारा कम करूँगी भार मैं।
घर को करूँगी स्वर्ग-सा आनन्द का आगार मैं।
होगी यही बस भावना पाऊँ तुम्हारा प्यार मैं ॥

१२—इसके बाद वर-कन्या अपने अपने स्थान पर बैठ जाँयँ। तब आचार्य उपस्थित सज्जनों से कहे--

आज ... ...तिथि माह संवत् ता... ...। श्रीमान् ... ... और श्रीमती ... ...के पुत्र श्री ... ...तथा श्रीमान.... ... ...और श्रीमती... ... ...की पुत्री श्रीमती ... ...परस्पर विवाह सम्बन्ध से जुड़ना चाहते हैं। इस योग्य सम्बन्ध के लिये मैं आप लोगों की अनुमति चाहता हूँ।
आशा है आप अवश्य ही प्रदान करेंगे।

१३--(क) आचार्य की बात सुनकर दर्शकों में से कोई भाई या बहिन निम्नलिखित पद्य पढ़े। हो सके तो बाकी लोग दुहराते जाँयँ।

मधुर मिलन से हृदय हुआ सन्तुष्ट ...
अनुमोदक है आज यहां दर्शक ... ...।
जान सके हम शुद्ध भाव दोनों के मन के।
दोनों के सम्पूर्ण मनोरथ हों जीवन के ॥

अथवा

[ख]—अगर पद्य न पढ़ना हो तो एक या कुछ आदमी गद्य में कहें —

"हम इस सम्बन्ध से सहमत हैं अनुमति देते हैं" आदि।

[ग]—इस अनुमोदन में माता-पिता आदि अभिभावकों का भी अनुमोदन शामिल है। परन्तु अगर कन्या की उम्र १८ वर्ष से कम हो तो उसके अभिभावकों से विशेष सम्मति लेना चाहिये।

आचार्य के पूछने पर वे निम्नलिखित दोहा पढ़ें:—

प्यारी पुत्रीने किया जो यह उचित विचार।
मुझे पूर्ण स्वीकार है यह उत्तम सहकार ॥

अथवा गद्यमें ही वे अनुमति दे सकते हैं।

१४— नियम नं० ७ के अनुसार अगर मङ्गल द्रव्यों की स्थापना की गई हो तो उनका निम्नलिखित उपयोग करना चाहिये। अगर न की गई हो तो यह विधि छोड़ देना चाहिये।

अष्ट मङ्गल द्रव्यों में से वर ... ... कन्या के हाथ में दे। कन्या तलवार ... वर के हाथ में दे। इस प्रकार वर, कन्या को लक्ष्मी, दर्पण और जलपात्र दे और कन्या, वर को पुस्तक, लेखनी और चरखा। इसके बाद कन्या अपनी चारों चीजें वर के हाथ में दे। तब वर के पास आठों चीजें हो जाँयँगी। बाद में वर ये आठों चीजें कन्या को दे। इसके बाद कन्या के पास से वर तलवार आदि चार चीजें लेले। इस आदान-प्रदान का मतलब यह है--

दंभ-विदारक संयम-धारक तारक सत्य दुलारा।
सुखपथ दर्शक बुद्ध महात्मा मंगल करे तुम्हारा॥

[७]

योगि-अगम्य गहनतम सेवा-धर्म सिखाने वाला।
दम्भ हटाकर सकल विश्व को मार्ग दिखाने वाला॥
शांत, साहसी, मृत्यु-जयी, निर्भय, ईश्वर का प्यारा।
सेवा-मूर्त्ति महात्मा ईसा मंगल करे तुम्हारा॥

[८]

साम्यवाद की मूर्त्ति मुहम्मद पैगम्बर पदधारी।
वीर, महात्मा, जड़पूजकता-आदिक पापप्रहारी॥
जरथुस्तादिक वंद्य महात्मा-पुरुषों का दल सारा॥
इस दाम्पत्य प्रभात समय में मंगल करे तुम्हारा॥

मंगलाष्टक के बाद स्त्रीधन-पत्रिका भरकर सब को बताना चाहिये। पत्रिका की चार नकलें हों। एक वर के पास, एक कन्या के पास, एक कन्या के अभिभावकों के पास, एक समाज के कार्यालय में। स्त्रीधन-पत्रिका के पहिले या पीछे और भी लोग आशीर्वाद दे सकते हैं। इस तरह के गीत सबके अंत में होना चाहिये।

स्त्रीधन-पत्रिका

१ वर का नाम और पता ··· उम्र
२ वर के माता-पिता का नाम···· उम्र
३ कन्या का नाम ···· उम्र
४ कन्या के माता-पिता का नाम और पता-
···
५ विवाह का स्थान ···
तिथि तारीख
६ आचार्य का नाम और पता ··
७ वर पक्ष की तरफ से प्राप्त स्त्रीधन का मूल्य....
८ विवरण····
९ कन्या पक्ष की तरफ से प्राप्त स्त्रीधन का मूल्य···
१० विवरण···
११ स्त्रीधन की व्यवस्था (कहां रक्खा गया)
१२ वर के हस्ताक्षर····
१३ कन्या के हस्ताक्षर····
१४ आचार्य के हस्ताक्षर··
१५ वर पक्ष के प्रधान व्यक्ति के हस्ताक्षर····
१६ कन्या पक्ष के प्रधान व्यक्ति के हस्ताक्षर....
१७ दो प्रतिष्ठित व्यक्तियों के हस्ताक्षर···
१ ————————
२ ————————

दाम्पत्य जीवन

अगर यह कहा जाय कि संसारिक सुख का आधा भाग दाम्पत्य-सुख है और आधे में बाकी सब, तो यह अतिशयोक्ति न होगी। परंतु जिस दाम्पत्य की इतनी महिमा है उसका ठीक उपयोग करने के लिये बड़ी चतुराई, विवेक, संयम और भाग्य की ज़रूरत है। थोड़ी-सी भी गलती दाम्पत्य के सब सुखों पर पोता फेर सकती है, जीवन को नरक बना सकती है। स्वर्ग और नरक दाम्पत्य में जितने पास रहते हैं उतने पास अन्यत्र कहीं नहीं रहते। जिस प्रकार दाम्पत्य की छोटी छोटी प्रेम-भीनी बातें हृदय में गुदगुदी पैदा कर देती हैं, असीम आनन्द से दिल को सराबोर कर देती हैं उसी प्रकार छोटी-छोटी स्वार्थ या द्वेष भरी बातें अन्तस्तल से जीवन को जला डालती हैं।

भाग्य से जोड़ा अच्छा मिल गया हो और दाम्पत्य-जीवन की कला से दोनों परिचित हों तो

दाम्पत्य से बढ़कर और कोई स्वर्ग नहीं है। यहां जो भाग्य शब्द का उपयोग किया गया है वह कुछ विशेष अर्थ रखता है। चाहे उसे ईश्वर की कृपा समझो या पुराने पुण्य का फल या प्राकृतिक नियम की घटना या आकस्मिक घटना समझो, वह एक ऐसी बात है जिस पर हमारा वश नहीं है; यही कारण है कि वर्षों से सुपरिचित व्यक्तियों में भी जब विवाह सम्बन्ध हो जाता है तब कुछ दिनों में भी दोनों असन्तुष्ट होकर आश्चर्यचकित और खिन्न हो जाते हैं। दोनों ही कहने लगते हैं कि हम तो इसे ऐसा न समझते थे। दूसरी तरफ बिलकुल या बहुत कुछ अपरिचित व्यक्तियों में जब विवाह-सम्बन्ध हो जाता है तब उनकी जीवन भर निभ जाती है। ऐसी ही बातों को भाग्य कह देना पड़ता है।

इसका यह मतलब नहीं है कि पति-पत्नी के चुनाव में मनुष्य के प्रयत्न का कोई मूल्य नहीं है। प्रयत्न तो करना ही चाहिये और जिनको विवाह-बन्धन में बँधना है, उन्हें पूरी तरह एक दूसरे को समझ लेना चाहिये, इसके बिना तो अँधेरे में कूदना है; फिर भी यहाँ इतना ध्यान में रखना है कि फिर भी कुछ बात भाग्य के हाथ में या अकस्मात् के हाथ में रह जाती है। इस भाग्य-दोष से बचने के लिये हमें परीक्षा करने में कुछ गहरी नज़र से काम लेना चाहिये।

साधारणतः विवाह के पहिले उस प्रकार का परिचय पाना कठिन है जो विवाह के बाद मिला करता है। किसी चीज को दूर से देखने में और पास से देखने में जो अन्तर होता है, वही अविवाहित और विवाहित के परिचय में हुआ करता है। साधारणतः लोग अविवाहित जीवन के परिचय का नक्शा विवाहित जीवन के परिचय में देखना चाहते हैं—वे यहीं भूला करते हैं।

निकट सम्बन्ध न रहने पर एक दूसरे पर जिम्मेदारी और स्वार्थ-संघर्ष के कम मौके आते हैं--ऐसी हालत में मनुष्य जो शिष्टाचार निभाता है वह निकट सम्बन्ध होने पर नहीं निभाया जाता। एक साधारण आदमी भी जब हमारे यहाँ आ जाता है तब हम उसके बैठने उठने खाने-पीने आदि की सुविधाओं का पूरा खयाल करते हैं और उस समय उससे किसी बदले की आशा नहीं करते। पर जब वह हमारा पड़ौसी या साझेदार हो जाता है तब यह शिष्टाचार दूर हो जाता है, उस समय अगर वह सोचे कि - अरे, यह कैसा धोकेबाज आदमी है—पहिले मेरी कैसी पर्वाह करता था पर अब बिलकुल नहीं करता, तो यह सोचना गलत है। उसे साझेदारी के बाद के व्यवहार का अंदाज पहिले ही लगाना चाहिये था।

विवाह-सम्बन्ध या और किसी भी तरह के निकट सम्बन्ध होने के पहिले जो प्रेम की मीठी मीठी बातें होती हैं, एक दूसरे के बारे में आदर सत्कार दिखाया जाता है, एक दूसरे की तारीफ़ की जाती है—यह सब अच्छा है और एक तरह से ज़रूरी भी है पर इतना ही काफी नहीं है। इसके साथ कुछ और बातें भी देखना चाहिये। साधारणतः दाम्पत्य के चुनाव के लिये इन ग्यारह गुणों का विचार करना और उनकी अनुकूलता देखना बहुत जरूरी है (S)।

(S)-याद रखने के लिये यह पद्याकृति उपयोगी है- सदाचार, कुल, अर्थ, जीविका, भोजनरुचि, अनन्य अनुराग। सहविचार, शिक्षण, निरोगता, सुन्दरता, अनुकूलनिवास॥

१–सदाचार, २–कुलशील, ३–अर्थोपार्जन, ४–सह्यजीविका, ५–भोजनरुचि, ६–अनन्यानुराग, ७–सहविचार, ८–शिक्षण, ९–स्वास्थ्य, १०–सुन्दरता, ११–अनुकूल निवास।

१–**सदाचार**-सदाचार में बहुत-सी बातें शामिल हैं। व्यभिचार का व्यसन न हो, धोकेबाज न हो, ईमानदार हो, शराब जुआ आदि की आदत न हो। स्त्री हो या पुरुष, दोनों को यह सदाचार जरूरी है। अन्यथा दाम्पत्य सुखद न होगा। व्यभिचार तो दाम्पत्य का नाशक है ही, पर अन्य दुर्गुण भी दाम्पत्य को नष्ट कर देते हैं। अगर किसी तरह जीवन भर निभ भी गई, तो भी दाम्पत्य का आनन्द जैसा चाहिये उसका चतुर्थांश भी नहीं मिलता।

प्रश्न–व्यभिचार शराब आदि के दुर्गुण अवश्य दाम्पत्य नष्ट कर देते हैं, पर धोकेबाज या बेईमान होने से दाम्पत्य का क्या सम्बन्ध? कोई भी आदमी दूसरों के लिये बेईमान हो सकता है पर अपने पति या पत्नी के लिये ईमानदार भी हो सकता है, तब इस बात पर जोर क्यों दिया जाय?

उत्तर–जो आदमी बेईमान है, वह अगर किसी जगह बेईमानी नहीं करेगा तो सिर्फ स्वार्थ या मोह के कारण, न्याय के कारण नहीं। ऐसा आदमी काम निकलने पर या मोह टूटने पर पति या पत्नी को भी धोका दे सकता है; इसलिये यथाशक्य ईमानदरी की भी परीक्षा कर लेना चाहिये। यद्यपि इसकी परीक्षा करना कठिन है फिर भी जहाँ तक बुद्धि काम करे वहां तक परीक्षा करना चाहिये। यह सोचना बहुत कुछ गलत है कि—यह व्यक्ति दुनिया के लिये कैसा भी रहे हमारे लिये तो अच्छा ही है। यह भूलना न चाहिये कि हम दुनिया के बाहर नहीं हैं। दाम्पत्य पैतृक चीज़ नहीं है कि उसमें सन्तान मोह सरीखा कोई मोह काम करेगा इसमें कोई जन्मगत संस्कार नहीं होते। इसलिये यथाशक्य सदाचार का देखना ज़रूरी है।

२ **कुल-शील**–जन्म से वह व्यक्ति कैसे लोगों में पला, कैसी संगति में रहा, आदि का विचार करना कुल-शील विचार है। अपने अनुकूल और अच्छे संस्कार और संगति हो तो दाम्पत्य सुखमय होता है।

प्रश्न–कुलशील में तो यह देखा जाता है कि इसका वंश किस जाति में या किस वंश में हुआ। यह वर्ण-संकर या व्यभिचारजात तो नहीं है? आदि। यहां तो कुल-शील का दूसरा ही मतलब किया गया मालूम होता है।

उत्तर–जन्म आदि का विचार इसलिये किया जाता है जिससे उसकी सुसंगति संस्कार आदि का पता लगे। पर जन्म का इनसे बहुत कम सम्बन्ध है। व्यभिचार आदि का प्रवेश अच्छे अच्छे घरानों में भी है, व्यभिचारजातता का जीवन पर कोई असर नहीं पड़ता, असर पड़ता है संगति आदि का। अच्छे से अच्छे कुल में जन्म लेने पर भी दुस्संगति आदि से मनुष्य पशु या शैतान बन जाता है और व्यभिचार-जात होने पर भी सुसंगति आदि से देव या साधु बन जाता है; इसलिये असली बात सुसंगति सुसंस्कार आदि है, वही देखना चाहिये।

कुल-शील के नाम पर जाति-पांति का विचार करना तो मूर्खता और मिथ्या अहंकार ही है। सब जातियों में सुशील और कुशील व्यक्ति पाये जाते हैं, हमें सुशील आदि ही देखना

चाहिये। अगर कोई वर्ग या जाति ऐसी है जिसमें कोई दुर्गुण या दुर्व्यसन आमतौर पर फैले हुए हैं तो जाति के नाम पर नहीं किन्तु सुसंगति आदि की दृष्टि से कुल-शील के नाम पर विचार किया जा सकता है।

३--**अर्थोपार्जन**--दाम्पत्य जीवन के निर्वाह के लिये स्त्री और पुरुष दोनों को अर्थोपार्जन की योग्यता रखना चाहिये और दोनों को अर्थोपार्जक बनना चाहिये। यद्यपि अधिकांश प्रसंगों पर पुरुष का कार्यक्षेत्र घर के बाहर और स्त्री का कार्यक्षेत्र घर के भीतर होता है, पर इसका यह मतलब नहीं है कि स्त्री को अर्थोपार्जन नहीं करना चाहिये या घर का काम करने से वह अर्थोपार्जक न कहलायगी। जीवन-निर्वाह के लिये उपयोगी कुछ न कुछ काम करनेवाला अर्थोपार्जक ही है। ईमानदारी के साथ अगर अर्थोपार्जन किया जाय तो नारी और पुरुष के अर्थोपार्जन में अन्तर नहीं रहता।

किसान और मजदूर घराने की स्त्रियाँ क़रीब क़रीब पुरुषों के बराबर अर्थोपार्जन करती हैं। पुरुषों के समान क़रीब आठ घंटा वे खेतों या कारखानों में काम करती हैं। शरीरबल की कमी से अगर वे पुरुषों से कुछ कम कर पाती हैं तो रोटी पकाने और बाल-बच्चों के पालन-पोषण आदि का काम उनका इतना हो जाता है कि उनकी सेवा का आर्थिक मूल्य पुरुषों से भी बढ़ जाता है।

मध्यम श्रेणी के गृहस्थ की स्त्री को यद्यपि इतना शरीर-श्रम नहीं करना पड़ता फिर भी उसकी जिम्मेदारी उसकी श्रेणी के अनुसार बढ़ जाती है इसलिये उसका अर्थोपार्जन भी क़रीब क़रीब पुरुष के बराबर हो जाता है। बाजार में जो खाद्य सामग्री पांच रुपये को मिलती है वही अगर रोटी आदि के रूप में पका कर व्यवस्था और सफ़ाई के साथ दूसरों को खिलाई जाय तो उसके बदले में दस-बारह रुपये मिल सकते हैं। पांच रुपये पर यह जो पांच-सात रुपये की क़ीमत और बढ़ गई--यह नारी की कमाई समझना चाहिये। इसके अतिरिक्त बालकों के पालन पोषण का भार जो इकतरफा नारी पर आ पड़ता है उसका भी कुछ मूल्य है। इतने पर भी अगर उसके कार्य के मूल्य में कमी रह जाती है तो उसकी पूर्ति उसके सन्तानोत्पादन के श्रम और कष्ट सहन से पूरी हो जाती है। इन दोनों श्रेणियों में ही संसार के अधिकांश कुटुम्ब है इसलिये कहना चाहिये कि संसार की अधिकांश नारियाँ अर्थोपार्जन के क्षेत्र में पुरुष के समकक्ष हैं।

अब रह गई उन कुटुम्बों की बात जो प्रथम श्रेणी के कहलाते हैं। ऐसे कुटुम्ब फी सदी एकाध ही होते हैं। इन कुटुम्बों की स्त्रियों के सामने अवश्य यह सवाल है कि वे अर्थोपार्जन में पुरुष के समकक्ष कैसे हों? इस प्रकार के कुटुम्ब भी तीन तरह के होते हैं। एक तो वे जो पैतृक सम्पत्ति का अधिकार पाकर विशेष धनी हैं, ऐसे कुटुम्ब में अर्थोपार्जन की दृष्टि से स्त्री-पुरुष की विषमता का सवाल विशेष रूप में खड़ा नहीं होता। वास्तव में उस कुटुम्ब की विशेष आमदनी का श्रेय दोनों को ही नहीं है। पुरुष की अर्थोपार्जकता प्राप्त धन के रक्षण में है और नारी की अर्थोपार्जकता अपने स्त्री-धन के रक्षण और घर की व्यवस्था में है। इतने पर भी ऐसे कुटुम्ब में

अगर नारी ग़रीब है तो यह उसकी अर्थोपार्जकता की कमी नहीं किन्तु दायभाग के नियमों में न्याय की कमी है।

दूसरे श्रीमान् कुटुम्ब वे हैं जो पूँजीवाद के बल पर श्रीमान् बने हैं। जिनमें चतुराई और साहस से पूँजी का उपयोग किया गया है और सम्पत्ति बढ़ाई गई है। ऐसे कुटुम्ब की नारी को गृह-प्रबन्ध के साथ कुछ व्यवसाय की बातों में भी समझदारी होना चाहिये, जिससे वह अपने व्यापार के लिये उपयोगी हो सके। शरीर श्रम में अगर पुरुष की बराबरी न कर सके तो कोई बात नहीं, पर व्यवस्था और चतुराई में उसे पीछे न रहना चाहिये।

तीसरे श्रीमान् कुटुम्ब वे हैं जिनके प्रधान व्यक्ति सैकड़ों हजारों रुपया महीना पानेवाले बड़े बड़े अफ़सर, विद्वान्, सेनानायक या कलाकार हैं। सब जगह यह सम्भव नहीं है कि उनकी पत्नियों में भी ऐसी ही असाधारण योग्यता हो इसलिये उनकी अर्थोपार्जकता पति के बराबर न होगी फिर भी बड़े आदमी के गृह-प्रम्बन्ध का मूल्य भी बड़ा होता है, उसकी जिम्मेदारी भी बड़ी होती है, वहां सन्तान पालन का मूल्य भी बड़ा होता है इसलिये अगर इनकी पत्नियाँ गृह-प्रबन्ध आदि में योग्य कुशल हों और बड़प्पन के अनुसार व्यवहार निभाने में चतुर हों तो उनकी अर्थोपार्जकता उपेक्षणीय न हो सकेगी। हां, बड़े बड़े घरों से सम्बन्ध आने के कारण उनकी बौद्धिक योग्यता भी विशेष रूप में होना चाहिये।

अर्थोपार्जन का अंग अर्थ-रक्षण भी है। जो स्त्रियाँ मिली हुई सम्पत्ति का रक्षण नहीं कर सकतीं वे नारीत्व के अधिकारों को धक्का लगाती हैं। जो नारियाँ आभूषण बनवाकर पहिन लेती हैं और इसी तरह अपने स्त्रीधन का रक्षण कर पाती हैं, वे भी अपनी निर्बलता की घोषणा करती हैं। इस विषय में नारी को कुछ विशेष समझदार चतुर और साहसपूर्ण बनना चाहिये। बेंकों से सम्बन्ध जोड़ने की और आने-जाने की क्षमता भी होना चाहिये। इसके बिना उनकी अर्थोपार्जकता व्यर्थ-सी हो जायगी।

यों तो कला और विद्वत्ता के क्षेत्र में नारी भी बढ़ सकती है-बढ़ती भी है। अगर अधिकांश स्त्रियाँ इस क्षेत्र में आगे बढ़ी हुई दिखाई नहीं देतीं तो इसका कारण यह है कि उनके सिर पर घरू कार्यों की जिम्मेदारी डाली गई है।

समाज या कुटुम्ब की सुविधा की दृष्टि से यह ठीक भी है। पर बात इतनी ही है कि इसके कारण उसकी अर्थोपार्जकता कम न समझी जाय। जो कुछ काम कर्तव्य समझकर उसके सिर पर डाला गया है उसे जो नारी अच्छी तरह पूरा करती है—वह अर्थोपार्जक है।

जो नारी सुन्दरता या विद्याकला आदि के प्रदर्शन में ही लगी रहती है और जीवन-निर्वाह के लिये उपयोगी कार्यों की तरफ़ यथोचित ध्यान नहीं देती, आर्थिक दृष्टि से उपयोगी साबित नहीं होती, वह अगर बहुत सौभाग्यशालिनी हुई तो पति के द्वारा दया और मोह पा सकती है, अधिकार और स्थायी प्रेम नहीं।

मोह एक नशा है जो कुछ समय बाद उतरता है, इसके आधार पर नारी का अधिकार और गौरव कायम नहीं रह सकता, और दया से तो वह दयनीय बनती है। दयनीय उसे कहते हैं कि जिसकी हालत औसत दर्जे के मनुष्य से नीचे गिर जाती है। यह दयनीयता तभी हट

सकती है जब नारी अर्थोपार्जक कर्तव्यों को अच्छी तरह पूरा करे। उसके लिये कोई भी कार्य-क्षेत्र क्यों न चुना गया हो उसे अपने उस कार्य-क्षेत्र में सफलता प्राप्त करना चाहिये। साथ ही अपनी अर्थोपार्जकता समझना चाहिये, बढ़ाना चाहिये और अर्थ-रक्षण में समर्थ बनना चाहिये।

विवाह के चुनाव के लिये अपनी परिस्थिति के अनुकूल नारी में उक्त अर्थोपार्जकता अवश्य देखना चाहिये। इसी तरह पुरुष में भी अर्थोपार्जकता देखना चाहिये। अन्यथा आज जोश में आकर शादी कर ली, कल कमाया-धमाया न गया तो बेचारी नारी पर दोषारोपण कर भागने लगे असन्तुष्ट रहने लगे, ऐसा मौका न आ पावे इसलिये यह आवश्यक है कि यह देख लिया जाय कि वर में विवाह के बाद की आर्थिक जिम्मेदारी सम्हालने की ताकत है या नहीं, अथवा दोनों मिलकर आर्थिक दृष्टि से अपना संसार अच्छी तरह चला सकते हैं कि नहीं।

४ सह्यजीविका—पैसे के परिमाण की दृष्टि से जीवन-निर्वाह की उचित व्यवस्था होने पर भी यह देखना ज़रूरी है कि वह पैसा किस तरीके से आता है। वह तरीक़ा दोनों को सह्य है या नहीं? एक अध्यापक की लड़की भंगी का धंधा करनेवाले के साथ शादी कर ले तो इससे दोनों की परेशानी है। भंगी का काम करनेवाला अपनी पत्नी से मौके मौके पर जिस सहयोग की आशा करता है, वह आशा उसकी पूरी न होगी और उन लड़की के मन में भी असह्य ग्लानि होगी। पति और पत्नी को आपस में सहयोग तो करना ही पड़ता है, अगर किसी एक को जीविका सह्य न हो तो यह सहयोग कैसे होगा। पुराने जमाने में भारतवर्ष में इसी-लिये प्रतिलोम विवाह का निषेध करना पड़ा था। क्योंकि इससे पति और पत्नी दोनों का जीवन अशान्त, विषम और विच्छिन्न हो जाता है। यद्यपि आज वह वर्ण-व्यवस्था नहीं है, न उसकी ज़रूरत है; न वह आ ही सकती है, फिर भी उस में से इतनी बात तो चालू रखना चाहिये कि कुटुम्ब की जीविका पति और पत्नी दोनों को सह्य हो।

जीविका की सह्यासह्यता की दृष्टि से पति-पत्नी का सम्बन्ध तीन तरह का होता है—सहचर, उपेक्षक और बाधक।

सहचर सम्बन्ध में जीविका के कार्य में मौके मौके पर सहायता की जाती है। जैसे कोई पति किराने की दूकान करता है और ज़रूरत होने पर पत्नी भी दूकान चला देती है। यहाँ सहचर सम्बन्ध है, इसमें सह्यता पूरी है।

उपेक्षक सम्बन्ध में जीविका के कार्य में सहयोग नहीं दिया जाता, पर उससे कोई घृणा भी नहीं होती। जैसे एक आदमी वकालत या बीमे का काम करता है उसकी पत्नी न तो उसके इस कार्य में सहयोग देती है, न देने की रुचि है; फिर भी इसमें उसे कोई आपत्ति या ग्लानि नहीं है कि उसका पति यह कार्य करे, इस बारे में वह उपेक्षक है।

बाधक सम्बन्ध वह है जिसमें जीविका का तरीक़ा सह्य नहीं होता। जैसे किसी स्त्री को अपने पति का भंगी का काम या और कोई ऐसा ही काम सह्य न हो—यह बाधक सम्बन्ध है। विवाह के पहिले यह देख लेना चाहिये कि जीविका के बारे में इस तरह का बाधक सम्बन्ध तो नहीं है। जीविका का सहचर सम्बन्ध हो तब तो बहुत ही अच्छा, नहीं तो उपेक्षक सम्बन्ध

तो रहना ही चाहिये।

५ भोजन रुचि—पति और पत्नी में भोजन रुचि की समानता भी आवश्यक है। एक को मांस और शराब का शौक हो और दूसरे को इससे अत्यन्त घृणा हो तो इससे दोनों में दिन-रात की परेशानी बढ़ जायगी।

भोजन की रुचि-अरुचि की दृष्टि से तीन तरह का सम्बन्ध होता है। समभोजन, सह्यदर्शन और असह्यदर्शन।

समभोजन में दोनों की भोजन रुचि एक सरीखी होती है अर्थात् एक का भोजन दूसरा भी ले सकता है। हां, यह हो सकता है कि एक चीज़ किसी को अधिक पसन्द हो और वही दूसरे को कम पसन्द या नापसन्द हो, पर इससे समभोजन का भंग नहीं होता। सम-भोजन का भंग वहां होता है जहाँ एक की चीज़ दूसरा खा ही न सके।

सह्यदर्शन वहां है जहाँ एक दूसरे की भोजन रुचि तो नहीं मिलती, पर दूसरा कोई अपनी अरुचि का भोजन अपने सामने ले तो उसमें ग्लानि न होगी, भोजन दर्शन कष्टकर न मालूम होगा। बहुत से ऐसे आदमी होते हैं जो खुद तो माँस नहीं खाते, पर कोई उनके सामने खाये तो उन्हें कोई कष्ट नहीं मालूम होता—यह सह्य दर्शन है। दर्शन में यहाँ— देखना, परोसना और पका देना भी शामिल है।

दाम्पत्य में समभोजन हो तो बहुत अच्छा नहीं तो सह्यदर्शन तक कुछ हर्ज नहीं है।

असह्यदर्शन में भोजन का देखना भी सह्य नहीं होता। बगल में कोई मांस-मछली खा रहा हो तो बहुत से आदमी अपना शाक भोजन भी नहीं खा सकते। इस प्रकार जहाँ असह्यदर्शन हो वहाँ दाम्पत्य स्थापित न करना चाहिये।

६ अनन्यानुराग—इसका मतलब यह है कि जिनकी शादी होनेवाली हो उनके मन में किसी दूसरे व्यक्ति के विषय में शादी करने लायक अनुराग न जम गया हो। इस बारे में दोनों का दिल या तो बिलकुल कोरा होना चाहिये या परस्पर में अनुराग होना चाहिये। जब मन ही मन किसी के साथ शादी करने का अनुराग पैदा हो जाता है और उसके निर्मूल हुए बिना किसी दूसरे से शादी हो जाती है, तब दोनों के जीवन की शान्ति नष्ट हो जाती है। इस लिये अनेक सम्भव उपायों से जान लेना चाहिये कि दोनों के मन अनन्यानुरागी हैं कि नहीं।

प्रश्न—अगर किसी की पहिले सगाई हो चुकी हो और फिर टूट गई हो तो ऐसे व्यक्ति के साथ सम्बन्ध किया जाय या नहीं।

उत्तर—सगाई टूटनेवाले व्यक्ति के साथ साधारण विवाह सम्बन्ध जोड़ने में कोई आपत्ति नहीं है। हां, अगर यह मालूम हो जाय कि सगाई टूटने पर भी उन वर-कन्या का परस्पर आकर्षण वैसा ही गहरा बना हुआ है तो फिर सम्बन्ध न करना चाहिये।

प्रश्न—जिनकी सगाई हुई थी उनमें से एक व्यक्ति मर गया और दूसरे के दिल में उसके बारे में अभी भी जीता-जागता प्रेम है तो ऐसे व्यक्ति के साथ विवाह-सम्बन्ध करना उचित है या अनुचित।

उत्तर—कुछ समय उसकी याद भुलाने को देना चाहिये। जब प्रेम इतना शिथिल हो जाय कि उसके मन में तुम्हारे लिये पूरा स्थान

मिल सके तब सम्बन्ध किया जाय। उस समय यह भी देख लिया जाय कि उस मृत व्यक्ति की चर्चा उठने पर तुम उसे अपने स्वर्गीय मित्र की तरह याद कर सकते हो या नहीं। मतलब यह कि तुम्हारे मन में उस मृत व्यक्ति को बिना ईर्ष्या के याद करने की सहिष्णुता हो और जिस व्यक्ति के साथ तुम शादी करते हो उसके मन में भी उस स्वर्गीय व्यक्ति की याद तुम्हारे साथ असन्तोष हुए बिना हो, तब शादी करना चाहिये। मन की इन वृत्तियों को सरलता से परखा नहीं जा सकता; इसलिये साधारणतः दूसरे के साथ सगाई हो जानेवाले व्यक्ति के साथ शादी कर लेना चाहिये, अगर किसी कारण पुराना सम्बन्ध गहरा मालूम हो तो न करना चाहिये।

विधवा, विधुर या परित्यक्त व्यक्ति के विषय में भी यही नियम ठीक है। साधारणतः इनके साथ शादी करने में कोई बुराई नहीं है। पर यदि पुराना सम्बन्ध ऐसा गहरा या अमिट मालूम हो कि नये प्रेम को जगह ही न रहे, तब ऐसा सम्बन्ध न करना चाहिये।

प्रश्न—पुराने प्रेम को नष्ट कर देना क्या उचित है? क्या यह विश्वासघात या कृतघ्नता नहीं है?

उत्तर—[illegible] को नुकसान पहुँचाये बिना या उनके नैतिक अधिकार को छीने बिना [illegible] प्रेम का विस्तार करना न तो प्रेम को निर्मूल करना है, न किसी के साथ विश्वासघात या छल करना है।

विधवा और विधुर पर तो यह दोष आता ही नहीं; क्योंकि उनका वह साथी जिन्दा ही नहीं है जिसके साथ विश्वासघात या छल करने की बात कही जाय, और विश्वासघात या छल तो तब कहलाय जब किसी तरह की ख़ास शर्त तोड़ी जाय। विवाह की शर्त ज्यादह से ज्यादह किसी के जीवन भर के लिये की जा सकती है उसके मरने के बाद नहीं। हां, किसी के मरने के बाद भी अगर कोई आर्थिक, कौटुम्बिक या पात्राभाव आदि के कारण दूसरा सम्बन्ध न करे तो यह उसकी अपनी सुविधा असुविधा का सवाल है, विश्वासघात आदि से बचने का सवाल नहीं।

परित्यक्त व्यक्ति ने भी विश्वासघात आदि नहीं किया है क्योंकि उनका विवाह सहयोग-मिलन के आधार पर हुआ था। सहयोग नष्ट हो गया, सम्बन्ध टूट गया--इसमें विश्वासघात नहीं है। हां, आशाघात है क्योंकि विवाह करते समय यह आशा रक्खी जाती है कि यह सम्बन्ध जीवन भर चलेगा। तलाक में यह आशाघात होता है, पर आशाघात और सुख-शान्तिघात में से किसी एक का चुनाव करना अनिवार्य हो जाय तो आशाघात का ही चुनाव करना चाहिये। खैर, इसमें विश्वासघात और कृतघ्नता बिलकुल नहीं है। यहां दूसरे विवाह के लिये प्रेम को निर्मूल करने का सवाल ही नहीं रह जाता क्योंकि तलाक होता ही तभी है जब बहुभाग में प्रेम निर्मूल हो जाता है।

विधवा-विवाह या विधुर-विवाह में तो सिर्फ प्रेम को उचित रीति से फैलाना ही है। एक मित्र के मर जाने पर हम दूसरा भी मित्र बनाते हैं और पुराने मित्र के विषय में आवश्यक कृतज्ञता आदि भाव भी रख सकते हैं। सिर्फ़ पुराने मित्र की याद कर करके नये मित्र को चिढ़ा नहीं सकते। इस नीति में पुराने प्रेम को निर्मूल करने की बात भी नहीं है और नये या पुराने के साथ

विश्वासघात भी नहीं है।

यहां जो अनन्यानुराग गुण की आवश्यकता बताई गई है, वह सिर्फ इसलिये कि ऐसा कोई विवाह न हो जाय, जिसको दूसरे के साथ प्रेम होने के कारण वर या कन्या पसन्द न करे। ऐसे विवाह-सम्बन्ध अनेक दृष्टियों से असफल रहते हैं।

७ **सहविचार**—जीवन में आवश्यक मुख्य मुख्य विचार-धाराओं में वर-कन्या को एकमत होना ज़रूरी है, अन्यथा अनेक अशान्तिकर संघर्षों से जीवन दुखमय हो जायगा। एक व्यक्ति एक धर्म को पसन्द करता हो—दूसरा दूसरे धर्म को, एक देशभक्त हो—दूसरा देशद्रोही, एक सुधारक हो—दूसरा बिलकुल पुराने खयाल का, इस प्रकार पति-पत्नी की विचारधारा में संघर्ष होता रहे तो मन-मुटाव हो जायगा और उनके घरू-कार्यों में भी बड़ी खींचातानी होने लगेगी। एक अपने सुधारक मित्र को बुलाना चाहता है दूसरे को इस बात से सख्त नफ़रत है—फल यह होता है कि आये हुए मेहमान की दुर्दशा हो जाती है, इससे बाहरी लोगों से सम्पर्क बिगड़ता है और आपस में भी दिल खट्टा हो जाता है। इस प्रकार आने-जाने मिलने-जुलने आदि में अड़चनें आतीं हैं, इसलिये पति-पत्नी में सहविचार होना ज़रूरी है।

विचार की दृष्टि से भी चार प्रकार होते हैं। १—विचारसमता, २—विचारानुगता ३—विचार-शून्यता, ४—विचारसहिष्णुता, ५—विचार-शत्रुता।

१ **विचारसमता** में पति-पत्नी के विचार एकसे होते हैं, दोनों विवेकी हैं, दोनों का दृष्टि-बिन्दु एक-सा है।

२ **विचारानुगता** में एक के विचार मुख्य होते हैं दूसरे के गौण। विचार के क्षेत्र में दूसरा पहिले पर इतनी श्रद्धा रखता है कि वह अपने विचार पहिले के सांचे में ढाल लेता है, इसलिये पूरा सहयोग रहता है।

३ **विचारशून्यता** में दूसरे के कुछ विचार ही नहीं होते। उसका शिक्षण वगैरह इतना कम होता है कि वह धर्म, समाज, राजनीति आदि की तरफ़ ध्यान ही नहीं देता। एक जैसे चाहे विचार रक्खे—दूसरे को उससे कोई मतलब नहीं।

४ **विचारसहिष्णुता** में विचारों में हलका-सा मतभेद रहता है, अथवा मतभेद तीव्र भी हो, पर दोनों में इतनी कट्टरता नहीं रहती कि एक दूसरे के विचार सह न सकें या एक दूसरे के दृष्टिबिन्दु को समझने की कोशिश न करें। दोनों में विवेक, संयम और स्नेह इतनी मात्रा में रहता है कि संघर्ष का कारण उपस्थित हो जाने पर भी दोनों में संघर्ष नहीं होता।

५ **विचारशत्रुता** में विचारधारा बिलकुल उलटी और तीव्र होती है, इससे दोनों में संघर्ष होन लगता है।

इन पांच विचारधाराओं में से पांचवीं से बचना चाहिये। पांचवीं विचारधारा काम कर रही हो, तो वहाँ विवाह न करना चाहिये।

प्रश्न—जुदे जुदे धार्मिक सम्प्रदायों के व्यक्तियों में विवाह-सम्बन्ध की जरूरत है या नहीं? अगर नहीं, तो एक राष्ट्रीयता या एक मानवता का निर्माण कैसे होगा? अगर है तो सहविचार की शर्त कैसे पूरी होगी?

उत्तर–जुदे जुदे सम्प्रदायों के व्यक्तियों में विवाह की पूरी ज़रूरत है, पर यह बात तभी होना चाहिये, जब दोनों में धर्म-समभाव आ गया हो। दोनों सत्यसमाज के पाक्षिक सरीखे बन गये हों। इसके बिना अगर विवाह किया जायगा तो या तो दोनों का जीवन अशान्त या दुखी बन जायगा अथवा किसी एक को अपनी इच्छा के विरुद्ध अपना ही दमन करना पड़ेगा। यह अन्याय होगा।

प्रश्न— विवाह के समय सहविचार देख-लिया गया, पर आगे कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हुईं कि दोनों के विचार इतने बदल गये कि वे विचार-शत्रुता की कोटि में चले गये, तब क्या किया जाय ?

उत्तर—विचार-सहिष्णु बनने की अधिक से अधिक कोशिश की जाय पर अगर किसी तरह मामला सुलझे ही नहीं, तब विवाह-विच्छेद भी किया जा सकता है, पर जहां तक बने इस बात को लेकर विवाह-विच्छेद की बात न आवे तो अच्छा, इसलिये ऐसे मौके पर अपने अपने अधिकार की सीमाएँ बाँध ली जायँ। जैसे–अपने अपने अधिकार के अनुसार अपनी अपनी रुचि के माफ़िक इतना खर्च किया जा सकता है, इतना समय दिया जा सकता है आदि, इस तरह रास्ता निकाल ही लेना चाहिये। विवाह-विच्छेद का अवसर कम से कम, आवे–ऐसी कोशिश करना चाहिये।

प्रश्न—अगर कोई विवाह के पहिले धोका देकर सहविचार का प्रदर्शन कर जाय, फिर विवाह के बाद अपना असली रूप प्रगट करे और कह दे कि मैं तो इस धर्म का नहीं हूं आदि, तो फिर क्या किया जाय ?

उत्तर—ऐसी हालत में विवाह एक तरह से नाजायज़ हो जायगा। तब जिसके साथ धोका किया गया हो उसकी इच्छा हो तभी वह जायज़ बन सकता है। इस प्रकार का धोका देना बहुत बुरा है। अगर विवाह-विच्छेद की नौबत न लाना हो तो जिसको धोका दिया गया हो उसे सन्तुष्ट करने की पूरी चेष्टा करना चाहिये, अगर विवाह-विच्छेद ही करना ज़रूरी हो पड़ा तो धोका देनेवाला यथाशक्य क्षतिपूर्ति करे।

इस प्रकार विवाह के लिये सहविचार देखें। छोटे छोटे मतभेद तो सहिष्णुता आदि से निरुपद्रव हो जाते हैं।

८ **शिक्षण**–दाम्पत्य में शिक्षण की अनुरूपता भी आवश्यक है। शिक्षण का मतलब यहाँ अर्थोपयोगी शिक्षण नहीं है, किन्तु वह शिक्षण है जिससे हृदय और बुद्धि सुसंस्कृत होते हैं। इस संस्कृति की दृष्टि से जब दोनों में काफ़ी विषमता होती है तब दोनों को ऐसा मालूम होने लगता है कि मानों एक दूसरे की भाषा ही नहीं समझते, इससे बातचीत और विचार-विनिमय में एक तरह की अरुचि का अनुभव होने लगता है।

शिक्षण की विषमता में एक तरह की दयनीयता का भाव आ सकता है। पर मित्रता सरीखा सहारा या भाव नहीं आता, इसलिये दोनों तरफ़ शिक्षण की आवश्यकता है।

९ **स्वास्थ्य**–दोनों अच्छी तरह जीवन यात्रा कर सकें–इसके लिये दोनों का स्वस्थ होना ज़रूरी है। यों तो कभी कभी हरएक व्यक्ति

बीमार हुआ ही करता है—वह अपवाद है। यहां तो स्थायी रूप में किसी बीमारी के न होने से मतलब है।

१० सुन्दरता—सुन्दरता की कोई खास मर्यादा नहीं बनाई जा सकती। अपने अनुरूप सुन्दरता देख लेना चाहिये। थोड़ी बहुत विषमता तो इस बारे में प्रायः हो ही जाती है; सिर्फ़ देखना यह चाहिये कि वह विषमता इतनी तो नहीं है कि एक को जीवन भर ग्लानि बनी रहे। जो व्यक्ति स्वयम् असुन्दर होते हुये भी अधिक से अधिक सुन्दर साथी का चुनाव करते हैं, वे थोड़ा बहुत आंखों का आनन्द भले ही पा जाँय, पर उससे कई गुणेरूप में दूसरी तरफ़ अनुरक्ति में कमी कराते हैं और इस तरह बहुत-सा मानसिक आनन्द खो देते हैं। हां, यह बात दूसरी है कि कहीं सुन्दरता की कमी किसी दूसरे विशेष गुण से पूरी होती हो—ऐसी हालत में इस तरफ़ का असन्तोष दूसरी तरफ़ के सन्तोष से दब जायगा, पर ये घटनाएँ आपवादिक हैं। साधारणतः इस बारे में यथाशक्य अनुरूपता का विचार करना चाहिये।

११ अनुकूल निवास—वैवाहिक-सम्बन्ध के पहिले यह बात देख लेना भी ज़रूरी है कि विवाह के बाद पति-पत्नी कहां रहेंगे? और वह स्थान दोनों के लिये अनुकूल होगा या नहीं, इस विषय में निकट और दूर का कोई नियम नहीं बनाया जा सकता। साधारणतः निकटता को लोग अधिक पसन्द करते हैं, पर ऐसा भी हो सकता है कि किसी दूर के स्थान में दोनों सन्तुष्ट रह सकें। इसी तरह बहुत लोग नगर को अधिक पसन्द करते हैं, पर ऐसा भी हो सकता है कि गांव का जीवन ही अधिक सन्तुष्ट कर सके। इसी तरह बहुत से लोग अपने प्रान्त को अधिक पसन्द करते हैं, पर ऐसा भी हो सकता है कि दूसरे देश की नवीनता या सुसंस्कृति अधिक आकर्षण कर सके। मुख्य बात इतनी है कि स्थान ऐसा न होना चाहिये जिसका असन्तोष दोनों में से किसी के हृदय में सदा चुभता-सा रहे। जो लोग घुमक्कड़ हैं, परिव्राजक जीवन बिताते हैं उनको अपने साथी का चुनाव ऐसा करना चाहिये कि जो घुमक्कड़ हो अथवा एक जगह रहकर भी जो अपना घुमक्कड़पन संतोष से निभा सके।

१२ समवयस्कता—एक और मुख्य बात है **उम्र**, जहां तक हो सके वर-कन्या समवयस्क होना चाहिये। दो-चार वर्ष की उम्र का फ़र्क रहे तो कोई हानि नहीं, पर बहुत फ़र्क होने से दोनों की मनोवृत्ति और शरीर—स्वास्थ्य अनुकूल नहीं रहता। साधारणतः वर-कन्या की उम्र में बारह वर्ष से अधिक अन्तर न होना चाहिये और अगर अधिक अन्तर हो तो भी एक की उम्र दूसरे से ड्योढ़ी से ज्यादह न होना चाहिये। साथ ही किसी की उम्र पन्द्रह वर्ष से कम न होना चाहिये वर की उम्र कम से कम अठारह वर्ष होना ही ठीक है।

दाम्पत्य के चुनाव के लिये मुख्यता से ये बारह बातें बता दी गई हैं। किसी विशेष व्यक्ति को अपनी विशेष परिस्थिति या रुचि के अनुसार और भी किसी विशेष बात को देखने की आवश्यकता हो तो वह भी देखना चाहिये।

इनमें से कुछ बातें ऐसी हैं जिनकी कमी दूसरे गुणों से पूरी की जा सकती है और गौण बनाई जा सकती हैं। जैसे—सदाचार अगर बहुत अधिक

। में हो तो कुल-शील की कमी वास्तव में । नहीं रह जाती । स्वास्थ्य और कला की ाधारणता, सुन्दरता की कमी को पूरा कर ती है । स्वास्थ्य और मनोवृति की समानता के अन्तर को गौण बना सकती है । इन सब ों का विचार वर-कन्या को ही खुले दिल से लेना चाहिये । वर-कन्या की अनुमति के ना जो अनमेल-विवाह या बाल-विवाह, वृद्ध-वाह हो जाते हैं वे एक तरह से नाजायज़ वाह हैं ।

इस प्रकार ये बारह या कुछ कम ज्यादा तों का विचार कर लेने पर अगर इसकी नुकूलता हो तो दाम्पत्य अच्छी तरह निभ सकने ो आशा की जा सकती है । इन बारह बातों ा विचार तो कुछ सरलता से किया जा सकता ; फिर भी ऐसी अनेक बातें हो सकती हैं नका विवाह के पहिले पता नहीं लगता और वाहिक-जीवन को बर्बाद करने की जिनमें ाफी शक्ति रहती है जैसे—अति क्रोध, अति मान ति लोभ, जीवन के ध्येय और तरीके में रुचि-न्नता, सेवा-भाव की कमी, आलस्य, जिव्हा-लुपता, विलासिता, खर्चीलापन, विशेषस्वार्थ-रता आदि इन सब दोषों और भिन्नताओं का ता कभी कभी बहुत देर से और बहुत समय क निकट रहने से ही लगता है या कभी कभी हुत समय तक निकट रहने पर भी नहीं लगता, केन्तु दाम्पत्य सरीखे निकट सम्बन्ध स्थापित ोनेपर ही लगता है; इसलिये दाम्पत्य सुख-शान्तिमय ो इस प्रकार के चुनाव की कुछ बातें भाग्य पर ोड़ देना पड़ती हैं । इसलिये अगर कुछ प्रति-कूलता पीछे से मालूम हो तो नयी परिस्थिति के अनुसार अपने जीवन को अनुकूल बना लेना चाहिये ।

नई मशीन के कल-पुर्जे जो एक दूसरे के अनुकूल ही ढाले जाते हैं या पहिनने-ओढ़ने की चीजें जो बिलकुल माप से बनाई जाती हैं वे भी शुरू शुरू में कुछ रगड़ खातीं हैं और धीरे धीरे कुछ समय बाद अच्छी तरह फिट होती हैं । इसी प्रकार दाम्पत्य का चुनाव कितना भी अच्छा किया गया हो—उसमें शुरू शुरू में (अर्थात् मिहमानबाजी के कुछ उन्मादी के दिन निकल जाने के बाद) कुछ न कुछ रगड़-झगड़ होने की सम्भावना होती है । इससे घबराने की ज़रूरत नहीं है, पर कभी कभी किसी में कोई या कुछ ऐसे दोष या विषमता भी दिखाई देती है जिनके साथ दाम्पत्य का निभाव अशक्य मालूम होने लगता है—ऐसी परिस्थिति में भी अगर विवेक और संयम से काम लिया जाय तो धीरे धीरे दाम्पत्य सुख-शान्तिमय हो सकता है ।

सुख-शान्तिमय दाम्पत्य बनाने के लिये यहां पति-पत्नी के योग्य कुछ सूचनाएँ दी जाती हैं उनका पालन किया जाय तो सफलता की बहुत कुछ सम्भावना है ।

१—बहुत आशा न करो ।

बहुत से मनुष्य दाम्पत्य की सुविधाओं की बहुत ज्यादा आशा करने लगते हैं और उसके पूर्ण न होने पर निराश होकर दुःखी होते हैं । पति समझता है कि मुझे हर तरह खुश रखना और मेरी सारी सेवा करना पत्नी का कर्तव्य है । मैं कैसा भी रहूं पर पत्नी को तो आदर्श अर्थात हर तरह मेरी रुचि के अनुकूल होना ही चाहिये । उसकी सुन्दरता में कमी हो, स्वर-संगीत

में कमी हो, बुद्धि में कमी हो, कला और परिश्रम में कमी हो, 'हां में हां' मिलाने में कमी हो तो वह अपने को सबसे अधिक अभागी समझने लगता है। इसी तरह बहुत सी पत्नियाँ समझने लगती हैं कि विवाह का अर्थ शृङ्गार, विलास और आलस्य है। हमारी फ़र्माइश हर तरह पूरी होना ही चाहिये, मुझे मनाने-रिझाने आदि में पति को अधिक से अधिक शक्ति और समय लगाना ही चाहिये। इस तरह जो लोग बहुत अधिक आशा करते हैं वे बहुत कुछ पाकर भी दुःखी हो जाते हैं, इसलिये कम से कम आशा करो और उससे जो अधिक मिल जाय उसे सौभाग्य समझो। कम से कम आशा से मतलब इन पांच बातों से हैं।

क—गृहप्रबन्ध अर्थोपार्जन और रक्षण की व्यवस्था में आवश्यक सहयोग।

ख—बीमारी आदि संकटों में आवश्यक साथ देना।

ग—काम-वासना की तृप्ति और सन्तानोत्पादन रक्षण के काम में अत्यावश्यक सहयोग।

घ—शील

ङ—सद्व्यवहार

यह ठीक है कि दाम्पत्य-जीवन इतने में ही सार्थक नहीं हो जाता विशेष सेवा, विनोद, आकर्षण हर काम में सहयोग आदि बहुत-सी बातें दाम्पत्य का सार्थकता के लिये जरूरी हैं सो इनके लिये यथाशक्य प्रयत्न करना चाहिये—बिना प्रयत्न के ही मिल जायँ तो सद्भाग्य। पर उपर्युक्त पांच बातों के मिल जाने पर अपने दाम्पत्य में असन्तुष्ट न होना चाहिये और असन्तोष प्रगट करना तो और भी ठीक नहीं। रूप, विद्या, कला, स्वास्थ्य, धन, बल आदि की कमी का विचार विवाह के पहिले कर लिया जाय पीछे इस विषय में असन्तोष व्यक्त करने की ज़रूरत नहीं है। पीछे तो इन त्रुटियों के रहते हुए भी सन्तोष के साथ जीवन बिताना चाहिये।

२—साथी का स्वभाव और रुचि समझो और उसके अनुसार व्यवहार करो।

किसी का स्वभाव एकान्त-प्रिय होता है किसी के स्वभाव में गप्पें मारने की आदत होती है, कोई संघर्षशील होते हैं, कोई बड़े तुनुक मिजाज़, किसी को गाने-बजाने में मज़ा आता है, कोई इससे चिढ़ते हैं और नीरवता पसन्द करते हैं, किसी की आदत क्रीड़ा-विनोद में लगे रहने की होती है, कोई किसी न किसी काम में लगा रहना पसन्द करते हैं, किसी को भांति-भांति के भोजन बनाने खाने में मज़ा आता है—कोई इस तरफ़ से काफी लापर्वाह होते हैं, कोई शृंगार या सजावट को अधिक पसन्द करते हैं—कोई इसमें समय, शक्ति साधन लगाना व्यर्थ समझते हैं। इस प्रकार अनेक लोगों की अनेक रुचियाँ होती हैं। इस-प्रकार का रुचि-स्वभाव-भेद पति-पत्नी में भी हो सकता है—ऐसी बातों को लेकर संघर्ष न होना चाहिये। इस संघर्ष को टालने का सबसे अच्छा तरीक़ा यह है कि घर की आर्थिक स्थिति का खयाल रखते हुए और अपने अपने कर्तव्य का भार सम्हालते हुए यथाशक्य दोनों को स्वतन्त्रता दी जाय, अपनी आदत ऐसी बना ली जाय कि दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधा न पड़े। अपना कर्तव्य पूरा करने के बाद अगर किसी को गाने-बजाने में अच्छा मालूम होता है तो उसे उसकी स्वतन्त्रता है; शर्त यह कि इतना शोर न मचाया जाय

कि दूसरे को अपना काम करना या चैन से बैठना मुश्किल हो जाय।

यद्यपि दाम्पत्य में नियमों की पाबन्दी से ही काम नहीं चल सकता, नियमों के उद्देश्य पर ध्यान देना पड़ता है और एक दूसरे की सुविधा और स्वतन्त्रता का खयाल रखना पड़ता है, फिर भी इस काम के लिये साथी के स्वभाव और रुचि को समझना जरूरी है। स्वाभाव की परख हो जाने पर संघर्ष को बचाने की सुविधा हो जाती है।

३– जबर्दस्ती से काम न लो।

एक दूसरे की सेवा या मनोरंजन खुशी से किया जाय तभी उससे वास्तविक संतोष होता है और करने-वाले को भी वह बोझ नहीं मालूम होता। घर के बाहर भी इस नियम की जरूरत है पर दम्पति में तो यह अत्यावश्यक है।

जबर्दस्ती तीन साधनों की अपेक्षा तीन तरह से होती है–तनसे, वचन से, अर्थ से। तन से जबर्दस्ती का अर्थ है मारना-पीटना, आदि। वचन से जबर्दस्ती का अर्थ है गाली देना, कठोर वचन बोलना या कठोर स्वर में बोलना, आदि। अर्थ से जबर्दस्ती का अर्थ है योग्य साधनों का उपयोग न होने देना, आदि।

प्रश्न–अर्थ से जबर्दस्ती तो वही कर सकता है जिसके हाथ में सम्पत्ति हो। जहाँ पुरुष के हाथ में सम्पत्ति है वहाँ पुरुष ही अर्थ से जबर्दस्ती कर सकेगा, नारी नहीं।

उत्तर–घर में रहते हुए हम जो कुछ काम या सेवा करते हैं– वह सब अर्थ है। ऐसा न होगा तो मैं रोटी न बनाऊंगी, आदि—अर्थ से जबर्दस्ती (आर्थिक बलात्कार) है। मतलब यह कि आवश्यक सेवा से इन्कार कर देना भी आर्थिक बलात्कार है।

जबर्दस्ती का जहां अवसर आ जाय वहां भी यथाशक्य जबर्दस्ती का उपयोग न करना चाहिये। मन की गम्भीरता तथा कम बोलने के द्वारा ही काम चला लेना चाहिये।

इन तीनों में से शारीरिक बलात्कार मारना-पीटना आदि तो अत्यन्त निंद्य है। यह पशुता का चिन्ह है। जब इस प्रकार की पशुता का प्रदर्शन किया जाने लगता है, तब उसका असर तो निकल ही जाता है–सिर्फ़ पशुता पल्ले पड़ जाती है।

यही बात शाब्दिक बलात्कार अर्थात् गाली-गलौज़ के बारे में कही जा सकती है। कटु शब्द भी बार-बार प्रयोग करने पर मोथले हो जाते हैं–सिर्फ़ असभ्यता या जंगलीपन हमारे पल्ले पड़ जाता है।

आर्थिक बलात्कार भी अन्याय है। आर्थिक बलात्कार का मतलब है–दाम्पत्य को तोड़ने की चुनौती। साधारण व्यवहार में इस प्रकार की चुनौती देना मूर्खता या अतिवाद है। अगर वह कोरी बन्दर-घुड़की है तब यह अधिकांश में निरर्थक जाती है और जहाँ निरर्थक नहीं जाती वहां भीतर से दाम्पत्य के स्नेह को नष्ट कर जाती है, फिर बाहरी दाम्पत्य लाश की तरह लटकता रह जाता है। इसमें कोई आनन्द नहीं।

दाम्पत्य को सुख-शान्तिमय बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उसमें न तो जबर्दस्ती से काम लिया जाय और न यथाशक्य जबर्दस्ती को मौका दिया जाय। इशारे में या थोड़े में एक दूसरे के मनोभावों को समझा जाय और नैतिक

मर्यादा का पालन करते हुए एक दूसरे के अनुकूल बना जाय ।

४—कम से कम सन्देह करो और कम से कम सन्देह के मौके दो ।

दाम्पत्य के लिये व्यभिचार से बिलकुल अलग रहने की जरूरत तो है ही, साथ ही अपने आचरण को इस तरह व्यवस्थित रखने की भी ज़रूरत है जिससे तुम्हारे शील पर सन्देह न हो। बिना कोई निश्चित काम के रात में बाहर रहना, चरित्रहीन या अनिश्चित चरित्रवाली स्त्रियों की संगति में रहना, आदि से पति पर स्त्रियों को सन्देह हो जाता है, और ऐसा ही आचरण अन्य पुरुषों के बारे में स्त्रियाँ करें तो पुरुषों को सन्देह हो जाता है—इसलिये ऐसे सन्देह के अवसरों से बचना चाहिये ।

साथ ही जरा-जरा-सी बात में सन्देह भी न करना चाहिये। अति सन्देह करने से लापर्वाही आ जाती है बल्कि कभी कभी प्रतिक्रिया होकर चरित्र-हीनता प्रवेश कर जाती है। इस प्रकार न सन्देह करो, न सन्देह को मौका दो।

५—गुप्त बात या आपसी झगड़े बाहर प्रगट न करो ।

पति पत्नी में थोड़े बहुत झगड़े होते ही हैं और शान्त भी हो जाते हैं, पर अगर उनका उल्लेख बाहर कर दिया जाता है—तो घर में झगड़ा शान्त हो जाने पर भी बाहर निन्दा होती ही रहती है और दोनों की इज्जत को धक्का लगता है, बाहरी लोगों की दृष्टि में दोनों हीन या दयनीय हो जाते हैं। इस प्रकार दोनों का नुकसान तो होता ही है साथ ही जब भी कभी ऐसे निन्दा वाक्य कान में पड़ते हैं तभी पुराना शान्त झगड़ा फिर याद आ जाता है। भीतरी झगड़े को लौटाना आसान है, पर बाहर फैली हुई निन्दा को लौटाना आसान नहीं है ।

जब एक दूसरे की शिकायत बाहर कही जाती है तब सिर्फ़ आकस्मिक झगड़ा ही नहीं रह जाता, किन्तु एक दूसरे के विरुद्ध एक प्रकार से युद्ध की चुनौती हो जाती है। इसका अर्थ होता है एक दूसरे को पछाड़ने के लिये लोकमत आदि का बल संचित करना। इससे एक प्रकार का स्थायी द्वेष पैदा हो जाता है जो कि दाम्पत्य-जीवन को खोखला कर देता है ।

प्रश्न—कभी कभी पति-पत्नी में ऐसे झगड़े पैदा हो जाते हैं जो कई दिनों तक सुलझते ही नहीं, तब किसी योग्य व्यक्ति के सामने उन झगड़ों को ले जाना क्या बुरा है ? इससे झगड़े जल्दी निबटेंगे ।

उत्तर—योग्य व्यक्ति मिल जाय तो ऐसा किया जा सकता है या करना चाहिये, पर उस योग्य व्यक्ति में तीन बातें होना चाहिये। १—पति और पत्नी की दृष्टि में उसके मत का काफी मूल्य, २—उसका पति और पत्नी दोनों से एक सरीखा निःपक्ष व्यवहार, ३—झगड़े को बाहर प्रगट न करने की विश्वसनीयता। इन तीन बातों वाला कोई योग्य व्यक्ति—गुरु मित्र कुटुम्बी रिश्तेदार आदि—मिल जाय तो यथाशक्य विनोदी भाषा में उसके सामने अपनी शिकायतें रखना चाहिय। पर इस प्रकार की शिकायतें पीठ पीछे न होना चाहिये आमने-सामने होना चाहिये, अन्यथा वह न्याय की मांग या सुलह का पैगाम न होकर निन्दा हो जायगी। पत्नी पति की बुराई अपने मां-बाप के यहां करे और पति पत्नी की बुराई अपने

माता-पिता से करें, और एक दूसरे के परोक्ष में करें तो इससे द्वेष और झगड़ा बढ़ेगा, निबटेगा नहीं।

६—स्वतन्त्रता में अनावश्यक बाधा न दो।

बैठना-उठना, आना-जाना, मिलना-जुलना, कोई विशेष कार्य में या क्रीड़ा-विनोद में लगना, आदि की दोनों को पूरी स्वतन्त्रता होना चाहिये। हां, इस स्वतन्त्रता का उपयोग इस रूप में न होना चाहिये कि घर के आवश्यक कार्य या एक दूसरे की आवश्यक सेवा में बाधा पड़ जाय। घर के और परस्पर के आवश्यक कार्य हो जाने पर एक दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधा न डालो। घर के आवश्यक कार्य हो जाने पर जितने समय दोनों की रुचि हो दोनों साथ बैठो, अगर किसी एक की रुचि किसी दूसरे काम में लगने की हो तो उसे उस में लगने दो। ऐसे अवसर के लिये तुम अकेले ही दिल बहलाने की आदत डालो। रुचि के विरुद्ध एक दूसरे को बाँधने से प्रतिक्रिया होने लगती है—इससे अरुचि और घृणा बढ़ने लगती है। जब दूसरे में हमें अरुचि और घृणा का पता लगता है तब हमें प्रेम में सन्देह होने लगता है। प्रेम में सन्देह होने पर दाम्पत्य की दुर्दशा किस सीमा तक जायगी, कह नहीं सकते।

इसके लिये यह जरूरी है कि पत्नी और पति दोनों ही को फुरसत के एकान्त में पढ़ने लिखने की, या कला-कौशल की आदत हो जिससे एक अगर अपनी रुचि के अनुसार कोई काम करना चाहे तो बाकी दूसरा भी अपनी रुचि के अनुसार कोई काम निकाल ले। इस प्रकार दोनों ही बिना किसी कष्ट के एक दूसरे की स्वतन्त्रता रक्षित रख सकें। इससे किसी को बुरा भी न लगे और प्रेम में भी ढीलापन न आवे।

७—आर्थिक व्यवस्था गड़बड़ न करो।

पति अगर पत्नी का स्त्री-धन ले ले या पत्नी स्त्री-धन बढ़ाने की दृष्टि से भूषण आदि बनवाने का हठ करे तो इससे दोनों का मन मैला हो जायगा, एक दूसरे की इज्जत न करेंगे, प्रेम शिथिल हो जायगा, दूकानदारी बढ़ जायगी, इसलिये पैसे के मामले में एक दूसरे के अधिकारों में गड़बड़ी न करो और न अपने पैसे पर इतना मोह रक्खो कि उसके आगे प्रेम या अन्य दाम्पत्य-सुख गौण मालूम होने लगे।

८—अपना कर्तव्य पूरा करो।

प्रेम या विलासमें भूलकर दोनों या कोई एक जब अपना कर्तव्य पूरा नहीं करते या एक दूसरे पर बोझ लादते हैं, तब थोड़े ही दिनों में प्रेम या विलास नष्ट हो जाता है। यद्यपि दाम्पत्य में जीवन की अभिन्नता होती है पति और पत्नी एक ही जीवन के दो अंग बन जाते हैं फिर भी जैसे एक अंग का कार्य अगर दूसरे अंग से लिया जाय तो एक अंग अतिभार के कारण और दूसरा अक्रियता के कारण रुग्ण हो जायगा और इससे सारे शरीर को कष्ट उठाना पड़ेगा। उसी प्रकार दाम्पत्य का शरीर भी कष्ट में पड़ जाता है, इसलिये प्रेम में भूलकर अपना कर्तव्य मत छोड़ो। 'काम प्यारा है चाम नहीं' इस कहावत में काफी सचाई है इसलिये अर्थ और काम दोनों जीवार्थों का समन्वय जरूरी है।

९—अहंकार मत करो। एक दूसरे के प्रशंसक रहो।

अगर पत्नी के माता-पिता श्रीमान हैं

वहाँ से विशेष सम्पत्ति मिली है या वह कुल बहुत प्रतिष्ठित है तो इस बात का घमंड न करना चाहिये, न इस बात से पति के कुटुम्ब की तुच्छता आदि की बात कहना चाहिये, इसी प्रकार पत्नी का कुटुम्ब अगर गरीब अप्रतिष्ठित आदि है तो पति को भी उस कुटुम्ब की निंदा आदि न करना चाहिये, अगर कोई आलोचना करना हो तो ऐसी करना चाहिये जिसमें एक दूसरे को नीचा दिखलाने का भाव न हो और जिससे दोनों सहमत हों।

इसी प्रकार अगर अपने में सौन्दर्य-कला ख्याति आदि अधिक हो तो भी इसका घमंड न करना चाहिये। एक दूसरे को नीचा दिखाने की भावना तो होना ही न चाहिये। अगर कभी अपनी तारीफ़ भी करना हो तो उसमें अपने व्यक्तित्व की तारीफ़ न हो; किन्तु अपने दाम्पत्य की तारीफ़ हो—इस ढंग से करना चाहिये।

अहंकार बाहरवालों के साथ भी बुरा है, फिर पति-पत्नी आपस में ही अहंकार का प्रदर्शन करें—यह तो दाम्पत्य दृष्टि से और भी बुरा है। दाम्पत्य तो पति-पत्नी के अद्वैत पर खड़ा होता है और अहंकार से तो द्वेष पैदा होता है इसलिये अहंकार को छोड़कर एक दूसरे के यथायोग्य प्रशंसक होना उचित है। समय समय पर एक दूसरे की उचित प्रशंसा करने से प्रेम में ताजगी आ जाती है—उसका मिठास बढ़ जाता है।

१०– किसी बाहरी व्यक्ति के सामने अपने साथी को अनुचित रूप में अपने से तुच्छ साबित करने की कोशिश न करो। उदाहरण के लिये जैसे पत्नी की सहेलियाँ या परिचित जन घर आये हों, उस समय पत्नी के साथ ऐसा व्यवहार करना मानों वह दासी हो अथवा उस से अनावश्यक सेवा लेना या झिड़कना या किसी तरह का अपमान करना अनुचित है। साधारण रूप में जो सेवा ली जाती हो या जैसा व्यवहार किया जाता हो—उसमें भी ऐसे मौके पर संयम रखना चाहिये। इसी तरह जब पति का परिचित वर्ग आया हो उस समय पत्नी को भी संयम रखना चाहिये।

इस विषय में कोई निश्चित मर्यादा नहीं बताई जा सकती। हरएक दम्पति की अपनी आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति के अनुसार मर्यादा होगी—उसका ख़याल रखना चाहिये। इसलिये यही कहा जा सकता है कि अपनी महत्ता या विशेषाधिकार साबित करने की दृष्टि से कोई व्यवहार न करना चाहिये। इस बहाने से आवश्यक कार्य रोकने की या साधारण सेवा लेने की मनाई नहीं है। दोनों एक दूसरे की मनोवृत्ति तथा सामाजिक परिस्थिति को समझ लें फिर व्यवहार करें।

११– अपने वैवाहिक सम्बन्ध पर असन्तोष व्यक्त न करो।

दुनिया में एक से एक बढ़कर पुरुष और एक से एक बढ़कर नारियाँ हैं। हो सकता है कि उनमें से किसी के साथ अगर तुम्हारा विवाह हुआ होता तो शायद आज की अपेक्षा तुम्हारा दाम्पत्य-जीवन अधिक शानदार या सुखमय हुआ होता, पर जो नहीं हुआ उसे असम्भाव्य ही समझ लो—उसका ध्यान भी मत करो। मैं कैसे आदमी के पाले पड़ गई, या मैं कैसी स्त्री के पाले पड़ गया—इत्यादि, बातें बेकार तो हैं ही, साथ ही एक दूसरे से मन फाड़ देनेवाली हैं। ऐसी बातों का मतलब तलाक़ की सूचना होता

है। पर, अगर तलाक किसी कारण से सम्भव न हो तो इस प्रकार का असन्तोष व्यक्त करना दाम्पत्य को व्यर्थ ही बुरी तरह घायल करना है।

१२–यथाशक्य आकर्षक बनो।

काम-जीवार्थ भी दाम्पत्य का एक बड़ा पहलू है। प्रेम पर भी इसका काफी असर पड़ता है। सुन्दरता आदि जो जन्म से मिली चीज़ है वह जैसी हो सो रहे, उस पर तो वश क्या है, पर परस्पर आकर्षण के लिये स्वच्छता और शोभा जितनी बढ़ाई जा सकती है उतनी तो बढ़ाना चाहिये। इसका यह मतलब नहीं है कि स्वच्छता के विरुद्ध श्रृङ्गार करो, न यह मतलब है कि समय और सम्पत्ति की इतनी बर्बादी हो कि आवश्यक कार्य रुक जायँ। मतलब यह कि आकर्षकता की तरफ उपेक्षा न करो।

हां, स्वच्छता में तो कोई विशेष चिन्ता की बात नहीं है, पर श्रृङ्गार में कई दृष्टियों से विचार करना चाहिये। अपनी सामाजिक परिस्थिति के अनुरूप ही श्रृङ्गार करना उचित है—श्रृङ्गार के नाम पर सादगी को हटाने की जरूरत नहीं है। और वेष में भी ऐसा परिवर्तन नहीं करना है जो अपने जीवन को कुछ का कुछ चित्रित करे। वेष जीवनधारा को बतलानेवाली एक भाषा है—इन सब बातों का खयाल रखते हुए स्वच्छता और शोभा को अपनाना चाहिये।

१३–जीवन को बोझल या कटीला बनाकर असह्य मत बनाओ। मन की निर्बलता, असहिष्णुता, चिड़चिड़ापन और अहंकार के कारण जीवन कटीला बन जाता है। इसमें पद पद पर [illegible], बकझक, रोना, हाय-हाय करना, बात बात में असन्तोष प्रगट करना—आदि बातें होने लगती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जो बाहरी दुःख सरलता से सहा जा सकता है, जिसमें दूसरों की खुशी से सेवा और सहानुभूति मिल सकती है—वह दुःख दसगुना बढ़ जाता है और सेवा सहानुभूति या तो दुर्लभ हो जाती है अथवा मिलती है तो देनेवाले को जल्दी ही थका देती है, इसलिये अपने मन को खूब मजबूत बनाओ, प्रसन्न-मुख रहो, कोई कष्ट हो तो थोड़े में उचित समय पर ही प्रगट करो, उसके सहने में बहादुरी दिखाओ, अपना दुःख दूसरे पर जबर्दस्ती न उड़ेलो, अन्यथा इसका परिणाम यह होगा कि साथी साथ से बच निकलने की कोशिश करेगा। पति घर में आये और उसके पहिले उसे यह चिन्ता लग जाय कि—न जाने आज भवानी के साथ कैसे पाला पड़ेगा—उनकी क्या क्या शिकायतें सुनने को मिलेंगी तो समझना चाहिये कि पत्नी ने अपना जीवन असह्य बना डाला है। प्रेम कितना भी गहरा हो उसने प्रेम की जड़ में घातक कीड़ा लगा दिया है—जो हर समय उसे कुतरता ही रहता है, ऐसी हालत में पानी देते रहने पर भी प्रेम का वृक्ष सूख जायगा।

इसी प्रकार पति के आने के पहिले ही अगर पत्नी को यह चिन्ता हो जाय कि—न जाने आज देवता क्या क्या बकझक करेंगे—आदि, तो कहना चाहिये कि पति ने भी अपना जीवन असह्य बना डाला है, और उसने प्रेम के वृक्ष को सुखाने का निमित्त मिला दिया है।

महीनों में होनेवाली किसी खास घटना की बात दूसरी है, पर साधारणः नियम यह होना चाहिये कि मिलते समय दूसरे को खुशी ही हो, अपना प्रसन्न मुख देखकर वह अपना ही

थोड़ा-बहुत दुःख भूल जाय न कि प्रसन्न वातावरण में मनहूसी आ जाय। चिड़चिड़ापन तुनुक-मिजाजी आदि से हम अपना दुःख भीतर से बढ़ाते ही हैं, साथ ही सेवा-सहानुभूति आदि खोकर उसे बाहर से भी बढ़ा लेते हैं। इसलिये अपने जीवन को ऐसा बनाओ जिससे उसका बोझ दूसरे पर कम से कम पड़े और किसी को उससे चोट न पहुँचे।

दाम्पत्य-जीवन के लिये तो यह नीति अत्यावश्यक है ही, साथ ही सभी मिलने-जुलने वाले या सहयोगियों के साथ हमें इसी नीति से काम लेना चाहिये। शरीर और बाहरी घटनाओं पर हमारा अंकुश भले ही न हो, पर अपनी मनोवृत्ति पर अंकुश तो हम लगा सकते हैं और विपरीत परिस्थिति में भी जीवन सुखमय बना-सकते हैं।

१४—कभी कभी कुछ समय के लिये वियोग को अवसर दो।

वैवाहिक जीवन के प्रारम्भ में बहुत से दम्पति यही चाहते हैं कि दिन-रात साथ ही रहा जाय—क्षणभर को भी अलग न होना पड़े, पर इस मोह के दो दुष्परिणाम होते हैं। एक तो यह कि कामुकता बढ़ जाने से स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है, दूसरा यह कि अतिमात्रा में संयोग होने से कुछ समय बाद संयोग फीका हो जाता है। इसलिये इस मोहासक्ति पर कुछ अंकुश रखना चाहिये। नव-वधू का इस दृष्टि से भी बीच बीच में माता-पिता के यहां जाना ज़रूरी है, अथवा पति की जीविका ऐसी हो जिसमें बीच बीच में उसे प्रवास करना पड़ता हो तो वियोग की आवश्यकता इस तरह भी पूरी हो सकती है।

बात यह है कि दाम्पत्य-जीवन में थोड़ा बहुत मनोमालिन्य होने की सम्भावना रहती ही है। यद्यपि वह मलिनता जल्दी मिट भी जाती है फिर भी हरएक मलिनता कुछ न कुछ अपना असर ज़रूर छोड़ जाती है, इसलिये कभी कभी ऐसा मालूम होने लगता है कि दोनों कुछ स्थायी रूप में दूर दूर से हो रहे हैं। ऐसी हालत में अगर महीने—पन्द्रह दिन वियोग का अवसर आ जाता है तो वियोग से जो प्यास बढ़ती है उसका ताप उस मलिनता को जला डालता है।

हाँ, रुष्ट होकर वियोग न करना चाहिये; क्योंकि इससे रोष के स्थायी होने की अथवा लैङ्गिक आकर्षण की दिशा बदल जाने की सम्भावना हो जाती है; क्योंकि रोष में किया गया वियोग किसी को गृहत्यागी बना देता है, किसी को आत्म-हत्या आदि के मार्ग में ले जाता है या क्रोधावेग में अपने ही हाथों अपने को कष्ट देकर अस्वस्थ बना देता है, किसी को व्यभिचारी बना देता है, कहीं तलाक की नौबत ला देता है।

मतलब यह कि अन्य किसी कारण से वियोग हो तो उस का असर अच्छा होगा। झगड़े से पैदा होनेवाला वियोग हानि करेगा। हां, किसी अवसर पर उद्वेग को शान्त होने का मौका देने के लिये किनाराकशी कर जाना बुरा नहीं है, पर थोड़े समय की इस किनाराकशी को भी अगर कोई दूसरा निमित्त मिल जाय तो और भी अच्छा है।

खैर, यह ग्रामान्तर वियोग तो महीनों में कभी कभी ही जरूरी होता है, पर वैसे भी दिनचर्या में कुछ वियोग ज़रूरी है, क्योंकि मोह के कारण होनेवाले अति मिलन से प्रतिक्रिया होने लगती है। मतलब यह कि संयोग—धर्म,

अर्थ, मोक्ष और काम की स्वतंत्रता में बाधक न बन जाय–इसका सन्तुलन वियोग के द्वारा करते ही रहना चाहिये।

१५–स्वावलम्बन और सहयोग का समन्वय करो। अति-स्वावलम्बन से एक दूसरे के बारे में उपेक्षा होने लगती है और आकर्षण छिनता है। अगर पुरुष घर के सारे कार्य खुद ही कर ले वह नारी के सहयोग की ज़रूरत ही न समझे तो नारी के मन में यह खयाल आयेगा कि इनको मेरी ज़रूरत ही नहीं है–मैं तो बोझ हूं जो शायद कभी भी फेंकी जा सकती हूं। इसी प्रकार अगर नारी में भी ऐसा ही अति-स्वावलम्बन हो तो पुरुष के मन में भी ऐसे ही विचार आयेंगे इससे दाम्पत्य में ढीलापन आ जायगा। हाँ, एक दूसरे का काम कर सकने की योग्यता रखने में कोई आपत्ति नहीं है, बल्कि यह तो ज़रूरी है। हरएक पुरुष को चाहिये कि ज़रूरत होने पर वह नारी का भी काम कर सके और हरएक नारी को चाहिये कि ज़रूरत होने पर पुरुष के भी काम कर सके। यहाँ तो अति-स्वावलम्बन के प्रदर्शन के बारे में कहा जाता है। यह प्रदर्शन परस्पर की पूरकता को कम कर देता है, इससे आकर्षण आदि भी नष्ट हो जाते हैं, इसलिये स्वावलम्बन के साथ सहयोग होना आवश्यक है।

यह सहयोग कितना आवश्यक और सुन्दर है–इसका वर्णन कवि लोग काफी किया करते हैं। एक प्रेमिका के मुँह के पास भौंरा उड़ता है वह डरकर या डरने का नाट्य कर अपने प्रेमी को बुलाती है, प्रेमी आकर भौंरे को भगा देता है इससे दोनों का मन प्रेम के उल्लास से भर जाता है। प्रेमी अनुभव करता है कि मेरे जीवन की सार्थकता है, मैं प्रेमिका के लिये ज़रूरी हूं और प्रेमिका अनुभव करती है कि मैंने सहयोगी-रक्षक पाया है। इसी प्रकार जब प्रेमिका प्रेमी के लिये ठंडे जल का गिलास पीने को देती है या शरबत बनाकर देती है या पान लगाकर देती है, तब प्रेमी भी एक सहयोगी को पाने की तृप्ति अनुभव करता है और प्रेमिका भी अपने जीवन की उपयोगिता समझती है। इस प्रकार सहयोग ज़रूरी ही नहीं है, परन्तु आकर्षक भी है। अति स्वावलम्बन के प्रदर्शन से जीवन अनाकर्षक, उपेक्षक और शिथिल बन जाता है।

पर दूसरी तरफ़ सहयोग की अति भी अच्छी नहीं है; क्योंकि इससे एक दूसरे के लिये बोझ बन जाता है और कभी कभी बड़ी झुँझलाहट पैदा करता है। किसी एक को मर्यादा के बाहर जोतने से एक तरफ़ आलस्य, अभिमान विलासिता आदि पैदा होती है, दूसरी तरफ़ थकावट, दीनता, दासता, परेशानी और घृणा तक पैदा होती है–इस तरह दोनों का पतन होता है। इसलिये स्वावलम्बन और सहयोग दोनों का समन्वय करो।

१६–प्रधानता का निर्णय करके दाम्पत्य का तन्त्र व्यवस्थित रक्खो।

कुटुम्ब, संस्था, सेना आदि के लिये भी इसकी ज़रूरत होती है, पर वहाँ कानून-कायदे कुछ सरलता से बन जाते हैं। बहुतों में किसी एक को प्रधानता दे दी जाती है और उसके आधार से व्यवस्था चलने लगती है–पर दाम्पत्य में दो प्राणी हैं और दोनों का दर्जा और अधिकार समान है। जहाँ समान श्रेणी के दो अधिकारी होते हैं वहाँ व्यवस्था चलाना कठिन हो सकता है, इसलिये प्रधानता के बारे में एक अलिखित नियम बना लेना चाहिये। साधारणतः अपने

अपने कार्य-क्षेत्र में पति और पत्नी दोनों काफ़ी स्वतन्त्र रहें, पत्नी के क्षेत्र में पति उसका अनुगमन करे और पति के क्षेत्र में पत्नी उसका अनुगमन करे। पर ऐसी भी परिस्थितियाँ होतीं हैं, जब दोनों के कार्य-क्षेत्र पर असाधारण असर पड़ता है-ऐसे मौके पर अगर दोनों में मतभेद हो तो जिसका 'अनुभव और विचार' विशाल हो उसे प्रधानता दे देना चाहिये। सम्पत्ति का अधिकार किसके हाथ में है-आदि बातों का अभिमान न आना चाहिये। किसका निर्णय प्रधान रहे-इसका आधार स्त्रीत्व या पुरुषत्व अथवा शक्ति या सम्पत्ति न होकर विवेक-बुद्धि-अनुभव आदि हो। और ऐसे मौके पर बड़प्पन का घमंड या लघुता की दीनता न आना चाहिये।

१७-टकराने से बचो।

राजनीति में, बाजारमें-आदमी आदमी से टकराता है और जब असफल होने की या किसी विशेष हानि की सम्भावना समझता है तब सन्धि करता है। सन्धि तो हो जाती है, पर अपने अपने मौके की तलाश में दोनों लगे रहते हैं। परिस्थिति बदलते ही रुख भी बदलते हैं, इसलिये शिष्टाचार के रहने पर भी परस्पर विश्वास निश्चिन्तता और कौटुम्बिकता नहीं रहती। दाम्पत्य ऐसा नहीं है। वहां परस्पर संघर्ष हो जाने के बाद विवश होकर ही अगर एक दूसरे की सुविधा का ख़याल आया, अपने अपने विवेक से अगर अनुकूलता न आई अथवा इशारे में एक दूसरे की सुविधाओं या अनुकूलताओं को न समझा, हरएक व्यवस्था घोर कलह या संघर्ष के बाद ही हुई तो दाम्पत्य कटीली शय्या की तरह हो जायगा। उसे इसीलिये अपनाया जायगा कि संसार में बैठने के लिये या इज्जत के साथ बैठने के लिये दूसरी जगह नहीं है।

यद्यपि आजकल अधिकांश दाम्पत्य इसी तरह के हैं, पर इसका अर्थ यही है कि मनुष्य के हृदय में पशु ने ही अधिक जगह घेर ली है, इसलिये मानव-दाम्पत्य दुर्लभ हो रहा है। बहुत से दम्पति सारी जिन्दगी कलह में बिता देते हैं, जब तक परिस्थिति आदि से एक दूसरे को विवश नहीं कर डालते तब तक कोई किसी के अनुकूल बनने की कोशिश नहीं करता और एक बार अनुकूलता दिखाने पर भी दूसरे बार फिर वही प्रतिकूलता की बात होती है। फल यह होता है कि जो दाम्पत्य सोने का संसार बन सकता था—वह धूल में मिल जाता है।

यह याद रखना चाहिये कि टकराने से जो घाव पड़ते हैं-वे एक बार पुर भी जाँय, तो भी उनमें चिरकाल तक दर्द बना रहता है और उनकी याद दुखी और बेचैन बनाती रहती है, इसलिये फजूल ही टकराओ मत। एक दूसरे को खूब समझ लो-प्रतिस्पर्द्धा या नादानी से टकराकर घायल मत बनो।

यद्यपि थोड़ा-बहुत कलह दाम्पत्य-जीवन में हो जाता है, पर उस कलह को 'कलह' नहीं कहते जो 'प्रेम-कलह' कहलाता है, और न उस कलह से मतलब है जो मिनिटों में पूरा हो जाता है, पर वह कलह भयंकर है जो अपने विशेष व्यक्तित्व, स्वतन्त्रता, रुचि, अर्थ, सेवा--आदि के लिये होता है। ये बातें जब टकराने के बाद मिल भी जाती हैं-तो भी निःसार हो जाती हैं, इसलिये इनके मिलने न मिलने में बहुत कम अन्तर रहता है। कुटुम्ब के बाहर टकराने के बाद भी

जो प्राप्ति काफी सफलता समझी जाती है—वह कुटुम्ब के भीतर खासकर दाम्पत्य के भीतर नगण्य ही है। यद्यपि इस प्रकार की टक्करें अनिवार्य मानी जातीं हैं, पर ये अनिवार्य हैं नहीं, न होना चाहिये। वैवाहिक चुनाव अगर ठीक किया जाय और पीछे भी विवेक से काम लिया जाय तो ऐसी टक्करों की नौबत नहीं आती।

फटा बर्तन जुड़ तो जाता है पर जोड़ की जगह धोते समय हाथ में लगती रहती है। दाम्पत्य की टक्करों की भी यही बात है। बुद्धिमानी से इनसे बचो और एक ही जगह दो बार टक्कर तो कभी मत खाओ।

१८— प्रेम करो—मोह नहीं।

यह सूचना सिर्फ दाम्पत्य के लिये ही नहीं किन्तु सभी तरह के सम्बन्धों के लिये आवश्यक है। पहिले जो दाम्पत्य सम्बन्धी सूचनाएँ दी गई हैं या जो और भी दी जा सकती हैं—उन सब का बीज इस सूचना में है। प्रेम और मोह का अन्तर 'आचार-कांड' में बताया गया है। सार यह है कि प्रेम में अपनी वासना को तृप्त करने की लालसा नहीं होती; किंतु प्रेम-पात्र की भलाई की लालसा होती है या यह मुख्य होती है। मोह में अपनी वासना की तृप्ति मुख्य है, प्रेम-पात्र की भलाई गौण है। मोही-पति पत्नी को लिये बैठा रहेगा, पत्नी की रुचि-अरुचि की भी पर्वाह न करेगा। इसी प्रकार मोही-पत्नी पति को लिये बैठी रहेगी—उसकी रुचि-अरुचि सुविधा-असुविधा की पर्वाह न करेगी। प्रेम में एक दूसरे की रुचि-अरुचि, सुख-दुःख, उन्नति-अवनति का पूरा विवेक रक्खा जाता है और दूसरे की न्यायोचित सुविधा के लिये संयम और त्याग से काम लिया जाता है।

ये खास खास सूचनाएँ हैं, और भी सूचनाएँ हो सकती हैं। यद्यपि पति और पत्नी दो व्यक्ति हैं और दोनों की चेतना जुदी-जुदी है, फिर भी दोनों का व्यक्तित्व इस प्रकार एक दूसरे में गुथ जाता है कि इन्हें एक ही मनुष्य के दो अंग कह सकते हैं। ये अंग जितने अधिक समन्वित होंगे—मनुष्य उतना ही अधिक सुखी और बलवान होगा। दाम्पत्य की सुव्यवस्था पर कुटुम्ब का तथा समाज का बहुत-सा सुख निर्भर है। समाज की सच्ची और महत्वपूर्ण इकाई यही है।

विवाह-विच्छेद (तलाक)

नर-नारी के जीवन का बड़ा भारी कलंक और बड़ा भारी दुर्भाग्य है—तलाक, इसलिये इससे जितना अधिक बचा जाय उतना बचने की कोशिश करना चाहिये। विवाह के चुनाव के समय सावधानी न रखने से, अथवा सुखमय दाम्पत्य की सूचनाओं का पालन न होने से अपने दाम्पत्य से आदमी घबरा जाता है और सोचने लगता है कि इससे विधुर या विधवा होना अच्छा, अथवा किसी और से शादी कर लेना अच्छा। इस प्रकार परिस्थिति इतनी खराब हो जाती है कि रात-दिन बेचैनी रहने लगती है और दाम्पत्य के बन्धन को तोड़ देने की तीव्र इच्छा हो जाती है। यद्यपि कभी कभी ऐसी घटनाएँ भी होती हैं जब चुनाव और सूचनाओं के पालन में लापर्वाही न होने पर भी दाम्पत्य असह्य हो जाता है, पर ऐसी घटनाएँ अपवाद रूप में बहुत कम होती हैं।

फिर भी हर हालत में तलाक से बचने की कोशिश करना चाहिये। अगर कभी तलाक का मौका आ ही जाय तो यह उचित है कि दोनों अस्थायी रूप में कुछ दिनों के लिये अलग अलग रहने लगें। इस प्रकार कुछ दिन वियोगी जीवन बिताने से तलाक के बाद होनेवाली कठिन परिस्थिति का अनुभव हो सकता है और इससे दाम्पत्य की असुविधा या वैर की कटुता कम हो सकती है। इसलिये यह ठीक है कि तलाक देने के पहिले तीन महिने तक पति-पत्नी अलग अलग रहकर अजमाइश करें। फिर भी अगर तलाक की परिस्थिति बनी ही रहे तो तलाक का निर्णय किया जाय।

पर अपनी इच्छा होने से ही तलाक नहीं दिया जा सकता। साधारणतः तलाक तभी उचित कहा जा सकता है जब पति और पत्नी दोनों तलाक देने को पूर्ण इच्छुक हों। पर यह भी हो सकता है कि जिस तरफ से ज्यादती हो वह तलाक देना न चाहता हो तो दूसरा पक्ष आत्मरक्षा आदि के लिये तलाक दे, पर ऐसी हालत में योग्य और जबर्दस्त कारण होना चाहिये। कैसी हालत में तलाक दिया जा सकता है और कैसी हालत में देना चाहिये– इसका निर्णय करने के लिये यहाँ कुछ सूचनाएँ दी जाती हैं।

१—विवाह अगर विच्छेद्य हो तो समय की मर्यादा के भीतर वह तोड़ा जा सकता है। होने लायक न होने पर भी जो विवाह हो जाय वह विच्छेद्य-विवाह है। विच्छेद्य होने के कई कारण हैं और उन कारणों के अनुसार विवाह-विच्छेद के समय की मर्यादा है। मुख्य मुख्य कारण ये हैं।

(क) **वृद्ध-विवाह**–किसी लड़की का किसी ऐसे व्यक्ति के साथ विवाह कर दिया जाय जिसकी उम्र लड़की की उम्र से बीस वर्ष या इससे भी अधिक ज्यादा हो, माता-पिता आदि अभिभावकों के संकोच के कारण या और किसी कारण से लड़की अपनी अनिच्छा व्यक्त न कर पाई हो तो यह विवाह विच्छेद्य होगा। ऐसे विवाह को लड़की जब चाहे तोड़ सकती है। हां, अगर विवाह के तीन वर्ष बाद तक वह विवाह न तोड़े तो विवाह विच्छेद्य न रहेगा। और विवाह के बाद तीन वर्ष पूरे हो जाने पर भी अगर लड़की की उम्र इक्कीस वर्ष से कम हो तो विवाह विच्छेद्य रहेगा। वास्तव में वर कन्या की उम्र में बारह वर्ष से या डेवढ़े से ज्यादा अन्तर न होना चाहिये, पर किसी कारण कुछ ज्यादा अन्तर हो जाय तो भी बीस वर्ष से ज्यादा अन्तर तो नहीं ही होना चाहिये; इससे ज्यादा अन्तर हो तो वह वृद्ध-विवाह होने से विच्छेद्य विवाह होगा।

हां, दोनों ही बालिग़ हों और दोनों ने अपनी इच्छा से खुद ही विवाह किया हो तब बीस वर्ष से अधिक अन्तर होने पर भी इस कारण से विवाह विच्छेद्य नहीं कहा जा सकता।

जो बात किसी बूढ़े के साथ किसी लड़की की शादी के बारे में कही गई है वही बात किसी बूढ़ी के साथ किसी लड़के की शादी के बारे में भी कही जा सकती है। हां, यह बात दूसरी है कि ऐसी घटनाएँ प्रायः नहीं होती हैं।

वृद्ध-विवाह के मामले में वृद्ध-व्यक्ति इस कारण को बताकर तलाक नहीं दे सकता। सिर्फ़ अल्पवयस्क व्यक्ति ही इस कारण से तलाक दे सकता है।

(ख) **विवश-विवाह**—जो विवाह वर या कन्या को अनुचित रीति से विवश करके किया गया हो—वह विवश-विवाह भी विच्छेद्य है। जैसे-किसीको पकड़कर जबर्दस्ती विवाह कर लेना, अथवा उसके कुटुम्बियों या मित्रों को मारने की या सताने की धमकी देकर विवाह कर लेना, आदि। विवाह दोनों पक्षों की अर्थात् वर कन्या की राजीखुशी से होना चाहिये, किसी के ऊपर महान संकट उपस्थित करके उसे विवाह के लिये विवश करना और उसकी अनिच्छा रहते हुए विवाह कर लेना—विवश-विवाह हैं। जिसे विवश किया गया हो वह यदि चाहे तो ऐसे विवाह को, विवाह के बाद तीन वर्ष तक या इकीस वर्ष की उम्र तक तोड़ सकता है।

(ग) **छद्मरूप-विवाह**-जिस विवाह में अपना रूप छिपाने का धोका दिया हो वह छद्मरूप विवाह है वह भी विच्छेद्य है। अपना गोत्र, धर्म या जाति छिपा लेना, अपना आर्थिक स्थिति और पद आदि का मर्यादा से अधिक झूठा परिचय देना-जैसे अपने को झूटमूट ही कहीं का राजा बता देना आदि—यह सब छद्मरूप विवाह है। इसी प्रकार विवाहिता या विधवा को कुमारी बताकर, वेश्या पुत्री को कुलीन बताकर धोका देना आदि भी छद्म-रूप विवाह के कारण हैं।

साधारणतः मनुष्य को धर्म-समभावी या जाति-समभावी होना चाहिये। वेश्या पुत्रियों का भी यथाशक्य उद्धार करना चाहिये, विधवाओं को भी कुमारी के समान समझना चाहिये, अमीर गरीब में भी समभाव रखना चाहिये यह सब ठीक है, पर यह दोनों पक्ष की मर्जी की बात है, अपना रूप साफ़ बता दो फिर अगर दोनों में समभाव हो तो अच्छी बात है। पर इसके लिये रूप न छिपाओ धोका न दो। धोका देकर अगर विवाह किया जायगा तो जिसको धोका दिया गया है उसको अधिकार है कि वह ऐसे विवाह को विच्छेद्य विवाह कहकर तलाक दे दे। फिर भी हरएक छद्मरूप विवाह एक सरीखा विच्छेद्य नहीं होता उसमें कुछ मर्यादा है, उनका खयाल रखना चाहिये। कुछ सूचनाएँ यहां दी जातीं हैं।

अगर गोत्र या जाति छिपाई गई हो तो पति-पत्नी के सम्मिलन (सुहागरात) के पहिले ही विवाह-विच्छेद किया जा सकता है बाद में नहीं। अगर धर्म छिपाया गया हो तो छिपानेवाले को उसी धर्म का बन जाना चाहिये जो 'धर्म' विवाह के समय उसने बताया था—ऐसी हालत में विवाह विच्छेद्य न होगा। अगर उसकी उस तरफ़ बिलकुल श्रद्धा न हो तो जिसके साथ उसने धोका किया है उसे तीन वर्ष तक तलाक देने का अधिकार होगा, अगर किसी कारण वह तलाक न दे तो उसके धर्म में कोई जबर्दस्ती न होना चाहिये। जबर्दस्ती करने पर कभी भी विवाह विच्छेद्य हो सकता है।

आर्थिक स्थिति या पद आदि का झूठा परिचय अतिमात्रा में दिया गया हो तो एक वर्ष के भीतर तलाक दिया जा सकता है।

अगर कोड़ आदि कोई असाधारण खराब बीमारी छिपाई गई हो तो भी एक वर्ष तक तलाक दिया जा सकता है।

अगर विवाह-विधि के अवसर पर वर या कन्या धोका देकर बदल दिये गये हों पर उनमें मूलगोत्र धर्म जाति उचित हों तो पता लगते ही

विवाह विच्छेद किया जा सकता है, पर पता लगने की बात सुहागरात के दूसरे दिन तक हो जाना चाहिये और इसके बाद पति-पत्नी को अलग रखना चाहिये। अच्छी बात तो यह है कि बदले हुए पात्र के साथ ही गुजर की जाय; क्योंकि ऐसे मामलों में गलती पात्र की तरफ से नहीं होती—पात्र के अभिभावकों की तरफ से होती है। इसलिये अभिभावकों की गलती का दंड पात्र को न सहना पड़े—इस बात की यथाशक्य कोशिश करना चाहिये।

विवाहिता या विधवा को कुमारी बताया गया हो, वेश्या-पुत्री या व्यभिचार-जात को कुलीन बताया गया हो तो एक वर्ष तक विवाह विच्छेद हो सकता है। इसी प्रकार पति के बारे में धोका किया गया हो तो उसे भी यही नियम लागू है।

अगर कन्या (दुलहिन) गर्भवती हो और उसने गर्भ छिपाया हो तो इस बात का पता लगने के एक वर्ष बाद तक पति उसे तलाक दे सकता है। हां, अगर वह पत्नी के इस अपराध को माफ कर सके तो यह उसकी कृपा है।

नपुंसकता, पागलपन अगर छिपाया गया हो तो तीन वर्ष के भीतर विवाह विच्छेद होगा।

प्रश्न— किसी कन्या के अभिभावक ने अपनी कुरूप कन्या का फोटो किसी चतुर चित्रकार से सुधरवाकर भेज दिया और चित्र पर से कन्या सुन्दरी समझ ली गई और घूंघट की ओट में शादी हो गई। सुहागरात के समय इसका पता लगा तो क्या उस समय पति अपनी असुन्दर पत्नी को तलाक दे सकता है? आखिर यह प्रच्छन्न-रूप विवाह है और कन्या को बदल देने के समान है।

उत्तर— यह अपराध तो है ही और प्रच्छन्न रूप विवाह भी है, पर इतनी मात्रा में नहीं कि तलाक दिया जा सके। कन्या या वर को बदल देना तो एक भयंकर अपराध है और सौन्दर्य वगैरह की समानता में इसे पकड़ना भी कठिन है। पर चित्र के मामले में यह बात नहीं है। सिर्फ चित्र देखकर पसन्द भी करना अनुचित ही है। एक तो पर्दा ही बुरी बात है फिर विवाह के अवसर पर पर्दा तो और भी बुरी बात है। इस कारण से अगर किसी को ठगाना पड़े तो एक कुरूढ़ि पालन का दंड भोगना ही चाहिये। फिर असुन्दरता से जीवन के साधारण काम नहीं रुकते, इसलिये इतनी ही बात पर तलाक नहीं दिया जा सकता।

प्रश्न— लड़की को देख लिया गया, पर उस की आंखें ऐसी थीं कि आंखें खुली रहने पर भी वह अन्धी थी, लड़की के अभिभावकों ने जान-बूझ कर उसका अन्धापन छिपाया था, अथवा उसका गूंगापन या लूला-लगड़ापन छिपाया था--इस प्रकार के प्रच्छन्न विवाहों का क्या करना चाहिये?

उत्तर— विवाह के अवसर तक अगर इनकी परीक्षा में धोका खाया गया हो तो सुहागरात के पहिले तक इनकी परीक्षा अवश्य हो जायगी और उस समय तक विवाह विच्छेद है, बाद में नहीं। उचित तो यह है कि विवाह-विधि में ही इनकी परीक्षा हो जाना चाहिये। प्रदक्षिणाओं से लगड़ेपन और अंधेपन की, सप्तपदी आदि से गूंगेपन की परीक्षा हो सकती है। और इसके पहिले भी परीक्षा कर ली जाय--यह भी जरूरी है।

प्रश्न— अगर शिक्षण की योग्यता छिपाई गई हो तो ?

उत्तर— बात तो बुरी है, पर तलाक के लिये यह पर्याप्त कारण नहीं है।

(घ) **प्रच्छन्नरूप विवाह**— किसी घटना-विशेष के कारण वर और कन्या का कोई ऐसा रूप छिपा रह गया हो जो विवाह के पहिले मालूम हो जाता तो विवाह न होता, तो ऐसा विवाह प्रच्छन्नरूप विवाह है। जैसे-मानलो किसी गृहस्थ की कोई बच्ची गुम जाय और किसी दूसरे के हाथ पड़ जाने से वह पाल ले, और बड़ी होने पर उसका विवाह अनजान में उसी गृहस्थ के लड़के से, अर्थात् जन्म की अपेक्षा अपने सगे भाई से हो जाय। तो यह प्रच्छन्न-रूप विवाह कहलायगा। यह विवाह रहस्य का पता लग जाने पर विच्छेद्य है, पर यह तभी तक विच्छेद्य है जब तक सन्तान पैदा न हुई हो। सन्तान हो जाने पर फिर विच्छेद न करना चाहिये। और सन्तान के पहिले किन्तु सुहागरात के बाद विवाह विच्छेद करना न करना दोनों की इच्छा पर निर्भर है।

सुहागरात के पहिले ऐसा विवाह तोड़ देना चाहिये अर्थात् उस विवाह को एक तरह से नाजायज़ मान लेना चाहिये।

अगर प्रच्छन्नरूप विवाह में रिश्ता सगा न हो, चाचा-मामा-मौसा आदि का हो तो सुहागरात के बाद विवाह विच्छेद्य न रह जायगा। और सुहागरात के पहिले विच्छेद करना न करना दोनों पक्षों की इच्छा पर निर्भर रहेगा।

प्रश्न— छद्मरूप विवाह में जो कारण विवाह विच्छेद के बतलाये गये हैं—वे क्या प्रच्छन्नरूप विवाह में विच्छेद के कारण नहीं हो सकते ?

उत्तर— नहीं। छद्मरूप विवाह में जानबूझ कर धोका दिया जाता है जब कि प्रच्छन्नरूप विवाह में किसी भी तरफ से धोका नहीं दिया जाता, इसलिये उन कारणों से प्रच्छन्नरूप विवाह का विच्छेद न करना चाहिये। इसलिये अगर अकुलीन आदि के साथ शादी हो जाय तो इसे दैवगति समझकर उसी में सन्तोष करना चाहिये। असली बात यह है कि प्रच्छन्नरूप विवाह में प्रच्छन्न व्यक्ति का अमुक अंश में पुनर्जन्म हो जाता है, इसलिये पहिली अज्ञान या प्रच्छन्न बातों पर पर्दा पड़ा रहने देना चाहिये। हां, पर्दा उघड़ जाने से बहिन-भाई सरीखी भावना जग जाय तो सन्तान होने के पहिले विवाह विच्छेद्य हो जाता है।

(ङ) **अन्यानुराग**—प्रेम एक से हो और विवाह दूसरे के साथ हो, तो यह अन्यानुराग है। सामाजिक या कौटुम्बिक परिस्थिति अथवा लज्जा के कारण अगर वर या कन्या ने अपना अन्यानुराग प्रगट न कर पाया हो और दोनों का विवाह हो गया हो और इस कारण से दाम्पत्य कटीला बन गया हो तो विवाह विच्छेद किया जा सकता है।

उचित तो यह है कि ऐसा मौका ही न आने पावे। अपने अभिभावकों से अन्यानुराग की बात साफ कह देना चाहिये, अथवा वर—कन्या से, और कन्या—वर से, अन्यानुराग की बात कह सकती है, इस प्रकार अन्यानुराग का पता लग जाने पर भी अगर दोनों विवाह के लिये राजी हो जाते हैं तो विवाह विच्छेद्य नहीं कहा जा सकता।

पर अगर किसी कारण ऐसा न हो पावे और विवाह के बाद ही अन्यानुराग की बात मालूम

हो तो सन्तानोत्पत्ति के पहिले विवाह विच्छेद के लिये दोनों को यथासम्भव राजी हो जाना चाहिये। अगर यह मालूम हो कि दोनों इस हालत में भी ईमानदारी के साथ दाम्पत्य निभा सकते हैं तो विवाह विच्छेद न करना चाहिये।

अगर दो में से एक की इच्छा विवाह विच्छेद करने की हो दूसरे की न हो तो भी विवाह विच्छेद न करना चाहिये।

प्रश्न– मान लीजिये, पत्नी अन्यानुरागिणी है, इसलिये वह अपने पति से प्रेम नहीं करती, पर पति उसके अन्यानुराग की बात जानकर भी उससे प्रेम करता है, इसलिये वह विवाह विच्छेद की बात मानने को तैयार नहीं है, ऐसी हालत में पत्नी क्या करे?

उत्तर—पति के साथ ईमानदारी के साथ रहने की और विवाह विच्छेद का विचार भुलाने की कोशिश करे। इसमें अगर उसे कुछ मानसिक कष्ट हो तो उसे सहना चाहिये। आख़िर यह उसी के अपराध का दंड है। एक तो विवाह के पहिले उसने अन्यानुराग की बात छिपाकर अपराध किया, दूसरे जब उसका पति अन्यानुराग की बात क्षमा करने को तैयार है तो क्षमा को अस्वीकार करके अपना अपराध बढ़ाना न चाहिये, बल्कि कष्ट सहकर पति को सन्तुष्ट रखना चाहिये। इसी प्रकार अगर पति अन्यानुरागी हो और पत्नी उसके अन्यानुराग को क्षमा करना चाहती हो तो उसे भी विवाह विच्छेद की बात भूलकर पत्नी को सन्तुष्ट रखना चाहिये।

प्रश्न—किसी स्त्री का बाल्यावस्था में किसी लड़के से प्रेम हो गया था। उस समय वह दाम्पत्य का अर्थ न समझती थी। इसी समय माता-पिता ने उसका किसी अन्य बालक के साथ विवाह कर दिया। उसने विवाह को एक तमाशा समझकर इतराज नहीं किया। विवाह के बाद वह किशोरी हुई, उसका गौना हुआ, ससुराल गई, दाम्पत्य का अर्थ और उसकी जिम्मेदारी समझी। अब वह सोचती है कि विवाह का जब यह मतलब था तो मेरा विवाह उसी बालक के साथ होना चाहिये था-जिसके साथ मैं प्रेम से खेलती थी। अब उसका प्रेम उमड़ने लगता है इतने में कुछ दिनों बाद बाल्यावस्था का वह साथी उसका मेहमान बन जाता है—इससे उस का प्रेम और जोरदार हो जाता है, यहां तक कि वह अपने पति से भी यह बात कह देती है और विवाह विच्छेद का प्रस्ताव रखती है, पर पति राजी नहीं होता, अब वह क्या करे? इसमें उसका कुछ अपराध भी नहीं है।

उत्तर--बाल-विवाह, मां-बाप या अभिभावकों के द्वारा किया गया बड़ा भारी अन्याय है। उस अन्याय से अगर इस प्रकार के दाम्पत्य-जीवन बर्बाद हो जायँ तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अन्याय के शिकार हुए दम्पतियों को इस अन्याय की आग में थोड़ा-बहुत झुलसना पड़े—यह स्वाभाविक है। थोड़ी न थोड़ी आंच तो दोनों को सहना पड़ेगी, पर अन्यानुरागी या अन्यानुरागिणी को ही विशेष मानसिक कष्ट सहना पड़ेगा, सो सहना चाहिये और पुराने प्रेम को भाई-बहिन के प्रेम में परिणित करना चाहिये। उसे यह बात ख़याल रखना चाहिये कि बाल्यावस्था में प्रेम नहीं होता--मोह होता है, और मोह जब आज कर्तव्य के मार्ग में बाधा डाल रहा है तब वह छोड़ना चाहिये। यह ठीक है कि बाल्यावस्था का मोह आगे चलकर प्रेम बन जाता

है, पर आज वह प्रेम नहीं बन रहा है—मोह ही बना हुआ है। प्रेम स्वपर-कल्याणकर्ता है, वह कर्तव्य की मर्यादा नहीं तोड़ता—जिम्मेदारी से भागने को उत्तेजित नहीं करता। इसलिये ऐसे अवसर पर पति और पत्नी में से किसी एक की भी इच्छा बिना विवाह-विच्छेद नहीं करना चाहिये, बल्कि सारा विवेक और मनोबल लगाकर दाम्पत्य को सफल बनाना चाहिये। भविष्य में अपनी सन्तान के साथ ऐसी दुर्घटना न हो जाय इसलिये बाल-विवाह से बचे रहने की दृढ़ प्रतिज्ञा करना चाहिये।

प्रश्न—मान लीजिये, पत्नी अन्यानुरागिणी है, पति को उसके अन्यानुराग का पता लग गया, इसलिये वह विवाह-विच्छेद करना चाहता है। पर पत्नी इसके लिये तैयार नहीं है। इसमें उसे लज्जा मालूम होती है। तब पति क्या करे ?

उत्तर—अगर पत्नी ईमानदारी से रहने को तैयार हो और अपने अन्यानुराग को भी दूर करने की कोशिश करे, पति को वह सच्चा वचन दे तो पति का कर्तव्य है कि पत्नी को माफ कर दे सम्बन्ध-विच्छेद न करे। पर अगर पत्नी अपने मन पर काबू न पा सके, ईमानदारी से कर्तव्य न कर सके तो पति सन्तानोत्पत्ति के पहिले (गर्भ रहने के पहिले) तलाक दे सकता है। इसी प्रकार अन्यानुरागी पति के विषय में पत्नी भी इसी नीति का पालन करे।

विच्छेद्य विवाह के मुख्य मुख्य ये पाँच कारण हैं। वास्तव में ऐसे विवाह होना ही न चाहिये, अगर हो जायँ तो समय रहते इन विवाहों को एक तरह से नाजायज़ ठहराया जा सकता है—यही इनकी विच्छेद्यता है। विच्छेद्य विवाहों का विच्छेद होना ही चाहिये यह नियम नहीं है पर विच्छेद किया जा सकता है—इतना ही मतलब है।

प्रश्न— बाल-विवाह को विच्छेद्य क्यों नहीं कहा गया ?

उत्तर—बाल-विवाह में पति पत्नी-दोनों ही बालक रहते हैं, इसलिये बहुत समय तक तो उन पर विच्छेद करने की जिम्मेदारी आ ही नहीं सकती और जब दोनों समझदार हो जाते हैं तब बालकपन से सम्बन्ध रखनेवाला कोई कारण नहीं रहता। इसलिये बाल-विवाह कई दृष्टियों से बुरा होने पर भी तलाक के लायक नहीं है।

प्रश्न—बाल-विवाह अभिभावकों की पसन्दगी से होता है, पर जब पति-पत्नी युवा हों तो बहुत सम्भव है एक दूसरे की रुचि सुन्दरता गुण आदि में इतना अन्तर हो कि दोनों ही एक दूसरे को नापसन्द करें या एक, दूसरे को नापसन्द करे ऐसी हालत में तलाक क्यों दिया जाय ?

उत्तर— ऐसी अवस्था में बाल-विवाह के कारण विवाह-विच्छेद न होगा; किन्तु उसके लिये दूसरे कारण मिल जायँगे। निःसन्देह यह बहुत बुरी बात होगी, पर समाज और माँ बाप की मूर्खता का परिणाम सन्तान को सहना ही होगा। जब तक जीवनधारा का ठीक ठीक निश्चय न हो जाय, जिम्मेदारी समझने की अक्ल न आ जाय तब तक लड़के लड़कियों की शादी न करना चाहिये, अन्यथा अनेक अनर्थ होते हैं। ऐसे अनर्थों में न बेचारी कन्या का अपराध है न वर का, इसलिये निरपराध ही विवाह-विच्छेद क्यों किया जाय ? हां अगर दाम्पत्य को नरक बनानेवाले दूसरे कारण जबर्दस्त हो गये हैं तो उन्हीं

के कारण विवाह-विच्छेद करना चाहिये, बाल-विवाह के कारण नहीं।

२ **व्यभिचार**—तलाक का दूसरा किन्तु जबर्दस्त कारण है व्यभिचार, व्यभिचारी की पत्नी को अधिकार है कि वह अपने पति को इस कारण से तलाक दे दे, इसी प्रकार पति को अधिकार है कि वह व्यभिचारिणी-स्त्री को तलाक दे दे।

प्रश्न- पति अगर व्यभिचार करे और पत्नी तलाक दे तो इससे पति का क्या बिगड़ा? उसे तो व्यभिचार के बदले में पारितोषक ही मिला। तलाक देकर पत्नी कहाँ जाय?

उत्तर—जहाँ स्त्रियों के आर्थिक अधिकार छिने हुए हैं वहाँ स्त्रियों को इस प्रकार दुहरी चक्की में पिसना पड़ता है। ऐसे समाजों में प्रायः पुनर्विवाह और तलाक के अधिकार तक स्त्रियों को नहीं मिल पाते, पर सत्यसमाज सरीखे न्यायशील समाजों में तो स्त्रियों को पुरुषों के समान मनुष्य माना जाता है, इसलिये उनके आर्थिक अधिकार भी पर्याप्त होते हैं, जिससे वे व्यभिचारी पति को या उसके व्यभिचार को दूर कर सकें। स्त्री हो या पुरुष, दोनों को समझना चाहिये कि अधिकार की रक्षा, त्याग स्वावलम्बन हिम्मत आदि के बिना नहीं हो सकती। जिसमें यह न हो उसे व्यभिचारी-पति का बोझ सहन करना पड़ेगा। हां, व्यभिचारी-पति और व्यभिचारिणी पत्नी को कुछ न कुछ आर्थिक दंड होना चाहिये, पर वह दूसरे प्रकरण की बात है। यहां तो सिर्फ इतना ही कहना है कि व्यभिचारी को और व्यभिचारिणी-पत्नी को तलाक दिया जा सकता है। अगर किसी कारण तलाक न देना हो तो उसे समझाओ और उसके समझने तक उसका दोष सहन करो, आपस में मारपीट आदि करना व्यर्थ और असभ्यता है।

३ **विशेष रोग**—साधारण रोग विवाह-विच्छेद का कारण नहीं है। और न ऐसा रोग विवाह-विच्छेद का कारण है—जिसमें कुछ दिनों में ही मौत या नीरोगता निश्चित है, जैसे—प्लेग हैजा आदि। किन्तु जो बीमारियाँ क़रीब क़रीब जीवन के अंत तक जाती हैं और जिनसे अर्थ-काम की दृष्टि से दाम्पत्य का निर्वाह कठिन हो जाता है—ऐसी बीमारियों के कारण तलाक दिया जा सकता है। फिर भी किसी भी बीमारी में बीमारी बढ़ जाने के छः महिने तक तलाक नहीं दिया जा सकता बाद में दिया जा सकता है और न दिया जाय तो और भी अच्छा है। कौन कौन-सी बीमारियों में तलाक दिया जाय—इन बातों का पूरा निश्चय तो नहीं हो सकता, फिर भी मुख्य मुख्य बीमारियों का उल्लेख किया जा सकता है और उनकी समानता से नई बीमारियों पर भी विचार किया जा सकता है। यहाँ तीन बीमारियों का उल्लेख किया जाता है—जो तलाक के लिये उचित कही जा सकती हैं।

(क) पागलपन—जब पागलपन काफ़ी बढ़ जाय और छः महिने बाट देखने पर भी वह दूर न हो और भविष्य में भी उसके दूर होने की आशा न हो तो तलाक दिया जा सकता है।

प्रश्न—तलाक देने पर बेचारी पागल-पत्नी या बेचारा पागल-पति कहाँ जाय?

उत्तर—पागल आदमी प्रायः घर में नहीं रहते, वे घुमक्कड़ हो जाते हैं—इसलिये उनके जाने-आने का सवाल ही नहीं रहता। हां, ऐसे लोगों के इन्तजाम के लिये पागलखाने होना चाहिये। राज्य या समाज के ऊपर यह जिम्मेदारी है।

अथवा उनके आर्थिक-पोषण की यथाशक्य जिम्मेदारी तलाक देनेवाले पर भी डाली जा सकती है, इसी प्रकार कुष्ट आदि अन्य रोगियों के बिषय में भी कहा जा सकता है। दाम्पत्य से अलग हो जाने पर अर्थोपार्जन में असमर्थ रोगियों या अन्य व्यक्तियों के पालन-पोषण की जिम्मेदारी कितनी कुटुम्बियों पर है, और कितनी समाज या राज्य पर—यह एक अलग प्रश्न है। यहां तो सिर्फ़ इतना ही कहा जा सकता है कि ऐसे कारणों से तलाक दिया जा सकता है।

(ख) गलित कुष्ट—वह कुष्ट रोग जिससे शरीर गलने लगता है और जो अपने सम्पर्क से दूसरों को भी कोढ़ी बनाता है, उसके कारण भी तलाक दिया जा सकता है; क्योंकि उससे दाम्पत्य का निर्वाह नहीं हो सकता, अगर इससे सन्तान हो जाय तो वंश परम्परा भी खराब होती है।

(ग) नपुंसकत्व—अगर पुरुष जन्म से ही नपुंसक हो तब तो उसका विवाह विच्छेद्य माना जायगा, पर ऐसा भी होता है कि विवाह के बाद किसी कारण से मनुष्य नपुंसक हो जाता है—ऐसी हालत में पत्नी के सामने वैधव्य की परिस्थिति आ जाती है, तब पत्नी तलाक देकर दूसरा विवाह करना चाहे तो इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार नारी में भी ऐसे दूषण पैदा हो सकते हैं, जिससे वह काम-क्रीड़ा के योग्य न रहे—यह उसके लिये एक तरह की नपुंसकता है। इस कारण से उसे भी तलाक दिया जा सकता है। पर 'वन्ध्यापन' नपुंसकता नहीं है, इसमें उसे तलाक नहीं दिया जा सकता।

प्रश्न— विवाह का एक मुख्य उद्देश सन्तान भी तो है, सो अगर किसी स्त्री के सन्तान न हो और पति को सन्तान की तीव्र अभिलाषा हो तो क्यों न उसे तलाक दिया जाय और दूसरी पत्नी से सन्तान उत्पन्न की जाय?

उत्तर— मानव-जाति को जीवित रहने के लिये सन्तान ज़रूरी है, पर वह तो विवाह से व्यभिचार से या विवाह-प्रथा उठा देने पर स्वच्छन्द-मिलन से भी पैदा हो सकती है। विवाह के बिना भी सन्तान के पालन-पोषण के अनेक तरीके निकाले जा सकते हैं, इसलिये सन्तान विवाह का मुख्य लक्ष्य नहीं है। मुख्य लक्ष्य है स्त्री-पुरुष के जीवन में काम और अर्थ के लिये उपयोगी सहयोग, एक तरह की निराकुलता और संयम —इनकी पूर्ति होने पर दाम्पत्य सफल है। इसके बाद अगर सन्तान हो तो अच्छी बात है, नहीं तो सेवा के क्षेत्र में लग जाने से सन्तान की ज़रूरत नहीं रहती है। विश्व-कुटुम्बी बनना सबसे अच्छा है, पर अगर इतनी उदारता न हो तो 'गोद' लेने का रिवाज है ही, या बना लेना चाहिये और इस तरह सन्तान की जगह भर लेना चाहिये।

४ धर्मान्तर—इस प्रकार का धर्मान्तर जिससे जीवन-व्यवहार में असह्य परिवर्तन होने लगे या अपनी धार्मिक-स्वतन्त्रता में बाधा पड़ने लगे, तलाक का कारण है। जैसे—एक जैनी स्त्री का जैनी पति धर्मान्तर करके शाक्त-साम्प्रदाय का बन जाय! वह मांस खाने लगे, बकरे चढ़ाने लगे, मद्य पीने लगे तो उसकी स्त्री उसे तलाक दे सकती है। अगर सम्प्रदाय न भी बदले किन्तु आचार इस प्रकार बदल जाय कि वह असह्य हो उठे तो भी उसे धर्मान्तर कहेंगे। जैनी रहने पर भी अगर उसका पति मांस खाने लगे तो

वह पति को तलाक दे सकती है। हां, आचार में इस प्रकार असह्य परिवर्तन न हो और धर्मान्तर कर लेने पर भी दोनों स्वतन्त्रता से अपने सम्प्रदाय का पालन कर सकते हों तो तलाक देना अचित नहीं है।

प्रश्न—एक स्त्री ने अपने समान धर्मी व्यक्ति से शादी की थी, कुछ दिन बाद पति ने धर्म बदल लिया पर आचार नहीं बदला और पत्नी को धार्मिक-स्वतन्त्रता भी प्राप्त रही, लेकिन पति का दावा यह है कि सन्तान की जाति और धर्म मेरे बदले हुए धर्म के अनुसार रहेंगे, पत्नी को अपने धर्म-जाति-संस्कार आदि से इतना प्रेम है कि वह नहीं चाहती कि उसकी सन्तान उसके विरुद्ध धर्म-जाति-संस्कारों की बने, इसलिये वह पति को तलाक देना चाहती है तो क्या यह उचित है ?

उत्तर— पत्नी का मांग ठीक है, पर इसके लिये तलाक के विधान की अपेक्षा पत्नी के अधिकारों की रक्षा करना ठीक है। साधारणतः नियम यह होना चाहिये कि विवाह के समय पति-पत्नी का जो जाति-धर्म हो सन्तान का भी वही रहे, भले ही दोनों में से कोई एक धर्मान्तर कर जाय। पर यह सब राजनैतिक और सामाजिक अधिकार के बारे में है, धर्म का जो जीवन निर्माण से सम्बन्ध है उसकी अपेक्षा तो यही ठीक है कि सन्तान समझदार होने पर खुद ही धर्म का चुनाव कर ले। चाहे वह माता का धर्म ले, या पिता का, या अन्य किसी का। सबसे अच्छा सर्वधर्म-समभावी बनना है।

खैर, यहाँ यही समझना चाहिये कि सन्तान के धर्म की बात को लेकर विवाह-विच्छेद करना ठीक नहीं, मर्यादा के भीतर रहकर अपना अपना असर डालने का अधिकार दोनों को है।

५ असहयोग--पति या पत्नी अपनी जिम्मेदारी को भूलकर सहयोग न करे और वह असहयोग काफी लम्बे समय तक रहे और इतना असह्य भी हो कि साधारणतः जीवन बिताना मुश्किल हो जाय तो असहयोगी पति या पत्नी को तलाक दिया जा सकता है। जैसे—पति खाने को ही नहीं देता, महीनों रात में घर ही नहीं आता—आदि, अथवा पत्नी कोई काम ही नहीं करती, पति की इच्छा के बिना ही वर्षों पीहर में पड़ी रहती है—आदि। दोनों की सलाह से या दोनों के हित की दृष्टि से ऐसा करना पड़े तो बात दूसरी है। जैसे—अति सन्तान से बचने के लिये कुछ असहयोग-सा करना पड़े तो बात दूसरी है—यह असहयोग, तलाक का कारण नहीं हो सकता।

६ प्रतारण—मारना-पीटना या चार आदमियों के सामने बुरी बुरी गालियां देना—आदि प्रतारण है। इस कारण से भी तलाक दिया जा सकता है। हां, देखना यह चाहिये कि यह बात अमर्याद हो गई है। मर्यादित रूप में कभी अकस्मात् ऐसी कोई घटना हो जाय तो माफ करना चाहिये।

प्रश्न- बहुत-सी पत्नियाँ इतनी असभ्य और फूहड़ होती हैं कि बिना मारपीट के वे वश में ही नहीं आतीं, साधारण काम भी नहीं करतीं और सभ्यता से भी पेश नहीं आतीं। इस प्रकार बहुत से पति भी ऐसे होते हैं, जो पचास गाली खाये बिना ठिकाने नहीं आते। ऐसी जगह प्रतारण जरूरी मालूम होता है। भगवती अहिंसा की प्रबोधिनी-साधना जहां काम नहीं देती वहां संहारिणी-साधना से काम लेना पड़ता है दाम्पत्य

में भी हमें इसी नीति से काम लेना चाहिये। इससे दाम्पत्य क्यों तोड़ना चाहिये ?

उत्तर— दोनों ही अगर प्रतारण में राजी हैं अथवा सहन करने को तैयार हैं, तब तो यहां विवाह-विच्छेद का सवाल नहीं उठता, पर कल्पना करो कि एक तो प्रतारण करने और प्रतारण सहने को तैयार है या उसमें सन्तुष्ट है, पर दूसरा इस नरक को बिलकुल पसन्द नहीं करता, न वह प्रतारण सहना चाहता है न प्रतारण करना चाहता है, तब ऐसी हालत में उसे अधिकार है कि वह प्रतारण-प्रिय व्यक्ति को तलाक दे दे। दाम्पत्य संहारिणी-साधना का क्षेत्र नहीं है अथवा उसकी संहारिणा-साधना यही है कि मारपीट की नौबत आने के पहिले सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाय। इससे ज्यादा संहारिणी-साधना का उपयोग करना दाम्पत्य में पशुता ला देना है।

एक बात और है कि दाम्पत्य स्वेच्छा से स्वीकार किया गया अमाप-विनियम का सौदा है। अगर यह सौदा सभ्यता से न पटे तो उसे तोड़ देना चाहिये। एक दुकानदार और ग्राहक में अगर अच्छी तरह सौदा नहीं पटता तो दुकानदार दूसरा ग्राहक ढूढ़ ले, और ग्राहक दूसरी दूकान ढूढ़ ले। सौदा न पटने के कारण अगर दोनो एक दूसरे का सिर फोड़ने लगें तो यह पशुता का प्रदर्शन होगा, जो कि मनुष्य को शोभा नहीं देता। दाम्पत्य स्त्री-पुरुष के परस्पर स्वार्थों की पूर्ति के लिये है, इसके द्वारा अर्थ-कामोपयोगी कार्यों में विशेष सहयोग होता है—इस दृष्टि से एक दूसरे को एक दूसरे की पूरी गरज है, इसलिये अपने स्वार्थ के लिये भी एक दूसरे को अनुकूल बनाने और रखने की कोशिश करेंगे ही, इसमें मारने-पीटने, भंड व्यवहार करने, या चार आदमियों में तमाशा दिखाने की ज़रूरत क्या है ? अगर इस प्रकार की दुर्घटनाएँ होती हैं तो इसका मतलब यह है कि दूसरा व्यक्ति या तो तुम्हें लूटना चाहता है या तुम्हारी सेवाओं का मूल्य उसकी दृष्टि में बहुत कम है। अगर तुम लुटने को तैयार नहीं हो तो विवाह-विच्छेद करना उचित है। हां, इसके पहिले नम्रता और दृढ़ता से यह बात अवश्य समझा दो कि इससे ज्यादा हमसे आशा न करो। अगर इतने में तुम्हें सन्तोष नहीं है तो तुम दूसरा सम्बन्ध ढूँढ़ सकते हो, पर इस तरह प्रतारण करने की ज़रूरत नहीं है। अगर उसे गरज होगी तो वह प्रतारण बन्द करके इसी विनिमय के आधार पर सम्बन्ध को स्वीकार कर लेगा, पर अगर वह समझे कि इस तरह का घाटे का सौदा करना ठीक नहीं—तो, या तो हमें कुछ बढ़कर सेवा करना चाहिये, अथवा उसे छुट्टी देना चाहिये, मारने-पीटने की नौबत आने देना और जानवरपन दिखाना ठीक नहीं।

मान लो, एक स्त्री अत्यन्त सुन्दरी है और पति कुछ कुरूप है। स्त्री को अपनी सुन्दरता का घमंड है और उसके अनुरूप या कुछ ज्यादा विलास की वासना भी है, इसलिये वह यथोचित काम नहीं करती, नम्रता का भी परिचय नहीं देती, इसलिये पति मारता-पीटता हैं, वह भी गालियाँ देती है, इस प्रकार दाम्पत्य नरक बना हुआ है। इस घटना में पति और पत्नी दोनों मूर्ख हैं, पर पति की मूर्खता अधिक है। यद्यपि पत्नी को चाहिये कि वह दाम्पत्य-जीवन में माप-विनिमय से काम न ले, अपने सौन्दर्य का दाम वसूल न करे [काम न करने आदि का मतलब अपने

सौन्दर्य के पैसे वसूल करना है], पर अगर वह चाहती है कि मेरे विशेष सौन्दर्य का मूल्य मुझे मिलना ही चाहिये, तो पति के सामने दो मार्ग रह जाते हैं—एक तो यह कि वह पत्नी को विशेष सुविधा देकर पत्नी के सौन्दर्य का मूल्य चुकावे, अथवा कह दे कि मैं तुम्हारे सौन्दर्य का मूल्य नहीं चुका सकता, इसलिये जहाँ तुम्हारे सौन्दर्य का मूल्य मिले—वहाँ तुम सम्बन्ध स्थापित कर सकती हो। इस जगह मारने-पीटने की या सौन्दर्य का मूल्य चुकाने में आनाकानी करने आदि की ज़रूरत नहीं है।

असली बात तो यह है कि विवाह करते समय ही अपने अनुरूप जोड़ा देखना चाहिये। अगर अधिक योग्य साथी हम ढूँढ़ते हैं तो यह खयाल रखना चाहिये कि हमें इसका मूल्य किसी दूसरे रूप में चुकाना होगा। अगर मूल्य नहीं चुका सकते तो हमें अपने साथी की दृष्टि में दयनीय बनकर रहना होगा। अगर साथी में विशेष दया दिखे और अपने में दयनीय बनने में भी सन्तुष्ट रहने की मनोवृत्ति हो--तभी अपने अनुरूप से भी अधिक योग्य के साथ शादी की जा सकती है, अन्यथा अनुरूप साथी ही ढूँढ़ना चाहिये।

एक साधारण स्त्री की शादी अधिक और असाधारण गुणी- धनी सम्मान्य पुरुष के साथ हो जाती है तो उस स्त्री का कर्तव्य हो जाता है कि स्त्री अपनी असाधारण सेवा-भक्ति आदि के द्वारा पति को खुश रखकर विनिमय की तराज़ू को बराबर करने की कोशिश करे। अगर वह इतना नहीं कर सकती तो अधिक योग्य के साथ शादी न करने में या शादी तोड़ने में ही उसका कल्याण है।

एक गरीब और साधारण पुरुष की शादी एक अमीर की कलावती सुन्दरी कन्या के साथ हो जाती है। ऐसी हालत में पत्नी में कुछ अभिमान आ सकता है। न आवे तो अच्छा, पर अगर उसमें अभिमान आ जावे तो वह मार-के द्वारा नहीं तोड़ा जा सकता और तोड़ा जा सकता हो तोभी मार-पीट कर न तोड़ना चाहिये। दूसरी दृष्टि से उसे इतनी सहूलियतें दो कि वह अनुभव करे कि मेरी योग्यता का मूल्य उसे मिल रहा है। विशेष सेवा, नम्रता-स्नेह आदि देने पर भी अगर उसके अभिमान की तीक्ष्णता कम न हो तो समझो कि तुम शादी के चुनाव में भूले हो, फिर भी अगर निभाना हो तो चोटें सहकर या प्रबोधिनी-साधना से उसे निभाओ नहीं तो सम्बन्ध-विच्छेद कर दो। बहुत सम्भव है कि सम्बन्ध-विच्छेद के अवसर पर उसे अपनी कीमत का ठीक ठीक ज्ञान हो जाय। पर मार-पीट कर तुम ठीक ठीक ज्ञान पैदा नहीं करा सकते। हां, तुम शैतान बन सकते हो और उसे भी शैतान और हैवान बना सकते हो।

हां, जहां उत्कट प्रेम हो, दोनों हर हालत में एक दूसरे का साथ देने को तैयार हों—अमीर गरीब, कुरूप-सुरूप, कलावान-कलाहीन, गुणी-निर्गुण आदि का भेद गौण हो, वहां कैसा भी सम्बन्ध किया जा सकता है। पर, हो सकता है कि वह प्रेम न हो सिर्फ़ मोह का नशा हो तो नशा उतर जाने पर विषमता अखरेगी और अगर किसी एक में उदारता-नम्रता-सेवाभाव आदि न हो तो प्रीति-विवाह के नाम से विख्यात वह मोह-विवाह असफल जायगा। इसलिये प्रीति-विवाह के समय भी विनिमय का विचार भुलाना

न चाहिये और सोच लेना चाहिये कि अगर किसी दिन नशा उतर जायगा तो सेवा-नम्रता आदि से विनिमय की तराजू के पलड़े बराबर रक्खे जा सकेंगे या नहीं ? इतनी तैयारी न हो तो योग्य विनिमय के साधन के अभाव में प्रीति-विवाह भी न करे। कर ले तो मारपीट की नौबत कदापि न आने दे, भले ही विवाह-विच्छेद कर ले नरक में जीने की अपेक्षा मरना ही आशीर्वाद है।

दुनिया विनिमय का बाजार है। जो लोग अपने अनुरूप से अधिक सुन्दरियों के या धनी स्त्रियों के फेर में पड़ जाते हैं, वे अगर दयनीय और योग्य सेवक न बन सकें तो उन्हें अपने दाम्पत्य में या तो डाकू की तरह शैतान बनना पड़ता है, अथवा उधार लेकर ऋण न चुकानेवाले की तरह बेइज्जत-तिरस्कृत-लाञ्छित बनना पड़ता है, उनका दाम्पत्य नरक बन जाता है।

अमाप विनिमय में भी किसी न किसी तरह का माप होता है। सुविधा के बदले सेवा, सेवा के बदले नम्रता और प्रशंसा आदर आदि का साधारण माप होता ही है। इस माप को जहाँ नहीं निभाया जाता है—वहाँ अशान्ति होती है, मारपीट होती है, पर यह उसका इलाज नहीं है। इलाज है—तराजू के दोनों पलड़ों को बराबर करना।

प्रश्न— मान लीजिये, कि तराजू के दोनों पलड़े बराबर हैं, फिर भी किसी किसी पत्नी में गाली देने की, चिड़चिड़ करने की आदत होती है या किसी किसी पति में भी गाली देने की, मारने-पीटने की आदत होती है, तब क्या किया जाय ? क्या विवाह-विच्छेद ही किया जाय ?

उत्तर— विवाह-विच्छेद तो अंतिम उपाय है, उस उपाय को जरा-सी बात होने पर काम में न लाना चाहिये। जब उचित कर्तव्य के करते रहने पर भी झगड़ा या कलह हो और उसमें गालीगलौज या मारपीट तक नौबत आ जाय, तब उसके उत्तर में मारपीट या गाली-गलौज से काम नहीं चलता। उस समय आदमी को गम्भीर बनकर चोट सह जाना चाहिये और जब क्षोभपूर्ण वातावरण शान्त हो जाय, तब शान्ति से कहना चाहिये कि इस तरह गाली-गलौज या मारपीट मुझे पसन्द नहीं है, मैं इतना काम कर सकता हूं (या कर सकती हूं) और इस तरह रह सकता हूं (या रह सकती हूं) इतने में तुम्हें अगर सन्तोष हो तो अच्छी बात है—बिना गालीगलौज या मारपीट के यह दाम्पत्य निभेगा, नहीं तो जिस तरह तुम्हें शान्ति हो वह तुम करो, जिस तरह मुझे शान्ति हो वह मैं करूं। एक दूसरे के सिर पर पिशाच की तरह चढ़ने की अपेक्षा अलग अलग रह कर गुजर करने में कम बुराई है। यह भी हो सकता है कि इतने कठोर निश्चय की ज़रूरत न पड़े। मौन आदि से ही काम चल जाय या वैफल्यदर्शनी-साधना से काम चल जाय। प्रबोधनी-लोक-साधना के छः भेद बतलाये गये हैं, उन सभी का दृढ़ता और विवेक के साथ उपयोग करना चाहिये, इससे निःसन्देह मारपीट या गालीगलौज हट जायगा। इसके लिये संयम की, आत्म-निर्भरता की, मोह का बन्धन तोड़ने की और विषयासक्ति को कम करने की ज़रूरत है। जब ये बातें नहीं होतीं तब हम प्रबोधनी-साधना का उपयोग नहीं कर पाते, फल यह होता है कि संहार के उत्तर में संहार करने लगते हैं—इस तरह नरक स्थायी हो जाता है। अगर हम सहनशील बनकर साधना करें तो घर का वातावरण ही बदल जाय, विवाह

विच्छेद का अवसर भी नहीं आये और गाली-गलौज तथा मार-पीट भी दूर हो जाय।

प्रश्न– देखा जाता है कि एक तरफ सहनशीलता काफी है, फिर भी दूसरी तरफ गर्जन-तर्जन है ही। इससे मालूम होता है कि सहष्णुता तो व्यर्थ-सी चीज़ है–इससे तो असभ्य साथी की असभ्यता को उत्तेजना ही मिलती है।

उत्तर– यह सहिष्णुता भगवती की साधना के रूप में नहीं है, उससे दूसरे का सुधार नहीं होता, बल्कि वह सहिष्णुता ही नहीं है। ऐसी सहिष्णुता जानवर में भी होती है, पर उससे आदमी डंडे मारना थोड़े ही छोड़ देता है। जो सहिष्णुता भय कायरता विवशता आसक्ति या मोह का परिणाम है, उससे कुछ फायदा नहीं होता बल्कि इससे असभ्यता बढ़ती ही है। हमें विवेकी और दृढ़-निश्चयी बनकर साधना में हाथ डालना चाहिये, इस नीति से हजार में नौ-सौ-निन्यानवे मौकों पर अवश्य सफलता होगी, फिर भी न हो तो या तो विवाह-विच्छेद करो, या इसकी परिस्थिति न हो तो पशु की तरह सब कुछ सहो, पर हर हालत में गालीगलौज या मार-पीट से बचो। पहिला मार्ग प्रबोधनी-साधना का है [उत्तम], दूसरा विवाह-विच्छेद का [मध्यम], तीसरा-पशु की तरह विवशता के साथ सहने का है [जघन्य]। मारपीट गालीगलौज का कोई रास्ता नहीं है।

फिर भी जो इस नरक में रहना चाहें–रहें, पर जो इससे निकलना चाहें--उसे विवाह-विच्छेद का अधिकार है।

७ अनीति–अनीति शब्द का अर्थ यद्यपि व्यापक है, पर यहां थोड़े से अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया गया है। जो स्वार्थी और नीच पति अपने स्वार्थ के लिये अपनी पत्नी को व्यभिचार करने के लिये विवश करता है या व्यभिचार करने की परिस्थिति में डाल देता है–वह अनीति पोषण करता है। ऐसे पति के साथ कोई पत्नी अगर विवाह-विच्छेद करना चाहे तो कर सकती है। ऐसे भी नीच पति होते हैं–जो अपनी पद-वृद्धि आदि के लिये अपने से उच्च अधिकारियों के पास अपनी पत्नियों को भेज देते हैं, सिफारिश के लिये ही नहीं, व्यभिचार के लिये भी। अथवा ऐसे भी नीच पति हैं–जो पत्नी से व्यभिचार कराके जीविका चलाते हैं–ऐसी हालत में पत्नी को अधिकार है कि वह तलाक दे दे।

प्रश्न– सन्तान के लिये अगर पति पत्नी को व्यभिचार की अनुमति दे तो?

उत्तर– जहां अनुमति मानना पत्नी की इच्छा पर निर्भर है–वहां तलाक का कोई सवाल ही खड़ा नहीं होता। हां, पत्नी की इच्छा के विरूद्ध अगर वह पत्नी को विवश करे तो पत्नी तलाक दे सकती है।

८ अतिकलह—किसी भी कारण से पति और पत्नी दोनों में कलह होती हो वह कलह भयंकर रूप धारण कर जाती हो, दोनों शान्ति और प्रेम की तरफ से निराश हो गये हों, तो तीन महीने पहिले सूचना देकर परस्पर विवाह-विच्छेद किया जा सकता है। पर विवाह-विच्छेद के लिये एक राजी हो और एक राजी न हो तो विवाह-विच्छेद नहीं किया जा सकता। हां, विवाह-विच्छेद का दूसरा कारण हो तो बात दूसरी है।

९ अन्यविवाह–बहुपत्नीत्व और बहु-पतित्व दोनों ही ठीक नहीं हैं, फिर भी कहीं

कहीं बहुपत्नीत्व और बहुपतित्व का रिवाज़ है। बहुपतित्व का रिवाज़ बहुत कम है और वह इस तरीके से है कि उसमें इस कारण से तलाक देने की परिस्थिति पैदा नहीं होती। दो-तीन भाई एक साथ किसी एक स्त्री से शादी कर लेते हैं—इसमें पत्नी को अन्य-विवाह का कोई कारण नहीं है, जो है वह विवाह के समय है। पर बहुपत्नीत्व में तो प्रायः ऐसा होता है कि एक के बाद दूसरी पत्नी बनाई जाती है-इस तरह पहिली पत्नी के साथ अन्याय किया जाता है। जहां बहुपत्नीत्व कानूनी जुर्म है, वहां तो बहुपत्नीत्व को कानून रोक ही देता है, पर यदि कानून न रोकता हो तो यह उचित है कि पहिली पत्नी जब चाहे तब तलाक दे दे। अथवा पहिली पत्नी किसी कारण तलाक न दे तो दूसरी पत्नी दे दे। सौत का होना तलाक देने का पर्याप्त कारण है। साधारणतः बहुपत्नीत्व की प्रथा होना ही न चाहिये, और न बहुपतित्व की प्रथा भी ठीक कही जा सकती है।

१० गृहत्याग—एक पति इस प्रकार का साधु-संन्यासी हो जाता है जिसमें ब्रह्मचर्य ज़रूरी है या पत्नी को साथ रखने की अनुमति नहीं है—तो यह गृहत्याग है। पति गृहत्यागी हो जाय तो पत्नी एक प्रकार से विधवा की परिस्थिति में पहुँच जाती है, फिर भी पति कहलानेवाला व्यक्ति जिन्दा रहने से कहीं कहीं वह वैधव्य की स्वतन्त्रता से भी वंचित रहती है, वह इस स्वतन्त्रता से वंचित न रहे—इसलिये उसे अधिकार है कि वह गृहत्यागी पति को तलाक दे दे। इसी प्रकार पत्नी अगर गृहत्याग कर जाय तो पति भी उसे तलाक दे सकता है।

पति या पत्नी कहीं ऐसी जगह चले जायँ जहाँ उसके रहने न रहने मरने-जीने का भी पता न लगे तो यह भी एक तरह का गृहत्याग है। तीन वर्ष तक बाट देखने पर तलाक दिया जा सकता है, अर्थात् वैधव्य की स्वतन्त्रता प्राप्त की जा सकती है।

तलाक या विवाह-विच्छेद के ये दस कारण यहां बताये गये हैं। सम्भवतः इसके सिवाय भी तलाक के कारण हो सकेंगे। मानव-जीवन की समस्याएँ एक से एक बढ़कर जटिल और अभूतपूर्व हो सकती हैं, इसलिये उन्हें गिनाना तो कठिन ही है—पर उनका वर्गीकरण भी अधूरा रह सकता है, इसलिये ज़रूरत इस बात की है कि कोई भी विधान किस लक्ष्य को लेकर किया गया है—इसका ख़याल रक्खा जाय। उसी लक्ष्य को ख़याल में रखकर समस्याएँ सुलझाई जायँ।

स्त्री-जीवन और पुरुष-जीवन एक ही मानव-जीवन के दो अंग हैं—दोनों के समन्वय में ही जीवन की पूर्णता है, पर प्रकृति ने दोनों को अलग अलग पैदा किया है, इसलिये इनको मिलाने की ज़रूरत होती है। प्रकृति ने स्वभाव से ही एक दूसरे की तरफ खिंचने की मनोवृत्ति दी है और इसी आकर्षण के द्वारा दोनों में सहयोग होता है। जब वह सहयोग जीवन के हरएक पहलू को स्पर्श करता है, तब इस प्रकार के सर्वांगीण सहयोग को विवाह कहते हैं। इसकी स्थायिता में ही निराकुलता और सुव्यवस्था है, इसलिये विवाह-विच्छेद न होना सबसे अच्छी बात है।

पर जब परिस्थिति ऐसी हो जाय कि वह सर्वांगीण सहयोग बन ही न सके, निराकुलता और सुव्यवस्था का नाश ही हो जाय, एक दूसरे

का आकर्षण भी इन चीजों को पैदा न कर सके, इस प्रकार दाम्पत्य का सिर्फ़ आकार ही रह जाय, जीवन की दृष्टि से वह लाश ही बन जाय, तब विवाह-विच्छेद की ज़रूरत है। इसे एक प्रकार से आपद्धर्म समझना चाहिये।

प्रश्न—एक बार जहाँ विवाह-विच्छेद का विधान बना--वहाँ पद पद पर विवाह-विच्छेद होने लगता है, पर जहां विवाह-विच्छेद की अनुमति नहीं होती--वहाँ किसी न किसी तरह जीवन भर दाम्पत्य निभ ही जाता है। कभी कभी तो लम्बे समय के बाद दाम्पत्य शान्तिमय हो पाता है। अगर तलाक का रिवाज़ हो तो इस प्रकार लम्बे अर्से तक परीक्षा करने का मौका ही न मिले और एक बार विवाह-विच्छेद करने की आदत पड़ी कि जिन्दगी भर उसकी परम्परा चलती ही जाती है। जिन समाजों में विवाह-विच्छेद की प्रथा है और जिनमें नहीं है--उन दोनों की दशा देखकर विवाह-विच्छेद की कुप्रथा की बुराई का पता अच्छी तरह लग सकता है। जहां विवाह-विच्छेद है--वहाँ ग़रीबी और कलह नंगा नाच करते हैं, जहां यह नहीं है उन कुटुम्बों में समृद्धि और सुख-शान्ति अधिक मात्रा में पाई जाती है।

उत्तर—इसमें सन्देह नहीं कि तलाक बुरी बात है, पर इस बुराई का विधान इससे भी बड़ी बुराई को रोकने के लिये है। इसमें सन्देह नहीं कि कभी कभी भ्रमवश या उतावली के कारण किसी थोड़ी बुराई को रोकने के लिये भी इसका उपयोग हो जाता है, पर ऐसी घटनाओं के कारण अगर तलाक का विधान बिलकुल न रक्खा जाय तो इससे नर-नारी के कष्ट बढ़ ही जायँगे--घटेंगे नहीं। इस प्रथा के पक्ष और विपक्ष दोनों में पर्याप्त कारण है, पर दोनों के बलाबल देखने से यह मानना पड़ता है कि मर्यादा के भीतर तलाक की ज़रूरत है। यहां उन दोनों तरह के कारणों का उल्लेख कर दिया जाता है--जो तलाक के विरोध में और पक्ष में हैं।

तलाक के विरोध में—

१—जीवन भर के लिये बड़ी निश्चिन्तता हो जाती है। यह डर नहीं रहता कि हमारा साथी हमें छोड़कर चला जायगा।

२—पति-पत्नी के बीच में पैसे की खींचा-तानी नहीं होती या बहुत कम होती है; क्योंकि मरने के पहिले दाम्पत्य टूटने की सम्भावना ही नहीं रहती।

३—झगड़े लम्बे समय तक नहीं रहते; क्योंकि दूसरे दाम्पत्य की सम्भावना न होने से दोनों ही समझौते के लिये जल्दी उत्सुक हो जाते हैं।

४—तलाक होने से सन्तान की दुर्दशा हो जाती है। जीवित रहने पर भी सन्तान का बाप या उसकी मां उससे छूट जाती है। इससे कहीं माँ के, कहीं बाप के मानसिक कष्ट बढ़ते हैं और सन्तान के तो और भी अनेक तरह के कष्ट बढ़ते हैं।

तलाक के पक्ष में—

तलाक के न होने में जो बुराई है--उसे समझने के लिये हमें उन समाजों का अध्ययन करना चाहिये—जिसमें तलाक बिलकुल न हो, जहां स्त्रीपुरुष जीवन भर साथी बने रहते हों। पर ऐसे समाज नहीं हैं। कहने को तलाक का निषेध है, पर एक पत्नी के रहते दूसरी पत्नी रखने का पुरुषों को अधिकार है। अगर पुरुषों को यह अधिकार न मिलता तो तलाक की प्रथा वहां भी

चाहू हो जाती । खैर, ऐसे ही समाज की दशा देखकर तलाक के पक्ष में यहाँ कुछ बातें कही जाती हैं ।

१–तलाक का भय न हो,तो अपना क्रोध अहंकार आदि को संयत रखने की कम पर्वाह होती है; क्योंकि एक दूसरे को छोड़ने का भय बिलकुल नहीं रहता । स्त्री और पुरुष दोनों को इसका कष्ट सहना पड़ता है ।

२–कोई बूढ़ा, दुष्ट, क्रूर, विधर्मी, नपुंसक धोके से या जबर्दस्ती से भी विवाह कर लेता है तो भी स्त्री को जन्म भर उसके गले से लटका रहना पड़ता है और हर तरह के कष्ट उठाना पड़ते हैं । इससे बदमाश नीच स्वार्थियों को उत्तेजन मिलता है और नारी दलित होती है । उसका भविष्य बिलकुल निराशामय और अन्धकारमय हो जाता है ।

३–पुरुष व्यभिचारी और वेश्यागामी भी हो जाय, फिर भी नारी को उसके नाम पर रोते रोते दिन-रात बिताना पड़ते हैं ।

४–पुरुष दूसरा विवाह कर लेता है तो सौतिया-डाह के कारण नारी की दुर्दशा हो जाती है ।

५–कभी कभी पुरुष दूसरी स्त्री रखने से या और किसी कारण से पहिली पत्नी से सम्पर्क तोड़ देता है, फिर भी वह तलाक नहीं दे पाती और हर तरह कष्ट उठाती है ।

६–मारपीट आदि के असह्य कष्ट होने पर भी जब छुटकारे का कोई रास्ता नहीं मिलता तब आत्महत्या तक कर लेना पड़ती है ।

७—पागल गलित-कुष्ठी या नपुंसक होने पर भी जब सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हो पाता, तब बलाद्वैधव्य या बलाद्वैधुर्य की यातना भोगना पड़ती है, अथवा काम को न जीत पाने से व्यभिचार में फँसना पड़ता है ।

८—जब दोनों ही एक दूसरे से असन्तुष्ट रहते हैं और सोचते हैं कि—यह सम्बन्ध ही अनुचित हो गया है, पर तलाक न होने से सुधार नहीं पाते, तब दोनों का दाम्पत्य-जीवन बड़ा अभागी और शोकपूर्ण हो जाता है ।

प्रश्न–तलाक के पक्ष में जो अधिक बल आ गया है–उसका कारण नर-नारी की विषमता है । पुरुष को दूसरी पत्नी रखने का अधिकार है, इसलिये नारी कुचली जा रही है, अगर बहुपतित्व के समान बहुपत्नीत्व की प्रथा मिटा दी जाय तो तलाक की ज़रूरत न रहे ।

उत्तर–हां, इससे कुछ तो समस्या हल हो ही जायगी । **असहयोग, अन्य-विवाह**, अति-**कलह**–तलाक के ये तीन कारण बहुत कुछ अंशों में दूर हो जायँगे, पर बाकी सात कारण फिर भी रहेंगे और एक अन्य-विवाह वाली बात को छोड़कर बाकी सात बातें तलाक के पक्ष में रहेंगी ही । उन कारणों के होने पर या तो तलाक देना पड़ेगा या दाम्पत्य को नरक बनाकर काटना पड़ेगा।

प्रश्न–तलाक से यद्यपि दोनों को सुविधा और स्वतन्त्रता मिल जायगी और नारी का दर्जा भी बढ़ जायगा, पर नारी फिर भी पीड़ित ही रहेगी । पुरुष में अर्थोपार्जन की क्षमता है, इसलिये वह तो नारी को तलाक देकर किसी न किसी तरह गुजर कर ही लेगा, पर नारी तो बिलकुल अनाथ होकर मारी-मारी फिरने लगेगी ?

उत्तर–हो सकता है कि कहीं कहीं नारी को इस बात से कष्ट हो, पर मारी-मारी फिरने का सवाल खड़ा नहीं होता । आज भी नारी की सेवाएँ अर्थोपार्जन की दृष्टि से कुछ कम नहीं हैं

और जब तलाक का रिवाज़ होगा तब इस दृष्टि से वह और भी अधिक समर्थ बन जायगी। आज अगर उसमें थोड़ा-बहुत लंगड़ापन है तो उसका कारण उसका दासीपन है, स्वतंत्रता मिलने पर उसका यह लंगड़ापन नष्ट हो जायगा।

इसके अतिरिक्त स्त्री-धन आदि की व्यवस्था भी ठीक हो जायगी, उसके आर्थिक अधिकार भी कुछ निश्चित हो जायँगे, सिर्फ़ धोती देकर निकालने की धमकी पुरुष न दे सकेगा, फिर एक बात और है—नारी जगत में सिर्फ पत्नी बनकर ही पैदा नहीं हुई है, वह पुत्री-बहिन और मां भी है—इस रिश्ते से भी उसका समाज में और कुटुंब में स्थान है, इसलिये किसी समय पति के साथ उसमें प्रतिस्पर्द्धा हो सकती है, पुरुष-मात्र के साथ नहीं। नारी पुरुष के समान स्वतन्त्रता पाये और अनाथ भी न बने—इसकी व्यवस्था समाज को रखना ही होगी। हरएक पिता अपनी पुत्री के बारे में यही सोचता है, और हरएक भाई और पुत्र भी अपनी बहिन और मां के बारे में यही सोचता है—इसलिये भी नारी के अनाथ होने का सवाल नहीं है। यद्यपि वह चिरकाल तक सिर्फ़ पुत्री या बहिन बनकर नहीं रह सकती, पत्नीत्व ज़रूरी है, पर सुव्यवस्था और स्वतंत्रता के साथ पत्नीत्व हो—इसका प्रबन्ध करना समाज के हरएक नर-नारी का फर्ज़ है। नारी समाज का आधा भाग है—उसको पीड़ित रखना आधे समाज को पीड़ित करना है। आधे समाज को पीड़ा से बचाने के लिये नारी को आर्थिक दृष्टि से और स्वतन्त्रता की दृष्टि से अधिक से अधिक समर्थ बनाना ही पड़ेगा। इसके लिये कानून और रिवाजों में भी परिवर्तन होगा और पालन-पोषण के तरीकों में भी।

नर और नारी में कार्य-क्षेत्र का जो विभाग हुआ है—वह सिर्फ़ नारी के सुभीते के लिये नहीं है, नर और नारी दोनों के अर्थात् समाज के सुभीते के लिये है, इसलिये उसके कारण अगर सिर्फ़ नारी को गुलामी या अनाथता आदि का कष्ट उठाना पड़े तो या-तो वह कार्य-क्षेत्र का विभाग मिटाना पड़ेगा, अथवा नारी को वे सहूलियतें देना पड़ेंगी जो उसे अनाथ या असमर्थ न बनने दें। जहां कार्य-क्षेत्र का विभाग बना हुआ है वहाँ दूसरा तरीका ही ठीक है। इसलिये भी अनाथ बनने या मारी-मारी फिरने का सवाल नहीं रहता।

प्रश्न—तलाक की प्रथा हो जाने पर छोटी बातों में असन्तोष होने लगता है। अमेरिका आदि देशों में देखा गया है कि एक स्त्री अपने पति को इसलिये तलाक दे देती है कि पति ने अच्छी तरह चुम्बन नहीं किया। ऐसे ऐसे लज्जा-जनक-कांड तलाक की कुप्रथा के फल हैं।

उत्तर—इस प्रकार की आपवादिक घटनाएँ तलाक के पक्ष विपक्ष पर कोई असर नहीं डालतीं—इससे सिर्फ़ इसी बात का पता लगता है कि विलास के बढ़ जाने पर व्यक्तियों में कितनी अधीरता आ जाती है। इस प्रकार के स्त्री या पुरुष ऐसी ऐसी छोटी-छोटी बातों पर तलाक ही नहीं दे सकते—वे आत्महत्या भी कर सकते हैं। अमेरिका की ही एक घटना है कि एक स्त्री ने किसी कारण क्रोध में आकर अपने बाल काट लिये फिर दर्पण में देखने पर उसे अपना चेहरा बहुत बुरा लगा इसलिये आत्महत्या कर ली। ये सब अति-विलासता के खेल हैं। तलाक रहे या न रहे—जहां ऐसी विलासिता होगी वहाँ किसी न

किसी तरह के उत्पात होंगे ही। तलाक न होगा तो व्यभिचार होगा, मारपीट हत्याएँ आदि होंगी।

दूसरी बात यह है कि इस प्रकार की अधूरी बातों से किसी घटना का ठीक-ठीक रूप नहीं समझा जाता। छोटी-छोटी घटनाओं की पृष्ठभूमिका का जब तक पता न लगे तब तक उनका वास्तविक महत्व नहीं समझ सकते। कोई कोई क्षुद्र घटनाएँ उस पत्ते के समान होती हैं जो बतलाता है कि हवा का रुख किस तरफ़ को है, और उसके अनुसार पालवाले जहाजें। का चलना रुक जाता है। इसका मतलब यह नहीं है कि पत्ते के कारण जहाज रुक गया, उसने तो सिर्फ़ रुख बताया। रुख ठीक नहीं था, इसलिये जहाज रुक गये। चुम्बनवाली घटना भी पारस्परिक व्यापक असहयोग की एक सूचना हो सकती है और असहयोग का कारण तलाक हो सकता है। खैर, पहिले तो ये घटनाएँ अर्ध सत्य हैं, दूसरे इनका तलाक से वास्तविक सम्बन्ध नहीं है-उसका सम्बन्ध विलासिता से है।

प्रश्न- तलाक की प्रथा होने पर बात-बात में तलाक की धमकी दी जाने लगेगी। इतना ही नहीं, किन्तु जरा अच्छा सम्बन्ध नजर में आते ही तलाक दिया जाने लगेगा। अन्त में विवाह प्रथा न होने के बराबर हो जायगी।

उत्तर- धमकी की चिन्ता न करना चाहिये। तलाक प्रथा न होने पर भी पुरुष पत्नी को घर से निकल जाने की या सौत लाने की धमकी दे डालता है। पत्नी भी सदा पीहर रहने की धमकी दे डालती है। पीहर की बात सम्भव न हो तो आत्महत्या की धमकी कहीं गई नहीं है-इन धमकियों से तलाक की धमकी कुछ बुरी नहीं है। रही सम्बन्ध ढूंढते रहने की बात तो यह जितनी सरल और व्यापक समझी जाती है-उतनी सरल और व्यापक नहीं है। पहिली बात तो यह है कि मनुष्य स्वभाव से ही जमी-जमाई व्यवस्था के तोड़ने में रुचि नहीं रखता, जब तक कोई खास असन्तोष न हो और दूसरी जगह सन्तोष की विशेष आशा न हो तब तक वह अपनी पुरानी व्यवस्था पर जमा रहता है, इसलिये पति या पत्नी का बदलना उसे कई दृष्टियों से बड़ा कष्टप्रद है। दूसरी बात यह है कि अपनी पत्नी और पति से योग्य व्यक्ति नजर आते ही वह मिल नहीं जाता, मनचाहा पति और मनचाही पत्नी खरीदने की कोई दूकानें नहीं होतीं। तीसरी बात यह है कि तलाक के जो कारण पहिले बताये गये हैं-वैसे कारणों से ही तलाक दिया जा सकता है, सरकार या समाज से अनुमति मिल सकती है। दूसरे पर मन चलागया सिर्फ़ इसीलिये तलाक नहीं दिया जा सकता। और भी छोटे-मोटे कारण हो सकते हैं जो तलाक के मार्ग में कठिनाइयाँ पैदा करते हैं।

फिर भी यह हो सकता है कि इन सब कठिनाइयों को पार कर तलाक के विधान का दुरुपयोग हो जाय। पर जहाँ ऐसी जबर्दस्त स्वार्थपरता या विषय-लोलुपता होती है-वहाँ तलाक न होने पर वह दूसरे दुष्परिणाम पैदा करती है। पुरुष तो एक पत्नी के रहते हुए भी दूसरी पत्नी रख लेता है, अथवा व्यभिचार के कुमार्ग में चला जाता है और नारी दूसरा पति अगर नहीं बना पाती तो व्यभिचार के कुमार्ग में चली जाती है। तलाक के बिना, जो ये अनर्थ होते हैं--वे भी कुछ कम नहीं है।

इस प्रकार कौटुम्बिक दृष्टि से तलाक की प्रथा में जहाँ कुछ खराबियाँ हैं, वहाँ बहुत-सी अच्छाइयाँ भी हैं। हरएक विधान कुछ न कुछ काली बाजू रखता ही है, इसलिये हमें देखना यही पड़ता है कि उसका बहुभाग कैसा है? तलाक में यद्यपि बहुत-सी बुराई है और इसका न होना बहुत ही अच्छा है, फिर भी अगर उसका विधान न हो, तो जब जहाँ तलाक की पूरी ज़रूरत होगी—वहाँ भी वह न हो पायगा, उससे भीतर ही भीतर दाम्पत्य का दम घुट जायगा या भयंकर विस्फोट हो जायगा; तथा बहु-पत्नीत्व आदि भयंकर प्रथाओं को ला देगा।

पहिले आर्थिक दृष्टि से यह प्रश्न किया गया था कि जिन समाजों में तलाक की प्रथा है उनकी आर्थिक दशा बहुत खराब है, पर यह सत्य-दृष्टि नहीं है। हिन्दुस्तान की कुछ समाजों को छोड़कर बाकी सब समाजों में और दुनिया के प्रायः सभी देशों में तलाक की प्रथा है और उन देशों की आर्थिक दशा कुछ खराब नहीं है। इसलिये यहां के कुछ समाजों पर विचार-हीन दृष्टि डालने से इसका निर्णय नहीं किया जा सकता।

यह विचारहीन दृष्टि इसलिये है कि इसमें कार्य-कारण का विचार उलटा किया गया है। वास्तव में तलाक होने से गरीबी नहीं आई है, किन्तु गरीबी होने से तलाक आया है। जहां गरीबी होती है-वहां पुरुषों के समान स्त्रियों को भी अर्थोपार्जन के क्षेत्र में काम करना पड़ता है, इससे स्त्रियाँ पुरुषों की गुलाम नहीं होतीं। धनी कुटुम्बों की स्त्रियाँ न तो अर्थोपार्जन की दृष्टि से गरीब स्त्रियों के समान मिहनती होतीं हैं और न इतनी कष्टसहिष्णु, इसलिये घर के बाहर भी वे नहीं निकलतीं—इसका स्वाभाविक परिणाम पुरुषों की गुलामी होता है, इसलिये वे सौत बुला लेना या पति का व्यभिचारी हो जाना तो सह जाती हैं, पर तलाक नहीं। इस निर्बलता और विवशता को लोग सतीत्व भी कह देते हैं, पर वास्तव में यह सतीत्व नहीं है। हां, उदारता, सहिष्णुता और त्याग मुख्य हो तो इसे सतीत्व भी कह सकते हैं, पर इनकी मुख्यता बहुत कम होती है। तलाक का अधिकार हो, तलाक देने की क्षमता हो तब वास्तविक सतीत्व की परीक्षा हो सकती है।

खैर, इस बात में कोई जान नहीं है कि समाज की आर्थिक दशा बिगाड़ने का कारण तलाक है। जहां नर-नारी समभाव है और जहाँ नारियाँ भी जीवन के क्षेत्र में टिक सकती हैं, वहाँ तलाक हो या न हो, पर उसका अधिकार आवश्यक है। हां, समाज को और सरकार को इस बात का ख़याल रखना चाहिये कि तलाक इच्छानुसार जब चाहे न दिया जाय, योग्य कारण हो और उनके होने पर भी कुछ समय प्रतीक्षा के लिये रक्खा जाय। इस प्रकार तलाक कम से कम हो—इस बात की कोशिश तो की जाय, फिर भी जो दस कारण पहिले बताये गये हैं, वैसे कारण मिलें और तलाक के बिना वे रह न सकते हों तो तलाक का विधान रहे।

शरीर में नश्तर लगाना अच्छी बात नहीं है, फिर भी जब मवाद इकट्ठा हो जाय और दूसरा उपाय न रहे, तब वह लगाना पड़ता है। नश्तर हमारा ध्येय नहीं होता—सिर्फ़ विवशता का कार्य होता है, यही हाल तलाक का है।

भिन्न-दाम्पत्य

जहां एक पति और अनेक पत्नियाँ हों या एक पत्नी और अनेक पति हों उसे भिन्न-दाम्पत्य कहते हैं । नर और नारी मानव-जीवन के दो अंग है, पर भिन्न-दाम्पत्य से बराबरी का स्थान नष्ट हो जाता है—छिन्न-भिन्न हो जाता है ।

आम तौर पर भिन्न-दाम्पत्य टिक नहीं सकता; क्योंकि ऐसे समाज प्रायः नहीं हैं कि जहां स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या कई गुणी हो या पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या कई गुणी हो । नर-नारी की संख्या करीब बराबर ही रहती है, थोड़ा-बहुत अन्तर होता भी हैं तो वह इस प्रथा के लिये पर्याप्त नहीं कहा सकता, इसलिये भिन्न-दाम्पत्य सबको नहीं मिल सकता । ऐसी हालत में जो व्यक्ति भिन्न-दाम्पत्य स्वीकार करता है--वह विशेष परिस्थिति में पड़ जाता है । वह विशेष परिस्थिति नर और नारी दोनों पक्षों के लिये हानिकर होती है । अर्थ और काम दोनों दृष्टियों से भिन्न-दाम्पत्य हानिकर है ।

भिन्न-दाम्पत्य कई तरह का होता है । पहिले इसके तीन भेद हैं १—बहुपत्नीक २—बहुपतिक, ३—बहुपत्नी-पतिक । इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद हैं । (१) एक विवाह, (२) अनेक विवाह । इस प्रकार भिन्न-दाम्पत्य के कुल छः भेद हुए । १— एक विवाह बहुपत्नीक, २— एक विवाह बहुपतिक, ३— एक विवाह बहुपत्नी-पतिक, ४— अनेक विवाह बहुपत्नीक, ५— अनेक विवाह बहुपतिक ६— अनेक विवाह बहुपत्नी-पतिक । सबके सब दाम्पत्य अनुचित हैं । और एक विवाह की अपेक्षा अनेक विवाह तो और भी अनुचित हैं ।

१—एक विवाह बहुपत्नीक भिन्न-दाम्पत्य उसे कहते हैं, जिसमें अनेक बहिनों या अनेक सखियों के साथ एक पुरुष एक ही साथ विवाह कर लेता है, फिर पीछे पत्नियों की संख्या नहीं बढ़ाता । शुरू शुरू में ऐसा दाम्पत्य इतना कष्टकर नहीं मालूम होता, क्योंकि अनेक सखियाँ या बहिनें परस्पर स्नेह के कारण एक दूसरे की सौत बन जाती हैं, सौत उनके ऊपर जबर्दस्ती लादी नहीं जाती । पर धीरे धीरे उनमें सौतिया-डाह पैदा हो ही जाती है । जब एक चीज़ के अनेक ग्राहक होते हैं, तब उनमें प्रतिस्पर्द्धा जग ही जाती है । दूसरी बात यह है कि नारी को दाम्पत्य का पूरा आनन्द नहीं मिल पाता, इसलिये अतृप्ति भी रहती है--इस प्रकार स्पर्द्धा, असन्तोष, अतृप्ति आदि दाम्पत्य को बर्बाद कर देते हैं ।

फिर जब सन्तान का अवसर आता है, तब सन्तान भी स्पर्द्धा का कारण हो जाती है । इस प्रकार दाम्पत्य और कौटुम्बिक दोनों सुख संकट में पड़ जाते हैं । नर-नारी समभाव का विनाश तो सभी प्रकार के भिन्न-दाम्पत्य में रहता ही है ।

२—एक विवाह बहुपतिक भिन्न-दाम्पत्य वह है--जिसमें अनेक भाई या मित्र एक साथ किसी एक स्त्री से शादी कर लेते हैं । तिब्बत में यह प्रथा पाई जाती है । पहिले भिन्न-दाम्पत्य की अपेक्षा इसमें कुछ कम कष्ट हैं; क्योंकि सन्तान परम्परा एक ही रहती है इससे सन्तान के कारण सौतिया-डाह की तरह सपतिया-डाह नहीं होती, फिर भी दाम्पत्य की पूरी सुविधा इसमें नहीं हो सकती और कुछ समय बाद परस्पर ईर्ष्या भी इसमें हो जाती है ।

इन दोनों भिन्न-दाम्पत्यों में एक दोष सामान्य है कि यदि बहुपत्नीत्व की प्रथा व्यापक हो जाय तो अनेक युवकों को विवाह के लिये कन्याएँ न मिलेंगी, और अगर बहुपतित्व की प्रथा व्यापक हो जाय तो अनेक युवतियों को वर न मिलेंगे। यह अवस्था समाज के लिये भी घातक है।

३–एक विवाह बहुपत्नी-पतिक भिन्न, दाम्पत्य वह है–जिसमें कुछ भाई या मित्र मिलकर एक साथ कुछ स्त्रियों के साथ सम्मिलित शादी कर लेते हैं। इस संघ की या कुटुम्ब की प्रत्येक नारी प्रत्येक पुरुष की पत्नी होती है और प्रत्येक पुरुष प्रत्येक पत्नी का पति होता है। यह प्रथा पहिले दो भिन्न-दाम्पत्यों की अपेक्षा अव्यावहारिक अधिक है, और सुनने में भी नहीं आती। हां, गुपचुप इस प्रकार सम्बन्धों की कल्पना हुई है। पर जहां अनेक पति और अनेक पत्नियाँ हैं–वहाँ कुछ समय बाद एक एक पति और एक एक पत्नी अलग अलग दाम्पत्य स्थापित कर लेंगे, और जब तक अलग अलग दाम्पत्य स्थापित न हो पायगा प्रति-रात्रि के दाम्पत्य के चुनाव के झगड़े होंगे। हो सकता है कि इसके लिये कुछ वारियों की व्यवस्था हो जाय, पर बीमारी, सेवा आदि को लेकर काफ़ी गड़बड़ी होगी, धीरे-धीरे विवाह का बन्धन ढीला हो जायगा; इसलिये यह प्रथा भी ठीक नहीं कही जा सकती। इसका अंतिम परिणाम विवाह-प्रथा का उच्छेद होगा।

४–अनेक विवाह बहुपत्नी-पतिक भिन्न-दाम्पत्य उसे कहते हैं–जिसमें एक पति की अनेक पत्नियाँ होती हैं और उन पत्नियों के साथ विवाह आगे-पीछे होता है। इसमें पहिली पत्नी या पहिली पत्नियों के साथ एक प्रकार से विश्वासघात किया जाता है, उनके दाम्पत्य पर कुठाराघात किया जाता है, पहिली पत्नी को सधवा के वेष में विधवा बनाया जाता है। विधवा तो फिर भी अच्छी है, क्योंकि उसे पुनर्विवाह का अधिकार तो है, पर ये सधवारूपिणी विधवाएँ तो इस अधिकार से भी वञ्चित रहती हैं। सौतिया-डाह के कारण मानवता का जितना पतन होता है, सौत की सन्तान से जो ईर्ष्या होती है, वह किसी भी कुटुंब का बड़ा से बड़ा दुर्भाग्य कहा जा सकता है।

प्रश्न– कल्पना करो, कोई एक दम्पति बीमारी गरीबी आदि के संकट में पड़ गये हैं। इस प्राणान्तक संकट में उन्हें कोई सहारा देनेवाला नहीं है, इतने में किसी युवती के मन में दया आ जाती है और वह तन-मन-धन से उनकी सेवा करती है, उन दोनों को बचा लेती है। पर उसका प्रेम पति पर हो जाता है। पत्नी भी चाहती है कि जिसने मेरे और मेरे पति के प्राण बचाये–वह मेरे पास जीवन भर रहे तो बहुत अच्छा, इस लिये वह उस युवति के साथ अपने पति की शादी करने को राजी हो जाती है। ऐसी हालत में 'अनेक-विवाह बहुपत्नीक भिन्न दाम्पत्य' में क्या बुराई है? अथवा इसे अन्याय क्यों कहा जाय?

उत्तर– इस प्रकार की आपवादिक घटनाओं से किसी प्रथा की बुराई-भलाई का माप नहीं लगता। बुरी से बुरी प्रथाओं में कभी-कभी एकाध भलाई का कण दिखाई दे जाता है, और भली से भली प्रथाओं में एकाध बुराई का कण दिखाई दे जाता है। ऊपर जो घटना लिखी गई है–उस में यद्यपि कुछ भलाई मालूम होती है, पर उसमें

दो बातें ध्यान देने योग्य हैं।

(१) बहु-पत्नीक की प्रथा का प्रचलन होने से ही ऐसी समस्या खड़ी हो सकी, अन्यथा उन तीनों की विचार-धारा इस तरफ झुक ही नहीं सकती थी। उस दम्पति का उपकार करनेवाली अगर कोई स्त्री न होती-कोई पुरुष होता तो-न तो उस पुरुष के मन में विचार आता कि मैं इस दाम्पत्य में शरीक हो जाऊं, न पति के मन में विचार आता कि इस उपकारी को उपकार के बदले अपनी पत्नी का पति बना दूं, न उस पत्नी के मन में भी ऐसा विचार उठता। उनका प्रेम भाईचारे के रूप में ही रहा होता।

इस प्रकार जब उपकारी पुरुष का सम्पर्क भाईचारा बढ़ाना है, तब उपकारिणी स्त्री का सम्पर्क भी भाईचारे के रूप में गहरा होना चाहिये। पर एक कुप्रथा चालू होने से लोगों की विचार-धारा इस तरफ चली जाती है और इसी से ऐसी घटनाओं की कल्पना होती है, अन्यथा ऐसी घटनाएं ही न हों।

(२) उपकार का प्रत्युपकार जब इस रूप में होगा तब थोड़े ही समय में कृतज्ञता नष्ट हो जायगी, और बहुपत्नीत्व से होनेवाले झगड़े पुराने उपकार को अनुपकार बना देंगे बल्कि उपकारी को उपकार करने का और उपकृत को उपकृत होने का पश्चाताप होने लगेगा।

इसलिये ऐसी आपवादिक घटनाओं के प्रसंग आ भी जायँ, तो भी बहुपत्नीत्व की प्रथा को जगह न देना चाहिये। यही बात बहुपत्नीत्व की प्रथा के बारे में भी कही जा सकती है।

५—अनेक विवाह बहुपतिक भिन्न-दाम्पत्य उसे कहते हैं—जहाँ एक पति के रहते हुए भी पहिले विवाह के बाद दूसरा पति बनाया जाता है। साधारणतः यह प्रथा प्रचलित नहीं है, न होना चाहिये।

प्रश्न—बहुपतित्व और बहुपत्नीत्व की प्रथा में बड़ा भारी दोष यह है कि उससे नरनारी-समभाव का नाश होता है। पर अगर समाज में दोनों प्रथाएँ चालू हों, तब तो नरनारी-समभाव नष्ट न होगा?

उत्तर—नर-नारी समभाव का नाश भी एक बुराई है-जो बहुपतित्व या बहुपत्नीत्व से पैदा होती है, साथ ही सौतिया-डाह और सपतिया-डाह से पैदा होनेवाले झगड़े, बहु-पक्ष को दाम्पत्य-सुख पर्याप्त मात्रा में न मिलने का कष्ट, आदि भी बहुत से कारण हैं। हां, यह बात कही जा सकती है कि जहां केवल बहुपतित्व है या केवल बहुपत्नीत्व है, वहाँ की अपेक्षा दोनों प्रथाओंवाले समाज में नर-नारी समभाव अधिक है, पर इससे समाज में नर-नारी समभाव रह जाता है-कुटुम्ब में नहीं। कुटुम्ब में तो जहां बहुपतित्व है-वहाँ पुरुष विषमता का शिकार है, और जिस कुटुम्ब में बहुपत्नीत्व है-वहाँ नारी विषमता का शिकार है, इसलिये नर-नारी समभाव सिर्फ़ बाज़ार की ही चीज़ रह जाती है घर में उसका स्थान काफ़ी कम हो जाता है। इसलिये दोनों प्रथाओं का चालू रखना भी ठीक नहीं।

प्रश्न—अगर किसी महायुद्ध के कारण पुरुषों की संख्या बहुत कम हो जाय या किसी कारण स्त्रियों की संख्या कम हो जाय तो बहुपतित्व या बहुपत्नीत्व की प्रथा चलाई जाय या नहीं?

उत्तर—अच्छी बात तो यह है कि कुछ समय के लिये आये हुए इस संकट को इन कुप्रथाओं के बिना दूर हटाया जाय। पर अगर इन कुप्रथाओं के बिना काम ही न चले तो

ीस वर्ष के लिये इन कुप्रथाओं की अनुमति ी जाय। और दोनों की साथ अनुमति दी ाय। यह स्वाभाविक है कि अगर स्त्रियाँ अधिक ोंगी तो बहुपत्नीत्व अधिक और बहुपतित्व कम ोगा और अगर पुरुष ज्यादह होंगे तो बहुपतित्व ाधिक और बहुपत्नीत्व कम होगा।

प्रश्न— विषम संख्या के कारण जहां बहु-त्नीत्व की ही ज़रूरत है—वहां बहु-पतित्व को ी चालू करने से क्या लाभ? इससे तो संकट ी बढ़ेगा?

उत्तर—इससे कुछ न कुछ अंश में नर-ारी समभाव बना रहेगा और इन कुप्रथाओं ो दूर हटाने में नर और नारी दोनों के स्वार्थ ेरक बनेंगे।

अच्छी बात तो यह है कि किसी भी कुप्रथा ो जगह न दी जाय, और दी जाय तो दोनों ो दी जाय और परिमित समय के लिये दी जाय।

६—अनेक विवाह बहु-पत्नी-पतिक भिन्न ाम्पत्य वह है—जिसमें अनेक स्त्री-पुरुष सामूहिक रूप में एक साथ दाम्पत्य स्थापित करते हैं और नये नये स्त्री-पुरुषों को उसमें शामिल करते रहते हैं। पुराने समय में वाम मार्ग में ऐसी बातें हुआ करती थी—ऐसी किंवदन्ती है। एक तरह से यह परिमित क्षेत्र में विवाह की प्रथा को मिटा देना है, परन्तु विवाह-प्रथा को मिटा देना ठीक नहीं।

इस प्रकार ये छः प्रकार के भिन्न दाम्पत्य बताये गये हैं। ये दाम्पत्य-जीवन को कलंकित करनेवाले हैं। इसलिये इन्हें समाज में स्थान न मिलना चाहिये।

उपसंहार—नर और नारी मानव-जीवन के दो अंग हैं, पर इन अंगों के समन्वय की समस्या बहुत जटिल है। यहां उन के मिलने, व्यवस्थित रहने, बिछुड़ने और विषमता दूर करने के बारे में कुछ सूचनाएँ दी गई हैं। पर सूचनाएँ कितनी भी दी जायँ—कहीं न कहीं जटिलता आ ही जाती है। इसलिये सबसे बड़ी सूचना तो यह है कि विवेकी बनकर स्वपर-कल्याण का विचार किया जाय और उसके अनुसार अपना व्यवहार बनाया जाय।

६—दूसरा अध्याय

[कुटुम्ब]

नर और नारी—पति पत्नी—मिलकर व्यक्तित्व को पूर्ण बनाते हैं और यहीं से कुटुम्ब का प्रारम्भ होता है। व्यक्तित्व की बाहिरी सीमा और कुटुम्ब की भीतरी सीमा दाम्पत्य है। कौटुम्बिकता यहां से शुरु होकर मनुष्यमात्र या प्राणिमात्र तक फैलती है। इसकी सीमा जितनी विशाल होगी और उसमें जितनी गहराई होगी मनुष्य समाज उतना समुन्नत और सुखी बनेगा।

यद्यपि प्राणि मात्र या मनुष्य मात्र के साथ हमारी कौटुम्बिकता है फिर भी दाम्पत्य से लेकर मनुष्यमात्र के या प्राणिमात्र के बीचमें एक के बाद एक, या एक दूसरे को काटते हुए ऐसे अनेक घेरे बन जाते हैं जिनमें हमारी विशेष जिम्मेदारी और सहयोग होता है। इनके बिना आदमी का काम नहीं चलता। हर एक आदमी अगर अपने माता-पिता पुत्र पुत्री मित्र आदि के बारे में सेवा और सहयोग की जिम्मेदारी उतनी ही समझे जितनी वह दुनिया के सुदूर कोण में रहने वाले किसी भी परिचित अपरिचित व्यक्ति के बारे में समझता है तो मानव समाज नष्ट हो जायगा। इसलिये हर एक आदमी को अपनी शक्ति और भावना के अनुरूप कुछ ऐसे घेरे बनालेना पड़ते हैं जहाँ वह विशेष रूप में सेवा सहयोग दे ले सकता है उन घेरों को कुटुम्ब कहते हैं। इसका परिभाषिक रूप यों होगा—

आर्थिक विनिमय को गौण करके विशेष रूप में सहयोगी जीवन बिताने वाले व्यक्तियों के समूह को कुटुम्ब कहते हैं। आर्थिक विनिमय जितना गौण होगा और सहयोग जितना मुख्य होगा कौटुम्बिकता उतनी ही गहरी होगी। और आर्थिक विनिमय जितना मुख्य होगा और सहयोग जितना गौण होगा कौटुम्बिकता उतनी ही उथली होगी। माता-पिता और सन्तान में विनिमय बिलकुल गौण, नहीं के बराबर, होता है इसलिये कौटुम्बिकता खूब गहरी होती है। पर पृथक कुटुम्ब में विनिमय—वृत्ति बढ़जाती है इसलिये कौटुम्बिकता ढीली हो जाती है।

विनिमय वृत्ति कम करने का मतलब है माप विनिमय कम करना। अमाप विनिमय तो सब जगह होता है कुटुम्ब में भी होता है और होना चाहिये। कुटुम्ब आखिर सहयोग पर टिका होता है और सहयोग में कुछ न कुछ विनिमय होता ही है। पर जहाँ मापविनिमय है अर्थात् लेन देन के हिसाब का पूरा समीकरण है, जितना लिया जाय उसके अनुसार देना ज़रूरी है वहां कौटुम्बिकता नहीं है। पर जहाँ लेन देन तो है पर अपनी अपनी शक्ति के अनुसार है, कम

लेकर अधिक भी दिया जाता है अधिक लेकर कम भी दिया जाता है, मात्रा का हिसाब नहीं मागा जाता अर्थात् अमाप विनिमय है वहां कौटुम्बिकता है।

हां, जहां इस अमाप विनिमय में छल कृतघ्नता आदि का प्रवेश हो जाता है वहां अमाप विनिमय नष्ट हो जाता है और कौटुम्बिकता को भी नष्ट कर देता है। मातापिता सन्तान की जितनी सेवा करते हैं सन्तान उसके बदले में बाल्यावस्था में कुछ नहीं करती या कुछ नहीं के बराबर करती है फिर भी कौटुम्बिकता बनी रहती है पर सन्तान युवा और समर्थ होकर भी अगर यथाशक्ति माता-पिता की सेवा न करे तो कौटुम्बिकता नष्ट हो जायगी। मतलब यह कि अमाप विनिमय कौटुम्बिकता का प्राण है और मुफ्तखोरी कृतघ्नता आदि कौटुम्बिकता का विष है।

यों तो थोड़ा बहुत अमाप विनिमय मनुष्य मात्र में–सारे समाज में–होता है इसलिये हम मनुष्य मात्र को या समाज मात्र को एक कुटुम्ब कहते हैं इसी दृष्टि से सच्चे साधु विश्वकुटुम्बी कहलाते हैं। पर व्यवहार में जिन्हें कुटुम्ब कहते हैं वहां यह अमाप विनिमय विशेष मात्रा में होता है। सुख दुःख में सहयोग की विशेष जिम्मेदारी होती है।

कुटुम्बक के भेद ९

कुटुम्ब के मूल भेद तीन हैं–सुकुटुम्ब, कुटुम्बक, उपकुटुम्ब। इनमें से प्रत्येक के तीन तीन भेद हैं—सहज, सुहृत् साधक। इस प्रकार कुटुम्ब के कुल नव भेद हुए। १ सहज सुकुटुम्ब २–सुहृत् सुकुटुम्ब ३-साधक सुकुटुम्ब, ४–सहज कुटुम्बक ५–सुहृत्कुटुम्बक ६–साधक कुटुम्बक ७–सहज उपकुटुम्ब ८–सुहृत् उपकुटुम्ब ९-साधक उपकुटुम्ब।

१ — **सहज सुकुटुम्ब**—जो कौटुम्बिकता जन्म, विवाह, या गोद लेने से पैदा होती है वह सहज है। और **सुकुटुम्ब** का अर्थ ऐसा कुटुम्ब है जिस के सदस्यों की सम्पत्ति खान पान और जीवन सम्मिलित है। अपनी अपनी योग्यता और आवश्यकता का समन्वय करते हुए जिस में सब का जीवन निर्वाह होता है एक की गरीबी सब की गरीबी होती है और एक की अमीरी सबकी अमीरी होती है। किसने कितना काम किया इस का विचार कम किया जाता है किस को कितनी जरूरत है इस का विचार अधिक किया जाता है। इसीलिये बच्चे कुछ काम न करके बहुत कुछ लेजाते हैं और मा बाप अधिक मिहनत कर के भी भूखे भी रह जाते हैं या कम भी लेते हैं। व्यवहार में ऐसे कुटुम्ब को घर कहते हैं। सुकुटुम्ब में जब कोई उपकुटुम्बी आकर शामिल हो जाता है और वह कुटुम्बकी बन कर रहने लगता है तब भी मुख्यता की दृष्टि से उस कुटुम्ब को सुकुटुम्ब ही कहते हैं।

यद्यपि इन कुटुम्बों में थोड़ी बहुत विषमता होती है, जो घर का मुखिया होता है संचालक होता है जिसकी सेवाएँ अधिक मूल्य की होती हैं, उसके प्रति विशेष आदर उसकी सुविधाओं का विशेष खयाल रक्खा जाता है; फिर भी वह सुकुटुम्ब ही है क्योंकि एक की कमाई से भी अगर आमदनी बढ़ती है तो उसका लाभ थोड़ा थोड़ा सभी को मिलता है। और आवश्यकता होने पर एक की सुविधा दूसरे के लिये कुर्बान की जाती है।

प्रश्न—सुकुटुम्ब में भी स्त्रियों के पास स्त्री-धन अलग रहता है क्या इससे सुकुटुम्बता का नाश नहीं होता ?

उत्तर—नहीं होता, क्योंकि स्त्रीधन दायभाग की व्यवस्था का एक अंश है। पुत्र और पुत्रवधू,पुत्र और पुत्री, उनके दायभाग के तरीके अलग अलग होते हैं। जहां स्त्री को पुरुष के समान दायभाग में हिस्सा नहीं मिलता या पूरा नहीं मिलता वहां स्त्रियों को स्त्रीधन की व्यवस्था अलग की गई है। कुटुम्ब विच्छेद के समय किसको कितना हिस्सा मिले इस विषय की विशेष व्यवस्था से सुकुटुम्बता का नाश नहीं होता। और कुटुम्ब की आर्थिक अवस्था के अनुरूप थोड़ा बहुत अपनी अपनी रुचि के अनुसार खर्च करने की सुविधा मिलने से भी सुकुटुम्बता नष्ट नहीं होती।

२–सुहृत्सुकुटुम्ब— अनेक मित्र मिल कर जब ऐसा कुटुम्ब बना लेते हैं जिस में एक की आमदनी दोनों की आमदनी बन जाती है एक की या दोनों की आमदनी में से सुविधानुसार दोनों खर्च करते हैं, दोनों का अलग अलग हिसाब नहीं रक्खा जाता या उस का लेन देन नहीं किया जाता तब उसे सुहृत्सुकुटुम्ब कहते हैं ऐसे कुटुम्ब बहुत कम होते हैं।

३–साधक सुकुटुम्ब—स्वपर कल्याण की साधना के लिये जब अनेक साधक मिल कर एक ऐसा कुटुम्ब बना लेते हैं जिस में जीवन निर्वाह के साधन सम्मिलित रहते हैं और अमाप विनिमय के आधार पर सेवा सहयोग होता है वह साधक सुकुटुम्ब है। पुराने जमाने की अनेक साधु संस्थाएँ इस तरह साधक सुकुटुम्ब बनाकर ही काम करती थीं और अब भी करती हैं। ऐसे कुटुम्बों को भिक्षा वगैरह के द्वारा जो कुछ मिलता है वह समस्त संघ के काम आता है।

इस प्रकार ये तीन तरह के सुकुटुम्ब हैं।

४– सहज कुटुम्बक—सहज कुटुम्बियों की जब आर्थिक व्यवस्था जुदी जुदी हो जाती है उनका हिस्साबाट हो जाता है किन्तु खानपान आदि सब सम्मिलित रहता हैं, खान पान या सेवा आदि में माप विनिमय नहीं किया जाता तब वह सहज कुटुम्बक कहलाता है।

५–सुहृत्कुटुम्बक— जब अनेक मित्र मिल कर कुटुम्बक बनाते हैं तब उसे सुहृत्कुटुम्बक कहते हैं। प्रवास में या परदेश में कुछ समय के लिये इस प्रकार मिल जाने से ही कुटुम्बक नहीं बनता। उस के लिये कुछ स्थायिता चाहिये और पर्याप्त मात्रा में अमाप विनिमय भी चाहिये।

प्रश्न— एक आदमी है तो नौकर, पर दिन रात घर में रहता है, वहीं खाता पीता है कपड़े भी उसे वहीं से मिलजाते हैं और थोड़ा बहुत हाथ खर्च भी मिलता रहता है या कपड़ों आदि के लिये कुछ रकम मिलती है और उस का आदर भी मित्र के ढंग का रक्खा जाता है पर है वह नौकर ही, तो क्या उसे कुटुम्बकी कहेंगे ?

उत्तर—कुटुम्ब में आदर की मुख्यता नहीं है प्रेम की है। मां अपने बच्चेको दिन में बीस बार गालियाँ देती है पर इस से उस की कौटुम्बिकता कम नहीं होती। साधारणतः बड़ों का आदर तो करना ही चाहिये खास कर साधक कुटुम्बों में तो अवश्य करना चाहिये पर आदर कौटुम्बिकता की निशानी नहीं है, निशानी है

प्रेम। ऊपर की घटना में मित्र के समान आदर करने में भी कौटुम्बिकता न होगी। कौटुम्बिकता के लिये यह जानना ज़रूरी है कि वह स्थायी है या नहीं। कोई अच्छी जीविका मिलते ही घर छोड़कर चला जानेवाला हो तो वह कुटुम्बकी नहीं कहलायगा। खान-पान की कुछ असुविधा से घर छोड़कर चला जाय—ऐसी हालत में भी वह कुटुम्बकी न कहा जायगा। मुख्य बात यह है कि भोजन-पान का सम्मिलन, वेतन की सुविधा-असुविधा के कारण नहीं, किन्तु परस्पर प्रेमपूर्ण सहयोग के कारण हो और उसमें स्थायिता हो तो वह कुटुम्बकी है। बहुत से नौकर जीवन भर मालिक का साथ देते हैं, घर में गरीबी आने पर या काम कम हो जाने पर न तो मालिक ही नौकरी छुड़ाना चाहता है और न नौकर ही मालिक को छोड़कर जाना चाहता है। मालिक की ग़रीबी के कारण रूखा-सूखा खाने लगता है, हाथखर्च या वेतन कम लेने लगता है, मालिक के धन की रक्षा और मितव्ययिता का पूरा ख़याल रखता है, तब वह नौकर कहलाकर भी कुटुम्बकी बन जाता है। कुटुम्बकी व्यक्ति छोटा-बड़ा काम करने में शर्मिन्दा नहीं होता या उतना ही शर्मिन्दा होता है जितना वह अपने घर का काम करने में हो सकता है, अधिक काम करने से घबराता नहीं है, काम कराने में उसके आलस्य को रोकने के लिये—देखरेख की ज़रूरत नहीं पड़ती, कुटुम्ब की हानि न हो जाय—इसके लिये वह चारों तरफ सतर्क रहता है। वह यह नहीं सोचता कि 'अपना क्या बिगड़ता है' हर तरह आत्मीयता का परिचय देता है। ये विशेषताएँ हों तो कुटुम्बकी है, नहीं तो नौकर है।

६—**साधक कुटुम्बक**— जो लोग स्वपर-कल्याण की साधना के लिये एक घर या कुटुम्ब बनाकर रहते हैं, पर उनके आर्थिक अधिकार मर्यादित हैं, कुटुम्ब के अन्य सदस्यों की आर्थिक व्यवस्था जुदी जुदी है, पर कुटुम्बियों के समान खान-पान व्यवस्था एक जगह है। एक दूसरे की जिम्मेदारी में यथाशक्ति हाथ बटाने का, योग्यता और सुविधानुसार परस्पर सेवा का भाव है—उनके सम्मिलित जीवन का नाम साधक-कुटुम्बक है। मुख्य बात इसमें साधना की है। अगर जीविका की मुख्यता से कोई कुटुम्बकी रहता है अथवा दूसरी जीविका के मिलने पर साधना छोड़ देता है तो वह साधक-कुटुम्बकी नहीं है।

कोई कोई संस्थाएँ साधक-कुटुम्ब के समान बन जाती हैं। शिक्षा संस्थाएँ, सेवा संस्थाएँ और धर्म संस्थाएँ साधक-कुटुम्बक बनकर थोड़े खर्च में बहुत काम कर जाती हैं। पर कुटुम्बी कहलाने का अर्थ—काम में बेजिम्मेदारी, अनुशासन का अभाव, अहंकार या तुनुकमिजाजी नहीं है। इन दोषों के आने पर कुटुम्बक नष्ट या बेकार हो जाता है। साधना—सहयोग, जिम्मेदारी, अनुशासन और स्थायिता, इनका समन्वय हो तभी साधक-कुटुम्बक बनता है या जिनमें ये बातें होती हैं वे साधक-कुटुम्बकी कहलाते हैं। इसके सिवाय सुद्ध-रकुटुम्बक के प्रकरण के अन्त में नौकर और कुटुम्बकी के रूप में जो अन्तर बतलाया है वह यहाँ भी लागू है। इस प्रकार ये तीन तरह के कुटुम्बक हैं।

७—**सहज उपकुटुंब**—जब रिश्तेदारी या वंश-परम्परा से अनेक व्यक्ति बँधे रहते हैं, पर उनकी आर्थिक-व्यवस्था और खान-पान अलग रहता है, पर ख़ास ख़ास अवसरों पर या सुख-दुःख में एक

दूसरे का यथाशक्य साथ देते हैं तब वे सहज उपकुटुम्बी कहलाते हैं। अनेक भाई जब हिस्सा-बाट करके अलग अलग हो जाते हैं, बहिन बेटी शादी होने पर जब दूसरे घर की हो जाती हैं तब वे उपकुटुम्बी हो जाते हैं। इसी प्रकार साला ससुर, मामा, मौसा आदि अन्य रिश्तेदार भी उपकुटुम्बी कहलाते हैं। इनके समुदाय को उपकुटुम्ब कहते हैं।

८-सुहृत्-उपकुटुम्ब--जब अलग अलग रहनेवाले अनेक व्यक्तियों में काफी घनिष्टता हो जाती है-रिश्तेदार आदि की तरह या उनसे भी ज्यादा तब वे एक दूसरे के उपकुटुम्बी बन जाते है। सुख-दुःख में शामिल होते हैं, माप-विनिमय को गौण बनाकर एक दूसरे की यथाशक्य सेवा भी करते हैं, तब वे सुहृत् उपकुटुम्बी कहलाते हैं। इस प्रकार दो या अनेक मित्रों के कुटुम्बों के समूह को सुहृत्-उपकुटुम्ब कहते हैं।

९-साधक-उपकुटुम्ब—किसी एक ही ध्येय 'स्वपर-कल्याण' की साधना के लिये जब अनेक कुटुम्बी मिलकर एक समाज, संघ या दल आदि बना लेते हैं और जहाँ तक उस साधना से सम्बन्ध है—उसमें मिलकर रहते हैं, एक दूसरे से सहयोग करते हैं और इस निमित्त से जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी यथाशक्य कौटुम्बिकता का परिचय देते हैं—उनके कुटुम्बों के संगठित समूह को साधक-उपकुटुम्ब कहते हैं। इस प्रकार तीन तरह के उपकुटुम्ब हैं।

कुटुम्ब के कुल नौ भेद होते हैं। कौटुम्बिकता का क्षेत्र जितना विशाल और गहरा होगा मानव-समाज उतना ही समुन्नत कहलायगा।

कुटुम्बियों के भेद ३६

नौ तरह के कुटुम्बों में रहनेवाले कुटुम्बियों की चार चार श्रेणियाँ होती हैं—१ उत्तम, २ मध्यम, ३ जघन्य, ४ अधम। भाग्य से या छल आदि से कुटुम्बों में जगह मिल जाने पर भी सब की कौटुम्बिकता एक-सी नहीं होती। कोई प्रेम के साथ रहते हैं, कोई सिर्फ़ सहयोग करने के लिये, कोई सिर्फ़ अपना मतलब निकालने के लिये, कोई ठगने के लिये। कुटुम्ब के सदस्यों की कौटुम्बिकता जितने ऊंचे दर्जे की होगी—कुटुम्ब उतना ही अधिक समृद्ध और सुखी होगा तथा समाज पर भी इसका अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

कौन कुटुम्बी किस श्रेणी का है या था—इसका विचार कई दृष्टियों से करना चाहिये। वह किस वृत्ति से रहता है, किस तरह कुटुम्ब से अलग होता है या हो सकने की सम्भावना है, निकलकर कुटुम्ब के साथ कैसा व्यवहार रखता है या रखने की सम्भावना है—इत्यादि बातों से पता लग सकता है कि कौन कुटुम्बी किस श्रेणी का है?

उत्तम श्रेणी के कुटुम्बी का मुख्य आधार है 'प्रेम'। इस प्रकार के कुटुम्बी में विनय होती है, वह सिर्फ़ शिष्टाचार ही नहीं रखता, किन्तु दिल से नम्र और अहंकारशून्य होता है। कर्मठता पूरी पूरी होती है, वह अपनी शक्ति और परिस्थिति के अनुसार कम से कम लेने की और अधिक से अधिक देने की कोशिश करेगा। काम करने में शक्ति को न छिपायेगा, बीमारी आदि के बहाने न बनायगा, या नाममात्र की बीमारी से आवश्यक काम न छोड़ेगा, कृतज्ञ रहेगा, छोटी छोटी बातों में कुटुम्ब छोड़ने की धमकी न देगा। कुटुम्ब के हित की दृष्टि से जब कुटुम्ब छोड़ना ज़रूरी होगा तभी छोड़ेगा, स्वार्थ को गौण

रखकर स्थिरता से रहेगा। कुटुम्ब में प्रवेश करते समय जो वचन दिये होंगे—उन्हें पूर्ण करेगा।

उत्तम कुटुम्बी को अगर कभी कुटुम्ब से सम्बन्ध छोड़ना पड़ेगा तो यथासाध्य कुटुम्बियों की अनुमति से ही छोड़ेगा। या तो उसे मौत ही ले जायगी, या उसे विवाह के कारण अलग होना पड़ेगा (जैसे बहिन बेटियों को विवाह के बाद ससुराल चला जाना पड़ता है), या वे संसार के कल्याण के लिये विशेष साधु बनकर गृह त्याग करेंगे, या ऐसा कोई सुधार या क्रान्ति आवश्यक हो जिसे कुटुम्ब न पचा सकता हो तो कुटुम्ब का त्याग करेंगे। इस प्रकार मृत्यु, विवाह, विश्वहितैषिता आदि ऐसे कारण ही उसे कुटुम्ब छोड़ने में निमित्त बनेंगे—जो उचित और आवश्यक हैं। कुटुम्ब पर कोई संकट आ जाये या गरीबी आ जाय तो वह कुटुम्ब का त्याग न करेगा। अर्थोपार्जन के लिये विदेश जाना पड़े तो यह बात दूसरी है—यह कुटुम्ब त्याग नहीं है।

उत्तम-कुटुम्बी कुटुम्ब छोड़ने के बाद भी अगर वह जीवित है तो कृतज्ञ रहेगा, यथायोग्य विनय रक्खेगा, निंदा न करेगा, कुटुम्ब को नुकसान पहुँचाने की कोशिश तो कभी न करेगा। समालोचना करेगा तो नैतिक दृष्टि से करेगा—अपने स्वार्थ की दृष्टि से नहीं, और वह भी किसी ख़ास अवसर पर करेगा जब विश्वहित की दृष्टि से अनुकूल और आवश्यक होगी, बाहर रहकर जितना सहयोग और प्रेम किया जा सकता है करने की कोशिश करेगा।

मध्यम कुटुम्बी व्यक्ति का आधार है 'सहयोग'। यद्यपि उसके मन में प्रेम भी रहता है पर उतना ही जितना कौटुम्बिक सहयोग के लिये ज़रूरी है। इसलिये इसके जीवन में विनय की नहीं, शिष्टाचार की मुख्यता रहती है। कृतज्ञता भी इसमें पूरी मात्रा में नहीं होती। कृतघ्न तो यह नहीं होता पर कृतज्ञता जिस तरह जितनी मात्रा में प्रगट करना चाहिये—उतनी प्रगट नहीं करता। कम से कम लेकर अधिक से अधिक सेवा देने की साधुता यह तभी दिखाता है जब इसके लिये कोई उसे शर्मिन्दा करे या विशेष प्रेरणा करे, स्वतः साधुता इसमें नहीं होती, विवश साधुता रहती है। जिम्मेदारी का भी इसे भान नहीं रहता, कुछ लापर्वाह होता है।

उत्तम श्रेणी का कुटुम्बी जिन कारणों से कुटुम्ब का त्याग करता है—वे कारण मिलें तो यह भी कुटुम्ब का त्याग कर देगा, साथ ही कोई महान संकट आ जाय तो भी भाग खड़ा होगा। संकट में यह साथ न देगा या उतना ही साथ देगा जितने में वह अपनी सुरक्षा समझेगा।

कुटुम्ब से अलग होने पर मुर्दा-सा शिष्टाचार रक्खेगा, विनय या ठोस शिष्टाचार न होगा। हां! निन्दा न करेगा, कृतघ्न न बनेगा। उतना सहयोग करेगा जितना बदनामी से बचने के लिये ज़रूरी है।

जघन्य कुटुम्बी का आधार है 'स्वार्थ'। यह मायाचारी होता है, कर्मठता या साधुता की बातें बहुत करता—है, पर कर्मठता होती नहीं। झूठी नम्रता दिखायेगा—पर मौका मिलते ही एकदम अहंकार का परिचय देगा। जब तक विवश न किया जाय तब तक काम न करेगा। काम से बचने के लिये बहाना करेगा, कृतघ्न होगा, कभी कभी कृतज्ञता का ढोंग करेगा। काम निकालने के लिये मीठी मीठी बातें करेगा, काम निकल जाने

पर स्वाभिमान के नाम पर अहंकार का परिचय देगा। अपनी चीज में कंजूस और कुटुम्ब की चीज़ के खर्च करने में उदार अर्थात् फिजूलखर्ची होगा, कमाने में पीछे, खर्च करने में आगे रहेगा, दूसरों का हिस्सा हड़पने को तैयार रहेगा।

उत्तम और मध्यम कुटुम्बी जिन कारणों से कुटुम्ब छोड़ देते हैं—वे कारण मिलें या उनका बहाना मिले तो यह भी कुटुम्ब छोड़ देगा, पर इसके अतिरिक्त जहां जरा स्वार्थ को धक्का लगा अथवा दूसरी जगह जरा विशेष सुविधा मिली कि यह कुटुम्ब छोड़ देगा—ऐसे अवसरों की बाट देखता रहेगा।

कुटुम्ब से अलग होने पर यह शिष्टाचार भी तोड़ देगा, कृतघ्नता का काफी परिचय देगा। सहयोग न रक्खेगा। प्रत्युपकार से अपरिचित होगा।

अधमस्वार्थी कुटुम्बी की कौटुम्बिकता का आधार उसका उग्र स्वार्थ है। स्वार्थी में जो दोष बताये गये हैं—वे दोष इसमें भी होते हैं, इसके अतिरिक्त इसमें अप्रामाणिकता भी होती है। मौका मिलने पर यह चोरी भी करता है, कुटुम्ब की सम्पत्ति अपनी बनाता जाता है, कृतघ्नता, आलस्य, दंभ, अहंकार इसमें बहुत ज्यादा होते हैं। शिष्टाचार की कमी होती है और उद्दंडता असभ्यता काफ़ी होती है। मन भर उपकार के बदले में अगर इसने कण भर भी प्रत्युपकार किया होता है तो उसके गीत गाता रहता है, उसकी दुहाई दे देकर कुटुम्ब को अधिक से अधिक चूसने की कोशिश करता है। अनुचित मांगें पूरी न हों, आलस्य अकर्मण्यता को दूर हटाने की प्रेरणा की जाय तो निंदक बन जाता है, क्रोध करता है, कुटुम्ब छोड़कर भागने लगता है या भागने की धमकी देता है। कुटुम्ब में प्रवेश करते समय कोई प्रतिज्ञा की होती है या कोई शर्त या शर्तें स्वीकार की होती हैं तो उनकी पर्वाह नहीं करता है; मतलब यह कि यह स्वार्थी-कुटुम्बी से भी अधम होता है।

जिन कारणों से स्वार्थी-कुटुम्बी कुटुम्ब छोड़कर चला जाता है—उन कारणों से यह भी चला जाता है, बल्कि जाते समय अशिष्ट व्यवहार करता जाता है, कृतघ्नता का पूरा परिचय देता जाता है।

चले जाने के बाद व्यवहार वगैरह तोड़ देता है या निन्दा करता है। उपकारों को भुलाकर छोटी-मोटी अप्रिय घटनाओं को महान अपकार के रूप में चित्रण करता है, उपकृत न कहलाना पड़े—इसलिये अधिक से अधिक झूठे दोषारोपण करता है। अपने आवश्यक कर्तव्य की छोटी से छोटी बात को महान उपकार के रूप में चित्रण करता है। दंभ द्वेष का परिचय देता है। अपने दुराचार को छिपाने के लिये दूसरों को महा दुराचारी कहता फिरता है। कल तक जिन बातों की तारीफ़ करता था—आज उन्हीं की निन्दा करने लगता है और कल तक जिन बातों की निन्दा करता था—आज उन्हीं की तारीफ करने लगता है।

ये जो चारों श्रेणियों के कुटुम्बियों के चिन्ह बताये गये हैं उनमें से किसी एक श्रेणी के सब चिन्ह किसी एक व्यक्ति में ही पाये जायँ—यह नियम नहीं है और न यह नियम है कि एक श्रेणी के मनुष्य में एक ही श्रेणी के चिन्ह पाये जायँ—इस बारे में मुख्यता या चिन्हों की अधिकता देखना चाहिये। जो चिन्ह जोरदार हों, जिस

श्रेणी के चिन्ह ज्यादा संख्या में हों उनसे ही किसी व्यक्ति की कौटुम्बिकता की श्रेणी निश्चित करना चाहिये ।

प्रश्न- यह भी हो सकता है कि किसी एक कुटुम्ब की अपेक्षा कोई मनुष्य एक श्रेणी का हो और दूसरे कुटुम्ब की अपेक्षा दूसरी श्रेणी का, तब उसे किस श्रेणी का कुटुम्बी समझा जाय ?

उत्तर- जिस कुटुम्ब की अपेक्षा वह जिस श्रेणी का है उस कुटुम्ब की अपेक्षा वह उसी श्रेणी का कहा जाना चाहिये, पर इस तरह उस मनुष्य के जीवन की परख न होगी; क्योंकि कौटुम्बिकता की श्रेणियाँ संयम असंयम का परिणाम है । एक मनुष्य एक ही परिस्थिति में एक जगह ईमानदार है-दूसरी जगह बेईमान है तो इसका यह मतलब नहीं है कि जहां वह ईमानदार है-वहां वह संयमी है । वहां तो उसे बेईमानी करने का अवसर नहीं है । इसके कई कारण हो सकते हैं । हो सकता है कि वहां उसे बेईमानी करने की जरूरत ही न हो, हो सकता है कि वहां बेईमानी करने से स्वार्थनाश या दंड का भय हो, हो सकता है कि मोह हो । इन कारणों से बेईमानी न करना-ईमानदारी नहीं है (विश्वहित या न्याय की दृष्टि से जहां अतथ्य भी सत्य होता है वहां बेईमानी न समझना चाहिये) । इसी प्रकार एक जगह एक आदमी कौटुम्बिकता में उत्तम श्रेणी का मालूम होता है और दूसरी जगह अधम श्रेणी का, तो इसका मतलब यह है कि स्वार्थ आदि के कारण उसकी बेईमानी छिपी है, इसलिये अधम श्रेणी का होने पर भी वह कहीं पर उत्तम श्रेणी का मालूम होता है । हां, यह बात अवश्य है कि सब जगह की कौटुम्बिकता एक सरीखी नहीं होती, निकटता दूरपन का खयाल रहता है और उसके अनुसार ही मनुष्य की जिम्मेदारी होती है, कहीं कहीं कौटुम्बिकता नाम-मात्र की होती है; पर इन सब बातों का विचार करने पर भी अगर कोई आदमी कहीं पर अधम श्रेणी का कुटुम्बी ठहरता है, तो समझना चाहिये कि उसका कौटुम्बिक-जीवन अधम श्रेणी का है ।

बात यह है कि मनुष्य ईमानदारी को बेईमानी से नहीं ढकता, किन्तु बेईमानी को ईमानदारी से ढकता है, इसलिये अगर कहीं बेईमानी दिखाई दे रही है-तो समझना चाहिये कि इस आदमी का वास्तविक या भीतरी रूप यही है । कौटुम्बिकता के निर्णय में भी इसी दृष्टिकोण से विचार करना चाहिये ।

कौटुम्बिक जीवन

नव तरह के जो कुटुम्ब बताये गये हैं उन कुटुम्बों में मुख्य-मुख्य सदस्य कौन हैं और उनको किस नीति से काम लेना चाहिये, किसके क्या कर्तव्य हैं और क्या क्या मर्यादाएँ हैं-,इन बातों को अगर सब अच्छी तरह जान लें और उनका पालन करें तो कौटुम्बिक-जीवन पुण्यमय आनन्दमय हो जायगा । यहां हर तरह के कुटुम्ब के बारे में कुछ जरूरी बातें कही जाती हैं ।

सहज कुटुम्ब—

कौटुम्बिकता का मूल-रूप यही है । इसके मूल में पति-पत्नी हैं, पर वे तो एक व्यक्ति के रूप में हैं । इसलिये दाम्पत्य-जीवन कौटुम्बिक-जीवन नहीं है, किन्तु उसका बीज है । कौटुम्बिक-जीवन में तो दम्पति माता-पिता के रूप में आते हैं और यहीं से कुटुम्ब की शुरुआत होती है ।

इस कुटुम्ब के सदस्य पांच तरह के हैं—माता, पिता, पुत्र, पुत्रवधू, पुत्री। कभी कभी आगे-पीछे की भी कई पीढ़ियाँ सुकुटुम्ब में शामिल हो जातीं हैं, पर वे भी माता-पिता पुत्र-पुत्री आदि भेदों में शामिल हो जाती हैं। इन पांच के कर्तव्य में उनके कर्तव्य भी शामिल हैं।

माता—कौटुम्बिकता का प्राण माता है यह प्रेम-मूर्ति है। पर अगर यह मोह-मूर्ति हो जाय तो कुटुम्ब की बर्बादी हो जायगी। सन्तान को पैदा कर देना या खिलापिला कर उसका शरीर बढ़ा देना ही माता का काम नहीं है। मुख्य काम उसमें आदमियत लाना और आदमियत आ सके इसके योग्य संस्कार पैदा करना है।

जैसे पौधों के लिये पानी और सूर्य की गरमी दोनों ज़रूरी हैं, उसी प्रकार सन्तान के लिये स्नेह-जल और अनुशासन की गरमी ज़रूरी हैं। अकेले स्नेह से बच्चों का जीवन बर्बाद हो जाता है—वे हठीले, बेजिम्मेदार, उद्दंड और अकर्मण्य हो जाते हैं। बहुत-सी माताएँ प्रेम और अनुशासन के समन्वय की खानापूर्ति करने के लिये कभी कभी बच्चों को खूब गालियाँ दे डालतीं हैं और मार बैठतीं हैं—यह करीब करीब ऐसा ही है जैसे पौधों को ज़रूरी गर्मी पहुँचाने के लिये कभी आग से झुलसाया जाय। ऐसी गर्मी से झाड़ पनपते नहीं, जलते हैं। झाड़ को धीमी-धीमी गर्मी—सूर्य की धूप—ही ज़रूरी है। इसी प्रकार बालक पर धीमा-धीमा अनुशासन चाहिये। बालक बहुत-सी बातें अपने व्यवहार को देखकर सीखते हैं, इसलिये बालक को सुधारने के लिये ज़रूरी यह है कि हम अच्छे हों या बालक की संगति अच्छी हो।

बच्चे को आवश्यक स्वतन्त्रता देने के बाद उपेक्षा न करना चाहिये। बात बात में टोकना, फटकारना, मारना अच्छा नहीं, पर बालोचित क्रीड़ा के बाद उसमें कोई अनुचित हठ हो, उद्दंडता, असभ्यता या अनुशासन भंग की वृत्ति हो तो उस पर उपेक्षा करना ठीक नहीं। इन बातों में ढील देने से ये दोष बढ़ते ही जाते हैं।

बच्चे के साथ सदा कोमलता का व्यवहार करो, पर जिस बुराई से उसे रोकना हो उसे रोकने में पूरी दृढ़ता बताओ। और इस बारे में उसे जो सूचना दी जाय—उसका दृढ़ता से पालन कराओ। ज़रूरी सूचनाओं के बारे में लापर्वाही की आदत डाल देने से असुविधा ही नहीं बढ़ती; किन्तु बालक का जीवन भी नष्ट हो जाता है। यह बात कदाचित् हो सकती है कि वह किसी ज़रूरी काम में भी लापर्वाही कर जाय, पर यह कदापि न होना चाहिये कि किसी अनुचित काम से रोके जाने पर भी वह उससे न रुके। 'क्या करें नहीं मानता'—इस प्रकार की बात करना अभिभावकता में अनुत्तीर्ण होना है। इसलिये अनुचित कार्यों से तो उसे किसी न किसी तरह रोक रहना चाहिये और उचित कार्य कराने के लिये भी आदत डलवाना चाहिये। इसके लिये मारना-पीटना ठीक नहीं। आंख और चेहरे का रुख ही उसके लिये काफ़ी है। अगर मां के व्यवहार से बालक को पता लग जाय, कि अगर मैं अच्छी तरह रहूंगा तो मां का प्यार और सुविधाएँ मिलेंगी और बुरी तरह रहूंगा तो लाड़-प्यार और सुविधाएँ छिन जायंगी तो बालक का विकास सुराह पर होगा, और वह अनुशासन में रहेगा। अनुशासन में रखने का

मतलब यह नहीं है कि वह तुम्हारे सामने मनहूस बनकर रहे, खेल-कूद बन्द कर दे। हँसना-खेलना उछलना-कूदना आदि की पूरी सहूलियत हो, पर उसे इतने अनुशासन में रखने की जरूरत है कि जब कोई काम करने न करने की सूचना उसे दी जाय—तब वह अवश्य उसका पालन करे। बालकों को माता-पिता किस तरह रक्खें?—इस विषय में कुछ मुख्य-मुख्य सूचनाएँ यहां दी जाती हैं।

१—उनकी जिज्ञासा पूरी करो।

अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य की विशेषता यह है कि उसकी जिज्ञासा असीम होती है। जिस बालक में जितनी अधिक जिज्ञासा होगी, उसमें महान् ज्ञानी बनने के उतने ही अधिक बीज समझना चाहिये। इसलिये उसके प्रश्नों पर उपेक्षा न करो, न झिड़को, जहां तक बन सके उसका संतोषप्रद और ठीक ठीक उत्तर दो।

२—उसकी भोग-लालसा पर नियन्त्रण रक्खो।

जिज्ञासा की तरह भोग-लालसा भी मनुष्य में स्वाभाविक है, इसलिये बालक में भी यह पूरी तरह दिखाई देती है। इस लालसा के कारण ही साम्राज्य-वाद पूंजी-वाद, आदि सामूहिक पाप, और हिंसा-झूठ चोरी व्यभिचार आदि वैयक्तिक पाप होते हैं। बालक में हरएक स्वादिष्ट सुन्दर या नई चीज़ को लेने की उत्कट लालसा होती है। उसे न तो तुम्हारी आर्थिक अवस्था से मतलब होता है, और न तुम्हारी सुविधा-असुविधा से,—इसमें उसका अपराध नहीं है, यह प्राणी का स्वभाव है। पर है यह जानवरपन, इस जानवरपन पर जितने अंश में विजय होगी उतने अंश में मनुष्यता चमकेगी। इसलिये अपने व्यवहार से तथा नियन्त्रण की दृढ़ता से बालक का यह दुःस्वभाव दबाना चाहिये।

३—बच्चों के साथ विश्वासघात न करो।

कोई काम कराने लिये उन्हें पैसे का या मिठाई का प्रलोभन देना, और जब वे काम कर लें तो पैसे या मिठाई की बात टाल देना—यह ठीक नहीं। इससे बच्चे तो विश्वासघात सीखते ही हैं, पर साथ ही उनके मन में तुम्हारी कोई इज्जत नहीं रह जाती। और इज्जत के बिना नियन्त्रण नहीं किया जा सकता। मार से उन्हें दबाया जा सकता है; पर दबने से वे हैवान बनेंगे—आदमी नहीं। इसलिये उनके साथ सदा सच बोलो, झूठ प्रलोभन न दो।

४—उसे हठीला न बनाओ।

यद्यपि बाल-हठ नारी-हठ, राज-हठ प्रसिद्ध है, पर इससे तथ्य का पता लग सकता है—सत्य का नहीं। ये हठें सत्य नहीं हैं—अविवेक और उन्माद की सूचक हैं।

संस्कृत भाषा में एक कहावत है कि बालकों की ताकत रोना है (बालानाम् रोदनं बलम्), इसी के बल पर वे अपनी हठ पूरी कराते हैं। पर पहिली बात तो यह है कि उन्हें हठ का मौका ही न देना चाहिये, न उन्हें अनुचित आज्ञा दो, न उनका उचित हिस्सा देने में आनाकानी करो। इसके बाद अगर वे लालसावश ज्यादा मांगें या उचित आज्ञा का पालन न करें तो उनके रोने की पर्वाह न करो। रोने के डर से तुमने उसकी हठ पूरी की तो इसका मतलब यह है कि तुमने उनमें रोने का रोग बढ़ाया। कोई बच्चे हठ पूरी कराने के

लिये हाथ-पैर पटकते हैं—सिर पीटते हैं, अगर इनमें उन्हें सफलता दिलाई जाय तो इसका मतलब यह कि उनमें ये बीमारियां पैदा करा दीं गईं। बच्चे का भी नाश हुआ और तुम्हारी भी परेशानी बढ़ी।

तुम्हारे मुँह से यह कभी न निकलना चाहिये कि 'क्या करें बच्चा मानता नहीं'। सच बात तो यह है कि मोह-वश तुम्हारा मन नहीं मानता है, बच्चा तो तुम्हारे मोह का शिकार होकर हठीला बनकर बर्बाद हो रहा है। जन्म से जब बालक तुम्हारे हाथ में है तब कोई कारण नहीं कि वह हठीला बने। उसका हठीला हो जाना बच्चे की नहीं, तुम्हारी नादानी है।

हाँ, कभी कभी शारीरिक या मानसिक अस्वास्थ्य के कारण बच्चा हठ करता है—उस समय उस पर हुक्म न चलाओ, बल्कि सहानुभूति से उसके शरीर की जाँच करो, अगर वह थका हुआ हो, बीमार हो, किसी ने उसके साथ अन्याय किया हो, तो सहानुभूति के साथ उसका इलाज करो। उस समय ऐसा काम न कहो जिस पर उसे हठ करना पड़े।

५— मांगने की आदत न डालो।

बहुत से बच्चे हर किसी से कोई चीज़ माँग बैठते हैं और घर में तो दिनभर माँगते ही रहते हैं। पर अगर माता में विवेक हो तो वह अच्छी तरह माँगने की आदत छुड़वा सकती है। इसके लिये बच्चों के मन में अपने व्यवहार से यह बात ठसा देना चाहिये कि बिना मांगे तुम्हारा हिस्सा ज़रूर मिलेगा, और दिन भर मांगने पर भी कुछ न मिलेगा। इस व्यवहार में माता जहां मजबूत हुई कि बच्चे मांगना छोड़ देंगे। और अगर बच्चा दूसरे से कुछ मांग बैठे तो यथासम्भव दूसरे को रोक दो कि वह बच्चे को कुछ न देने की कृपा करे, फिर भी अगर वह दे ही दे तो बच्चा भविष्य में कभी किसी से न मांगे, इसलिये उसका दुगुना-चौगुना हिस्सा तुम कम कर दो। जैसे—मानलो तुम बच्चे को एक पैसा प्रतिदिन देती हो, पर किसी दिन बच्चे ने किसी मिहमान से या पड़ौसी से मांगकर एक पैसा ले लिया तो तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम फिर चार दिन तक उसे पैसा न दो। उसका रोना, सिर पटकना भी दृढ़ता से सह जाओ। तुम देखोगी कि बच्चा अब किसी से न माँगेगा। इससे पड़ौसी का संकोच भी दूर होगा, बच्चे में दीनता या भिखमंगापन न आयगा। भविष्य में वह आत्मगौरवशाली बनेगा।

६—बच्चों की झूठी वकालत न करो।

बच्चे किसी को गाली दे बैठते हैं, उसका कुछ नुकसान कर बैठते हैं तो यह हो सकता है कि वह बच्चे को डाँट दे—अपने घर से निकाल दे, या कुछ साधारण मार-पीट कर दे। बच्चे तुम्हारे पास रोते आ जायँगे। तुम अगर यह कह दोगी कि तूने वहां उपद्रव क्यों किया था? तो बच्चों की उपद्रव करने की आदत छूटेगी। पर, अगर तुम पड़ौसी से लड़ने पहुँच जाओगी तो पड़ौसी से दुश्मनी तो हो ही जायगी, पर बच्चा भी बिगड़ जायगा और आगे चलकर तुम्हारे सिर पर भी बीतेगा, उस समय तुम कहोगी कि मैंने बच्चे को बड़े प्यार से पाला, पर यह मेरे ऊपर ही उद्दंडता दिखाता है। पर, यह कहना ऐसा ही होगा कि 'मैंने तो बड़े प्यार से शराब पिलाई पर यह नशे में आकर मुझे ही सताता है।

हां, कोई दुश्मनी आदि कारणों से बच्चे को सताये या उसका अपमान करे तो उसका विवेकपूर्ण उपाय करना चाहिये, पर झूठी वकालत नहीं।

७—उसे मारो-पीटो नहीं, किन्तु प्यार और उपेक्षा का समन्वय कर उसे सिखाओ।

बच्चों से सदा खूब प्यार करो, पर जब वे अपराध करें—समझाने पर भी न मानें, तब प्यार की डोर खींच लो और इतनी उपेक्षा दिखाओ कि वे प्यार और उपेक्षा के अन्तर को अच्छी तरह महसूस कर सकें। उस समय उनकी हठ पूरी करना तो दूर रहे, पर जीवित और शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ रहने के सिवाय और कोई विशेष सुविधा वे न पा सकें।

८—बुराई पर उपेक्षा न करो।

बच्चे ने कभी घर या बाहर चोरी आदि की, तुमने उपेक्षा कर दी—इसका मतलब यह हुआ कि तुम दुनिया के लिये आदमी नहीं शैतान दे रही हो और यह बड़ा पाप कर रही हो। बुराई के अंकुर को सारी शक्ति लगाकर उखाड फेंको। पर सिर्फ दंड से बुराई का अंकुर न उखड़ेगा, उसके लिये बुराई के कारण खोज कर उन्हें भी दूर करना पड़ेगा।

जिस घर में बहुत बच्चे होते हैं उसमें कभी कभी वे आपस में छीना-झपटी करते है, एक लुट जाता है-दूसरा लूटकर हँसता हुआ खाता है। माता बकझक कर या एक साथ सभी को गाली देकर चुप रह जाती है,—ऐसी मां बच्चों पर डाकू बनने के संस्कार डाल रही है। उसे लूटने वाले बच्चे की कई दिन तक सुविधाएँ छीनकर और लुटनेवाले बच्चे को सुविधाएँ देकर न्याय करना चाहिये।

९—बच्चों के अंग को निरुपयोगी न बनाओ।

जो काम बच्चे खुद कर सकते हैं—उन्हें वह काम उतना अवश्य करने दो और कराओ जितने से उनके स्वास्थ्य पर बुरा असर न पड़े। लाड़-प्यार के कारण हम बच्चों को कमजोर और हठीला बना देते हैं। बच्चा खुद चल सकता है, पर हम खुद उसे गोद में लेकर चलते हैं, पानी लेना, कपड़ा पहिनना, चटाई-चौकी आदि बिछाना, साधारण वजन की चीज़ इधर से उधर ले आना आदि बहुत से काम बच्चे खुद कर सकते हैं, पर बहुत-सी माताएँ प्यार के मारे उन्हें काम करने का मौका ही नहीं देतीं, उनके अंग कमजोर हो जाते हैं और इससे वे आलसी भी हो जाते हैं। फिर बड़ी उमर तक गोदी में ही लदते रहते हैं और छोटा छोटा भी काम नहीं करते, उसके लिये हठ करते हैं-तब कठोरता की बहुत जरूरत हो जाती है—अपनी और उनकी परेशानी बढ़ जाती है। इसलिये ज्यों ज्यों उनमें चलने-फिरने काम करने की ताकत बढ़ती जाय त्यों त्यों उन्हें काम करने का अवसर देना चाहिये।

१०— बच्चों को डरपोक न बनाओ।

बात बात में हौवाबाबा का डर दिखाना आदि अनुचित है। अगर वे रोते हैं तो रोने के कारण की खोज करो, उचित कारण हो तो रोने का कारण दूर करो, अनुचित कारण हो तो रोने पर उपेक्षा करो, पर डराकर उसका रोना बन्द न करो। उन्हें भूत-पिशाच आदि की कहानियाँ न सुनाओ या भूतपिशाच देखने या मानने की निःसारता की कहानी सुनाओ, जैसे—

एक आदमी को अँधेरे में एक झाड़ की शाखा पर भूत नाचना दिखाई दिया, पर जब वह लालटेन लेकर पास गया तो मालूम हुआ कि कोई कपड़ा सूख रहा है–जो हवा से फड़फड़ाता है। भूत कोई चीज़ नहीं होती, आदि। घर में ही अकेले घूमने का या कमरे में अकेले जाने का डर उसमें न रहे।

११—उन्हें स्वच्छ रक्खो, और स्वच्छ रहने की, सम्पर्क में आई हुई हरएक चीज़ स्वच्छ रखने की आदत डालो।

पहिले तो मां को खुद इस नियम का पालन करना चाहिये, फिर बच्चों पर अंकुश रखना चाहिये। जिस जिस दिन वे इस नियम का भंग करें–उस दिन उनको पैसा मिलने आदि की विशेष सुविधा न दी जाय। और पहिले उन्हें यह बात समझा दी जाय। दो-चार दिन रोयेंगे-गायेंगे, उस समय अगर तुम दृढ़ बनी रही तो वे तुम्हारी सूचनाओं का पालन करने लगेंगे। पर इसका यह मतलब नहीं है कि बच्चा धूल में या खुले में खेलने-कूदने को तरसता रहे। नहीं, अमुक समय उसे खेलने-कूदने की या मैले होने की भी छुट्टी दी जाय। वह घर भर में गन्दगी न फैलाता फिरे, घर के कपड़े गन्दे न करे, मुँह पर नाक और थूक लपेटे न फिरता रहे, आदि। यहां यह भी खयाल रखना चाहिये कि स्वच्छता का अर्थ शृङ्गार नहीं है।

१२—उतनी ही सूचना दो जितनी बच्चा पाल सके और तुम पालन करा सको।

बहुत-सी माताएँ दिनभर सूचनाएँ दिया करती हैं और उनके पालन न होने पर दिनभर उपेक्षा किया करती हैं और फिर इस-उस से दुखड़ा रोया करती हैं कि 'क्या करें बच्चा मेरी एक नहीं सुनता'—पर उन्हें जानना चाहिये कि इसमें पूरा का पूरा अपराध उन्हीं का है, बच्चा तो बेचारा उनके लाड़ और लापर्वाही का शिकार हो गया है। ऐसी मोहिनी-माताएँ या मोही अभिभावक ही उस बच्चे के सबसे बड़े दुश्मन हैं।

प्रकृति ने मां के हृदय में असीम वात्सल्य भर दिया है इसीसे वह बालक के लालन-पालन के कष्ट को सह जाती है। इतना ही नहीं, उसे इसमें आनन्द भी मालूम होता है, पर इस आनन्द का उपयोग उसे इतनी मात्रा में न करना चाहिये कि सन्तान के संस्कार खराब हो जायँ, उसका भविष्य-जीवन अन्धकारमय हो जाय, बालक वत्सलता या लाड़-प्यार का शिकार हो जाय। लालन के साथ पालन का भी खयाल रखना चाहिये। लालन और पालन परस्पर विरोधी न हो जायँ, अथवा पालन का अर्थ सिर्फ़ शरीर का पालन ही न रह जाय, आत्मा या मानवता के पालन का भी खयाल रहे।

ये तो कुछ सूचनाएँ हैं। और भी हो सकती हैं। विवेक और संयम से सब समस्याएँ सुलझ जाती हैं। मां का स्थान सर्वोच्च है। मनुष्य मां के ऋण का बदला नहीं चुका सकता। निःसन्देह इसका कारण मां का असीम वात्सल्य है। पर वात्सल्य रहने पर भी अगर कोई मां बालक को मनुष्य नहीं बनाती तो न केवल उसका ऋण बालक पर नहीं रहता, किन्तु वह बालक और समाज के सामने अपराधिनी भी होती है।

कुटुम्ब की केन्द्र मां है, उसकी छाया का असर सारे कुटुम्ब पर पड़ता है।

पिता—कुटुम्ब में माता का जो स्थान है वह पिता का भी है। पिता, माता के कार्य का पूरक है। सन्तान के बारे में माता को जिन जिन बातों का ख़याल रखना है उन उन बातों का ख़याल पिता को भी रखना है। बल्कि माता में सन्तान के बारे में स्वाभाविक ही जो अधिक स्नेह है वह कभी कभी उचित कर्तव्य में बाधक भी हो सकता है, पर पिता का स्नेह उचित कर्तव्य में बाधक नहीं होना चाहिये। माता का मोह किसी तरह क्षन्तव्य है--पिता का नहीं, उसमें तो प्रेम ही होना चाहिये।

यद्यपि माता और पिता दोनों मिलकर सन्तान का निर्माण करते हैं फिर भी दुनियादारी के अनुभव तथा शिक्षण आदि में पिता की जिम्मेदारी बढ़ जाती है। माता का मुख्य काम सन्तान में संस्कार डालना है, पर पिता का काम संस्कार के साथ उसे दुनिया के रंगमंच के योग्य बनाना है।

पिता की नादानी से कभी कभी बच्चों पर अनजान में बुरे संस्कार पड़ जाते हैं, इसलिये पिता को इन बातों का ख़याल रखना चाहिये। जैसे–कोई पिता अपने विनोद को चरितार्थ करने के लिये बच्चों को सिखाते हैं–'जा रे, मां के बाल खींच ले, तमाचा मार दे' आदि।

मां के विषय में, बहिन के विषय में या अन्य किसी के विषय में बच्चों पर इस प्रकार अशिष्टता के संस्कार डालना अनुचित है।

माता या पिता कहलाना सरल है। बच्चा पैदा करने से ही पति-पत्नी 'माता-पिता' कहलाने लगते हैं, पर इतनी बात तो मनुष्य और पशु में बराबर है। मनुष्योचित माता-पितापन का परिचय देने के लिये सन्तान को सभ्य, शिक्षित कर्मठ, सदाचारी बनाना जरूरी है। विवाह होने की उम्र तक सन्तान की अधिकांश जिम्मेदारी माता-पिता पर है।

सन्तान के विवाह के लिये जल्दबाजी करना ठीक नहीं, और न सन्तान की इच्छा के विरुद्ध उनका विवाह करना चाहिये। विवाह के लिय पात्र के चुनाव में उन्हें सलाहकार का ही काम करना चाहिये। हां, विवाहोत्सव के प्रबन्ध की जिम्मेदारी उनके ऊपर है।

यह बहुत सम्भव है कि विवाह के बाद सन्तान तुम से अलग हो जाय, सुकुटुम्बी बन जाय, ऐसी परिस्थिति के लिये तुम्हें पूरी तैयारी कर लेना चाहिये। सन्तान की आर्थिक-व्यवस्था का प्रबन्ध ऐसा कर देना चाहिये कि नव दम्पति अपनी जीविका चला सकें।

इस प्रकार के रंगमंच पर सुपात्र के रूप में सन्तान को उपस्थित कर देना माता-पिता का मुख्य काम है।

पुत्र– शैशव अवस्था में पुत्र की कोई जिम्मेदारी नहीं होती, किन्तु शैशव के व्यतीत होनेपर ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसकी जिम्मेदारी बढ़ती जाती है। माता-पिता सन्तान के लालन-पालन के लिये जितना प्रयत्न करते हैं--उसका जितना ऋण चुकाया जाय, थोड़ा ही है। कर्तव्य, शिष्टाचार, जिम्मेदारी आदि की दृष्टि से पुत्र के जीवन-काल को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं–१ शिशु, २ बालक, ३ किशोर ४ युवक।

शिशु अवस्था करीब छः वर्ष की उम्र तक जाती है। इस अवस्था में पुत्र पर कोई जिम्मे-

दारी नहीं है। वह शैतान है या हैवान, रोगी है या निरोगी इस सबकी जिम्मेदारी माता-पिता पर है। इस समय बालक से किसी प्रकार के शिष्टाचार या सेवा की आशा नहीं की जा सकती। हां, विनय आदि के संस्कार डालना माता-पिता का काम है। अगर अच्छे संस्कार हैं तो माता-पिता की खूबी है और बुरे संस्कार हैं तो माता-पिता की अयोग्यता है।

बालक अवस्था करीब छः वर्ष की उम्र से १२ वर्ष की उम्र तक मानना चाहिये। इसकी जिम्मेदारी भी बहुभागमें माता-पिताके ऊपर है फिर भी बालकको थोड़ी बहुत समझदारीका परिचय देना चाहिये। सुबह उठते ही माता-पिता तथा अन्य गुरुजनों को प्रणाम करने का शिष्टाचार पालना ज़रूरी है, इसके अतिरिक्त उसका काम शिक्षण प्राप्त करना है और आमोद-प्रमोद के साथ माता-पिता के काम में यथायोग्य सहयोग देना है।

किशोर अवस्था बारह वर्ष की उम्र से लेकर क़रीब अठारह वर्ष की उम्र तक या विवाह होने तक जाती है। इस अवस्था में शिष्टाचार कुछ और बढ़ जाना चाहिये। घर के कामों में कुछ अधिक भाग लेना चाहिये। जीविकोपयोगी शिक्षण में लग जाना चाहिये। उठने-बैठने तथा बोल-चाल के शिष्टाचार का काफ़ी पालन करना चाहिये।

युवक अवस्था विवाह के बाद या क़रीब अठारह वर्ष की उम्र से शुरू हो जाती है। इस उम्र में पुत्र के ऊपर शिष्टाचार सेवा आदि की पूरी जिम्मेदारी आ जाती है, इसलिये अर्थोपार्जन गृह-व्यवस्था और शिष्टाचार का उसे पूरा पालन करना चाहिये।

इस अवस्था में माता-पिता की कमाई के ऊपर निर्भर रहना लज्जा की बात है। विशेष जीविका के लिये विशेष शिक्षण लेना पड़े और माता-पिता की अनुमति हो तो बात दूसरी है। पर ऐसी अवस्था में विवाह न कराना चाहिये। विवाह के बाद माता-पिता की कमाई खाना ठीक नहीं। इसके भी अपवाद होते हैं, पर उसमें भी माता-पिता की अनुमति ज़रूरी है।

प्रश्न— अगर माता-पिता ने बाल्यावस्था में ही विवाह कर दिया हो तो युवक क्या करे?

उत्तर— तब उसकी जिम्मेदारी माता-पिता पर ही जाती है। फिर भी यह मानकर सन्तोष करके बैठ जाना ठीक नहीं, कि जिम्मेदारी माता-पिता पर है, मैं क्यों चिन्ता करूं? जीविका के लिये उसे जल्दी से जल्दी उपाय करना चाहिये।

युवक पर दूसरी जिम्मेदारी गृह-व्यवस्था की है। अभी तक गृह-व्यवस्था का सारा काम माता-पिता करते थे, अब उनको काफ़ी निश्चिन्तता मिलना चाहिये और उनका बोझ नये दम्पति को उठाना चाहिये। जितना काम उनसे हो सके वे करें, बाक़ी सारी जिम्मेदारी नये दम्पति की है।

इस अवस्था में कभी कभी सास-बहू को लेकर प्रतिस्पर्द्धा-सी जग जाती है। युवक अपनी पत्नी के पक्ष में खड़े होकर अपनी माता से लड़ने लगते हैं, जिस पुत्र को उसने अनेक कष्ट सहकर पाला-पोसा, उसको प्रतिस्पर्द्धी के रूप में देखकर माता के सन्ताप की सीमा नहीं रहती, ऐसी अवस्था में पुत्र को बड़े धैर्य, विनय और निष्पक्षता से काम लेना चाहिये।

ऐसी अवस्था में युवकों के चार तरह के रुख देखे जाते हैं। पहिला यह कि वे पत्नी के

मोह में फँसकर माता की अवहेलना या अपमान करने लगते हैं। माता की साधारण और उचित सूचनाएँ भी उन्हें अप्रिय और मिथ्या माळूम होने लगती हैं, वे कृतघ्न बन जाते हैं। यह मनोवृत्ति अधम श्रेणी की है।

दूसरे वे हैं, जो उत्कट मातृ-भक्ति के कारण पत्नी के सुख-दुःख न्याय-अन्याय का विचार ही नहीं करते। माता के इशारे पर पत्नी की बातों को झूठ समझते हैं और उसके साथ दुर्व्य-वहार करते हैं; वे भी कर्तव्य-भ्रष्ट हैं, जघन्य श्रेणी के हैं। पत्नी अपना घर छोड़कर एक अपरिचित घर में आती है, पति ही उसका बड़ा सहारा होता है, वही अगर लापर्वाही दिखाये तो वह किसका सहारा ले? इसलिये उसके ऊपर अन्याय हो तो उसे सान्त्वना देना और अन्याय दूर करने के लिये उसके साथ मिलकर प्रयत्न करना पति का कर्तव्य है।

तीसरे वे हैं, जो माता और पत्नी दोनों के बारे में लापर्वाह रहते हैं। दोनों में से जो भी दूसरे के साथ अन्याय कर जाय--वे ध्यान नहीं देते। वे इस बारे में मध्यम नीति से काम लेते हैं। इससे माता और पत्नी दोनों को असन्तोष रहता है, पर थोड़ी मात्रा में होने से वह किसी तरह सह्य हो जाता है। पर, इससे समस्या उलझी ही रहती है और दिन-रात की खटखट चाळू ही रहती है।

चौथे वे हैं, जो दोनों की शिकायतों पर गम्भीरता से ध्यान देते हैं। जब पत्नी पर अन्याय होता है तब उसे सान्त्वना देते हैं, पर माता के सामने अशिष्टता प्रगट नहीं करते, और माता पर अन्याय होता है तो पत्नी को समझाते हैं और माता की विशेष सेवा करके पत्नी के अप-राध का प्रायश्चित स्वयं करते हैं। ये इस मामले में उत्तम श्रेणी युवक हैं। ये माता और पत्नी के बीच के भ्रम को दूर कराते हैं, दोनों के प्रति निःपक्ष प्रेम दिखाते हैं, शान्ति और शिष्टाचार का भंग नहीं होने देते।

गृह-व्यवस्था के बारे में युवक के सामने यह एक महत्वपूर्ण समस्या खड़ी हो जाती है और इस बात में बहुत से युवक असफल रहते हैं, इसलिये इस बात पर अधिक से अधिक ध्यान देना चाहिये। इसके सिवाय गृह-व्यवस्था सम्बन्धी और भी बहुत से कार्य हैं जिनकी जिम्मे-दारी युवक पर आती है। माता-पिता के सिर से वह जितना बोझ कम करेगा--वह उतना ही अच्छा युवक होगा। पर यह ध्यान रहे कि बोझ कम करने की जरूरत है--अधिकार छीनने की जरूरत नहीं है।

युवक के ऊपर अब शिष्टाचार की जिम्मे-दारी भी बढ़ जाती है। सहज सुकुटुम्ब में बैठने उठने के शिष्टाचार तो कुछ कम मात्रा में होते हैं, पर सुविधा-असुविधा का ख़याल अधिक रक्खा जाता है। जैसे--माता-पिता के भोजन करने के पहिले, या उनके भोजन की ठीक ठीक व्यवस्था होने के पहिले भोजन न करना। इसी प्रकार उनके बैठने-उठने या आराम करने की व्यवस्था करने के पहिले आराम करने न जाना, कोई विशेष काम करना हो तो उनकी अनुमति प्राप्त करना, उनके सामने अपने अधिकार का दावा न करना, आदि।

प्रश्न--माता-पिता अगर कुरूढ़ि-प्रिय हों तो युवक क्या करे? क्या शिष्टाचार के नाम पर कुरूढ़ियों का गुलाम बना रहे?

उत्तर--कुरूढ़ियों के गुलाम बने रहने की

जरूरत नहीं है, पर शिष्टाचार को तोड़ने की भी जरूरत नहीं है। सत्य के मार्ग में बढ़ने के लिये माता-पिता के मत की पर्वाह न करना चाहिये, पर उनका अपमान भी न करना चाहिये—न उन्हें गाली देना चाहिये—न उनकी सेवा करने से विरक्त होना चाहिये, बल्कि अपने मार्ग पर डटे रहकर चुपचाप उनकी गालियाँ सह लेना चाहिये। अगर इतने पर भी शान्ति नजर न आती हो तो अपना अलग कुटुम्ब बनाकर उनकी सेवा करना चाहिये।

विवाहित युवक पर इस प्रकार काफी जिम्मेदारी है। सवाल गरीबी-अमीरी का नहीं है, सवाल है—भक्ति सेवा और कर्मठता का। गुण हों तो पुत्र अपने कौटुम्बिक जीवन की दृष्टि से सफल हो सकता है।

पुत्रवधू—पुत्रवधू का घर में वही स्थान है जो पुत्री का है, पर पुत्री और पुत्रवधू में बहुत-सा अन्तर भी है। कुटुम्ब में पुत्री के शैशव, बालपन, किशोरपन भी बीतते हैं, इसलिये बेतकुल्लुफी के कारण उसका आदर कम होता है, प्रेम अधिक होता है और कुटुम्ब की कोई विशेष जिम्मेदारी भी उसके ऊपर नहीं होती, जब कि पुत्रवधू यौवन के साथ घर में प्रवेश करती है, इसलिये वह प्रारम्भ से ही जिम्मेदार व्यक्ति होती है—इसलिये उसका आदर अधिक होता है।

पुत्रवधू की जिम्मेदारी पुत्र से भी बढ़कर है। वह सास-स्वसुर को माता-पिता की तरह प्यार भी करती है और गुरु की तरह आदर भी।

कुटुम्ब की सुख-शान्ति का आधार पुत्रवधू ही है। वह चाहे तो पति को एक बड़े धर्म-संकट से बचा सकती है, जिससे पति, पत्नी का आदर-प्यार भी कर सके और माता-पिता का आज्ञाकारी सेवक भी बना रहे, और वह चाहे तो पति को धर्म-संकट में डालकर माता-पिता की सेवा से, शिष्टाचार से विरक्त कर सकती है। देखा जाता है कि बड़े आज्ञाकारी सेवाभावी लड़के पत्नी के आते ही माता-पिता की तरफ से बड़े लापर्वाह, उद्दंड और स्वार्थी हो जाते हैं। इसका एक कारण तो उनका वह खुदगर्जीपन है जो मौका न मिलने से दबा हुआ था, पर दूसरा कारण पुत्रवधू का अविवेक और कर्तव्यशून्यता है। माता-पिता पुत्र का पालन बड़ी आशा और प्रेम से करते हैं और विवाह भी बड़ी उमंग से करते हैं, विवाह होने पर पुत्रवधू का स्वागत भी बड़े उत्सव से करते हैं, उनकी इन आशा उमंगों को धक्का न लगे—इसका खयाल पुत्रवधू ही रख सकती है। पुत्र और पुत्रवधू दोनों को इस बात का खयाल रखना चाहिये कि वे क्या कारण हैं—जिससे माता-पिता असन्तुष्ट होते हैं?

पहिला कारण यह है कि माता-पिता को भ्रम हो जाता है कि पुत्र अब हमारी पर्वाह नहीं करता—वह अब पत्नी की ही बात सुनता है। पर, इस भ्रम को दूर करना कठिन नहीं है। पुत्र और पुत्रवधू यद्यपि अभिन्न हैं, पर जब सास-बहू में गृह-प्रबन्ध आदि को लेकर कोई बात हो रही हो तो पुत्र अपनी पत्नी का वकील बनकर माँ से चर्चा न करे, बहुत जरूरत हो तो पत्नी ही नम्रता से खुलासा करे। अपवाद-रूप में किसी बड़ी घटना की बात दूसरी है। दूसरी बात यह कि दाम्पत्य-क्रीड़ाओं के वश में होकर माता-पिता की जरूरी सेवाओं की उपेक्षा न हो और न क्रीड़ाओं का विशेष प्रदर्शन हो। माता-पिता के सामने पति-पत्नी उन्हीं

की दो सन्तान की तरह रहें। तीसरी बात यह कि स्वतंत्रता का विशेष प्रदर्शन न करें, पहिले के समान माता-पिता से बात बात में सलाह लेते रहें। इन बातों का खयाल रक्खा जाय तो माता-पिता को यह भ्रम न होगा कि पुत्र अब हमारी पर्वाह नहीं करता। इस शिष्टाचार के पालन में पुत्र और पुत्रवधू की कोई हानि नहीं है, बल्कि थोड़ी-बहुत मात्रा में असंयम का निरोध ही है। कोई भी माता-पिता अपनी सन्तान को दुखी नहीं देखना चाहते। हां, यह मानव स्वभाव है कि उपकार के बदले में अगर किसी को प्रतिस्पर्द्धा मिले तो वह उसे असह्य होगी, इसलिये पुत्र और पुत्र-वधू को माता-पिता के प्रतिस्पर्द्धी न बनना चाहिये।

माता-पिता के असन्तोष का दूसरा कारण यह होता है कि माता पुत्र-वधू पर कार्य का भार डालकर कुछ विश्राम करना चाहती है, पर पुत्र-वधू इसे अपमान समझती है, वह सोचती है कि 'मैं दासी नहीं हूं जो दिनभर काम में जुती रहूं'–इस बात को लेकर चुपचाप या मुँह बजाकर जो संघर्ष होता है, उससे माता-पिता असन्तुष्ट हो जाते हैं।

विवाह के बाद नव-वधू को विश्राम देना और उसे कुछ समय तक मेहमान की तरह रखना उसकी ससुराल-वालों का कर्तव्य है, पर कुछ दिन बीत जाने पर और घर की हालत देखकर जल्दी से जल्दी पुत्र-वधू का कर्तव्य है कि वह गृह-सेवा के कार्य में अपनी सास को अधिक से अधिक छुट्टी दे दे।

घर की आर्थिक स्थिति देखकर एक औसत दर्जे की स्त्री जितनी गृह-सेवा कर सकती है उतनी सेवा–और शक्ति हो तो उससे कुछ अधिक भी–उसे करना चाहिये। इस कार्य में उसकी सास हाथ बटावे–चाहे न बटावे। हां, जब कार्य ताकत के बाहर हो जाय और उसकी सास शक्ति होने पर भी बिलकुल सहयोग न दे तब पुत्रवधू के लिये असंतोष की बात कही जा सकती है। पर इसके लिये नम्रता से निवेदन करना चाहिये। अगर उस निवेदन की सुनाई न हो तब समझ लेना चाहिये की सुकुटुम्बी बनकर रहने का अवसर नहीं रहा है। तब उसे अलग कुटुम्ब बनाकर दूर से ही माता-पिता की सेवा करना चाहिये।

यह बात हर हालत में बुरी है कि सास-बहू के भीतर दो प्रतिस्पर्द्धी के समान गाली-गलौज या असभ्य व्यवहार हो। ऐसी दुर्घटनाओं में दोनों तरफ़ का या दोनों में से किसी भी एक तरफ़ का कुसूर हो सकता है, पर पुत्र-वधू जहां तक बन सके सहन करके सास का विनय भंग न करे। अगर बातें असह्य हों और बार-बार हों तो वह अलग हो सकती है। हां, सासों को भी यह समझना चाहिये कि सहनशीलता की भी मर्यादा होती है, इसलिये अपनी इज्जत बचाने के लिये उनको भी काफ़ी सहनशीलता से काम लेना चाहिये।

फिर भी पुत्र-वधू को इन दो बातों का अवश्य खयाल रखना चाहिये। पहिली तो यह कि जब तक सास जिन्दी है या वह समर्थ और योग्य है, अथवा उसकी रुचि है तब तक उसके हाथ से गृह-प्रबन्ध का अधिकार छीनने की या सास का अधिकार न मानने की कोशिश न करे। आखिर एक न एक दिन अधिकार उसके हाथ में आने-वाला ही है, जल्दी लूटने की कोशिश करने से या तो अधिकार दुर्लभ

हो जायगा या गृह-प्रबन्ध बिगड़ जायगा; और परस्पर विद्वेष बढ़ जायगा-वह अलग। हां, जब वृद्धता आदि के कारण सास अपनी इच्छा से गृह-प्रबन्ध का अधिकार बहू को सौंपे, तब वह ले सकती है।

दूसरी बात यह है कि बहू को अपमान का अनुभव न करना चाहिये। बहुत काम या छोटा काम करने से वह अपने को दासी समझकर अपमानित न माने, सास की डाँट-फटकार से भी वह अपना अपमान न समझे। किसी व्यक्ति का अपमान तब होता है जब वह दुनिया की नजरों में नीचे गिरता है। माता-पिता या सास-ससुर की सेवा करने से, उनकी आज्ञा पालने से, उनकी डाट-फटकार सहने से किसी की इज्जत कम नहीं होती, बल्कि उसकी नम्रता, सहिष्णुता सेवा-भाव आदि के कारण तारीफ होती है। अपमान का अनुभव तभी हो सकता है—जब हम गुरुजनों को गुरुजन मानने में या दुनिया के सामने प्रगट करने में दीनता-हीनता समझें। गुरुजनों को गुरुजन न मानना कृतघ्नता भी है और मूर्खता भी।

यह हो सकता है कि पुत्रवधू सास की अपेक्षा ज्यादा पढ़ी लिखी हो, फिर भी शिष्टाचार के नाते उसे नम्र ही रहना चाहिये, और यह न भूलना चाहिये कि गृह-प्रबन्ध सम्बन्धी सास का अनुभव बहू से काफी अधिक हो सकता है और वह किताबी ज्ञान की अपेक्षा अधिक कीमती हो सकता है।

हाँ, एक बात सासों को भी ध्यान में रखना चाहिये कि उनका काम पुत्र-वधू को सिखाना और उससे काम लेना है, हुकूमत का मजा लेना या उसका अपमान करना नहीं। बात बात पर यह कहना ठीक नहीं कि—तेरी मां ने तुझे कुछ नहीं सिखाया, वहां क्या भाड़ झोंकती रही, आदि पुत्र-वधू के माता-पिता आदि के बारे में अपमानजनक शब्द न कहना चाहिये।

इसके अतिरिक्त विनय और शिष्टाचार के नाम पर पुत्रवधू के जीवन को जकड़ना न चाहिये। वह बातचीत भी न कर सके, साधारण विनोद भी न कर सके, ससुर से जेठ से या सास से बोल भी न सके, यह सब ठीक नहीं। उसका स्थान पुत्र के ही बराबर है। यह बात कुटुम्ब के किसी व्यक्ति को न भूलना चाहिये।

पुत्री—पुत्री का स्थान कुटुम्ब में स्थायी नहीं होता। विवाह के बाद उसे दूसरे घर जाना पड़ता है, जिम्मेदारी का समय वह इस कुटुम्ब में नहीं बिताती, इसलिये उसके विषय में विशेष कुछ कहने की जरूरत नहीं है। हां, माता-पिता को खयाल रखना चाहिये कि उसका जीवन-निर्माण अच्छी तरह से करें। वह दूसरे घर जाने-वाली है, इसलिये उस पर उपेक्षा न करें। अगर पुत्रियों का जीवन-निर्माण अच्छी तरह न किया जायगा तो पुत्रवधुएँ अच्छी तरह कैसे मिलेंगी? इसलिये उन्हें गृह-कार्य और जीवन-निर्वाह के योग्य बनाना चाहिये। साधारणत: वे बाजारों में जा सकें, बेंकों से सम्बन्ध स्थापित कर अपने स्त्री-धन की रक्षा कर सकें, इस प्रकार काफी योग्यता उनमें पैदा कराना चाहिये।

विवाह हो जाने पर यद्यपि वह दूसरे घर की हो जाती है, फिर भी माता-पिता और कुटुम्बियों का कर्तव्य है कि बहुत समय तक उसकी सार-सम्हाल करें। उसका स्त्री-धन कोई हड़प

न जाय,—इसका ख़याल रक्खें।

हो सकता है कि वह किसी दिन विधवा हो जाय, अथवा उसे कभी तलाक दे देना पड़े तो ऐसे मौके पर उसे सहारा देना, उसके पुनर्विवाह की योजना करना माता-पिता और कुटुम्बियों का कर्तव्य है। यद्यपि विधवा होने पर पुनर्विवाह की योजना करना ससुराल-वालों की पहिली जिम्मेदारी है, फिर भी अगर वे ध्यान न दें तो माता-पिता को इस तरफ़ ध्यान देना चाहिये।

पुत्री के विवाह के समय न तो किसी भी तरह के दहेज देने की ज़रूरत है और न उसके पालन-पोषण के बदले कुछ लेने की ज़रूरत है। हां, विवाह के समय उसका स्त्री-धन अवश्य नियत होना चाहिये, इसलिये मुख्यतः ससुरालवाले और थोड़ा-बहुत उसके माता-पिता आदि कुटुम्बी मिलकर उसके स्त्री-धन के लिये शक्ति के अनुसार धन दें। उस पर सिर्फ़ उसी का अधिकार होगा—न माता-पिता आदि का होगा, न ससुरालवालों का, न पति का।

हुंडा या दहेज के ठहराव पर शादी कभी न करना चाहिये।

हुंडा या दहेज के कारण, या योग्य सम्बन्ध न मिलने के कारण अगर पुत्री का विवाह न हो सके, या विवाह के तरफ़ रुचि न होने के कारण अगर वह विवाह करना पसन्द न करे, तो माता-पिता के पास वह काफी समय तक रह सकती है। उसके भाई या भौजाई उसे माता-पिता से अलग करने के लिये जोर न डालें। हां, पुत्री की उम्र इक्कीस वर्ष की हो जाय तो उसकी आर्थिक-व्यवस्था करके माता-पिता उसे अलग कर सकते हैं। अच्छा तो यह होगा कि अविवाहित पुत्री जीवन भर माता-पिता के पास रहे। उचित सम्बन्ध मिले या न मिले, पुत्री की इच्छा हो या न हो, पर किसी भी तरह उसका विवाह कर डालना ही माता-पिता का कर्तव्य नहीं है। पुत्री की इच्छा के अनुकूल दहेज आदि कुप्रथाओं से रहित योग्य सम्बन्ध जुटाने की ही कोशिश करना चाहिये।

प्रश्न—दहेज आदि के कारण अगर किसी लड़की की शादी न की जा सके और इसीलिये वह चरित्रहीन हो जाय तो क्या किया जाय?

उत्तर—पुत्रों की अपेक्षा पुत्रियाँ चारित्रहीनता की तरफ़ कम झुकती हैं। फिर भी जिस प्रकार पुत्रों की चरित्रहीनता सहन की जा सकती है—उसी प्रकार पुत्रियों की भी सहन करना चाहिये, अगर ऐसी हालत में पुत्री के सन्तान हो जाय तो सन्तान का कोई अपराध नहीं, उसे कुटुम्ब में जगह मिलना चाहिये।

प्रश्न—क्या इसकी अपेक्षा यह ठीक न होगा कि दहेज आदि का कष्ट उठाकर भी किसी न किसी तरह पुत्री की शादी कर दी जाय?

उत्तर—इस उतावली का परिणाम—पुत्री के अभिभावकों पर और पुत्री के दाम्पत्य-जीवन पर—जबर्दस्त अन्याय होगा। माता-पिता पुत्री का लालन-पालन करके समाज का उपकार ही करते हैं—इस उपकार के बदले अगर उन्हें दहेज या हुंडा का दंड सहना पड़े, तो इसे समाज की कृतघ्नता नीचता और अन्याय कहना चाहिये। इस अन्याय और कृतघ्नता को दूर करने के लिये अगर कुछ पुत्रियों को नैतिक मर्यादा का जोखम

उठाना पड़े, तो उठाना चाहिये। और माता-पिता तथा समाज को वह सहन करना चाहिये।

जिस समाज में एक के संकट से दूसरा लाभ उठाता है—वह जानवरों का झुंड है, और जिसमें एक की कर्तव्य-परायणता को संकट बना दिया जाता है और फिर उस संकट का लाभ उठाया जाता है—वह तो जानवरों से भी गया-बीता है। दहेज या हुंडा की विवशता से मनुष्य-समाज जानवरों से भी गया-बीता बन जाता है; क्योंकि माता-पिता की कर्तव्य-परायणता को उसमें संकट बना दिया जाता है और उस संकट का स्वार्थ के लिये उपयोग किया जाता है। विवाह की जरूरत पुत्र और पुत्री दोनों को एक-सी है, इसलिये इस मामले में ऐसे नियम न बनना चाहिये जिससे विवाह के कारण एक दूसरे का शोषण कर सके। इसलिये नैतिक मर्यादा का जोखम उठाकर भी दहेज हुंडा या कन्याविक्रय की कुप्रथाओं की जड़ उखाड़ देना चाहिये।

प्रश्न—पुत्र तो अर्थोपार्जन करता है इसलिये वह कुटुम्ब के लिये बोझ नहीं होता, किन्तु पुत्री तो अर्थोपार्जन नहीं करती इसलिये वह कुटुम्ब के लिये बोझ हो जाती है?

उत्तर—पुत्रवधू के बिना पुत्र भी कुटुम्ब के लिये बोझ है। वह बाजार में जाकर पैसा कमायगा, पर गृह व्यवस्था नष्ट हो जायगी, वंश का भी नाश हो जायगा—इसलिये किसी का काम न अकेले पुत्र से चल सकता है, न अकेली पुत्री से। नारी के अर्थोपार्जन के विषय में पहिले कहा गया है। और जब अविवाहित पुत्रों की तरह पुत्रियाँ भी अविवाहित रहने से निर्भय हो जायँगी तो अर्थोपार्जन के क्षेत्र में वे और भी आगे बढ़ सकेंगी। आज भी अनेक देशों में नारियाँ, विवाहित होकर भी अर्थोपार्जन में पूर्ण समर्थ हैं।

नर-नारी के कार्य-क्षेत्र का विभाग दोनों की सुविधा के लिये बनाया गया है, अगर इसका दुरुपयोग नारी को पीसने में किया जायगा तो समाज के आधे भाग पर अन्याय होगा और उसका असर बाकी आधे भाग पर भी पड़ेगा, इसलिये यह आर्थिक-व्यवस्था बदल देना पड़ेगी।

अगर नर-नारी के कार्य-क्षेत्र का विभाग समाज-हित की दृष्टि से जरूरी है, तो यह भी जरूरी है कि उसका दुरुपयोग न किया जाय। हुंडा दहेज आदि के लिये पुत्रियों को या पुत्री के अभिभावकों को सताया न जाय। अन्यथा नैतिक मर्यादाओं को ढीली करके भी सामाजिक-क्रान्ति करना जरूरी हो जायगा।

पुत्री का मुख्य कार्य-क्षेत्र पत्नी या पुत्र-वधू के रूप में दूसरे घर में है, इसलिये पुत्री के कर्तव्य का विशेष निर्देश नहीं किया जाता। उसकी वैवाहिक-समस्या अवश्य महत्त्वपूर्ण है, इसलिये उस पर थोड़ा-सा प्रकाश डाला गया है।

प्रश्न—सहज-सुकुटुम्ब में पांच तरह के सदस्य बताये गये, पर गोद लिया हुआ पुत्र या घर जमाई का सुकुटुम्ब में क्या स्थान है?

उत्तर—उनका स्थान पुत्र के समान है। घर-जमाई को अपना जमाईपन भूल जाना चाहिये। जमाई की तरह आदर-पात्र के स्थान में पुत्र की तरह स्नेह-पात्र बनना चाहिये।

सहज-सुकुटुम्ब के सदस्य पांच तरह के बताये गये, पर, एक एक तरह के कई सदस्य हो सकते हैं और उनके भी परस्पर सम्बन्ध

हैं, उनके विषय में भी कुछ सूचनाएँ जरूरी हैं। भाई-भाई, भाई-बहिन, देवर-भौजाई, ननँद-भौजाई, देवरानी-जिठानी आदि सम्बन्ध एक ही पीढ़ी के, और चाचा-भतीजा आदि सम्बन्ध अनेक पीढ़ियों के पैदा हो जाते हैं। इनके विषय में यहां कुछ साधारण सूचनाएँ दे दी जाती हैं।

भाई-भाई–(१) छोटा-भाई बड़े-भाई का विनय रक्खे और बड़ा-भाई छोटे-भाई के साथ वात्सल्य रक्खे।

(२) अगर सहज-सुकुटुम्बी बनकर एक साथ रहना कठिन हो जाय तो भी छोटा-भाई बड़े-भाई को कटु-वचन न बोले, अपमान न करे, नम्रता से बटवारा करा ले !

भाई-बहिन (१) दोनों का अधिक से अधिक पवित्र सम्बन्ध रहे।

(२) छोटी-बहिन बड़े-भाई का और छोटा भाई बड़ी-बहिन का विनय करे।

देवर-भौजाई–(१) दोनों का सम्बन्ध पवित्र हो। हां, दूसरों की अपेक्षा कुछ अधिक मात्रा में विनोद हो सकता है।

(२) देवर 'भौजाई' का विनय करे। अगर भौजाई उम्र में छोटी हो तो दोनों एक दूसरे का बराबरी से विनय करें।

ननँद-भौजाई–(१) ननँद अगर छोटी हो तो भौजाई का विनय करे और भौजाई अगर छोटी हो तो ननँद का विनय करे। पति की बहिन होने के कारण ननँद का स्थान ऊंचा न मानना चाहिये।

(२) दोनों के सम्बन्ध में अधिक से अधिक विनोद की मात्रा रह सकती है; पर विनोद घातक न होना चाहिये।

(३) भौजाई को कभी ननँद से ऐसे शब्द न कहना चाहिये कि 'तुम्हारा इस घर में क्या अधिकार है ?' और न ननँद को भौजाई से ये शब्द कहना चाहिये कि 'तू इस घर में आने से रानी बन गई है, नहीं तो तू थी क्या ?'

(४) विवाह के बाद जब ननँद घर पर (मायके) आये तो यथाशक्य घर के काम काज में हाथ तो बटाये, पर अधिकारी की तरह व्यवहार न करे, वह मेहमान की तरह रहे और भौजाई भी मेहमान की तरह उसका आदर करे।

(५) ननँद-भौजाई एक दूसरे के बच्चों से अधिक से अधिक स्नेह दिखाने की कोशिश करें।

देवरानी-जिठानी (१)–देवरानी 'जिठानी' का विनय करे।

(२) काम-काज में प्रतिस्पर्द्धा का भाव न आने पावे। शक्ति के अनुसार दोनों काम करें।

(३) एक दूसरे के बच्चों से स्नेह दिखायें और घर की चीजों के बटवारे में अपने-पराये बच्चे का भेद-भाव न दिखायें।

जेठ—पति के बड़े-भाई को जेठ कहते हैं। यद्यपि यह भी एक प्रकार का देवर ही है, फिर भी देवर के साथ जो बेतकल्लुफी होती है, वह इसके साथ नहीं होती। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह जरूरी है, इसलिये इसकी गिनती ससुर के समान गुरुजनों में है।

चाचा, चाची, भतीजा आदि के रूप में भी कुटुम्ब के सदस्य होते हैं। इनके विषय में ज्यादा सूचनाएँ देने की जरूरत नहीं है। उपर्युक्त सूच-

नाओं से सब समझा जा सकता है। हां, इतनी बात यहां अवश्य कहना है कि पुत्र और भतीजा, चाचा और पिता, चाची और माता में व्यवहार या शिष्टाचार का भेद न होना चाहिये। घनिष्ठता का अन्तर यथायोग्य मन के भीतर ही रहे।

शिष्टाचार और पर्दा—

यद्यपि सहज-सुकुटुम्ब में शिष्टाचार का प्रदर्शन कम ही होता है, दिन-रात का साथ और बाल्यावस्था की बेतकल्लुफी प्रदर्शन को कम करा देती है, फिर भी उम्र बढ़ने पर शिष्टाचार का काफी पालन होना चाहिये। आते-जाते समय गुरुजनों को प्रणाम आदि, उठते-बैठते समय गुरुजनों की या एक दूसरे की सुविधा-असुविधा का खयाल, बातचीत करते समय स्वर की कोमलता, खाने-पीने आदि की चीजों में यथायोग्य सबके हिस्से का विचार आदि शिष्टाचार जरूरी हैं, विनय और न्याय दोनों दृष्टियों से जरूरी हैं। इससे प्रेम रहता है और इससे सुकुटुम्बता भी कायम रहती है, और बढ़ती है।

शिष्टाचार एक जरूरी चीज है, पर वह विनय का स्वाभाविक फल है। इसके लिये कहीं कहीं पर्दा आदि की जो कुप्रथा है वह शिष्टाचार की विडम्बना है, उसे दूर करना चाहिये।

कहीं कहीं तो इस शिष्टाचार का इतना अनुचित रूप है कि पुत्र-वधू वर्षों तक अपनी सास से बातचीत तक नहीं कर सकती। जरूरी काम के लिये भी उसे मौन रखना पड़ता है, या बँधे हुए इशारों से संकेत करना पड़ता है। यह सब बहुत भद्दा है।

याद रखना चाहिये कि पुत्रवधू पुत्री के समान है, उसके साथ हर तरह की बात करना, उसके हृदय के दुःख-सुख सुनना, गृह-कार्य में स्पष्टता से सहयोग करना जरूरी है। हां, पुत्र-वधू उद्दंडता से न बोले, अवहेलना के साथ उत्तर न दे—यह जरूरी है, पर इसके लिये शब्दों पर संयम रखना चाहिये, न कि शब्दों का इस्तेमाल ही बन्द कर देना चाहिये।

घूंघट बुर्का आदि के रूप में जो शिष्टाचार निभाया जाता है—पर्दा की वह प्रथा बहुत बुरी है। साधारणतः इसके तीन कारण बताये जाते हैं, पर तीनों ही कारणों से यह प्रथा ठीक नहीं कही जा सकती।

तीन कारण ये हैं—(१)—गुरुजनों का सन्मान (२)—आर्थिक आदि महत्व का प्रदर्शन, (३)—शील की रक्षा।

(१)—पहिला कारण ठीक नहीं है; क्योंकि माता-पिता का पर्दा नहीं किया जाता, गुरुजन तो वे भी हैं, सिर्फ ससुरालवालों का पर्दा किया जाता है। ससुराल का तुच्छ से तुच्छ आदमी माता-पिता से भी महान है,—यह मान्यता अनुचित है। दूसरी बात यह है कि पर्दा की स्वास्थ्य-नाशकता तथा और भी अनेक हानियों को देखते हुए शिष्टाचार का यह तरीका ठीक नहीं है। नमस्कार करना, नीचे आसन पर बैठना, उद्दंडता से या कठोर स्वर में उत्तर न देना, साधारणतः नीची नजर रखना, आदि नम्रता दिखलाने के अनेक तरीके हैं जो सब जगह काम में लाये जाते हैं उन्हीं का उपयोग करना चाहिये। पुत्र-वधू के लिये यह अद्भुत और बेडौल तरीका क्यों ?

(२)—पर्दा आर्थिक-महत्त्व भी समझा जाता रहा है। एक जमाना ऐसा आया कि जब किसी

के पास पैसा हो जाता था तो उसका प्रदर्शन वह इस रूप में करता था कि उसकी स्त्री को किसी काम के लिये घर से बाहर न निकलना पड़े, उसे कोई देख न पाये, असूर्यम्पश्या होना अर्थात् घर के भीतर घुसे रहने के कारण किसी स्त्री का-सूर्य को भी न देख सकना-वैभव और महत्त्व की निशानी समझी जाती थी। इसके मूल में किस प्रकार पूँजीवाद, आलस्योपासना और मुफ्तखोरी की मनोवृत्ति है यह तो कहना ही व्यर्थ है, पर महत्त्व के बहाने से नारी को किस प्रकार पंगु और पुरुष की गुलाम बनाया गया है-यह भी बहुत शर्मनाक है। इस प्रकार का लँगड़ापन और अंधापन न तो नारी के लिये शोभा की बात है, न पुरुष के लिये। इससे तो एक हैवान और दूसरा शैतान बनता है।

(३)-तीसरा कारण शील की रक्षा है। कहा जाता है कि बाहर निकलने से या खुले मुँह रहने से बदमाश लोग टकटकी लगाते हैं, आक्रमण भी कर बैठते हैं, इसलिये पर्दा जरूरी है।

इसमें पहिली बात तो यह है कि इस दृष्टि से पर्दा-प्रथा का पालन किया ही नहीं जाता। परिचितों में-जहां गुंडापन कम सम्भव है-ही पर्दा किया जाता है। अपरिचित स्थानों में घूंघट बुर्का आदि हटा दिया जाता है। इसलिये टकटकी लगाने आदि की बात व्यर्थ है।

दूसरी बात यह है कि जहां पर्दा होता है वहीं टकटकी लगाने की आदत लोगों में पड़ जाती है, पर्दा से पुरुषों का चरित्र गिरता है। जहां पर्दा नहीं होता-वहां टकटकी लगाने की फुरसत भी नहीं रहती। किस-किस को कहां कहां तक लोग टकटकी लगाएँ ?

तीसरी बात यह है कि यह न्याय नहीं है कि पुरुषों के अपराध के लिये स्त्रियों को बन्धन में डाला जाय। पुरुषों में अगर दुष्टता है तो उनकी सजा उन्हें ही मिलना चाहिये।

चौथी बात यह है कि किसी के घूर लेने से स्त्रियों का सतीत्व या शील भंग नहीं होता। सीता से बढ़कर सतीत्व और किसका होगा ? पर उन्हें रावण चुराकर के ले गया था। सतीत्व या शील का आधार अपना मन है--दूसरों की आंखें नहीं।

पांचवीं बात यह है कि पर्दा से स्त्री में मनोबल, साहस आदि की इतनी कमी आ जाती है कि वह जल्दी दुष्ट पुरुषों का शिकार हो जाय। जिसने खुले मुँह दुनिया देखी है और दुनिया का अनुभव और अभ्यास पाया है, उसे इतनी जल्दी बहकाया नहीं जा सकता।

इस प्रकार शील-रक्षा की दृष्टि से भी पर्दा बेकार है। ये तीनों कारण पर्दा की कुप्रथा का समर्थन नहीं करते। इसके सिवाय पर्दा से बहुत-सी हानियाँ भी हैं उनका निर्देश करने से भी पता लग जायगा कि पर्दा-प्रथा किसी भी तरह उपयोगी नहीं है। पर्दा से होनेवाली कुछ खास-खास हानियाँ ये हैं—

(१) खुली हवा के न मिलने से स्वास्थ्य का नाश।

(२) घर के बाहर न निकल सकने से अनुभव की कमी।

(३) कुटुम्बी पुरुषों के ही आश्रित रहने से उनके द्वारा ठगाया जाना--खासकर वैधव्य आदि में।

(४) बैंक आदि बाहर की दुनिया से

सम्बन्ध न कर सकने से असहाय, पंगु और पराश्रित बनकर रह जाना।

(५) भ्रमण आदि के आनन्द में बहुत कमी।

(६) पराश्रित होने से नौकर-चाकरों के बिना काम न चल सकना,-इससे खर्च का बढ़ना या पड़ौसी आदि का सहारा लेने से ठगाया जाना और दीन बनना।

(७) हिम्मत की कमी से दुष्टों का सामना न कर सकना।

(८) पर्दे में रहने के कारण शिक्षण की दुर्लभता।

(९) पर्दा आदि के कारण सज्जनों के भी काम न आ सकना, दोनों तरफ़ काफ़ी असुविधा बढ़ना।

(१०) नारीत्व का अपमान।

इस प्रकार पर्दा प्रथा किसी भी तरह अच्छी नहीं है। इसका त्याग करना चाहिये और दूसरे तरीकों से शिष्टाचार-विनय का पालन करना चाहिये।

सहज-कुटुम्ब में यद्यपि शिष्टाचार का पालन दूसरे कुटुम्बों की अपेक्षा कुछ कम होता है, पर जो कुछ होता है उसमें प्रेम का गहरा रंग होता है। कौटुम्बिकता को सुरक्षित रखने के लिये इसका पालन जरूरी है।

कौटुम्बिकता का नाश—

सुकुटुम्ब की कौटुम्बिकता तभी तक रह सकती है जब तक कुटुम्ब के सब आदमी एक दूसरे के सुख में सुखी और दुख में दुःखी हों। जैसे—बच्चों के भर-पेट भोजन या अपने से अधिक ले लेने पर भी माँ-बाप को प्रसन्नता होती है उसी प्रकार जब तक एक दूसरे को सन्तुष्ट और सुखी करने की भावना रहती है तभी तक सुकुटुम्ब रह सकता है। सुकुटुम्ब में कोई यह नहीं सोचता कि फल तो सब पायँगे—मैं क्यों करूं? नुकसान होता है-होने दो! मेरा क्या बिगड़ता है? भले ही कितना खर्च हो--मुझे क्या चिन्ता है? कोई बीमार है तो रहे--मैं क्या करूं? इस प्रकार के विचार जहां आये कि समझो कुटुम्ब का नाश हुआ। साधारणतः कुटुम्ब-नाश के पांच कारण हैं—(१) अर्थ-लोप (२) अकर्मण्यता, (३) पृथक्-स्वार्थ (४) पक्षपात, और (५) दुराचार।

(१) **अर्थलोप**—कुटुम्ब की सम्मिलित सम्पत्ति जब चोरी या जबर्दस्ती से कुटुम्बी लोग अपने अपने ताबे में करने लगते हैं, तब कौटुम्बिकता नष्ट होने लगती है। धन और प्रेम नष्ट होने लगता है।

(२) **अकर्मण्यता**-सुकुटुम्ब में सभी को भोजन आदि मिलता ही है, उसमें यह नहीं देखा जाता कि कौन काम करता है और कौन काम नहीं करता? पर जब इस सुविधा का दुरुपयोग होने लगता है और जब कुछ कुटुम्बी अकर्मण्य बन जाते हैं, जरा-जरा-सी बात में बीमारी और कमजोरी का बहाना बनाने लगते हैं, उनमें मुफ्तखोरी आ जाती है, तब कौटुम्बिकता नष्ट होने लगती है।

(३) **पृथक्-स्वार्थ**—जब कुटुम्बी लोग अपने अपने स्वार्थ और सुविधाओं का तो खयाल रखते हैं, पर दूसरों की सुविधा स्वार्थों का नहीं। इस प्रकार सबकी अलग अलग दुनिया बन जाती है, तब कुटुम्ब नष्ट होने लगता है।

(४) **पक्षपात**—जब कुटुम्ब में छोटे छोटे

दल बन जाते हैं और अपने अपने दल का पक्षपात होने लगता है, तब कुटुम्ब के टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं। कुटुम्ब का एक भाई अपने लड़के को ज्यादा हिस्सा दे देता और छोटे भाई या भतीजे को कम, इस प्रकार जब पक्षपात काम करने लगता है, तब प्रेम-बन्धन टूटने लगता है।

(५) **दुराचार**—व्यभिचार आदि दुराचार चाहे कुटुम्ब के भीतर हों—चाहे बाहर, कौटुम्बिकता को नष्ट कर देते हैं। घर के भीतर होने पर अन्य कुटुम्बियों से जुदाई, और दुराचार-ग्रस्त अन्य कुटुम्बियों से पक्षपात आदि दोष भी पैदा होते हैं।

इन पांच दोषों में से जब एक या अनेक दोष पैदा हो जाते हैं, तब अविनय-ईर्ष्या आदि पैदा होते हैं। इससे अन्त में कलह होने लगता है, इसके बाद कुटुम्ब टूट जाता है। इसलिये पहिली बात तो यह है कि इस प्रकार के दोष कुटुम्ब में प्रवेश न कर पायें—इसकी कोशिश की जाय, अगर यह कोशिश सफल न हो तो ज्यों ही इन दोषों का प्रवेश मालूम हो त्यों ही कुटुम्ब को विभक्त कर दिया जाय। लड़झगड़ कर अलग होने की अपेक्षा पहिले अलग होना अनेक तरह से अच्छा है।

कुटुम्ब जन्म—

कुटुम्ब को एक न एक दिन विभक्त होना ही पड़ता है। जहां पर अविभक्त कुटुम्ब की प्रथा है वहां कुटुम्ब में विभाग तब होता है, जब घर में लड़ाई-झगड़ा खूब हो जाता है और एक दूसरे के दुश्मन हो जाते हैं। कुटुम्ब के मुखिया को चाहिये कि वह ऐसी नौबत न आने दे। इस प्रकार की परिस्थिति पैदा होने के पहिले वह कुटुम्ब को विभक्त कर दे। कहीं कहीं हर तरह की परेशानी उठाने पर भी लोग कुटुम्ब को अविभक्त ही बनाये रखना चाहते हैं और कहीं कहीं विवाह के बाद ही वर-वधू को तुरन्त अलग कर देने का रिवाज है। इन दोनों पक्षों में कुछ कुछ अच्छाइयाँ और कुछ कुछ बुराइयाँ हैं, पर टोटल मिलाने से विभक्त कुटुम्ब प्रथा कुछ अच्छी साबित होती है। हां, अविभक्त कुटुम्ब प्रथा का कुछ अंश उसमें शामिल कर लेना चाहिये, इस प्रकार दोनों का समन्वय कर निरतिवादी-रूप बना लेना चाहिये। यहां दोनों प्रथाओं के गुण-दोष बताकर निरतिवादी-रूप बताया जायगा।

अविभक्त कुटुम्ब के गुण

१—थोड़े खर्च में बहुत आदमियों की गुजर हो जाती है।

२—बीमारी आदि में सेवा करने-वाले या संकट में साथ देने-वाले ज्यादा आदमी मिल जाते हैं।

३—अगर कोई कमा न सके तो उसकी भी गुजर हो जाती है।

४—नवयुवक और नववधू अनुभवी गुरुजनों की छत्रछाया में रहने के कारण अनेक परेशानियों संकटों और अपव्ययों से बच जाते हैं।

अविभक्त-कुटुम्ब के दोष

१—गुरुजनों आदि से संघर्ष होने के कारण भक्ति और प्रेम नष्ट हो जाता है।

२—कमाने की विशेष चिन्ता न होने के कारण बहुत से आदमी आलसी हो जाते हैं। कहीं कहीं तो यहां तक देखा गया है कि जवान बेटा इसलिये आलसी बना पड़ा रहता है कि मेरी कमाई सभी खायँगे—मैं क्यों कमाऊं? इसी प्रकार अलग होने पर जो स्त्रियाँ दिनरात डटकर

काम करती हैं--वे ही सम्मिलित-कुटुम्ब में दिन-रात कूलती-काँखती पड़ी रहती हैं और कम से कम काम करती हैं। उनसे काम करने के लिये कहा जाय तो तुरंत झगड़ा खड़ा हो जाता है, घर घर निन्दा होने लगती है। नवयुवक पति इस मर्म को नहीं समझ पाते।

३–स्वार्थ-भेद होने पर घर की सम्पत्ति चुराई जाने लगती है, इस प्रकार घर की साम्पत्तिक हालत बिगड़ जाती है।

४–बहुत-सी बातों में रूढ़ि का गुलाम बनकर रहना पड़ता है।

५–रुचि-भेद होने के कारण किसी न किसी को खाने-पीने में असन्तोष बना रहता है। हर चीज़ के उपयोग में एक दूसरे का खयाल रखना पड़ता है, इसलिये कोई भी अपनी रुचि की चीज़ का उपयोग नहीं कर पाता।

६–व्यवस्था विशाल होने से किसी किसी व्यक्ति पर बहुत बोझ पड़ जाता है और किसी को काम ही नहीं सूझता। इस प्रकार कर्मठों का काम बढ़ता है और अकर्मण्यों का आलस्य। इसका परिणाम होता है— एक तरफ़ अहंकार, दूसरी तरफ़ दीनता, और अन्त में अपमान और कलह।

७–गुरुजनों की छत्र-छाया रहने से जिम्मेदारी का अनुभव नहीं होने पाता। इस प्रकार बड़ी उम्र तक व्यवस्था का ज्ञान नहीं होने पाता।

विभक्त-कुटुम्ब के गुण

१–गुरुजन आदि का विनय बना रहता है और संघर्ष न होने से प्रेम नष्ट नहीं होने पाता।

२–जिम्मेदारी का बोझ आने से कर्मठता आ जाती है।

३–जमाने के अनुसार सुधार करने के लिये बहुत-कुछ स्वतन्त्रता मिल जाती है।

४–थोड़े ही साधन में अपनी रुचि को सफल किया जा सकता है।

५–अपने ही ऊपर सारी जिम्मेदारी होने से हर चीज़ का अनुभव मिलने लगता है।

६–पैसे की खींचा-तानी नहीं होती, इसलिये आर्थिक-व्यवस्था ठीक रहती है।

विभक्त-कुटुम्ब के दोष

१–बीमारी प्रसूति आदि के संकट में कुटुम्बियों से मदद नहीं मिलती या कम मिलती है।

२–अनुभवी गुरुजनों का साथ न मिलने से आर्थिक तथा अन्य हानियाँ होती हैं। अनाप-शनाप खर्च हो जाता है, ऋण बढ़ जाता है।

३–स्वतन्त्रता के स्थान में स्वच्छन्दता आ जाती है, इसलिये दाम्पत्य कलह निरंकुश हो जाता है, और कभी कभी दुर्व्यसन दुराचार का भी प्रवेश हो जाता है।

४–सभी लड़के अपनी अपनी दुनिया अलग बसाते जाते हैं, इसलिये माता-पिता के पास बुढ़ापे में सेवा के लिये कोई नहीं रहता वे पैसे से भी तंग हो जाते हैं।

विभक्त और अविभक्त प्रथा के दोषों को यथाशक्य दूर करके-दोनों के गुणों को यथाशक्य अपनाकर एक मिश्रित प्रथा को अपना लेना चाहिये, जिसका नाम "मित-विभक्त-प्रथा" है। इस प्रथा की खास-खास सूचनाएँ ये हैं।

१–माता-पिता और अविवाहित सन्तान एक साथ रहें।

जब तक कुटुम्ब में अनेक दम्पति नहीं

होते या अनेक दम्पतियों की सन्तान नहीं होती, तब तक कुटुम्ब में विशेष संघर्ष नहीं होता। अविवाहित बच्चों में थोड़ा-बहुत लड़ाई-झगड़ा होता भी है तो वह कुटुम्ब के टुकड़े करने लायक नहीं होता। इसलिये जब तक किसी लड़के का विवाह न हो जाय तब तक कुटुम्ब के विभाग करने का सवाल ही खड़ा न होना चाहिये।

२–विधवा पुत्रवधू अगर निःसन्तान हो तो उसे अलग घर बसाकर रहने की जरूरत नहीं है। वह भी अपने सास-ससुर के साथ शामिल होकर रहे।

निःसन्तान होने के कारण इसका कोई अलग कौटुम्बिक-स्वार्थ नहीं रहता। हां, सास-ससुर का काम है कि अगर पुत्रवधू तरुणी हो, विवाहयोग्य हो तो उसकी अनुमति लेकर उसका पुनर्विवाह उसी तरह से कर दें--जिस प्रकार वे अपनी पुत्री का करते, और विवाह के बाद पुत्री के समान सम्बन्ध बनाये रक्खें। पुत्र के मरने के बाद पुत्रवधू 'पुत्री' की तरह हो जाती है।

३–पुत्रवधू के अगर सन्तान हो तो वह अपना हिस्सा (अर्थात् अपना स्त्री-धन और पति का हिस्सा) लेकर अलग रहे। परन्तु अगर सन्तान में सिर्फ लड़कियाँ ही हों--जो विवाह के बाद दूसरे घर चली जायँगी, तो वह सास-ससुर के साथ शामिल ही रहे तो अच्छा। पर यह बात पुत्रवधू और सास-ससुर की मर्जी से होना चाहिये।

४–पुत्र की शादी होने के या पुत्रवधू के गृह-प्रवेश के बाद एक वर्ष तक सब सम्मिलित रहें। इसके बाद किसी सुभीते के दिन समारोह के साथ कुटुम्ब-जन्मोत्सव किया जाय। अर्थात् पुत्र और पुत्रवधू को हिस्सा देकर उनका अलग घर बना दिया जाय।

पुत्र-पुत्रवधू, माता-पिता आदि को जब यह मालूम रहता है कि एक वर्ष बाद अलग होना है तब संघर्ष कम होता है। 'थोड़े दिन की तो बात है, झगड़ने से क्या फायदा!'--यह भाव मन में बैठा रहता है। एक वर्ष तक सम्मिलित-कुटुम्ब में रहने से पुत्रवधू को घर-गृहस्थी का कुछ अनुभव भी हो जाता है।

कुटुम्ब जन्मोत्सव की विधि इस प्रकार है।

विवाह के बाद एक वर्ष पूरा होने पर तीन महीने के भीतर किसी सुभीते के दिन इसी उत्सव के लिये अपने रिश्तेदारों, परिचितों और पड़ौसियों को बुलाया जाय। उनके सामने विधि की जाय।

मांगलिक गान आदि होने के बाद कोई भी समझदार व्यक्ति गृहस्थाश्रम के विषय में कुछ कहे और उसकी महत्ता बताकर नये गृह का स्वागत करे।

इसके बाद पिता या माता उपस्थित लोगों को अपने पुत्र और पुत्रवधू का विशेष परिचय दे और यह भी बतलाये कि पुत्र के विवाह के बाद एक वर्ष किस अच्छी तरह से गुजरा। इसके बाद कहे कि हम लोग इतनी अच्छी तरह से रहते थे कि आज बेटा-बेटी को अलग करते हुए बड़ी वेदना हो रही है, पर कर्तव्य के आगे मनुष्य को सिर झुकाना ही पड़ता है। एक झाड़ के बीज से दूसरा झाड़ पैदा होता है, पर झाड़ पर 'झाड़' नहीं लगता--उसके लिये अलग जमीन की जरूरत होती है, इसलिये हर मनुष्य को अपने पुत्र-पुत्रियों को विवाह के बाद अलग करना

ही पड़ता है । इसी कर्तव्य के वश होकर हम आज अपने हृदय के टुकड़े को और लक्ष्मी की तरह आई हुई पुत्रवधू को अलग कर रहे हैं । पर इसका यह मतलब नहीं है कि हमारा सम्बन्ध टूट रहा है । पर, जब भी कभी जरूरत होगी सुख में और दुख में हम बिना बुलाये हाजिर रहेंगे और तुम से भी हम ऐसी ही आशा रखेंगे । तुम दोनों सुखी रहो, और दुनिया का कल्याण करो, तुम्हारा गृहस्थाश्रम हर तरह फूले-फले,—इसी आशार्वाद के साथ हम तुम्हें विदा दे रहे है । आशा है, तुम इस स्वतन्त्रता का हर तरह सदुपयोग करोगे।

माता पिता के इस वक्तव्य के बाद पुत्र और पुत्रवधू माता-पिता आदि गुरुजनों को प्रणाम करें । इसके बाद पुत्र कहे—

यह विदाई का समय बड़े दुख का समय है, पर धर्म और समाज के आदेश से इस कठोर कर्तव्य को मङ्गल-रूप में स्वीकार करता हूं । जिस प्रकार लड़की को विवाह के समय घर-द्वार छोड़ते हुए दुःख होता है, फिर भी इस प्रसंग को उसे और सबको मङ्गलमय मानना पड़ता है--उसी प्रकार लड़कों को आज का प्रसङ्ग मङ्गलमय मानना पड़ता है । एक दिन मैं गोदी में रहता था, पर वह गोदी छोड़ना पड़ी । बाद में उँगली पकड़ी, पर वह भी छोड़ना पड़ी । न छोड़ता तो अपने जीवन को अपने और दुनिया के लिये बोझ बना डालता । उसी सिलसिले में आज यह घर भी छोड़ना पड़ता है; क्योंकि तभी मैं अपने पैरों पर खड़ा होकर माता-पिता की सेवा कर सकता हूं । यह 'जुदाई' दिलों की जुदाई नहीं है--जीवन की जुदाई नहीं है, सिर्फ जगह की जुदाई है जिसे मैं आपकी आज्ञानुसार इसलिये स्वीकार करता हूँ कि मैं सेवा के योग्य बन सकूं । माता पिता की सेवा तो मैं जीवन भर नहीं छोड़ सकता, मेरे लिये जो उनने जगह बना दी है--वहां उनके लिये सदा दरवाजा खुला है और मैं उनका गुलाम हूं, आधी रात को भी पुकार सुनूंगा तो दौड़ा आऊंगा । यों मैं स्वयं ही उनकी चरण-वन्दना करने के लिये समय समय पर या सम्भव हुआ तो नियमित आऊंगा । उनका सुख-दुःख मेरा ही सुख-दुःख होगा । आप लोगों के आशीर्वाद से मैं यह बोझ उठा सकूँ और माता-पिता की सेवा कर सपूत कहला सकूँ यही मङ्गलमय सत्येश्वर से प्रार्थना है ।

इसके बाद पुत्रवधू कहे—

विधाता ने या समाज ने नारी के ऊपर ऐसा कठोर कर्तव्य डाल दिया है, जिसे उठाते हुए नारियों की आंखों को सदा पानी बहाना पड़ता है । जिस घर में उनका लालन-पालन होता है, वैवाहिक जिम्मेदारी उठाने के लिये उन्हें वह घर छोड़ना पड़ता है, पर माता-पिता के वियोग का दुख वे नये माता-पिता की छत्रछाया में आकर भूलने लगती हैं, पर इसी समय उनको नया संसार बसाने के लिये पति के साथ अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ता है, नये माता-पिता का वियोग भी उन्हें सहना पड़ता है । पर इन सब वेदनाओं के आगे मैं इसलिये सिर झुका लेती हूं कि आप लोगों की यही आज्ञा है, धर्म का यही विधान है । मैं अपने बोझ को उठा सकूं, दूर रहकर मैं सास-ससुर के और भी पास आ सकूं, उनकी सेवा और भी अधिक कर सकूं,—यही आशीर्वाद चाहती हूं ।

(माता-पिता, पुत्र और पुत्रवधू के वक्तव्य समय और योजना के अनुसार घटाये बढ़ाये

जा सकते हैं।)

इनके वक्तव्यों के बाद पुत्र और पुत्रवधू को माता-पिता आदि की तरफ़ से जो सम्पत्ति दी गई है, उसका उल्लेख किया जाय।

इसके बाद उपस्थित नर-नारियों में से आशीर्वाद के रूप में कुछ कहना हो—कहें, या किसी को कुछ भेंट-देना हो तो वह भेंट दे।

इसके बाद सन्मान के साथ सब लोगों को बिदा किया जाय।

उस दिन माता-पिता तथा अन्य कुटुम्बियों का भोजन पुत्र-पुत्रवधू के यहां नये घर में हो।

दूसरे दिन पुत्र और पुत्रवधू का भोजन माता-पिता के यहां हो।

तीसरे दिन पुत्र और पुत्रवधू के यहां सिर्फ़ माता-पिता का भोजन हो।

इस प्रकार कुटुम्ब-जन्मोत्सव-विधि पूर्ण की जाय।

५—पुत्र-विवाह के बाद एक वर्ष बीत जाने पर भी कभी कभी कुटुम्ब-जन्मोत्सव स्थगित किया जा सकता है। उसमें निम्नलिखित सूचनाओं का ध्यान रखना चाहिये।

[क] एक वर्ष के बाद अगर मालूम हो कि पुत्रवधू गर्भवती है। तो बच्चा पैदा होने के बाद छः महीने तक कुटुम्ब-जन्मोत्सव स्थगित रखना चाहिये।

[ख] अगर माता-पिता की शारीरिक या आर्थिक स्थिति ऐसी न हो कि वे अलग रह सकें तो तब तक के लिये कुटुम्ब-जन्मोत्सव स्थगित रक्खा जा सकता है, जब तक दूसरे पुत्र का विवाह न हो जाय।

[ग] समय आने पर भी अगर कुटुम्ब-जन्मोत्सव को स्थगित रखना हो तो पहिले तीन वर्ष के लिये स्थगित किया जाय। अगर मालूम हो कि तीन वर्ष पूरे होने पर भी ज़रूरत बनी रही है और घर का कार्य प्रेम और व्यवस्था से चलता रहा है तो अधिक से अधिक पांच वर्ष के लिये फिर कुटुम्ब-जन्मोत्सव स्थगित रक्खा जा सकता है और फिर भी ज़रूरत हो और व्यवस्था बनी रहे तो फिर अधिक से अधिक सात वर्ष के लिये स्थगित किया जा सकता है। इतने पर भी अगर दूसरे पुत्र का विवाह न हुआ हो तो दूसरे पुत्र के कुटुम्ब जन्मोत्सव तक स्थगित रक्खा जा सकता है।

इस प्रकार बार-बार स्थगित करने और उसके समय की मर्यादा बांधने का मतलब यह है कि अगर माता-पिता को या पुत्र और पुत्रवधू को अलग होना हो तो समय की मर्यादा पूर्ण होने पर वे अलग हो जायँ। अलग होने के लिये गृह-कलह को निमन्त्रण न दें।

[घ] कुटुम्ब-जन्मोत्सव को स्थगित करने के लिये बाहर के पांच आदमी बुलाना चाहिये और उनके सामने कारण बताते हुए कुटुम्ब जन्मोत्सव स्थगित करना चाहिये।

यह इसलिये ज़रूरी है कि कुटुम्ब-जन्मोत्सव करने या स्थगित करने की बात संकोचवश उपेक्षा में न पड़ जाय।

[ङ] दूसरे पुत्र के विवाह के बाद एक वर्ष बीतने पर माता-पिता की इच्छा हो तो दोनों पुत्रों का कुटुम्ब-जन्मोत्सव कर दिया जाय, पर अगर माता की इच्छा हो कि एक पुत्र और पुत्रवधू उनके पास रहना चाहिये तो जो पुत्र और पुत्रवधू उनके पास रहना चाहे उसके सिवाय

दूसरे का कुटुम्ब-जन्म कर दिया जाय। अगर दोनों ही माता-पिता की सेवा में रहना पसन्द करते हों तो जिसे माता-पिता पसन्द करें वह उनके पास रहे और दूसरे का कुटुम्ब-जन्म कर दिया जाय। अगर माता-पिता दोनों को पसन्द करते हों तो जिसे सेवा करने में ज्यादा समर्थ समझा जाय उसे माता-पिता के पास रक्खा जाय। अगर दोनों की सेवकता भी एक-सी समझी जाय अथवा अपने पास रखने के बारे में माता-पिता में मतभेद हो तो दोनों लड़कों के नाम की चिट्ठी डाली जाय, जिसके नाम की चिट्ठी निकल आये वह पास रहे दूसरे का कुटुम्ब-जन्मोत्सव किया जाय।

६–कुटुम्ब-जन्मोत्सव के समय पुत्र और पुत्रवधू को घोषित करना चाहिये कि हम माता-पिता के निर्वाह के लिये या उन पर पड़ी हुई अन्य जिम्मेदारी को निभाने के लिये इतने रुपया प्रतिमास या प्रतिवर्ष देता रहूंगा या अपनी आमदनी का अमुक अंश देता रहूंगा। रकम कितनी भी थोड़ी क्यों न हो, पर घोषित अवश्य करना चाहिये। अगर माता-पिता को ज़रूरत न हो तो भी विनय या शिष्टाचार की दृष्टि से प्रतिवर्ष कुछ न कुछ भेंट माता-पिता की सेवा में अवश्य रखना चाहिये।

७–गोद लिये पुत्र के बारे में भी कुटुम्ब-जन्मोत्सव का वही विधान है जैसा औरस पुत्र के बारे में। पर, गोद तभी लिया जाता है जब औरस पुत्र नहीं होता, इसलिये गोद का एक पुत्र रहने के कारण कुटुम्ब-जन्मोत्सव स्थगित ही रखना चाहिये। पर अगर तीन वर्ष या पांच वर्ष या सात वर्ष स्थगित रखने पर मालूम हो कि कुटुम्ब-जन्मोत्सव करना ज़रूरी है तो कर देना चाहिये, पर ऐसी हालत में पुत्र को दायभाग के अनुसार हिस्सा न मिलेगा, किन्तु माता-पिता जो दे देंगे–वही मिलेगा। माता-पिता के मरने के बाद उनने जैसी वसीयत की होगी वैसा बटवारा होगा, अगर कोई वसीयत न होगी तो गोद का लड़का औरस की तरह उत्तराधिकारी होगा।

८–कुटुम्ब-जन्मोत्सव होने के बाद अगर माता-पिता, पुत्र पुत्रवधू और दूसरे सुकुटुम्बी यह उचित समझें कि खान-पान आदि सब एक ही जगह रहना चाहिये। आर्थिक तथा अन्य सहयोग की दृष्टि से यही ज़रूरी है, तो कुटुम्ब जन्मोत्सव के तीन माह बाद कुटुम्बकी बनकर सब एक साथ रह सकते हैं। कुटुम्बकी बनने से सबकी सम्पत्ति तो अलग-अलग रहेगी, पर खान-पान आदि सम्मिलित रहेगा। संघर्ष होने-पर खान-पान सरलता से तोड़ा जा सकता है, इसमें हिस्सा-बाट का सवाल नहीं रहता।

९–अगर कुटुम्ब-जन्मोत्सव होने के पहिले माता-पिता मर चुके हों और कुछ लड़के अविवाहित हों तो अविवाहित लड़के बड़े-भाई के पास रहें और विवाह के बाद एक वर्ष के भीतर वे कुटुम्ब-जन्मोत्सव करा लें। हां, ज़रूरत हो तो तीन माह बाद फिर कुटुम्बकी बनकर साथ रह सकते हैं।

१०–लड़के की उम्र उन्नीस वर्ष की हो जाय, पर उसकी शादी न हुई हो तो माता-पिता चाहें तो उसका कुटुम्ब-जन्मोत्सव कर सकते हैं। माता-पिता न हों तो बड़ा-भाई यह कार्य कर सकता है, जिससे वह अकर्मण्य और

पराश्रित बनकर न रह जाय। पर, अगर माता-पिता आदि न चाहें तो विवाह होने के एक वर्ष बाद तक कुटुम्ब-जन्मोत्सव न किया जाय।

सन्तति नियमन—

हरएक गृहस्थ को सन्तति-नियमन करना ज़रूरी है। सन्तति-नियमन न करने से पत्नी का स्वास्थ्य खराब हो जाता है और घर की आर्थिक स्थिति खराब हो जाती है।

सन्तति-नियमन में इन तीन मर्यादाओं का ख़याल रखना चाहिये—

(१) पहिला बच्चा जब तक तीन वर्ष का न हो जाय, तब तक दूसरा बच्चा पैदा न हो।

(२) जब पांच बच्चे जिनमें कम से कम दो पुत्र अवश्य हो जायँ, तब सन्तान पैदा न की जाय।

(३) अपने पुत्र के कुटुम्ब-जन्मोत्सव होने के बाद सन्तान पैदा न की जाय।

पहिली बात तो इसलिये ज़रूरी है कि इससे बच्चों की मां का स्वास्थ्य सम्हला रहेगा और बच्चों का पालन-पोषण अच्छी तरह से होगा।

दूसरी बात इसलिये ज़रूरी है कि इससे आर्थिक-अवस्था कुछ सम्हली रहेगी। कुटुम्ब समाज और मानव-जाति की रक्षा की दृष्टि से इतने बच्चे काफ़ी हैं। आर्थिक-दृष्टि ठीक न हो तो इससे भी कम बच्चों में सन्तोष करना चाहिये।

तीसरी बात इसलिये ज़रूरी है कि कुटुम्ब-जन्मोत्सव के समय अलग होने-वाले पुत्र को ठीक हिस्सा दिया जा सके, और पीछे वाले लोग आर्थिक-संकट में न पड़ें।

अगर राज्य साम्यवादी हो, सन्तान के पालन-पोषण और सम्पत्ति की जिम्मेदारी राज्य ने अपने हाथ में ले ली हो तो राज्य की आवश्यकतानुसार कम-ज्यादा मर्यादा बनाई जा सकती है।

साधारणतः इन तीनों मर्यादाओं का पालन करना जरूरी है। इनके पालन के पांच उपाय हैं—१—ब्रह्मचर्य, २—ऋतुकाल का बचाव, ३—अशक्तीकरण, ४—आवरण, ५—गर्भ कोष-निष्कासन।

१— ब्रह्मचर्य तो है ही, पर इस मामले में वह बहुत अधिक सफल नहीं हो सकता। हजार में एकाध ही इस तरह से संतति-नियमन कर सकता है। सम्भव है, कभी मनुष्य को इस बारे में काफी सुसंस्कृत बनाया जाय और सन्तति-नियमन के लिये यह उपाय व्यापक हो जाय। जितना बन सके पहिले इस उपाय को काम में लाना चाहिये। पर इसमें पति और पत्नी दोनों की रजामन्दी जरूरी है। यों तो दोनों की रजामन्दी हर उपाय में जरूरी है, पर इसमें कुछ विशेष है।

२— मासिक-धर्म के कुछ समय बाद गर्भ-स्थिति की अधिक सम्भावना रहती है। करीब पन्द्रह दिन के बाद नहीं रहती या बहुत कम रहती है; सन्तान-निग्रह के लिये ऋतुकाल का यह बचाव सम्भवतः कुछ उपयोगी हो सकता है।

३— कुछ ऐसी और औषधियाँ भी होती हैं और आगे और भी हो सकती हैं जिनसे गर्भ शक्ति क्षीण होती है। उन औषधियों का उपयोग भी करना चाहिये। हां, देखना चाहिये कि स्वास्थ्य के ऊपर इसका बुरा प्रभाव तो नहीं पड़ता। इस विषय का पक्का निश्चय हो तभी उनका उपयोग करना चाहिये।

४ - रबर की कुछ ऐसी थैलियाँ आदि

आतीं हैं–जिनके उपयोग करने से गर्भाधान का डर नहीं रहता। इनका भी उपयोग करना चाहिये।

५–ऑपरेशन के जरिये गर्भ-कोष निकलवा-कर भी सन्तति-नियमन किया जा सकता है। पर यह अंतिम उपाय है।

प्रश्न– सन्तति-नियमन करके जान-बूझकर अपने कुटुम्ब को बढ़ने न देना क्या उचित है? इससे तो हमारा बल ही घटेगा। दूसरे कुटुम्ब, दूसरी जातियाँ, दूसरे राष्ट्र—संख्या बल में हमें जीत लेंगे।

उत्तर– सन्तति-नियमन की आवश्यकता अपने कुटुम्ब की आर्थिक-स्थिति ठीक रखने के लिये और पत्नी को स्वस्थ बनाये रखने के लिये है। प्रतिस्पर्द्धा के कारण अधिक बच्चे पैदा करके हम संख्या में तो बढ़ जायँगे, पर ठीक तौर से उनका पालन-पोषण न कर सकेंगे, इस-लिये वे निर्बल, मूर्ख और कंगाल होंगे। और जीवन-संग्राम में इस प्रकार की सन्तान अपने से कम संख्या वालों के सामने टिक न सकेगी। इसलिये पांच बच्चे जीवित रहने के बाद सन्तति नियमन करना चाहिये।

राष्ट्रीय और मानवता की दृष्टि से भी सन्तति-नियमन जरूरी है। जिन राष्ट्रों में जमीन बहुत है और उसके उत्पादन के अनुपात में जन-संख्या कम है वे सन्तति-नियमन न करें तो चल सकता है, पर जहां इससे उल्टी बात है वहां सन्तति-नियमन जरूरी है। अगर ऐसा न किया जायगा तो राष्ट्र या तो भूखों मरने लगेगा या युद्ध की नौबत आयेगी। मनुष्यों के पैदा करने और पालन-पोषण के कष्ट उठाने के बाद युद्ध में उनकी हत्या करा देने की अपेक्षा यह अच्छा है कि उन्हें पैदा ही न किया जाय। युद्ध की हत्या से अपनों के साथ पराये भी मरते हैं, आदमी की आदमियत नष्ट हो जाती है और स्वास्थ्य-नाश धन-नाश आदि से हर तरह की बर्बादी होती है।

हमारा राष्ट्र या हमारी जाति सबसे आगे बढ़ जाय, इस प्रति-स्पर्द्धा में अपने राष्ट्र की या जाति की जन-संख्या बढ़ाने के लिये अधिक सन्तानोत्पादन की दुर्वासना यदि हमारे दिल में बैठ जाय तो वह दूसरों के दिल में भी बैठेगी। इसका परिणाम यह होगा कि हर मुल्क और जाति की स्त्रियों का स्वास्थ्य बर्बाद हो जायगा, वे निर्बल होकर दीन कंगाल और पराश्रित हो जायँगी। स्त्रियों की यह तबाही—आधी दुनिया की तबाही है। राष्ट्रों की जन-संख्या बढ़ने का अंतिम परिणाम विश्व-युद्ध होगा और तब यह पूरी दुनिया की तबाही होगी।

ज़रूरत इस बात की है कि अपनी जातीय और राष्ट्रीय कट्टरता का त्याग किया जाय। राष्ट्र और जाति की दृष्टि से अपनेपन का पक्षपात छोड़कर हमें गुण और चरित्र को अप-नाना चाहिये, गुणी और चरित्रवान व्यक्तियों को ही अपना समझना चाहिये, अन्यथा जन-संख्या बढ़ाने की प्रति-स्पर्द्धा में सब तबाह हो जायँगे। युद्ध, महामारी, कंगाली, बीमारी और असहयोग, सबकी जन-संख्या का कचूमर तो बना ही देंगे, साथ ही द्वेष दुःख-अशान्ति से यह दुनिया नरक ही बन जायगी। इसलिये जातीय विशेषाधिकार नष्ट करना चाहिये, जन-संख्या बढ़ाने के फेर में न पड़कर व्यक्तिगत विकास करके मनुष्यता की पूजा करना चाहिये।

अर्थ विभाजन—

सहज-सुकुटुम्बी जविन में अर्थ-विभाजन एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। समाज-रचना के साथ ही अर्थ-संग्रह का सवाल खड़ा हो गया है। देश की अगर आर्थिक संघटना ऐसी हो जाय कि उसमें व्यक्ति या कुटुम्बों के आर्थिक अधिकार समाज के अधिकार में बिलकुल डूब जायँ, व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं के बराबर हो जाय और सबका उत्तरदायित्व राज्य या समाज पर अवलम्बित हो तब तो बात दूसरी है, उस समय तो सम्पत्ति के विभाजन का सवाल महत्वपूर्ण नहीं रहता। पर, जब तक व्यक्तिगत सम्पत्ति का नियम है तबतक अर्थ-विभाजन एक विचारणीय समस्या है।

इस समस्या का सबसे महत्वपूर्ण अंश है नारी का सम्पत्ति पर अधिकार। मानव-जाति के निर्माण वर्द्धन और उन्नति के कार्य में नर का जितना हाथ है नारी का भी उतना हाथ है। तरीके दोनों के जुदे जुदे हैं, पर त्याग और मूल्य साधारणतः दोनों का बराबर है, बल्कि त्याग में नारी कुछ बढ़कर ही है। फिर भी नारी के हाथ में अधिकार कम हैं कहीं कहीं नाम-मात्र का है, यह सब अन्याय है।

निःसन्देह यह अन्याय नारी-द्वेष का परिणाम नहीं है। नर और नारी में परस्पर ऐसा आकर्षण है कि जिससे दोनों के मिलने से एक व्यक्तित्व बनता है। साधारणतः दोनों में परस्पर जाति-भेद तो है ही नहीं। माता-पिता को पुत्र और पुत्री दोनों पर एक-सा प्यार होता है। पुत्री दूसरे घर जाने-वाली है, इसलिये भावों में कुछ अन्तर भले ही हो, पर वैसे कोई पक्षपात नहीं होता। बल्कि थोड़े-बहुत अंशों में कुछ उल्टी बात देखी जाती है। पुत्र पिता की अपेक्षा माता से अधिक प्यार करता है। पत्नी के पीछे अपने भाइयों से तथा कुटुम्बियों से लड़ाई मोल लेने वाले पति तो घर-घर हैं। हरएक पति मरते समय भी विधवा होने वाली अपनी पत्नी की चिन्ता में डूब जाता है। उसे भय रहता है कि उसके भाई उसकी पत्नी की दुर्दशा न कर डालें। हरएक पिता जमाई की अपेक्षा अपनी पुत्री की अधिक चिन्ता करता है और चाहता है कि उसकी पुत्री के हाथ में काफी सत्ता हो। हरएक माता पुत्रवधू की अपेक्षा पुत्र से अधिक प्रेम करती है। देवरानी-जिठानी की अपेक्षा देवर-भौजाई में और ननँद-भौजाई की अपेक्षा बहिन-भाई मे अधिक स्नेह होता है। मतलब यह कि नर-नारी का वर्ग-भेद नहीं हैं, प्रकृति ने इनमें परस्पर आकर्षण भरकर वर्ग-भेद के विषैले दांत तोड़ दिये हैं।

यद्यपि कुल-वंश की एकता और परस्पर स्वार्थ ही बहुत जगह स्नेह का कारण होता है, ऊपर जिन सम्बन्धों में स्नेह की तुलना की गई है उनमें भी इन्हीं की मुख्यता है पर इससे इतना तो पता लग ही जाता है कि कुल-वंश और स्वार्थ-पूरकता भी स्त्रियों-स्त्रियों और पुरुषों-पुरुषों का जाति-भेद नहीं बनाने देती। स्त्री पुरुष के परस्पर सम्बन्ध में स्वार्थ की पूर्ति अधिक है और कुल वंश स्त्रियों और पुरुषों के अलग अलग नहीं हैं। जहाँ से पुरुष आते हैं वहीं से स्त्रियाँ। इन सब कारणों से स्त्रियों का अलग वर्ग और पुरुषों का अलग वर्ग नहीं बन सकता, न बना है। फिर भी नारियों के साथ अन्याय हुआ है—इसमें कोई सन्देह नहीं। सम्भव है, थोड़े-बहुत अंश में

पुरुषत्व का उन्माद भी इसका कारण हो पर असली कारण प्रकृति के द्वारा दिया गया महान् उत्तरदायित्व है। उसी का असर समाज व्यवस्था पर पड़ा है।

सन्तान की उत्पत्ति और पालन मनुष्य जाति की स्थिति के लिये बहुत जरूरी है, पर इस कार्य में नारी की शक्ति ही पूर्ण रूप में लगी, पुरुष तो नाम-मात्र का सहयोगी रहा और वह भी इसलिये कि समाज ने अपने हित की दृष्टि से उसे विवश किया। इस बोझ को उठाने के कारण अर्थोपार्जन और रक्षण का अवसर नारी को पुरुष की अपेक्षा कम मिला। इसमें उसका कोई कुसूर नहीं था। प्रकृति ने जो बोझ उसके ऊपर डाला था वह उसके रक्षण के लिये नहीं समाज के रक्षण के लिये ज़रूरी था। इस प्रकार उसका काम समाज का काम था, इसलिये पुरुष का भी काम था। इसीलिये समाज ने सुविधा के लिये जीवनोपयोगी सारा काम दोनों के हिस्से में बाट दिया। नारी के हिस्से में पड़ा सन्तानोत्पादन और पालन और गृह-प्रबन्ध, पुरुष के हिस्से में पड़ा अर्थोपार्जन और बाहरी व्यवस्था। अपवाद रूप में एक ने दूसरे के क्षेत्र में भी काफी सफलता पाई, पर यह सब अपवाद था।

समाज ने जो व्यवस्था की वह एक तरह से ठीक ही थी, पर उसका एक परिणाम यह हुआ कि विवाह के लिये नारी को अपना पैतृक घर छोड़ना पड़ा; क्योंकि गृह-प्रबन्ध और सन्तानोत्पादन रक्षण तो जहां चाहे जाकर करीब करीब ज्यों का त्यों किया जा सकता था, पर अर्थोपार्जन इस प्रकार नहीं बदला जा सकता था। एक आदमी दूकान करता है तो विवाह के बाद अगर उसे वह गांव छोड़ना पड़े तो यह बहुत मुश्किल था कि वह अपनी जमी-जमाई दूकान जल्दी एक गांव से दूसरे गांव ले जाय और वहां भी यहां के समान सफल हो जाय। यही बात नौकरी आदि के बारे में थी। एक जगह जैसी नौकरी मिली थी—दूसरी जगह वैसी मिलने की बहुत कम आशा थी।

अगर पुरुष नारी के घर में जाता तो उसे शुरू से अर्थोपार्जन की नई व्यवस्था करनी पड़ती इसमें वह सफल होता या असफल, कह नहीं सकते। फिर जब तक सफल न होता तब तक खाता क्या? नारी तो अपना बोझ संम्हाल लेती पर पुरुष कैसे सम्हालता? इसलिये अन्त में यही सोचा गया कि पुरुष को नारी के घर में जाने की अपेक्षा नारी को पुरुष के घर में जाना ठीक है, और अधिकांश स्थानों पर यही व्यवस्था रही।

पर इसी घटना ने नारी के आर्थिक अधिकार छीन लिये या पैदा न होने दिये। नारी जिस घर में पैदा हुई थी उस घर से उसका कोई सम्बन्ध न रहा। वह सुकुटुम्बी से उपकुटुम्बी हो गई। ऐसी हालत में न तो वह अपने माता-पिता आदि की सेवा करने के लिये बाध्य रही, न उसका वहां कोई आर्थिक-सम्बन्ध या अधिकार रहा। एक तरह से इसमें उसके मां-बाप आदि का कोई अपराध नहीं था।

इधर जब वह पति के घर में आई तो खाने-पीने आदि का पूरा इन्तजाम किया गया। पर कुटुम्ब की सम्पत्ति में उसे हिस्सा न दिया गया। शंका हुई कि सम्पत्ति का हिस्सा लेकर वह तलाक देकर चल दे तो? अथवा घर में रहने के कारण वह सम्पत्ति की सम्हाल न कर सके तो?

इस प्रकार कुछ तो शंका और कुछ असुविधा के कारण नारी के हाथ में आर्थिक स्वामित्व न आ-पाया । हां, वह नर के लिये या सारे कुटुम्ब के लिये बहुत जरूरी थी इसलिये अधिकार न रहने पर भी वह व्यवहार में मालकिन रही । इसलिये उसने भी अनधिकार की बात को महसूस न किया ।

इस अनधिकार का अनुभव हुआ उसे विधवा होने पर, लेकिन पुनर्विवाह के कारण यह चोट भी उसे न अखरी । पुनर्विवाह होने पर उसे सारी सुविधाएँ दूसरे घर में मिलने लगीं । इसलिये तब भी नारी ने आर्थिक अनधिकार की बात को महसूस न किया ।

हां, वयस्क स्त्रियाँ पुनर्विवाह भी न करती थीं, क्योंकि उन के सामने सन्तान का विकट सवाल आ जाता था । सन्तान वे इसी घर में छोड जायँ यह वे सहन न कर सकतीं थीं । भला, माता सन्तान को कैसे छोड़े ? और पुनर्विवाह के घर में ले जाय तो उस घर का बोझ ही बढ़ जाय, दो घर के बच्चों का बोझ एक घर पर आ जाय, इसलिये अधिकांश स्त्रियों ने पुनर्विवाह को नापसन्द किया । ऐसी अवस्था में भी जो पुनर्विवाह कर लेती—वह बच्चों पर निर्दय समझी जाती, इसलिये समाज में उसकी निन्दा होती ।

यह अवश्य ही उसके लिये आर्थिक-संकट का समय था, पर कुटुम्ब में बच्चों का आर्थिक अधिकार होने से साथ में उसकी भी गुजर होने लगी । बाद में सन्तति के बड़े हो-जाने पर मातृत्व की हैसियत से उसका निर्वाह होने लगा ।

इस प्रकार आर्थिक अधिकार के न रहने पर भी नारी के गुजर की व्यवस्था हो गई ।

पर सन्तान की असुविधा के कारण पुनर्विवाह के विरोध में जो थोड़ी-सी लहर उठी थी, और पुनर्विवाह न करने-वाली स्त्रियों पर जो त्याग की छाप लगी-थी, उसने कुछ विशाल-रूप धारण किया । इसलिये पुनर्विवाह न करना कुटुम्ब-रक्षा का कार्य होने से बड़ी भारी भलमंसाहत समझी जाने लगी । इसी भलमंसाहत-भलेपन-अच्छेपन का अनुवाद हुआ सतीत्व । सतीत्व का अर्थ ही है अच्छापन या स्त्रीलिंग शब्द होने से अच्छीपन । धीरे-धीरे इस सतीत्व या अच्छीपन का बोझ उन स्त्रियों पर भी डाला गया जिनके पुत्र नहीं था; किन्तु पुत्री या पुत्रियाँ थीं । पुत्री के विवाह होने पर ही उन्हें सन्तान से छुट्टी मिल सकती थी, लेकिन तब तक जवानी उतर जाती थी, इसलिये पुनर्विवाह की तरफ़ रुचि ही न रहती थी । इस प्रकार कुटुम्ब में एक अकेली विधवा को जगह मिली । उसके आगे-पीछे कोई न होने से उसे सम्पत्ति-संग्रह की जरूरत नहीं मालूम हुई । कुटुम्बियों की सेवा करना, संयम से रहना,यही उसकी जीवन-चर्या हो गई । कुटुम्बियों को इससे आराम ही मिला। इससे धीरे-धीरे सन्तानहीन विधवा पर भी इस अच्छीपन या सतीत्व का बोझ डाल दिया गया । इस प्रकार कुटुम्ब के लिये सस्ती ईमानदार और जिम्मेदार सेविकाएँ मिलने लगीं ।

अच्छेपन के अनेक पहलू हैं, पर कौटुम्बिक जीवन में नारी के अच्छेपन का मुख्यरूप यह हुआ कि वह पति और सन्तान के प्रति वफ़ादार रहे । अच्छा कौन नहीं बनना चाहता ? समाज ने जिसे सबसे अच्छा समझा और कहा, नारियों ने वैसा

ही अच्छा बनना शुरू कर दिया। जिन वर्गों की आर्थिक-दशा अच्छी थी उनमें नारियों का अच्छापन या सतीत्व इसी रूप में बढ़ा। पर जिन वर्गों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं थी-उनमें इस तरफ़ पूरा ध्यान नहीं दिया जा सका।

पर, इन दोनों ही अवस्थाओं में नारी के हाथ में आर्थिक अधिकार न आने पाये। पुनर्विवाह करने-वाली स्त्रियों से कहा गया कि तुम दूसरे घर में जाती हो—वहां पालन-पोषण होगा तुम्हें इस घर से सम्पत्ति क्यों दी जाय? जिस घर में तुम पैदा हुई थीं—उस घर में भी जब तुम्हारा हिस्सा न रहा तो हमारे घर में क्यों रहे?

जिन स्त्रियों ने पुनर्विवाह न किया उनसे कहा गया कि सम्पत्ति का तुम क्या करोगी? तुम्हारे पति नहीं, पुत्र नहीं, अकेला तुम्हारा पेट है—उसको भरने की जिम्मेदारी हमारे ऊपर है ही। बस, अब तुम्हें क्या चाहिये? इस प्रकार नारी को आर्थिक अधिकारों से वंचित रक्खा गया।

नारी क हाथ में आर्थिक अधिकार क्यों नहीं आया—उसका यह साधारण इतिहास है। देश-भेद से इस इतिहास को कुछ कम-ज्यादा भी किया जा सकता है। पर इससे सिर्फ़ तथ्य का पता लगता है-सत्य का नहीं। तथ्य से हम घटनाओं का पता लगाते हैं और सत्य से उनकी कल्याणकरता-अकल्याणकरता का। स्त्रियों के हाथ में आर्थिक अधिकार न देने से अन्याय हुआ है—अहित हुआ है, जिसे दूर करना जरूरी है। कुछ बुराइयों का परिचय यहां भी दिया जाता है।

१– आर्थिक अधिकार न होने से वह पत्नी की जगह दासी बन गई है।

पत्नी शब्द का अर्थ तो मालकिन है, पर धन पर अधिकार न होने से पत्नी शब्द का प्रचलित अर्थ दासी हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि पति निरंकुश, घमंडी, असहिष्णु, चरित्र-भ्रष्ट और पीड़क हो गया। कुटुम्ब पर इस बात का बहुत बुरा असर हुआ।

२– आर्थिक अधिकार न रहने से नारी का दिल छोटा हो गया, उसमें दीनता आ गई और आत्मविश्वास न रहा, अपने पैरों पर खड़े होने की हिम्मत न रही, अर्थ-संरक्षण का अवसर न मिलने से अर्थ-संरक्षण की योग्यता भी न रही। इस प्रकार नारी का पतन हुआ और पुरुष का बोझ बढ़ा। आधा समाज बेकार हो गया और आधे पर बोझ ज्यादा पड़ गया।

३– आर्थिक अधिकार हाथ में न होने से उसके धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक अधिकार छिन गये—इससे वह मनुष्यता से पशुता की ओर ढकेल दी गई।

४– वैधव्य अवस्था में उसका त्याग 'त्याग' न रहा, वह कंगालियत हो गया। जहां उसने जानवर की तरह काम किया—वहां उसने जानवर की जगह पाकर अपनी उपयोगिता साबित की, पर जहां उनके लिये जरूरी काम नहीं था—वहां कुटुम्बियों ने एक निर्धन का बोझ समझकर उसे दुतकारा। पुत्र पुत्रवधू, देवर देवरानी, जेठ-जेठानी, सास-ससुर, माता-पिता, भाई-भौजाई, सभी के लिये वह बोझ बनी—उसका आदर न रहा। हां, जहां कुटुम्ब की आर्थिक अवस्था अच्छी थी—वहाँ उसे खाने-पीने का कष्ट न हुआ, पर इज्जत न मिली। हां, जहां घर में दूसरी स्त्री नहीं थी—वहां की बात दूसरी है।

वहां उसने उपयोगिता के अनुसार कुछ विशेष प्रेम पाया, पर उपयोगिता कम हो जाने पर फिर उनका तिरस्कार हुआ। देखा जाता है कि जिन माताओं ने बड़े कष्ट से पुत्रों का पालन किया, बुढ़ापे में उनकी भी इज्जत न रही। पुत्र और पुत्रवधुओं के लिये वे बोझ बन गईं। उपयोगिता कम हो जाने पर कीमत घट जाना स्वाभाविक है। पर देखा गया है कि जिन माताओं के हाथ में पैसे की बागडोर रहती है—उनकी इज्जत कम नहीं होती, और इसी कारण पिताओं या पुरुषों की इज्जत बनी रहती है।

५–कुटुम्बियों के द्वारा दुतकारे जाने पर, पैसा पास में न होने से चरित्रहीन होने के सिवाय उनके हाथ में कोई दूसरा रास्ता नहीं रहता। उन्हें कैसे भी उस दुरात्मा की गुलामी करने के लिये और उसकी विषय-वासना का शिकार होने के लिये बाध्य होना पड़ता है, जो उन्हें रोटी के दो टुकड़े और पहिरने को कपड़ा दे दे। और जिन्हें यह लज्जास्पद सौभाग्य भी न मिल सका, उन्हें वेश्या या वेश्या-सरीखा हो जाना पड़ता है।

६–पैसे पर अधिकार न होने से हल्की मजूरी या व्यभिचार छोड़कर उनके पास अर्थोपार्जन के दूसरे साधन नहीं रहते, उनमें योग्यता भी हो तो भी काम नहीं आ पाती।

विशेष लम्बाने की जरूरत नहीं है। अर्थ, जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। धार्मिक, सामाजिक राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय क्रान्तियाँ और संस्कृतियाँ विशेष रूप में अर्थमूलक हैं। इसलिये अर्थहीन के आध्यात्मिक और भौतिक पतन की सीमा नहीं है।

मित भी अर्थ न हो अगर तो हो अमित अनर्थ।
अर्थ बिना जीवन नहीं, अर्थ बिना सब व्यर्थ॥

नारी की यह दुर्दशा आधी दुनिया की दुर्दशा है, और इस दुर्दशा का असर बाकी आधी दुनिया पर भी कम नहीं पड़ता।

यह कहा जा चुका है कि सन्तानोत्पादन, पालन, और गृह-प्रबन्ध की दृष्टि से नारी की सेवा का मूल्य पुरुष की सेवा से कम नहीं है। ऐसी हालत में उसे भी काफ़ी आर्थिक अधिकार मिलना चाहिये। थोड़ी-बहुत न्यूनाधिकता की बात अलग है। कौटुम्बिक अर्थ-विभाजन के कार्य में नारी के साथ न्याय करने की पूरी कोशिश करना चाहिये।

किसी देश में अगर साम्यवादी तंत्र हो तब तो यह समस्या बहुत अंश में सुलझ जायगी। पर, अगर न हो और अर्थोपार्जन मुख्य रूप में पुरुष के ही हाथ में हो तो अर्थ-विभाजन के नियम हमें इस तरह के बनाना चाहिये कि जिससे नारियों के आर्थिक अधिकारों को धक्का न लगे। यहां कौटुम्बिक अर्थ-विभाजन के कुछ ऐसे नियम बताये जाते हैं जिनका पालन करने से न्याय की रक्षा होगी।

बटवारे के नियम—

१– अविवाहित लड़कियों के विवाह आदि का खर्च, तथा अल्पवयस्क लड़कों के शिक्षण के लिये कुछ सम्पत्ति निकालकर जितनी सम्पत्ति बचे—उसमें से एक हिस्सा माता का, एक हिस्सा पिता का और एक एक हिस्सा बाकी लड़कों का समझना चाहिये। इस हिसाब से सम्पत्ति का एक हिस्सा कुटुम्ब-जन्म के समय अलग होनेवाले पुत्र और पुत्रवधू को देना चाहिये। हां,

पुत्रवधू का स्त्री-धन हिस्सा बाट की चीज़ नहीं है, वह उसी के पास रहेगी।

२– पिता के मरने पर उसका हिस्सा माता को, और माता के मरने पर उसका हिस्सा पिता को मिलेगा। माता का स्त्री-धन जीते जी उसके पास रहेगा, मरते समय वह स्त्री-धन का जैसा बटवारा कर जाय–वह कर जाय, अन्यथा वह भी पिता मिलेगा।

३– अगर कुटुम्ब-जन्म होने के पहिले माता या पिता दो में से किसी एक की मृत्यु हो जाय तो भी बटवारे के समय दोनों का अलग अलग हिस्सा माता-पिता में से जो जिन्दा होगा उसे मिलेगा। और माता का बचा हुआ स्त्री-धन माता के पास या माता की मृत्यु हो गई होगी तो पिता के पास रहेगा।

४– माता-पिता में से जो पीछे तक जिन्दा रहे–उसे अधिकार है कि वह अपने हिस्से की सम्पत्ति इच्छानुसार खर्च करे, दान करे या जिस तरह उचित समझे सन्तान में बांट दे। पर, अगर उनके पास ऐसी सम्पत्ति रह जाय जिसके विषय में उनने कुछ न कहा हो तो उनकी मृत्यु के बाद सन्तान में वह सम्पत्ति बाँट दी जाय।

इस बटवारे में सम्पत्ति का हिस्सा-बाट लड़का और लड़की दोनों को मिले। हां, पुत्रों को एक एक हिस्सा बाट दिया जायगा और पुत्रियों को आधा आधा। पुत्र न हों तो सब पुत्रियों को बराबर बराबर मिलेगा।

५–पुत्रवधू अगर विधवा हो तो भी उसे पुत्र का अर्थात् अपने मृत-पति का हिस्सा मिलेगा।

६– पुत्रवधूने अगर विधवा होने के कारण पुनर्विवाह किया हो, तो उस घर में उसका स्थान पुत्री के समान हो जायगा। इस प्रकार मृत्यु के बाद माता-पिता के हिस्से की सम्पत्ति के हिस्सा-बाट में उसका भी पुत्री के समान अर्थात् नियम नं. ४ के अनुसार पुत्र के हिस्से से आधा हिस्सा होगा। इसमें माता-पिता की बाधा न होना चाहिये। उसका स्त्री-धन तो उसके पास रहेगा ही। हां, निःसन्तान होने पर पैतृक-धन पति के कुटुम्बियों में बट जायगा। सन्तान होने पर उसपर सन्तान का अधिकार होगा।

७– विधवा पुत्रवधू अगर सन्तानवाली होगी तो मृत पति का हिस्सा उसके और उसकी सन्तान के पालन पोषण में लगेगा। ऐसी हालत में वह अगर पुनर्विवाह करले तो मृत-पति की जायदाद सन्तान के लिये ही रहेगी और उस जायदाद की व्यवस्था मृत-पति के कुटुम्बियों की सलाह से या समाज या सरकार की सलाह से होगी। हां, प्रबन्धकों में सन्तान की मां भी रहेगी। पुनर्विवाह के समय वह सिर्फ अपना स्त्रीधन ले जा सकेगी।

८– अगर पुत्रवधू कुटुम्ब-जन्मोत्सव के बाद विधवा हुई हो और उसके सन्तान न हो और इस हालत में वह पुनर्विवाह करे तो मृत पति को मिले हुए पैतृक हिस्से की आधी जायदाद पति के माता-पिता तथा भाइयों में बट जायगी और आधी उसी विधवा पुत्रवधू के पुनर्विवाह के समय उसका स्त्रीधन बनजायगी। पैतृक हिस्से के सिवाय जो जायदाद पतिने कमाई होगी वह भी उसकी विधवा पत्नी का स्त्री-धन होगा और प्रथम विवाह के समय जो उसका स्त्रीधन था वह भी उसी के पास रहेगा। इस सारी सम्पति पर पुनर्विवाह के पति का कोई अधिकार न होगा।

९– (क) कोई पुरुष जब अपने कुटुम्ब से अलग हो जाय तब उसके बीस वर्ष बाद उसकी समस्त जायदाद पर (चाहे उसे हिस्से में मिली हो चाहे उसने कमाई हो – सब पर) फिर उसके भाई बन्धुओं का कोई अधिकार नहीं रहता। हां, उसके सन्तान न हो, और पत्नी भी न हो तो उसकी लावारिस सम्पत्ति पर निकट-तम सम्बन्धी की हैसियत से उसके कुटुम्बियों का हक हो जाता है। मतलब यह कि अलग होने के बीस वर्ष बाद कुटुम्बियों की अपेक्षा पत्नी का हक पहिला होता है और पूरा होता है, फिर भले ही वह पीछे से पुनर्विवाह ही क्यों न करे। हां, इस नियम से सन्तान के अधिकार को धक्का नहीं लगता।

(ख) पत्नी को यह साम्पत्तिक अधिकार उस समय भी मिल जाता है जब उसके विवाह को बीस वर्ष हो चुके हों। (नियम न. ९ 'क' या 'ख' के लागू होने पर नियम नं. ६ लागू न होगा।)

१०– अगर किसी के पुत्र न हो सिर्फ़ पुत्रियाँ ही हों तो कुटुम्ब चाहे विभक्त हुआ हो चाहे न हुआ हो, उसकी जायदाद पर पुत्रियों का अधिकार पुत्रों के समान ही होगा। विवाह के समय उनका वह पैतृक धन उनका स्त्री-धन बन जायगा। अगर कोई पुत्री विवाह न करे तो भी उसे अपना हिस्सा मिलेगा। अठारह वर्ष की उम्र हो जाने पर उसे अपना हिस्सा लेने का अधिकार होगा।

हां, माता-पिता में से जब तक कोई एक जीवित है तब तक सम्पत्ति पर पुत्रियों का अधिकार न होगा। माता या पिता जो जीवित होगा उसीका अधिकार होगा। उसके मरने के बाद नियम नं. ४ के अनुसार उन्हें सम्पत्ति मिलेगी।

११– माता-पिता की जायदाद अगर उनकी खुद की कमाई हो–उन्हें अपने माता-पिता से न मिली हो–तो खुद की जायदाद का इच्छानुसार बटवारा करने का उन्हें हक है। हां, साधारण हालत में जैसा बटवारा किया जाना चाहिये वह किया गया है।

१२– पति-पत्नी की आर्थिक हिस्सेदारी का साधारण नियम यह है कि पति की आमदनी में से घर का सारा खर्च निकालकर जो कुछ बचेगा उसका चौथाई हिस्सा पत्नी के स्त्री-धन में शामिल हो जायगा और तीन हिस्सा पति का रहेगा। इसी प्रकार अगर पत्नी कमाती हो तो उसकी आमदनी के अनुसार घर-खर्च का हिस्सा निकाल-कर जो कुछ बचे उसमें से एक चतुर्थांश पति का और तीन चतुर्थांश पत्नी का होगा।

जैसे मानलो पति की आमदनी साल में हजार रुपया है और पत्नी की आमदनी पांच-सौ रुपया और घर का खर्च ९००) है [इस खर्च में घर की तरफ से किया जानेवाला सामूहिक दान आदि भी शामिल है] तो चूंकि पति की आमदनी पत्नी से दूनी है इसलिये पत्नी की आमदनी में से कुटुम्ब खर्च के लिये ३००) और पति की आमदनी में से ६००) लिये जायँगे। इस प्रकार पत्नी के पास २००) बचे इस बचत में से वह ५०) पति को दे देगी और पति की आमदनी में से ४००) बचे रहेंगे इस-लिये वह उस बचत का चौथाई १००) पत्नी को दे देगा। जब कभी भविष्य में सन्तान के विवाह शिक्षण बीमारी आदि में घर का खर्च बढ़ेगा और चालू आमदनी में से वह पूरा न हो सकेगा तो पति और पत्नी को जो बचत के

हिस्से मिल चुके हैं उन्हीं में से दोनों हिस्से के अनुसार देकर खर्च निभायेंगे। हां! विवाह के समय पत्नी को मिले हुए स्त्री-धन को उसकी इच्छा के बिना नहीं लिया जा सकता। उसकी इच्छा होने पर उसका स्त्री-धन उधार रूप में लिया जायगा।

प्रश्न— सुव्यवस्था के लिये यह ठीक मालूम होता है कि पत्नी घर का काम सम्हाले और पति आजीविका का। पर आमदनी का हिस्सा-बाट अगर पति-पत्नी में भी उपर्युक्त ढंग से किया जायगा तो सुव्यवस्था की पर्वाह न कर के भी पत्नियाँ अर्थोपार्जन की तरफ जायँगी, फिर भले ही सन्तान के पालन पोषण में गड़बड़ी हो, कुटुम्ब के, खास कर सन्तान के, स्वास्थ्य की बर्बादी हो।

उत्तर— पत्नियाँ भी जब अर्थोपार्जन में लगजायँगी तो घर की व्यवस्था और सन्तान के पालन पोषण का खर्च भी बढ़ जायगा। ऐसी अवस्था में कुछ बचत न होगी। हां, पत्नी अगर इतना अधिक कमा सकती हो कि बढ़ा हुआ घर खर्च निकाल देने पर भी बचत होती हो तो दोनों ही कमावें इसमें क्या हानि है?

हां, अगर सुविधा की दृष्टिसे यह ठीक मालूम हो कि पत्नी घर में ही रहे तो अच्छा, तो पति-पत्नी को आपस में समझौता कर लेना चाहिये। और इसके लिये एक चतुर्थांश से कुछ अधिक भी देने की जरूरत हो तो देना चाहिये।

अथवा अगर यह मालूम हो कि पति या पत्नी दोनों अपनी योग्यता से एक सरीखी कमाई कर सकते हैं और एक ही की कमाई से दोनों की अच्छी तरह गुजर हो सकती है पर कई कारणों से किसी एक का घर में रहना जरूरी है तो पत्नी घर में रह जाय, पर ऐसी हालत में पति की कमाई की बचत में आधा हिस्सा उसका होगा, अर्थात वह कमाई दोनों की समझी जायगी।

अथवा अगर यह मालूम हो कि जीविका के काम में दोनों मिलकर काम करते हैं, पत्नी साझेदार का कर्तव्य अच्छी तरह निभाती है या कुछ कम करती, है, तो उसके बदले में घर का काम करती है, ऐसी हालत में भी आमदनी की बचत में पत्नी का अधिकार पति के समान ही होगा, अर्थात् दोनों की कमाई बराबर समझी जायगी।

प्रश्न—किसी किसी धनकुबेर की आमदनी लाखों करोड़ों रुपया हुवा करती है। वह अगर किसी स्त्री से शादी करे, और वह स्त्री दो चार वर्ष रहकर करोड़ों की आमदनी में से आधा हिस्सा लेकर चलती बने—किसी बहाने से तलाक दे दे—तब तो बेचारे धन-कुबेरों की बड़ी परेशानी होगी उनको विवाह करना तक मुश्किल हो जायगा या इस बारे में ईमानदार रहना मुश्किल हो जायगा?

उत्तर— धन कुबेरों की आमदनी उनकी योग्यता की आमदनी नहीं है परन्तु मुख्यता से उस पूंजी की आमदनी है जो उन्हें किसी कारण मिल गई है। इसलिये उन्हें अपने विवाह के समय ही स्त्री-धन के समान आमदनी में से किस हिस्से की आमदनी के हिस्से किये जायँगे यह बात निश्चित कर लेना चाहिये। और उसी निश्चय के अनुसार हिस्साबाट करना चाहिये। अगर ऐसा निश्चय न किया जायगा तो पूरी आमदनी का हिस्सा करना पड़ेगा।

(वस्तुस्थिति के अनुसार अर्थ-विभाजन की दृष्टि से धनकुबेरों की बात का उल्लेख किया गया है इसका मतलब पूँजीवाद का समर्थन नहीं है)

प्रश्न—आमदनी का हिस्साबाट, क्या झगड़ा और बेईमानी की जड़ न होगा? नौकरी पेशा वाले लोगों की आमदनी निश्चित कही जा सकती है—पत्नी भी उसे जान सकती है, पर दूकानदारी का क्या होगा? पत्नी इन सब बातों का कहां तक पता लगायगी कि वास्तविक आमदनी क्या है? पति धोका देगा और पत्नी को अविश्वास होगा।

उत्तर—नारी को आर्थिक-दासता से मुक्त रहने के लिये या रखने के लिये इन सब परिस्थितियों का सामना करना ही पड़ेगा। फिर भी इस बात के उत्तर में हमें निम्न-लिखित बातों का ख़याल रखना चाहिये—

(क) पति और पत्नी आखिर एक ही व्यक्तित्व के दो अंग हैं—उन्हें एक दूसरे के लिये काफी बलिदान करना है, इसलिये सम्पत्ति की छोटी छोटी बातों में अविश्वास और बेईमानी उनमें कम से कम होगी।

(ख) पति के जीवित रहते साम्पत्तिक अधिकार का सवाल मुख्य नहीं बनता, वह मुख्य बनता है पति के मरने के बाद; जबकि उसके साम्पत्तिक अधिकार की कुटुम्बी लोग अवहेलना करने लगते हैं। इसलिये पति भी चाहता है कि उसके मरने के बाद उसकी पत्नी कंगाल न बन जाय, ऐसी हालत में पति पत्नी से असली आमदनी को छिपाये—इसका कोई कारण नहीं है।

(ग) पत्नी के हाथ में जब आर्थिक अधिकार विशेष रूप में आयेंगे तब उसे उनके सम्हालने की विशेष योग्यता भी पैदा करना पड़ेगी।

(घ) अगर झगड़े की नौबत आ जाय तो अपना हिस्सा एक एक साल या तीन तीन साल के लिये मुकर्रर कर लेना चाहिये।

१३—पति और पत्नी को अगर एक दूसरे से शिकायत हो कि कोई उनमें से जरूरत से ज्यादा खर्च करता है-अपव्यय करता है, अथवा इस ढंग से खर्च करता है कि आर्थिक स्थिति खराब होती जाती है तो दोनों को बराबरी से अपना अपना खर्च बाँध लेना चाहिये। जिस को ज्यादा खर्च करना हो वह आमदनी की बचत में से जो उसे हिस्सा मिले उसमें से कर सकता है। इसी हिस्से में से पत्नी अपनी आभूषणादि की लालसा पूरी कर सकती है या दानादि कर सकती है। पति भी अपनी इच्छानुसार कर सकता है।

यह नियम दुर्व्यसन आदि को रोकने में भी सहायक होगा।

साधारणत: दानादि तो दम्पति की तरफ से किया जाना चाहिये। विशेष दान पति या पत्नी अलग अलग कर सकते हैं।

आभूषणों का खर्च संयुक्त खर्च न समझा जायगा वह अपने अपने हिस्से में से करना होगा और उस पर उसी का अधिकार होगा।

१४—अठारह वर्ष की उम्र तक का खर्च मातापिता उठावें, इसके बाद अगर कोई शिक्षण लेना चाहे या जीविका न करके खाना-पीना लेता रहे तो वह सब खर्च उस पर उधार माना जायगा। और आमदनी होने पर धीरे धीरे चुकाना उसका फर्ज होगा और बटवारा होते समय उस अधिक खर्च का ख़याल रक्खा जायगा।

१५—छोटे भाई या छोटे भाईयों को उस हालत में बड़े भाई से कम हिस्सा मिलेगा जब

के छोटे भाईयों के नाबालिग़ या जीविकाहीन रहने पर बड़े भाई ने कुटुम्ब की सम्पत्ति बढ़ाई होगी। बड़े भाई के बालिग़ होने पर कुटुम्ब की साम्पत्तिक हालत जैसी रही होगी उसी के अनुसार छोटे भाईयों को हिस्सा मिलेगा। मतलब कि कुटुम्ब के संयुक्त रहने पर भी बड़े-भाई की कमाई मे छोटे भाई का हिस्सा न होगा। सिर्फ पैतृक सम्पत्ति ही सबमें बराबर बटेगी। हां, बड़े भाई की कमाई विशेष न रही हो सिर्फ घर खर्च ही निकल पाया हो तो उसका कोई विशेष हिस्सा नहीं रहता।

हां, मातापिता मर चुके हों और बड़े-भाई ने अपनी कमाई के आधार पर छोटे भाइयों का पालन-पोषण किया हो तो घर की सम्पत्ति और पालन-पोषण का विचार करते हुए बड़े भाई को या अनेक भाइयों ने पालन-पोषण किया हो तो बड़े भाइयों को विशेष हिस्सा मिलेगा।

इसके निर्णय में अगर कोई झगड़ा हो तो मातापिता या दो में से जो जिन्दा हो उसके मत के अनुसार निर्णय करना चाहिये अगर दोनों ही जिन्दा न हों या वे इस झगड़े में कोई मत न देना चाहें तो पंचायत के जरिये या किसी मध्यस्थ के जरिये निर्णय करा लेना चाहिये।

१६— गोद लेने के बारे में निम्नलिखित उप-नियम हैं।

[क] 'गोद' माता और पिता दोनों की सलाह से लिया जायगा, अगर दोनों में से कोई एक जिन्दा हो तो वह भी गोद ले सकता है। फिर चाहे वह माता हो--चाहे पिता। इस बारे में स्त्री-पुरुष के बारे में कोई भेद नहीं है।

[ख] माता-पिता में अगर मतभेद हो या और कोई कारण हो तो दो पुत्र भी गोद लिये जा सकते हैं।

[ग] लड़की भी गोद ली जा सकती है। उसका अधिकार औरस कन्या की तरह होगा।

[घ] अगर लड़का और लड़की, इस प्रकार दो व्यक्ति गोद लिये गये हों तो दोनों को बराबर उत्तराधिकार मिलेगा। हां, माता-पिता विशेष योजना कर जायँ तो बात दूसरी है।

[ङ] लड़का अगर गोद लिया गया हो किन्तु माता-पिता की औरस-कन्या मौजूद हो तो उसे और गोद लिये हुए लड़के को बराबर बराबर हिस्सा मिलेगा। अगर औरस-कन्याएँ अनेक हों तो एक हिस्सा गोद लिये हुए लड़के को मिलेगा और एक हिस्सा बाकी सब कन्याओं में बटेगा। हां, माता-पिता कोई विशेष योजना कर जायँ तो वह मान्य होगी।

[च] लड़का जब गोद लिया गया हो उसके बाद अगर माता-पिता के औरस-पुत्र हो जाय तो सम्पत्ति औरस और गोद लिये पुत्रों में बराबर बट जायगी। पर गोद के पुत्र को औरस-पुत्र से आधा हिस्सा मिलेगा।

(माता-पिता चाहें तो दोनों को बराबर का अधिकार दे सकते हैं।)

[छ] अगर पुत्रवधू विधवा हो जाय और उसके कोई पुत्र न हो तो माता-पिता एक पुत्र गोद ले सकते हैं। पर, ऐसी हालत में गोद लिया हुआ और विधवा पुत्रवधू सम्पत्ति के समान अधिकारी हो जायँगे। और इसके बाद वह विधवा पुत्रवधू अपने हिस्से की सम्पत्ति पर खुद एक पुत्र गोद ले सकेगी।

अगर गोद लिये हुए पुत्र का उस विधवा

पुत्रवधू से शादी कर दी जाय तब तो वह मृत-पुत्र के स्थान पर ही आ जायगा।

अगर विधवा पुत्रवधू शादी कर चली जाय तो कुटुम्ब में उसका स्थान पुत्री के समान रह जायगा।

[ज] गोद लेने के बाद अगर माता-पिता की पुत्र से न बने तो वे पुत्र को चौथा हिस्सा देकर अलग कर सकते हैं बशर्ते कि वह गोद का पुत्र कहलाना स्वीकार करे। इस प्रकार का अधिकार अकेले पिता को भी है और अकेली माता को भी।

हां, माता-पिता के मरने के बाद नियम नं० '१६-ङ' के अनुसार उनकी लाबारिस सम्पत्ति का उत्तराधिकारी वह होगा।

१७– बटवारे के इन सोलह नियमों में जहां जहां पुत्रियों को हिस्सा मिलने की बात आई है वहाँ यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि माता-पिता के रहने के घर का उत्तराधिकार पुत्रों को ही मिलेगा। अन्य घर जमीन आदि की बात दूसरी है। हां, अगर पुत्र न हों तो पुत्रियाँ अधिकारिणी हैं ही।

१८– अपने अधिकार में आई हुई स्थावर सम्पत्ति को बेचने आदि का स्त्रियों को भी वैसा ही अधिकार है जैसा पुरुषों को है।

अपितृक-कुटुम्ब —

सहज-सुकुटुम्ब का एक रूप अपितृक कुटुम्ब भी है। जो स्त्री न तो विवाहित होना चाहती है–न वेश्या बनना चाहती है, पर एक सद्गृहस्थ की तरह रहकर औरस सन्तान चाहती है। वह सिर्फ सन्तान के लिये कभी ऐसे किसी पुरुष से सम्पर्क करना चाहती है–जो विधुर या कुमार है। इसके सिवाय उससे और कोई कौटुम्बिक सम्बन्ध नहीं रखना चाहती,—ऐसी स्त्री की सन्तान का जो कुटुम्ब बनेगा वह अपितृक-कुटुम्ब कहलायगा। ऐसे कुटुम्बों का अभी रिवाज नहीं है, पर थोड़े-बहुत अशों में इनका भी रिवाज हो जायगा। थोड़ी-बहुत आवाज तो अभी भी उठा करती है, इसलिये ऐसे कुटुम्बों के विषय में कुछ नियम यहां दिये जाते हैं––

१– ऐसे कुटुम्ब की सन्तान की बल्दियत में माता का ही नाम रहेगा।

२—सम्पत्ति का उत्तराधिकारित्व पुत्र और पुत्रियों को एक-सा मिलेगा।

इन दो नियमों का ख़याल रखते हुए बाकी बातों के निर्णय के लिये यथायोग्य पिछले अठारह नियम लागू किये जाना चाहिये।

वेश्या कुटुम्ब—

वेश्या-कुटुम्ब की परिस्थिति जुदी रहती है, इसलिये वेश्याओं के लिये दायभाग के नियम जुदे हैं। यद्यपि यह प्रथा अच्छी नहीं है, पर जहाँ जब तक है वहां तब तक इसमें अंधाधुंधी न रहना चाहिये। इसलिये वेश्या-कुटुम्ब के विषय में संक्षेप में सूचनाएँ यहां दी जाती हैं––

१– वेश्याएँ दो तरह की होती हैं–विवाहित और अविवाहित। विवाहित वेश्या को पति के बारे में बफ़ादार रहना चाहिये। शील का वैसा रूप तो यहां नहीं पाला जा सकता है जैसा कि सद्गृहस्थों में पाला जाता है। पर दोनों में आर्थिक सहयोग, एक दूसरे की सेवा और रक्षा आवश्यक है।

२—इनकी विवाह-पद्धति ऐसी ही होगी जैसी पहिले सद्गृहस्थों के लिये बताई गई है, सिर्फ निम्नलिखित अन्तर रहेगा––

(क) सप्तपदी में पहिला-पद 'शील' का न रहेगा।

(ख) सप्तपदी का पांचवा-पद भी न पढ़ा जायगा, सिर्फ संक्षेप में परस्पर आर्थिक सहयोग की बात कही जायगी।

(ग) प्रदक्षिणाओं में चौथी-प्रदक्षिणा भी न होगी।

(घ) स्त्री ही कुटुम्ब की संचालिका होने से स्त्री-धन की आवश्यकता न होगी। और पुरुष-धन नियत करने की आवश्यकता भी नहीं है। हां, विवाह के समय पति की जो सम्पत्ति होगी—उस पर उसका अधिकार रहेगा और कुटुम्ब की आमदनी की बचत में से एक हिस्सा उसे मिलेगा जैसा कि अर्थ-विभाजन के नियम नं १२ में बताया गया है।

३— नाबालिग सन्तान की संरक्षकता माता पर रहेगी। पिता का सन्तान पर कोई अधिकार न होगा।

४— वल्दियत में माता का नाम मुख्य रूप में रहेगा। पिता का नाम भी माता के नाम के साथ लिखा जा सकता है।

५— मातृक सम्पत्ति का उत्तराधिकारित्व पुत्र और पुत्रियों को मिलेगा, पर पुत्र को पुत्रियों से आधा मिलेगा। हां, माता अपनी इच्छा के अनुसार इसमें रद्दोबदल कर सकती है।

६—पैतृक सम्पत्ति समान रूप में सन्तान में बट जायगी या जिस प्रकार पिता ने व्यवस्था की होगी उस रूप में बटवारा होगा।

७— माता पहिले मर जाय तो उसकी सम्पत्ति का उत्तराधिकारित्व सन्तान को मिलेगा, सन्तान न होगी तो पिता को मिलेगा। परन्तु अगर पिता पहिले मर जाय तो उसकी सम्पत्ति में सन्तान के साथ माता का भी एक हिस्सा रहेगा।

(दोनों अगर विशेष व्यवस्था कर जायँ तो दूसरी बात है।)

वेश्या-कुटुम्ब के ये विशेष नियम हैं। इन नियमों को बाधा न पहुँचे-इस प्रकार पिछले अठारह नियमों का उपयोग यहां भी करना चाहिये। जिससे अन्य विषयों का निर्णय किया जा सके।

कौटुम्बिक आर्थिक-व्यवस्था और उत्तराधिकारित्व के नियमों का दिग्दर्शन यहां करा दिया गया है। नियमों में जिस नीति से काम लिया गया है उस नीति का ख़याल रखते हुए विशेष समस्याओं को हल करना चाहिये।

जिस समाज या देश में सन्तान के पालन-पोषण की पूरी जिम्मेदारी समाज या राष्ट्र पर है, उसमें वहां की परिस्थिति के अनुसार दायभाग के नियम बदल जायँगे। सम्भव है, व्यक्तिगत सम्पत्ति न रहने से ये बेज़रूरी हो जायँ अथवा स्त्री पुरुषों का कार्य करीब करीब एक-सा हो जाय, इसलिये नर-नारी की विषमता और भी कम हो जाय तो लोगों को चाहिये कि वे उन उदार नियमों का स्वागत करें। जब तक इनसे अच्छी व्यवस्था बनाने लायक परिस्थिति नहीं आ जाती तब तक उन्हें इन नियमों की पाबन्दी करना चाहिये।

संस्कारोत्सव—

जन्म से मनुष्य पशु के समान अथवा पशु से भी अधिक असमर्थ पैदा होता है। संस्कारों से उसकी मनुष्यता का विकास होता है। पर संस्कार का मतलब कुछ मंत्र-वाक्य पढ़ देना या पूजा कर देना नहीं है। संस्कार मिनिटों में नहीं

डाले जा सकते। उसके लिये वर्षों तक सत्संगति सदुपदेश सुशिक्षण आदि की ज़रूरत होती है। पर संस्कार डालने के उत्सव मिनिटों में किये जा सकते हैं और उनका असर संस्कार डालने के कार्य में सहायक होता है। जिसके संस्कार किये जाते हैं, या तो उसको जिम्मेदारी का भान होता है अथवा उसके अभिभावकों या सम्बन्धियों को, अथवा दोनों को। समाज का साक्षित्व तथा अपने प्रतिज्ञा-वाक्य जीवन-निर्माण की तरफ काफी प्रेरणा देते हैं। इसलिये संस्कारोत्सवों की जरूरत है।

जीवन के आवश्यक कर्तव्यों को पूरा करने उनकी जिम्मेदारी उठाने अथवा आई हुई बाधा या अव्यवस्था को दूर करने के लिये संस्कारोत्सव करना चाहिये। पर इसका यह मतलब नहीं है कि जिसने संस्कारोत्सव नहीं किया—वह कर्तव्य की जिम्मेदारी नहीं उठा सकता, या बाधा अव्यवस्था आदि दूर नहीं कर सकता। संस्कारोत्सव तो साधारण प्रेरक है--इनके बिना भी हजारों आदमी अच्छी तरह सफलता प्राप्त कर लेते हैं और इनके होने पर भी हजारों आदमी सफलता प्राप्त नहीं कर पाते। इसलिये किसी की योग्यता की कीमत लगाने के लिये संस्कारोत्सवों को न देखना चाहिये, संस्कारों को देखना चाहिये। जीवन का जब विकास हो गया या सुव्यवस्था हो गई, तब इसका कोई अर्थ नहीं कि 'तुम्हारा संस्कारोत्सव हुआ या नहीं'।

किसी के मरने के बाद घर की सफाई न हुई, दिल की सफाई न हुई, अव्यवस्था दूर नहीं हुई, मृत व्यक्ति के कार्य के बोझ को किसी ने न उठाया, पर संस्कारों के नाम पर ढेर भर क्रिया-कांड कर डाला तो वह सब बेकार है। पर क्रिया-कांड कुछ न हुआ, लेकिन सफाई आदि अच्छी तरह हो गई तो संस्कारोत्सव न होने पर भी कोई हर्ज नहीं। इसी प्रकार विद्यारम्भ का संस्कारोत्सव तो शान से हो गया, पर विद्या ख़ाक भी न आई तो वह संस्कारोत्सव बेकार है और अगर विद्या आ गई तो फिर यह बाधा उठाना कि 'तुम्हारा विद्यारम्भ संस्कार तो हुआ ही नहीं'—यह भी बेकार है। इस प्रकार हरएक संस्कारोत्सव यद्यपि अनिवार्य नहीं है फिर भी उनकी उपयोगिता है। कमजोर आदमी को बल मिलता है इसलिये उनका उपयोग करना चाहिये। खासकर वैवाहिक संस्कारोत्सव तो एक प्रकार से बहुत ज़रूरी है।

यों तो छोटी-बड़ी बातों के संस्कारोत्सव हम अनेक बना सकते हैं, पर यहां मुख्य-मुख्य संस्कारोत्सव ही दिये जाते हैं।

१— विवाह, २ — कुटुम्ब-जन्म, ३— बाल-जन्म, ४— विद्यारम्भ, ५—जीविकारम्भ, ६—समाज-दीक्षा, ७— श्रेणी-दीक्षा, ८— मरण।

१ विवाह संस्कार— का विस्तृत विवेचन व्यवहार-कांड पहिले अध्याय में किया जा चुका है।

२ कुटुम्ब-जन्म— का विस्तृत विवेचन व्यवहार-काण्ड दूसरे अध्याय में किया जा चुका है।

३ बाल-जन्म—सन्तान के पैदा होने पर कुछ दिन बाद उसका संस्कार करना चाहिये। सच पूछो तो यह संस्कार सन्तान का नहीं है किन्तु उसके माता-पिता का है। जिससे वे सन्तान का पालन-पोषण कर सकें और इस तरफ़ उन्हें प्रेरणा मिले।

उत्सव के समय कम से कम बाहर के दो

आदमी अवश्य होना चाहिये ।

अधिक से अधिक कितने आदमी बुलाना और उनका किस तरह सत्कार करना—यह सब अपनी रुचि, और परिस्थिति पर निर्भर है । हां, शक्ति से अधिक व्यय न करना चाहिये, फिर भी कुछ न कुछ दान अवश्य करना चाहिये ।

शिशु जब स्वस्थ हो, उसके जीवित रहने की आशा हो, माता-पिता भी स्वस्थ हों तब यह संस्कारोत्सव करना चाहिये ।

उत्सव या तो धर्मालय में करना चाहिये । अगर धर्मालय न हो तो सत्य अहिंसा की स्थापना करके कहीं अन्यत्र करना चाहिये ।

उत्सव के प्रारम्भ में अनेक तरह की प्रार्थनाएँ तथा भजन आदि पढ़े जा सकते हैं । अगर न पढ़ना हो तो कोई ज़रूरत नहीं । माता-पिता को निम्नलिखित प्रार्थना से उत्सव आरम्भ कर देना चाहिये—

सत्येश्वर अल्लाह शिव रब रहीम रहमान ।
ब्रह्मा विष्णु महेश प्रभु अहुरमज्द भगवान ।
गॉड यहोवा हरि खुदा परम-सिद्ध कर्तार ।
महाबोधि साहब धनी परब्रह्म भवपार ॥२॥
परमात्मा परमेश हर शम्भु स्वयम्भू राम ।
कृपासिन्धु तुमने दिया नवजीवन सुखधाम ॥३॥
देवि अहिंसे भगवती, जगदम्बे रस-मूर्त्ति ।
महाशक्ति संयम-जननि आशाओं की पूर्त्ति ॥ ४ ॥
पैगम्बर नव-तीर्थंकर सद्भक्तों की मात ।
भक्तिप्रेम करुणामयी जीवन-ज्योति प्रभात ॥४ ॥
सत्य अहिंसे जगपितर जग के सर्जनहार ।
करुणाकर तुमने दिया यह मानव अवतार ॥६॥
मानव-तन तो दे दिया मानव का आकार ।
अब मानव-मन चाहिये जिससे हो उद्धार ॥ ७ ॥
बाल तुम्हारी वस्तु है इसमें करो निवास ।
सच्चे माता पिता तुम्हीं, हम हैं केवल दास ॥८॥
तुम्हीं जनक पालक तुम्हीं सद्गुरु तुम्हीं महान ।
हम तो केवल धाय हैं, या हैं भृत्यसमान ॥ ९॥
ऐसा आशीर्वाद दो, दो वह शक्ति अपार ।
हम अभिभावक बन सकें शिशु का हो उद्धार ॥ १०॥
ज्यों ज्यों मानव-तन बढ़े ज्यों ज्यों विकसें प्राण ।
त्यों त्यों मानवता बढ़े करे स्वपर कल्याण ॥११॥
मानव का यह शिशु बने मानवता का धाम ।
जग की सेवा में बढ़े जपे तुम्हारा नाम ॥१२॥

इस प्रार्थना के बाद माता-पिता निम्नलिखित पांच प्रतिज्ञाएँ करें—

(१) हम इस शिशु को भगवान सत्य भगवती अहिंसा की और समाज की धरोहर समझकर बड़े यत्न से पालन करेंगे ।

(२) हम अपने जीवन को ऐसा बनाने की कोशिश करेंगे कि इस शिशु पर—हमको देखकर—कोई बुरे संस्कार न पड़ने पावें ।

(३) हम इसे दुस्संगति से बचाने की और सत्संगति में रखने की कोशिश करेंगे ।

(४) हम अपने मोह के कारण इसके जीवन-विकास में बाधक न बनेंगे ।

(५) शिक्षण, सदाचार, कर्मठता आदि हर तरह के विकास में हम शक्ति के अनुसार अधिक से अधिक मदद करेंगे ।

इसके बाद कोई योग्य व्यक्ति इन प्रतिज्ञाओं के बारे में वक्तव्य दे, पर यह आवश्यक नहीं है ।

नामकरण— इन प्रतिज्ञाओं के बाद शिशु का नाम रक्खा जाय । सब लोग मिलकर किसी तरह नाम निश्चित कर लें । माता-पिता का निर्णय प्रधान होगा ।

नाम रखने के बाद यह प्रार्थना की जाये—

जगम्दव जगन्गुरु जगत्पिता सब ध्वनियाँ तुमको प्यारी हैं।
सब स्वर व्यञ्जन के श्रोत तुम्हीं भाषाएँ सभी तुम्हारी हैं॥
सब शब्द तुम्हीं से आते हैं सब शब्द तुम्हीं में जाते हैं।
सब भावों के अनुसार तुम्हारे चरणों की रज पाते हैं ॥१॥
चुनते हैं कोई नाम तुम्हारा-ध्वनि कण ही अपनाते हैं।
सब शब्दों में सब ध्वनियों में संकेत तुम्हारा पाते हैं। ॥
चमके कोई भी नाम जगत् में वह सब हमको प्यारा है।
है नाम-मोह सब व्यर्थ सभी नामों में वास तुम्हारा है ॥२॥
अपनालें कोई नाम, महत्ता तो मिलती है कामों से।
बदकामों से जो दूर रहा वह दूर रहा बदनामों से ॥
जो भी मिल जाये नाम उसीसे अपना बेड़ा पार करें।
मद मोह नाम का दूर हटाकर दुनिया से व्यवहार करें ॥३॥

इसके बाद सब लोग उस शिशु को नये नाम से पुकारकर आशीर्वाद दें।

गोद—गोद लिये हुए बच्चे के संस्कार भी इसी तरह करना चाहिये। उसका नाम वगैरह बदल देना चाहिये। उसके मूल माता-पिता या अभिभावक हों तो उनसे एक पत्र ले लेना चाहिये, जिसमें उनने अभिभावकता का त्याग किया हो।

अगर गोद लिया जानेवाला बालक बालिग्र हो तो माता-पिता की पांच प्रतिज्ञाओं के बदले में गोद लेनेवालों को और गोद लिये जाने वाले को निम्नलिखित प्रतिज्ञा करना चाहिये।

गोद लेनेवालों की प्रतिज्ञा—

'हम इसे अपनी सन्तान की तरह मानेंगे। और माता-पिता के कर्तव्य पूरे करेंगे',

गोद लिये जाने वाले की प्रतिज्ञा—

'हम इन्हें माता-पिता की तरह मानेंगे, सन्तान के जो कर्तव्य हैं उन्हें पूरा करेंगे।'

नाम बदलने की क्रिया औरस सन्तान की तरह होगी।

४ विद्यारम्भ बच्चा जब पांच वर्ष का हो जाय तब विद्यारम्भ संस्कारोत्सव किया जा सकता है। यह संस्कार किसी अच्छे सदाचारी विद्वान के समक्ष करना चाहिये। उत्सव का कार्यक्रम साधारणतः इस प्रकार हो—

१—सत्य अहिंसा और सरस्वती की प्रार्थना।

(सत्य अहिंसा और सरस्वती की प्रार्थना इच्छानुसार पढ़ी जा सकती है। हां, थोड़े में संस्कार विधि करने के लिये निम्नलिखित दोहे यहां लिखे जाते हैं।)

सत्य—सकल ज्ञान के मूल तुम सत्येश्वर भगवान।
मिले तुम्हारे ध्यान से मुझको सच्चा ज्ञान।
अहिंसा—देवि अहिंसे भगवती, दे दो जीवन-शुद्धि।
चढ़े तुम्हारे चरण पर मेरी विद्या बुद्धि॥
सरस्वती—सरस्वती माता करो पशुता का संहार।
मानवतामय बन सके यह मानव आकार॥

२—मनुष्य और पशु में ज्ञान की विशेषता से अन्तर का वर्णन।

(विवेक ही मनुष्य की विशेषता है और विवेक विद्या से पैदा होता है।)

३—वास्तविक विद्या का रूप (जो जीवन में धर्म अर्थ काम मोक्ष का समन्वय कराये वही सच्ची विद्या है)

४—विद्या का सदुपयोग (सदाचारी, जन-सेवक, सभ्य बनना और अपनी शक्ति को स्व-पर-कल्याणकारी कार्यों में लगाने की कला सीखना)

५—बच्चे के द्वारा लिखाने का अभ्यास।

६—बच्चा लिखा हुआ अक्षर दिखाकर गुरु-जनों को प्रणाम करे।

७—सब लोग इच्छानुसार शुभाशीर्वाद दें।

८—आये हुए लोगों का किसी विशेष प्रकार से सत्कार करना हो तो किया जाय।

५ जीविकारम्भ– का उत्सव उस दिन मनाना चाहिये जिस दिन युवक जीविका के विशेष काम में नियुक्त किया जाय। सत्य अहिंसा और लक्ष्मी की प्रार्थना के साथ अर्थ के विषय में कुछ पद पढ़े जायँ। और इसी विषय में किसी योग्य समझदार और ऐसे व्यक्ति के मुँह से, जिसने आर्थिक दृष्टि से भी जीवन सफल बनाया हो, कुछ उपदेश सुना जाय। संक्षेप में विधि करने के लिये प्रार्थना आदि के कुछ पद यहां दिये जाते हैं—

सत्य– सत्येश्वर करके कृपा दो सुबुद्धि का सार।
लक्ष्मी पाकर भी रहे कार्याकार्य विचार॥
अहिंसा– देवि अहिंसे भगवती, दो मुझको वह शक्ति।
लक्ष्मी पाकर भी रहे संयम में अनुरक्ति॥
अर्थोपार्जन के लिये चढूं नीति की राह।
ध्यान तुम्हारा हो सदा भले बनूं मैं शाह॥
लक्ष्मी– लक्ष्मी मां दो, कर कृपा, अन्न वस्त्र भंडार।
अर्थ-स्वावलम्बी रहूं बने न जीवन भार।
खाना पीना बैठना अर्थ सभी का मूल।
ये न रहें, तब तक रहें काम मोक्ष अनुकूल॥
काम मोक्ष प्रतिकूल जब तब दुखमय संसार।
फिर जीवन हो किसलिये वसुंधरा का भार॥
किसी रूप में क्यों न हो हमें चाहिये अर्थ।
गृही रहें या मुनि रहें अर्थ नहीं है व्यर्थ॥
मित भी अर्थ न हो अगर तो हो अमित अनर्थ।
अर्थ बिना जीवन नहीं अर्थ बिना सब व्यर्थ॥
तुम्हीं अर्थ की मूल हो तुम हीं प्राणाधार।
तुम्हीं अर्थ की देवता करो कृपा-विस्तार॥

इसके बाद कोई विशेष व्यक्ति निम्नलिखित आशय का वक्तव्य दे—

हरएक व्यक्ति को जीवन-निर्वाह के लिये कुछ न कुछ उपयोगी काम अवश्य करना चाहिये। पुरुष हो या स्त्री, साधु हो या गृहस्थ—हरएक को कुछ न कुछ ऐसी सेवा करना पड़ती है जिसके बदले में वह भोजन वस्त्र आदि के लेने का अधिकारी बनता है। बाल्यावस्था की असमर्थता की बात दूसरी है, किन्तु बाल्यावस्था बीतने पर किसी भी आदमी को अपने जीवन-निर्वाह का बोझ किसी पर न डालना चाहिये। बल्कि इतना परिश्रम करना चाहिये जिससे वह वृद्ध गुरुजनों का पालन-पोषण करके कुछ उऋण हो सके। बाल्यावस्था के समाप्त होने पर भी माता-पिता आदि की कमाई खाना, उधार लेकर खाना या भीख माँगकर खाना किसी व्यक्ति को शोभा नहीं देता। आज इस बात की खुशी है कि यह भाई (या बाई) जीविका के क्षेत्र में स्वावलम्बी बनकर अपना कर्तव्य पूरा कर रहा है (या रही है)। यहां इतना कहना ज़रूरी है कि हरएक आदमी को नीति से धन कमाना चाहिये, क्योंकि धन हमारे जीवन का ध्येय नहीं, सिर्फ़ साधन है। हम धन के लिये नहीं हैं, धन हमारे लिये है। इसलिये हमें 'जियें और जीने दें' 'सुखी रहें और सुखी बनायें' की नीति के अनुसार धन कमाना है। धन कमाकर न तो इतने अपव्ययी या विलासी बनना है कि कल हमें ऋण लेकर, भीख मांगकर या बेईमानी करके पेट भरना पड़े, और न इतने कंजूस बनना है कि धन-संग्रह हमारे लिये पाप बन जाय, हम उसे खाने के बदले वह हमें ही खाने लगे। आशा है आज जिस जीविका का उत्सव मनाया जा रहा है—वह निर्दोष जीविका होगी।

इसके बाद जिसका जीविकारम्भ उत्सव हो वह निम्नलिखित प्रतिज्ञाएँ करे—

१– मैं ईमानदारी से जीविका का कार्य करूंगा।

२– मैं अपव्यय न करूंगा।

३– मैं कंजूस न बनूंगा।

४– गुरुजनों का पालन-पोषण विनय-पूर्वक करूंगा।

५– उचित कारण के बिना, अपनी जीविका के कार्य का बोझ दूसरों पर न डालूंगा।

इसके बाद सब लोग आशीर्वाद आदि दें। आगन्तुकों को जीविका के अनुसार भेंट भी दी जा सकती है। पर इस कार्य में अपव्यय न हो। अधिक से अधिक इस भेंट में सात दिन की आमदनी से अधिक खर्च न किया जाय।

पुरुष और नारी दोनों का जीविकारम्भ उत्सव मनाया जाना चाहिये। नारी का कार्य-क्षेत्र अगर घर ही हो तो भी यह उत्सव मनाया जा सकता है। जिस दिन वह माता के गृह-कार्य का बोझ अपने सिर पर ले उस दिन यह उत्सव मनाया जा सकता है, अथवा विवाह के बाद ससुराल जाने पर और अतिथिसत्कार के रूप में कुछ दिन निकल जाने पर जब वह गृह-कार्य की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले तब यह उत्सव मनाया जा सकता है।

गृह-कार्य को लेकर ही जब नारी का जीविकारम्भ-उत्सव मनाया जाय तब इस विषय का विवेचन होना चाहिये कि गृह-कार्य भी किस तरह जीविका का कार्य है। इस प्रसङ्ग के लिये उपयोगी थोड़ा-सा वक्तव्य यहां भी दिया जाता है—

'नारी हो या नर, सभी को जीविका के लिये कुछ न कुछ कार्य करना ही चाहिये। समाज रचना के प्रारम्भ में यह जरूरीसा मालूम हुआ कि जीविका के कार्य नर और नारी में बांट दिये जायँ। घर के काम नारी के हाथ में रहें और बाहर के काम पुरुष के हाथ में। आर्थिक दृष्टि से गृह-कार्य भी वैसा ही महत्त्व-पूर्ण है जैसा बाहर का। जो नारी गृह-कार्य का बोझ सम्हालने लगती है वह जीविका के क्षेत्र में प्रवेश करती है। आज यह बाई जीविका के क्षेत्र में प्रवेश कर रही है। आशा है यह अपनी जिम्मेदारी को पूरी तरह निभायगी।'

६ समाज-दीक्षा—रिवाज के अनुसार प्रायः सभी मनुष्य अपनी वंश परम्परा से आये हुए समाज का सदस्य मान लिया जाता है। यह स्वाभाविक है कि जिस समाज में मनुष्य का पालन-पोषण होता है उसी समाज के संस्कार उसके ऊपर पड़े और वह उन्हीं को मानने लगे। पर अधिकांश में होता यह है कि मनुष्य अपने सामाजिक उत्तरदायित्व को समझता भी नहीं है, और उस समाज का सदस्य कहलाता रहता है। करोड़ों मनुष्य नहीं समझते कि हिन्दू धर्म, इसलाम या ईसाई धर्म क्या है ? पर अपने को हिन्दू, मुसलमान, या ईसाई मानते हैं। ज्ञाति नाम के समाजों से उत्तरदायित्व का और भी कम सम्बन्ध रहता है। फिर भी कोई भी विशेषता न होने पर भी लोग ज्ञाति के अभिमान में चूर रहते हैं। इससे न जाने कितने निरर्थक भेद-भाव पैदा हो जाते हैं या बने रहते हैं। इसलिये यह जरूरी है कि जन्म से ही किसी को किसी समाज का सदस्य न माना जाय वह समझदार होने पर समझ के साथ किसी समाज की सदस्यता स्वीकार करे।

इस प्रकार की दीक्षा का एक परिणाम यह होगा कि वह सामाजिक जिम्मेदारी को समझेगा,

दूसरा यह कि वह सम्भवतः विविध समाजों के विषय में विचार करेगा, कदाचित् तुलना भी करेगा—इस प्रयत्न में बहुत सम्भव है कि एक समाज का सदस्य रहने पर भी वह दूसरे समाजों से द्वेष करना बन्द कर दे।

यह भी प्रश्न है कि इस प्रकार के समाज-भेद दुनिया में रहें या न रहें ? अगर इनके बिना काम चल जाय तो अच्छा ही है। व्यवहार के लिये अपना मित्र-मण्डल हरएक कुटुम्ब अपनी परिस्थिति के अनुसार बना ले। पर जब तक किसी देश का बहुभाग इन सामाजिकताओं को तोड़ नहीं देता तब तक व्यक्तियों को एक तरह की पूरी कठिनाई है, और उनके तोड़ने के लिये एक संगठित प्रयत्न करना ही पड़ता है। इस संगठन का नाम भी समाज हो सकता है। खैर, यह ज़रूरी है कि जो लोग जन्म से ही रूढ़ि-वश बिना समझे ही अपने को किसी समाज को मान लेते हैं—वे एक बार उसे यथाशक्य विचारपूर्वक स्वीकार करें। इसी दृष्टि से यहां सत्यसमाज की दीक्षा की विधि दे दी जाती है।

चाहे कोई सत्यसमाजी कुटुम्ब में जन्म लेने के कारण सत्यसमाज की दीक्षा ले रहा हो, चाहे दूसरे समाज से सत्यसमाज में प्रवेश कर रहा हो दोनों का दीक्षोत्सव प्रायः एक सरीखा होगा।

१– दीक्षा जहां तक हो सर्वधर्म-समभावी धर्मालय में हो तो अच्छा। नहीं तो चित्र आदि के द्वारा धर्मालय का वातावरण बना लेना चाहिये। दीक्षा के समय कम से कम पांच व्यक्ति उपस्थित होना चाहिये।

२– प्रारम्भ में सर्वधर्म-समभाव सर्वजाति-समभाव आदि की सूचक प्रार्थनाएँ हों।

३– दीक्षार्थी निम्नलिखित प्रतिज्ञाएँ करे—

(१) मैं सब धर्मों, देवों, धर्मस्थानों आदि में आदरभाव रक्खूंगा। कभी समालोचना की जरूरत होगी तो निःपक्षता से करूंगा, पक्षपातवश दोषों पर ही नजर न रक्खूंगा।

(२) मुझे किसी खास सम्प्रदाय के शब्दों मंत्रों या पूजा-विधियों में कोई मोह या पक्षपात नहीं होगा। आवश्यकता और रुचि के अनुसार उनमें से किसी भी विधि का उपयोग करूंगा।

हां, समभाव वर्धक विधियों को खास महत्त्व दूंगा।

(३) मैं मनुष्य-मात्र को एक जाति का मानूंगा।

क—खानपान में भोजन की शुद्धि अशुद्धि, रुचि अरुचि, अनुकूलता प्रतिकूलता और स्वच्छता आदि का विचार करूंगा, जाति-पांति का नहीं।

ख—विवाह सम्बन्ध में सदाचार, कुलशील, अर्थोपार्जन, सह्य-जीविका, भोजन-रुचि, प्रेम, सहविचार, शिक्षण, स्वास्थ्य, सुन्दरता, शरीर परिमाण और रंग, समवयस्कता आदि का तो विचार करूंगा, पर इनकी अनुकूलता होने पर जाति-पांति का विचार न करूंगा।

(४) सुव्यवस्था स्वतन्त्रता और विकास का यथाशक्य समन्वय करते हुए समाजसुधार के सब कार्यों का समर्थन करूंगा और यथाशक्य जीवन में उतारूंगा।

(५) जिस किसी रीति-रिवाज के पालन करने में सत्यसमाज के उद्देश्य और नियमों का विरोध होगा उस रीति-रिवाज का समर्थन न करूंगा और उसके पालन करने का अवसर आ जाय तो पालन न करने की पूरी कोशिश करूंगा।

(६) मैं यथाशक्य मनुष्यमात्र के प्रति अधिक

से अधिक ईमानदार रहने की पूरी कोशिश करूंगा, और सत्यसमाज के मामले में तो और भी अधिक ईमानदारी का ख़याल रक्खूंगा।

(७) मैं अपने को जाति से मनुष्य और मज़हब से सत्यधर्मी या समभावी मानूंगा, परन्तु अगर कहीं जाति या मज़हब का विशेष परिचय देना होगा तो अपने को सत्यसमाजी कहूंगा।

(८) प्रति वर्ष समाज-हित के लिये भेंट या धर्मपूजा देता रहूंगा।

(९) समाज के बनाये हुए नियमों का मैं कानून की तरह सन्मान करूंगा।

(१०) आज से मैं अपने को या अपने कुटुम्ब को समाज का अंग मानूंगा और तदनुसार अपनी जिम्मेदारी पूरी करूंगा।

(११) सत्यसमाज के बनाये हुए दायभाग विधान के अनुसार अपनी कौटुम्बिक श्रेणी के अनुकूल ही सम्पत्ति के बटवारे के नियम मानूंगा।

(१२) आज मैं कौटुम्बिक श्रेणी के अनुसार अमुक .... कुटुम्बी हूं। और मेरे कुटुम्बी इस श्रेणी से सहमत हैं। मैं एक-दाम्पत्य प्रथा को ही उचित और आदर्श मानता हूं।

विशेष सूचना—

कौटुम्बिक श्रेणियाँ पांच हैं! १. अदाम्पत्य-कुटुम्ब (केवल पुरुष या स्त्री), २. एक-दाम्पत्य कुटुम्ब, ३. भिन्न-दाम्पत्य कुटुम्ब, ४. अपितृक कुटुम्ब, ५. वेश्या कुटुम्ब। इनमें से अदाम्पत्य और एक-दाम्पत्य कुटुम्बी ही ठीक हैं और सत्यसमाज उन्हीं का समर्थन करता है। अन्य तीन तरह के कुटुम्बों को किसी खास परिस्थिति के अनुसार ही क्षन्तव्य मानता है; क्योंकि सत्यसमाज संसार के सभी समाजों को संगठित करने वाला और उन्हें अपनाकर कल्याण के मार्ग में आगे बढ़ाने वाला समाज है। इसलिये इसमें अपितृक कुटुम्बों और वेश्या कुटुम्बों को भी जगह मिल सकती है। हां, उन्हें एक-दाम्पत्य-कुटुम्बी बनाने की कोशिश अवश्य की जाती है। भिन्न-दाम्पत्य कुटुम्ब सिर्फ़ निम्नलिखित परिस्थितियों में क्षन्तव्य कहा जा सकता है।

क— समाज में आने के पहिले ही भिन्न-दाम्पत्य कुटुम्ब रहा हो।

ख— एक स्त्री के रहते भी दूसरी स्त्री से सम्बन्ध हो गया हो और गर्भ रह गया हो। ऐसी हालत में पहिली पत्नी की सम्मति अगर मिल सके तो गर्भवती दूसरी पत्नी से शादी की जा सकती है। हां, इस कारण से पहिली पत्नी चाहे तो पति को तलाक दे सकती है और जब चाहे दे सकती है। वह न दे तो उसकी खुशी। पति उसे विवश नहीं कर सकता। पहिली पत्नी जब द्वितीय विवाह के कारण पति को तलाक देगी तब वह अपना स्त्री-धन ले जायगी साथ ही कुटुम्ब की आमदनी में जो उसका हिस्सा है वह भी ले जायगी और पुनर्विवाह के खर्च के रूप में कुछ हर्जाना भी लेगी।

ग— पहिले जो तलाक के कारण बताये गये हैं उनमें से किसी कारण से पति 'पत्नी को' तलाक देना चाहता हो और वह कारण उचित हो, पर पत्नी तलाक लेने को राजी न होकर पति को दूसरा विवाह करने की अनुमति देती हो और इसी से पति ने दूसरी शादी कर ली हो, और दूसरी पत्नी ने सारी हालत जानकर भी शादी की हो।

ये तीनों बातें बहुपत्नीक-भिन्न-दाम्पत्य के समान बहुपतिक-भिन्न-दाम्पत्य के बारे में भी कही जा सकती हैं। हालाँ कि इसका रिवाज बहुत ही कम स्थानों में है।

भिन्न-दाम्पत्य में दायभाग के नियम ऐसे ही रहेंगे जैसे कि एक-दाम्पत्य में कहे गये हैं। अन्तर इतना ही होगा कि एक पत्नी के समान दूसरी पत्नी को भी हिस्सा मिलेगा। स्त्री-धन तो अपने अपने गर्भ की सन्तान में बटेगा, पर पैतृक धन दोनों पत्नियों की सन्तान को एक सन्तान मानकर बटेगा। पति पत्नी की आमदनी की बचत जो दो हिस्से में बटती थी—वह तीन हिस्सों में बटेगी।

भिन्न-दाम्पत्य बुरी चीज है, उसे रोकने की काफी कोशिश करना चाहिये। पर जब वह किसी विवशता के कारण हो ही जाय या उसकी अनिवार्य परिस्थिति आ जाय तब भिन्न-दाम्पत्य के कारण न तो कोई समाज से अलग किया जाना चाहिये—न समाज में दीक्षित होने से इनकार करना चाहिये।

इस प्रकार प्रतिज्ञाएँ करने के बाद समाज की तरफ़ से कोई व्यक्ति नये सदस्य के स्वागत में कुछ कहे। निम्नलिखित बातों पर विस्तृत विवेचन करे तो ठीक है, नहीं तो साधारणतः ये वाक्य ही पढ़ दे—

१— हम आपका स्वागत करते हैं।

२— हम हर तरह के सामाजिक सहयोग देने में और लेने में यथाशक्य कौटुम्बिकता का परिचय देंगे।

३— आशा है, आपके सहयोग से हमारी संघशक्ति बढ़ेगी, जिससे हमें मनुष्यमात्र में एकता और न्याय-नीति का प्रसार करने में मदद मिले।

इसके बाद कुछ पुरानी रूढ़ियों के त्याग की प्रतिज्ञा ली जाय। जैसे—पर्दा हटाना आदि, या समाज सुधार सम्बन्धी और भी कोई आवश्यक प्रतिज्ञा हो तो वह ली जाय। अगर आवश्यक सभी समाज-सुधार पहिले से ही हों तो इस प्रतिज्ञा की जरूरत नहीं है।

इस समय नाम और गोत्र भी बदला जा सकता है। पर यह परिवर्तन तभी करना चाहिये जब नाम गोत्र न बदलने से लोगों में पुरानेपन का भ्रम बना रहे। खासकर जो लोग दूसरे समाजों से आते हैं और उन समाजों की सदस्यता से अलहदगी दिखाना जरूरी होता है तभी नाम और गोत्र या सरनेम बदलना चाहिये।

इसके बाद प्रसाद वितरण आदि का कार्यक्रम रक्खा जा सकता है।

७ **श्रेणी-दीक्षा**—आचार-काण्ड के कल्याण पथ अध्याय में जीवन-विकास की बारह श्रेणियाँ बताई गई हैं। किस श्रेणी की दीक्षा लेना या न लेना, या लेना तो किसके समक्ष लेना—यह भी वहीं बता दिया गया है, इसलिये उसी के अनुसार कार्य करना चाहिये। यहां तो दीक्षा-विधि की निम्नलिखित बातें बता दी जातीं हैं—

(क) प्रार्थना।

(ख) दीक्षार्थी के द्वारा जितनी श्रेणियाँ ली जायँ—उनका विवेचन।

(ग) किस प्रकार उसके मन में दीक्षा लेने के विचार हुए—इसका वर्णन।

(घ) दीक्षार्थी के ऊपर आई हुई जिम्मेदारी का भान कराया जाना।

(ङ) उपस्थित लोगों के द्वारा साधुवाद।

इसके बाद धार्मिक प्रवचन किया जा सकता है।

८ **मरण**— मरण का संस्कार एक महत्व-पूर्ण संस्कार है और बहुत लम्बा है। यों तो मृत्यु-भय को जीतने का अभ्यास पहिले से ही करना चाहिये और दुनिया की भलाई के लिये

या भलाई करते करते मरने की इच्छा और उमंग रखना चाहिये, पर मरण के अवसर पर अपने मन को स्थिर रखना काफ़ी कठिन काम है—इसलिये कुटुम्बी मित्र आदि का कर्तव्य है कि वे इस संस्कार का कार्य बड़ी होश्यारी से करें। इस समय मरनेवाले की और उसके कुटुम्बियों की काफ़ी परीक्षा है।

मरण-संस्कार के चार अंश हैं। (१) पूर्व-कर्म, (२) दाह-कर्म, (३) शुद्धि-कर्म और (४) व्यवस्था-कर्म।

(१) **पूर्व-कर्म** में मरने से पहिले मरने-वाले व्यक्ति को सान्त्वना दी जाती है। यह काम मरनेवाले व्यक्ति की योग्यता के अनुसार ही किया जा सकता है। मरने-वाला व्यक्ति अगर खुद ही महान हो विवेकी हो, तब तो उसके आदर्श के अनुसार ही जो कुछ पढ़ने सुनाने को वह कहे—वही करना चाहिये। ऐसा व्यक्ति तो खुद ही दूसरे को समझाता रहेगा। पर अगर उसके मन में कोई व्याकुलता हो या और भी कोई ऐसा व्यक्ति मर रहा हो—जिसे समाधि देने की जरूरत हो तो निम्नलिखित कार्यक्रम में से जो जो उचित हो वह करना चाहिये।

(क) उसकी अगर ऐसी इच्छा हो जो पूरी की जा सकती हो और अनुचित भी न हो तो वह पूरी करना। जैसे—किसी से मिलना-जुलना हो किसी को कुछ देना-लेना हो या किसी प्रकार का प्रबन्ध कर जाना हो, आदि।

(ख) अगर कोई इच्छा पूरी न हो पाई हो या न हो सकती हो तो उसके लिये समझाना कि 'भाई (या बाई) दुनिया का काम तो किसी न किसी तरह चलता ही आया है और चलता ही रहेगा। तुमसे जो हो सकता था किया, अब तुम चिन्ता छोड़ो। जिस दिन तुम पैदा हुये थे उस दिन तुम रोते थे और दुनिया हँसती थी गाती-बजाती थी। अब जाते समय तुम निश्चिन्तता से हँसो दुनिया को रोने दो' आदि। अगर कुछ खाने-पीने की लालसा हो और वह पूरी न हो सकती हो तो कहना चाहिये कि 'जिन्दगी भर खाने-पीने पर भी जब लालसाएँ तृप्त न हुईं तो अब क्या तृप्त होंगी। जिन्दगी अगर लालसाओं की गुलामी में बीती तो इस समय तो लालसा को गुलाम बनाना चाहिये' आदि।

(ग) अगर किसी से कोई वैर-विरोध हो तो उसे दूर करने के लिये कहना या समझाना चाहिये।

(घ) उसके शोक को दूर करने के लिये क्षणिकत्व-भावना, नाव्य-भावना आदि के प्रकरण पढ़ना चाहिये, या प्रसङ्गानुकूल शब्दों में कहना चाहिये।

(ङ) जितना गुणानुवाद करना सत्य के विरुद्ध न हो उतना गुणानुवाद करना चाहिये। जिससे मरनेवाले का चित्त प्रसन्न और सन्तुष्ट हो सके।

(च) ऐसे गीत या भजन गाना चाहिये जो प्रसङ्ग के अनुकूल और मरनेवाले के मन को शान्ति देने वाले हों। ये गीत दो तरह के होते हैं। एक तो विदा लेने के गीत, दूसरे विदा देने के गीत। विदा लेने के गीतों में मरनेवाले के भावों का चित्रण किया जाता है और विदा देने के गीतों में उसके सम्बन्धियों के भाव चित्रित किये जाते हैं। दोनों तरह के गीतों से दोनों पक्षों को शान्ति मिलना चाहिये। गीत गाने में यह भी देखना चाहिये कि कौन-सा गीत मरनेवाले व्यक्ति और उसके सम्बन्धियों के

लायक है ? विचारपूर्वक गीतों का चुनाव करना चाहिये। यहां कुछ गीत दिये जाते हैं। इनमें भी थोड़ा-बहुत चुनाव ज़रूरी है।

अंतिम विदा लेने के गीत—

गीत १

(किसी बीमार की मृत्यु के अवसर पर)

अब हम जाते हैं घर हो गया पुराना।
जीर्ण हुईं दीवारें इसकी जीर्ण हुआ है छप्पर।
फर्श हुआ है ऊबड़-खाबड़, फैल गये हैं खप्पर॥
निशदिन सुनते हैं मच्छर का भन्नाना।
अब हम जाते हैं घर हो गया पुराना॥१॥
वात-पित्त-कफ की ऋतुओं में रहा नहीं अब रक्षण।
होती है बेचैनी सबमें निशदिन होता तक्षण॥
अब तो जल्दी ही घर है नया बनाना।
अब हम जाते हैं घर हो गया पुराना॥२॥
गया पुराना नया मिलेगा फिर क्यों रोना धोना ?
चिन्ताओं का बोझ घटा है, पैर पसारे सोना॥
पहिले बदला था, आज बदलने जाना।
अब हम जाते हैं घर हो गया पुराना॥३॥
क्षमा करो हे पास-पड़ौसी भूलो 'मेरी तेरी'।
सबकी भूलें भूल रहा मैं, सब जन भूलो मेरी॥
मन को शुद्ध करो, छोड़ो रोना-गाना।
अब हम जाते हैं घर हो गया पुराना॥४॥

गीत २

(किसी भी मृत्यु के अवसर पर)

बिदा दो सभी खिलाड़ी आज।
खेल हुआ मेरा अब पूरा, चलूं समेटूं साज।
बिदा दो सभी खिलाड़ी आज॥
भला-बुरा जो किया कहा हो वह सब कर दो माफ।
खेल खेल की बातें हैं ये, मन रक्खो सब साफ॥
खेल है अपना सकल समाज।
बिदा दो सभी खिलाड़ी आज॥
है अनन्त यह खेल, आज का हुआ मगर निःशेष।
कल फिर मैं आऊंगा, कोई लिये दूसरा वेष।
नया-सा साज नया-सा राज।
बिदा दो सभी खिलाड़ी आज॥

गीत ३

(बीमारी से मृत्यु होने के अवसर पर)

मेरा कपड़ा हुआ पुराना।
इसका टूटा ताना बाना।
जोड़ जोड़कर बहुत चलाया जोड़ी चिन्दी चिन्दी।
पर गलकर बेकाम हुआ यह बिन्दी बिन्दी बिन्दी।
अब तो नया वस्त्र है लाना।
मेरा कपड़ा हुआ पुराना॥
मोह छोड़ता हूं चिथड़े का, फेंक चला धरती पर।
मुझे नई पोशाक मिलेगी—क्यों रोऊं आंसू भर ?
छोड़ूं रोना छेड़ूं गाना।
मेरा कपड़ा हुआ पुराना॥

गीत ४

(किसी भी मृत्यु के अवसर पर। पर जब कुछ उलहना या पश्चात्ताप का भाव प्रगट करना उचित हो।)

टेशन ये मेरी आ गई है राम राम लो।
गई गुजरी सभी भूल जाओ अब सलाम लो॥
थोड़ी-सी जगह के लिये थी कैसी लड़ाई।
रहना तो घड़ी भर था मगर कैसी चढ़ाई॥
क्षण भर के लिये मारते थे कैसी बड़ाई।
थी 'तू तू' 'मैं मैं' गालियों से दुनिया सड़ाई॥
अब तो सभी मैं छोड़ चला लो तमाम लो।
टेशन ये मेरी आ गई है राम राम लो॥
गाड़ी तो चली जाती है कोई आये या जाये।
कोई प्रेम दिखाये कि कोई आंख दिखाये।
क्षणभर को बैठने के लिये धूम मचाये।
रहता है सब यहां का यहीं, साथ क्या जाये ?
मद मोह सभी है वृथा, ईश्वर का नाम लो।
टेशन ये मेरी आ गई है राम राम लो॥

अंतिम विदा देने के गीत—

गीत १

(किसी की कैसी भी मृत्यु के अवसर पर)

रुक न सको तो जाओ।
इस घर की अब चिन्ता छोड़ो, ईश्वर में मन लाओ।
रुक न सको तो जाओ।
यद्यपि हमको है यह असह वियोग।
सता रहा है हमें मोह का रोग॥
पर तुम इस पर ध्यान न दो कुछ अपनी राह बनाओ।
रुक न सको तो जाओ॥
गूँज उठेगा जब जब अन्तर्नाद,
आ जायेगी तभी तुम्हारी याद।
पर हम अपनी भुगतेंगे, तुम अपना गाना गाओ।
रुक न सको तो जाओ॥
तुमको दिखती है आगे की राह।
देखो उस ही तरफ, न खींचो आह॥
सत्यलोक में सत्य अहिंसा के शुभ दर्शन पाओ।
रुक न सको तो जाओ॥

गीत २

(पत्नी की मृत्यु-शय्या पर पति की तरफ़ से। क्रियापदों का लिंग परिवर्तन करने से—'गा' की जगह 'गी' या 'गी' की जगह 'गे' बनाने से पति की मृत्यु-शय्या पर पत्नी की तरफ़ से भी काम में लिया जा सकता है।)

जुदाई हो रही है पर न अंतिम ये जुदाई है।
मिलेंगे स्वर्ग में दोनों जहां मिटती जुदाई है॥१॥
तुम्हारा है, समय पूरा, हमारा पर अधूरा है।
दिनों की बात ही तो है कि होती फिर सगाई है॥२॥
चलो तुम राह में आगे, बना लो स्वर्ग में कुटिया।
मैं जल्दी आके देखूंगा कहां कुटिया बनाई है॥३॥
तुम्हारा बोझ जो कुछ था न उसकी अब करो चिन्ता।
तुम्हारी जिम्मेदारी अब मेरे कन्धों पै आई है॥४॥
खुशी से स्वर्ग में जाओ मगर दिल में रहोगी तुम।
शरीरों की जुदाई है दिलों की क्या जुदाई है॥५॥

गीत ३

(विशेष गुरुजन की मृत्यु-शय्या पर)

दे जाओ अब मन की छाया।
हटती है जब तन की छाया।
आशीर्वाद तुम्हारा पाकर।
वचन तुम्हारे मन में लाकर॥
राह चलेंगे ऐसी ही हम तुम न कहोगे 'नाम डुबाया'।
दे जाओ अब मन की छाया॥
तुमने काम किया सब पूरा,
फिर भी जो कुछ रहा अधूरा।
होगा पूर्ण बढ़ेगा निशदिन जो कुछ हमने तुमसे पाया।
दे जाओ अब मन की छाया॥
आशीर्वाद दीजिये हमको,
दूर हटायें फैल तम को।
निशदिन जलाकरे अब घर में तुमने है जो दीप जलाया
दे जाओ अब मन की छाया॥

गीत ४

(सन्तान या सन्तानोपम की मृत्यु-शय्या पर)

तुम जाते हो तो जाओ! अपने सच्चे घर जाओ।
हमको तुम भले रुलाओ। पर अपना काम बनाओ॥
क्या स्वर्ग-लोक से आये थे?
क्या शाप साथ में लाये थे?
क्या शाप तुम्हारा पूर्ण हुआ?
जिससे यह जीवन चूर्ण हुआ।
तुम अपना भार हटाओ।
तुम जाते हो तो जाओ॥२॥
जो कुछ बाकी था ऋण हम पर।
जो चुका न सकते जीवन भर।
वह तुमने आज उघाया है।
इससे वियोग दिखलाया है।
ऋण-मुक्त हमें करवाओ।
तुम जाते हो तो जाओ॥३॥

हमसे कोई था पाप हुआ,
जिसका फल अपने आप हुआ।
तुम तो निमित्त बनकर आये।
सन्देश विधाता का लाये।
अब प्रति-सन्देश सुनाओ!
तुम जाते हो तो जाओ ॥४॥

इस प्रकार प्रसङ्ग के अनुसार और भी बहुत से गीत गाये जा सकते हैं, पद्य या गद्य पाठ पढ़े जा सकते हैं। इसी ढंग की बातचीत की जा सकती है या उपदेश सुनाया जा सकता है। मरनेवाले व्यक्ति को शान्ति और निश्चिन्तता मिले इसकी यथाशक्य और यथायोग्य कोशिश होना चाहिये।

२ शरीर-कर्म—मरण-संस्कार में दूसरा कर्म है शरीर-कर्म। इसके अनेक रूप हैं, जिन में दो प्रसिद्ध हैं—जलाना और गाड़ना। अपने अपने रिवाज़ के गीत गाने के लिये एक को सर्वथा बुरा, दूसरे को सर्वथा अच्छा कहना ठीक नहीं। दोनों में कुछ न कुछ अच्छाई है। साथ ही परिस्थिति की दृष्टि से भी इस पर विचार करना चाहिये। जहां रोटी पकाने के लिये भी ईंधन दुर्लभ हो वहां मुर्दा जलाने के लिये ईंधन जलाना ठीक नहीं कहा जा सकता। जहां ईंधन काफी हो वहां मुर्दा गाड़कर बहुत समय के लिये जगह घेरना ठीक नहीं मालूम होता। जिन्दों को जगह न मिले और मुर्दे जगह घेर कर बैठ जायँ यह ठीक नहीं। इस विषय में निम्नलिखित सूचनाएँ विशेष उपयोगी है—

१— स्वच्छता और कम जगह घेरने की दृष्टि से गाड़ने की अपेक्षा जलाना अच्छा।

२—जहां ईंधन दुर्लभ हो और जगह-जमीन की कमी न हो वहां गाड़ना ही अच्छा। जैसे-रेगिस्तान आदि में।

३— कोई स्मरणीय महान् व्यक्ति के शरीर को जलाने की अपेक्षा गाड़ना ही अच्छा, क्यों कि जले हुए शरीर की राख की अपेक्षा गड़े हुए शरीर में स्मारकता और भावनाओं को जगाने की शक्ति अधिक है।

४— शरीर गिद्धों को खाने के लिये डाल देना या रख देना, अथवा नदी आदि में बहा देना ठीक नहीं—इससे गन्दगी फैलती है और भावना को धक्का भी लगता है। कारण-वश अपवाद रूप में कोई घटना हो जाय तो बात दूसरी है।

५— जहां गाड़ने और जलाने दोनों की समान सुविधा हो, वहां विशेष स्मरणीय व्यक्तियों को छोड़कर बाकी के शरीरों को जला डालना ही ठीक होगा। फिर भी ऐसी हालत में इच्छानुसार करने की स्वतन्त्रता रहना चाहिये।

६— देशकाल को देखकर शरीर-संस्कार करना चाहिये, साम्प्रदायिकता या रूढ़ि के कारण किसी खास रिवाज का हठ न करना चाहिये।

७— रिवाज के पालन की ओट में जातीय अहंकार, या जातीय विशेषाधिकार का पोषण न करना चाहिये।

८— अगर जलाने गाड़ने के रिवाज जातीय या साम्प्रदायिक अहंकार या मोह के अंग बन गये हों और देश की सुविधा-असुविधा का ख़याल न रह गया हो तो इन रिवाजों को भंग करने के लिये अपनी परम्परा के रिवाज के विरुद्ध भी करना चाहिये। हाँ, सबकी सुविधा और उपयोगिता का ख़याल पहिले करना चाहिये।

खैर! मुर्दा चाहे गाड़ो—चाहे जलाओ, दोनों में से जो कुछ करना हो विचारपूर्वक करो।

और उसकी विदा देने में निम्नलिखित बातों का विचार करो।

१—जहां तक बने मुर्दे को गन्दी हालत में न ले जाओ। किसी साफ कपड़े से ढक दो और उसके चेहरे वगैरह को भी साफ कर दो।

मुर्दे को स्नान कराने की जरूरत नहीं है। हां, सफाई की दृष्टि से जितना अंग सरलता से धोया जा सके धोना चाहिये। धोना जरूरी नहीं है।

अगर कोई संक्रामक बीमारी लगने का डर हो तो मुर्दे के रिवाज के पालन के लिये जिन्दे आदमियों को संकट में न डालना चाहिये। विना सफाई या कम से कम सफाई से काम चल सकता है।

२—मुँह किस तरफ को किया जाय आदि नियम न बनाना चाहिये। सभी दिशाओं में ईश्वर देवता और महात्माओं का निवास है। अपनी सुविधा का ख़याल रक्खो।

३—सन्मान के लिये अर्थी को कन्धे पर ले जाना ठीक है, पर यह काम तभी उचित कहा जा सकता है जब ले जानेवाले आदमी बहुत बड़ी संख्या में हों—जिससे ले जानेवालों को बोझ ढोने का विशेष कष्ट न हो, अथवा तब भी यह उचित कहा जा सकता है कि अर्थी को ढोने का कोई दूसरा इन्तजाम न हो, अन्यथा किसी गाड़ी पर रखकर ले जाना ही ठीक है। गाड़ी को आदमी ले जा सकें तो ठीक है नहीं तो जानवरों का भी उपयोग किया जा सकता है। गाड़ी पर अर्थी ले जाने से लोग आराम से जा सकते हैं। उनकी भावनाएँ बोझ ढोने की चिन्ताओं से नहीं, किन्तु उस व्यक्ति के जीवन के या जीवन-मरण के विचार से भरी रह सकती हैं। समयोपयोगी भजनों का भी अच्छा उपयोग हो सकता है। सन्मान के लिये गाड़ी को सजाया जा सकता है और एक काले झंडे से शोक प्रकाशन भी किया जा सकता है।

पूर्व-कर्म के प्रकरण में बताये हुए भजन इस जुलूस में भी गाये जा सकते हैं। और भी समयोपयोगी भजनों का उपयोग किया जा सकता है।

४—अर्थी के जुलूस में किसी जाति या वर्ग के व्यक्ति को शामिल होने या अर्थी को कन्धा आदि लगाने में मनाई न होना चाहिये। क्योंकि अब वह शरीर सामाजिक बन्धन तोड़ चुका है—वह अब सभी का हो गया है।

५—अर्थी के जुलूस में स्त्रियाँ भी शामिल हो सकती हैं और स्मशान भी जा सकती हैं। सुविधा की दृष्टि से जो उचित हो वही करना चाहिये।

६—स्मशान में आने पर मोहवश जिनकी भावनाएँ बहुत उद्दीप्त हो सकती हों ऐसे लोगों को स्मशान में न जाना चाहिये।

सन्तान के दाह-कर्म में पिता वगैरह भाग नहीं लेते, इसका कारण यही है। इसी कारण की दृष्टि से इसका पालन करना चाहिये। यों स्मशान में किसी को जाने की मनाई नहीं है, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, पर उसे दृढ़-हृदय होना चाहिये। और दाह-कर्म आदि में इतना उत्तेजित न होना चाहिये कि उसमें बाधा पड़े और दूसरे लोगों की परेशानी बढ़ जाय।

७—बीच में अर्थी को खोलकर देखने की ज़रूरत नहीं है। पर स्मशान में पहुँचकर एक बार अच्छी तरह निरीक्षण कर लेना चाहिये। सम्भव है उसमें प्राण मौजूद हों। इसकी जांच

करने के लिये आखों पर पानी के छींटें देना, अंगूठा वगैरह जोर से दबाना आदि क्रियाएँ कर लेना चाहिये।

८– जलाने या गाड़ने के पहिले आभूषण वगैरह उतार लेना चाहिये। हां, कोई ऐसा आभूषण हो जिसकी कीमत काफी थोड़ी हो और उसके उतारने में अंग भंग होने की सम्भावना हो तो छोड़ा जा सकता है।

९– मुर्दे के साथ सोना चांदी जलाना ठीक नहीं है।

१०– दाह-क्रिया में हरएक को सहयोग करना चाहिये। अर्थात् जलाने की एकाध लकड़ी डालना चाहिये या छूना चाहिये। भीड़ बहुत हो तो परिमित व्यक्ति यह काम कर सकते हैं। अगर मुर्दा गाड़ा गया हो तो लोग कुदाली या फावड़ा को हाथ लगाकर सहयोग का प्रदर्शन कर सकते हैं।

११– मुर्दे को आग देते समय या उसे गड्ढे में रखते समय बाकी लोगों को उसके सन्मान में खड़ा हो जाना चाहिये।

१२– इसके बाद निम्नलिखित कविताएँ पढ़ना चाहिये।

(१)

ज्वालाओं का जाल बिछा है, है पर शान्ति-निकेतन।
जलतीं हैं चिताएँ सारी, शान्त यहां है तन मन॥
अब न मित्र का मोह यहां है, है न शत्रु का भी भय।
हूं न किसीपर सदय-हृदय अब हूं न किसीपर निर्दय॥
जीवन में क्षणभर भी ऐसी नींद नहीं ले पाया।
सोता था मैं नचता था मन, माया में भरमाया॥
'इसका लेना उसका देना, यह मेरा वह तेरा'।
करता था, पर रहा न कुछ अब, लगा चिता पर डेरा॥
फूलों की शय्या पर सोया धन जोड़ा दिल तोड़ा।
भूला रहा काठ की शय्या, चार जनों का घोड़ा॥
इसे हराया उसे हराया बना रहा अभिमानी।
पर यह जीवन हार रहा था, सीधी बात न जानी॥
इसका लूटा उसका खाया, अति लालच के मारे।
लेकिन हाथ न कुछ भी आया, जाता हाथ पसारे॥
मानव का कर्तव्य भुलाया योंही दिवस बिताये।
बहती थी गंगा पर मैंने हाथ नहीं धो पाये॥
खेला भद्दा खेल, खेल का मज़ा न कुछ भी आया।
सूत्रधार यमराज अचानक आया खेल मिटाया॥
चला, साथ पर चला न कुछभी साथ न था कुछ लाया।
उस मिट्टी में ही जाता हूं, जिस मिट्टी से आया॥

(२)

जीवन का कौन ठिकाना।
जो अपना कर्तव्य, उसी पर न्यौछावर होजाना।
जीवन का कौन ठिकाना॥ १॥
बनो आलसी तो जाना है, कर्म करो तो जाना।
फिर क्यों स्वार्थी और आलसी बनकर मृतक कहाना।
जीवन का कौन ठिकाना॥ २॥
यौवन पाया धन जन पाया, सभी वृथा है पाना।
अगर नहीं दुनिया के हित में, अपना हित पहचाना॥
जीवन का कौन ठिकाना॥ ३॥
क्या लाये थे क्या ले जाना, खाली आना जाना।
यहीं रहा सब यहीं रहेगा, क्यों फिर मोह लगाना॥
जीवन का कौन ठिकाना॥ ४॥
आवेगा जब काल तभी यह, सब कुछ है छिनजाना।
क्यों न जगत के सेवक बनकर, त्यागवीर कहलाना॥
जीवन का कौन ठिकाना॥ ५॥
अभिमानी बन गजपर बैठो, सीखो ज़ोर जताना॥
याद रहे पर एक दिवस है, मिट्टी में मिल जाना॥
जीवन का कौन ठिकाना॥ ६॥
खेलो खेल खिलाड़ी बनकर, छोड़ो वैर भँजाना।
अपना अपना खेल खेलकर हँसकर छोड़ो बाना॥
जीवन का कौन ठिकाना॥ ७॥

१३-- स्मशान से लौटकर कुछ लोग कम से कम दो व्यक्ति मृत-व्यक्ति-के सम्बन्धियों को घर तक पहुँचा जायँ।

१४-- जिन लोगों ने मुर्दे को हाथ लगाया है--वे स्नान कर ले।

जहां बहुत अधिक ठंड पड़ती है-वहां ठंडे मौसम में स्नान करने की ज़रूरत नहीं है सिर्फ़ हाथ वगैरह धो लेना चाहिये। प्रश्न सफ़ाई का है रिवाज के पालन का नहीं।

३ शुद्धि-कर्म--(१) जिस घर में कोई व्यक्ति मरा हो उस घर को, वहां के कपड़ों को अच्छी तरह साफ करना चाहिये।

(२) सफ़ाई के लिये मिट्टी के वर्तन फोड़ कर फेंकने की ज़रूरत नहीं है। रोग के कीटाणुओं से बचने के लिये जिसका फेंकना या जलाना ज़रूरी है--उसे ही नष्ट करना चाहिये।

(३) सफ़ाई जितनी जल्दी हो सके उतना ही अच्छा। साधारणतः सफ़ाई एक दिन के भीतर हो जाना चाहिये।

(४) कहीं कहीं सूतक के नाम से कुछ दिनों तक जो अस्पृश्यता मानी जाती है--वह ठीक नहीं है। सूतक न तो जन्म के समय मानना चाहिये--न मरण के समय।

(५) मृत-व्यक्ति के जो कुटुम्बी दूसरे घरों में या दूसरे गांव में रहते हैं उन्हें सूतक के नाम से किसी तरह का शुद्धि-कर्म न करना चाहिये। हां, शोक-प्रदर्शन के लिये अगर बहुत ज़रूरी मालूम हो तो काला झंडा लगा सकते हैं।

(६) सफ़ाई के हो जाने पर धर्मस्थानों में जाकर धार्मिक क्रियाओं के करने की मनाई नहीं है। एकान्त में धार्मिक क्रियाएँ तो कभी भी की जा सकती हैं। बल्कि चित्त की शान्ति के लिये धार्मिक क्रियाओं का विशेष रूप में करना ज़रूरी भी है।

(७) शुद्धि-कर्म के नाम पर तेरई नुक्ता ब्रह्मभोज आदि न करना चाहिये। इसका शुद्धि-कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। यह किसी जमाने की सामाजिक अर्थ-व्यवस्था की दृष्टि से था, पर अब वह व्यर्थ है। अब तो आज के लिये उपयोगी कुछ दान करना चाहिये।

(८) मृत-व्यक्ति के नाम पर लड्डू मिठाई आदि खाना एक तरह से उसका अपमान करना है, क्योंकि इस तरह के भोजों से उसकी मौत को एक आनन्द की घटना का रूप दिया जाता है।

(९) सहानुभूति के लिये लोग आयें--यह उचित है, पर भोजन का कार्यक्रम न हो तो न आवें--यह एक तरह की तुच्छता और असामाजिकता है। सहानुभूति का यहां कौड़ीभर भी मूल्य नहीं है। हां, बाहर गांव से आनेवाले मेहमान मेहमान के रूप में भोजन करें तो कोई हर्ज नहीं है। हां, उन्हें बहुत सादा भोजन करना चाहिये।

(१०) इस बात का सभी को ख़याल रखना चाहिये कि मृत-व्यक्ति के कुटुम्बियों पर मेहमान-गिरी के कारण ऐसा आर्थिक बोझ न पड़ जाय जिसे वे सहन न कर सकते हों।

(११) मन-शुद्धि के लिये प्रतिदिन भावोत्पादक विशेष प्रार्थनाओं की योजना होना चाहिये।

४ व्यवस्था-कर्म (१) किसी व्यक्ति के मरने से कुटुम्ब में जो अव्यवस्था हो जाती है उसे ठीक करने के लिये व्यवस्था-कर्म करना आवश्यक है।

(२) नाबालिग सन्तान के मरने पर व्यवस्था-

कर्म की ज़रूरत नहीं होती। हां, एकमात्र सन्तान हो, और आगे सन्तान होने की आशा न हो तो उसके मरने पर गोद लेने की ज़रूरत हो सकती है, पर उसका कोई निश्चित समय नहीं है जब इच्छा हो और सुपात्र मिल जाये तभी करना चाहिये।

(३) घर का चालक अगर मर जाय तो दसवें दिन दूसरा चालक नियत या घोषित करना चाहिये। यह आवश्यक नहीं है कि चालक पुरुष ही हो, पुरुष या स्त्री कोई भी हो सकता है। चालक में इतने गुण देख लेना चाहिये —

[क] जिसका दूसरों पर दबाव पड़ सके।

[ख] जो आर्थिक-सूत्र सम्हाल सके।

[ग] जो घर की तरफ से सभा पंचायत में प्रतिनिधित्व कर सके।

साधारणत: विधवा माता को चालक बनाना चाहिये। अगर वह किसी कारण से पंचायत में जाना पसन्द न करे तो बड़े पुत्र को अपने प्रतिनिधि के रूप में पंचायत में नामजद कर सकती है। अगर पुत्र-वधू विशेष योग्य हो तो उसे भी नामजद कर सकती है। पर घर का नाम उसी से चलेगा। हां, अगर वह भीतर-बाहर की व्यवस्था करने में बिलकुल अयोग्य हो तो पुत्र या पुत्र-वधू को चालक बनाया जा सकता है। मतलब यह कि इस मामले में स्त्री-पुरुष का भेद न करना चाहिये। घरवाले मिलकर चालक बना लें। अगर घरवाले तटस्थ रहें तो पंचायत के लोग या मित्र रिश्तेदार आदि यह काम करें।

(४) अगर उपचालक मर जाय तो चालक की सलाह से उपचालक बना लेना चाहिये। जैसे पिता चालक हो और माता उपचालक हो तो माता के मरने पर बड़ी बहू या और किसी को उपचालक बना लेना चाहिये।

(५) अगर विवाहित पुत्र मर जाय तो विधवा पुत्र-वधू के बारे में निम्नलिखित नीति से काम लेना चाहिये।

[क] अगर वह सन्तान-हीन है—तरुणी है, तो चार माह के बाद उसके विवाह की कोशिश होना चाहिये और उसी तरह कोशिश होना चाहिये जिस तरह पुत्री के लिये करते हैं। उसका विवाह होने पर उसके साथ वैसा ही सम्बन्ध रखना चाहिये जैसा विवाहित पुत्री के साथ रखते हैं।

[ख] अगर वह तरुणी है और गर्भवती है तो सन्तान होने के एक माह बाद तक विवाह न करना चाहिये। इसके बाद उसके विवाह की योजना करना चाहिये। और उसे भी पुत्री की तरह मानना चाहिये।

[ग] अगर पुत्र-वधू सन्तानवाली हो तो विवाह के विषय में उसका इरादा जानकर उसके अनुसार कोशिश करना चाहिये। विवाह हो जाने पर अगर वह नाबालिग सन्तान को अपने साथ ले जाना चाहे तो खुशी से ले जाय। अगर न ले जाना चाहे तो घरवालों को रख लेना चाहिये। हां, तीन वर्ष से कम उम्र की सन्तान को रखना न रखना घरवालों की इच्छा की बात है। शिशु के पालन का सुभीता उनके यहां न हो तो, वे नहीं भी रख सकते हैं। पर किसी भी हालत में मां से उसकी सन्तान छीन नहीं सकते।

[घ] अगर पुत्र-वधू वयस्क हो और उसकी सन्तान भी बालिग या बालिग होने के करीब हो तो उसके पुनर्विवाह की कोशिश घरवाले

न करें। हां, किसी कारण अगर उसे विवाह करना ज़रूरी ही मालूम हो और इस कार्य में वह घरवालों की मदद मांगे तो यथाशक्य मदद देना चाहिये। पर एक बार उसे पुनर्विवाह न करने की ही सलाह देना चाहिये।

[ङ] विधवा होने पर किसी स्त्री की चूड़ियाँ फोड़ना आदि काम न करना चाहिये। वह श्रृङ्गार आदि करे या न करे—यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। साधारणतः श्रृङ्गार की कोई मनाई नहीं है—न वह निन्दनीय है। उनके पास जो श्रृङ्गार के साधन आभूषण आदि हों, जो कि स्त्री-धन के रूप में उसे मिले हों-वह तो हर हालत में उसी के पास रहना चाहिये। वैधव्य से जीवन जितना नीरस हो जाता है—वह भले ही हो जाय, पर कृत्रिम रूप में जीवन को नीरस बनाना, उसके वैधव्य दुःख को और उत्तेजित करना अनुचित है।

[च] विधवा को अपशकुन का चिन्ह समझना आदि भी अनुचित है। उसे विधुर के समान ही समझना चाहिये। और वैधव्य के कारण घर में या समाज में उसके साथ कोई दुर्व्यवहार न होना चाहिये।

[छ] विवाह की योजना होने पर भी अगर वह पुनर्विवाह न करना चाहे तो इसके लिये उसके साथ जबर्दस्ती न करना चाहिये।

[ज] बटवारे के नियमों में बताये गये नियमों के अनुसार उसका आर्थिक अधिकार उसके हाथ में दे देना चाहिये और यथासाध्य जल्दी—तीन महीने के भीतर दे देना चाहिये।

(६) अगर पुत्रवधू मर जाय, अर्थात् पुत्र विधुर हो जाय तो उसकी सलाह से उसके विवाह आदि का कार्य करना चाहिये। पर विधुर होने के एक माह तक विवाह आदि न करना चाहिये।

(७) अगर घर में व्यवस्था-कर्म करनेवाला कोई जिम्मेदार व्यक्ति न हो तो रिश्तेदार, मित्र-जन, पड़ौसी आदि यह कर्म करें। हां, वे किसी तरह की जबर्दस्ती न करें—न स्वार्थसाधन की दृष्टि से घर की सम्पत्ति का उपयोग करें।

सहज-सुकुटुम्ब के सम्बन्ध में बहुत कुछ कह दिया गया है। इस प्रकरण की बहुत-सी बातें अन्य प्रकरणों के लिये भी उपयोगी हैं और इस प्रकरण के लिये उपयोगी बहुत-सी बातें अन्य प्रकरणों में कही जायँगी। सहज-सुकुटुम्ब ही वास्तव में कुटुम्ब का मुख्य रूप है। इसी की कुछ अंशों में समानता रखने से कुटुम्बों के अन्य भेद कुटुम्ब कहे गये हैं। उनका विवेचन कुछ संक्षेप में यहां कर दिया जाता है।

२—सुहृत्सुकुटुम्ब

मित्रों के सुकुटुम्ब को सुहृत्सुकुटुम्ब कहते हैं। इस प्रकार के सुहृत्सुकुटुम्ब में प्रायः दाम्पत्य को जगह नहीं होती। दाम्पत्य को जगह हो तो वह सहज-सुकुटुम्ब बन जायगा। हां, दो दम्पति आपस में सहज-सुकुटुम्बी बन सकते हैं, पर ऐसा सुकुटुम्ब प्रायः स्थायी नहीं हो पाता। साथ ही यह अनावश्यक भी है। हां! यह हो सकता है कि किसी एक दम्पति के साथ कोई एक भाई या बाई सुकुटुम्बी बनकर रहने लगे, यह ठीक है।

यद्यपि इस प्रकार के सुकुटुम्बों का रिवाज नहीं है, फिर भी इनकी उपयोगिता है। अकेले व्यक्ति के जीवन में कभी कभी ऐसे प्रसङ्ग आते हैं जब न तो वह शादी कर सकता है, न किसी को गोद ले सकता है अर्थात् उसको इन सम्बन्धों के योग्य व्यक्ति नहीं मिलते या इस तरफ़ उसकी रुचि नहीं होती और अकेले रहना

भी उसके लिये कठिन जाता है-ऐसी अवस्था में सुहृत्सुकुटुम्ब बनाना उपयोगी होता है। हां, सुपात्र मिले तभी यह हो सकता है।

विवाह की तरह सुहृत्सुकुटुम्ब की प्रथा समाज-मान्य नहीं है, पर इसे समाज-मान्य करना चाहिये। जिससे मरण के बाद उत्तराधिकारित्व के मामले में झगड़ा न रहे। जैसे—विवाह के द्वारा पति-पत्नी की कौटुम्बिकता इतनी घनिष्ट हो जाती है कि अन्य सहज-कुटुम्बी की अपेक्षा उनका अधिकार बढ़ जाता है, उसी प्रकार सुहृत्सु-कुटुम्ब में भी होना चाहिये। और इसकी भी कुछ विधि होना चाहिये, अथवा अगर यह प्रमाणित हो जाय कि ये मरने के पहिले कम से कम एक वर्ष से सुहृत्सुकुटुम्बी बनकर रहे थे तो सहज-उपकुटुम्बी लोगों की अपेक्षा इनका रिश्ता निकट का माना जाय, इसलिये उत्तराधिकारित्व का अधिकार इनका पहिले रहे। सुहृत्सुकुटुम्बी बनने में निम्नलिखित विचार करना चाहिये।

१— दोनों में या सब में अगाध प्रेम हो।

२—अर्थोपार्जन का समन्वय ऐसा कर लिया जाय कि पीछे से आर्थिक मामलों में खींचातानी होने की सम्भावना न रहे।

३— एक दूसरे की सेवा करने की क्षमता और रुचि देख ली जाय।

४— अपनी अपनी सम्पत्ति में मेरे तेरे का भाव नष्ट हो गया हो, अथवा यह भी हो सकता है कि आमदनी और खर्च में मेरे तेरे का भाव नष्ट हो गया हो, पर कुछ सम्पत्ति सबने या दोनों ने अपने अपने नाम से कुछ समय के लिये या जीवन भर के लिये सुरक्षित रख ली हो। जो कुछ हो सुकुटुम्ब बनाते समय यह सब तय हो जाना चाहिये।

५— कम से कम दो गवाहों के सामने सुहृत्सुकुटुम्ब की स्थापना करना चाहिये। उसकी विधि इस प्रकार है।

पहिले भगवान सत्य भगवती अहिंसा और प्रेम की प्रार्थना करना चाहिये। संक्षिप्त प्रार्थनाएँ यहां दी जातीं हैं—

सत्य— सत्येश्वर भगवान तुम मिलित सच्चिदानंद।
करो द्वैत अद्वैतमय, हो सहयोग अमन्द॥
अहिंसा-- मात अहिंसा भगवती दो ऐसा वरदान।
चलें प्रीति की रीति हम करें प्रेम-गुण गान॥
प्रेम-- प्रेम ! हमारे मन बसो, दो ऐसा सहयोग।
चिन्ताओं का ज्वर हटे रहे न मन में रोग॥
चौका चूल्हा एक हो एक बने घर द्वार।
सखा सखा मिलकर रहें एक बने परिवार॥
(स्त्रियों के पक्ष में—सखी-सखी मिलकर रहें।
" या—बहिन-बहिन मिलकर रहें।
स्त्री-पुरुष के पक्ष में—सखा-सखी मिलकर रहें।
" या भाइ-बहिन मिलकर रहें।)
धन-दौलत सब एक हो भेद भाव हो दूर।
बस अमापविनिमय रहे चिन्ताएँ हों चूर॥
एक दूसरे के बनें सेवक साथी आज।
हृदय-हृदय मिल एक हों रहे तुम्हारा राज॥

प्रार्थना के बाद सुहृत्कुटुम्बी बननेवाले व्यक्ति निम्नलिखित प्रतिज्ञाएँ करें।

(१) हम दोनों आज से अपने को एक घर का समझेंगे। हम दोनों की सम्पत्ति और आमदनी हम दोनों की मिली हुई सम्पत्ति कह-लायगी।

अथवा

हम दोनों आज से अपने को एक घर का समझेंगे। हमने अमुक सम्पत्ति तो अपने व्यक्ति-गत अधिकार में रख ली है, पर बाकी सम्पत्ति और आमदनी हम दोनों की मिली हुई सम्पत्ति कह-

लायगी।

[सूचना-- अधिक व्यक्ति हों तो दोनों की जगह तीनों आदि कहना चाहिये। साथ ही पूरा नाम लेना चाहिये।]

(२) हम एक दूसरे की तन-मन से पूरी तरह सेवा करेंगे। एक का सुख-दुःख हम सबका सुख-दुःख होगा।

(३) हममें से जिसकी मृत्यु पहिले हो जायगी उसके हिस्से की जायदाद बाकी बचे हुए सुहृत्सुकुटुम्बियों की होगी। पुराने रिश्तेदारों का उस पर कोई अधिकार न होगा।

इन प्रतिज्ञाओं के बाद अगर उनमें कोई विशेष समझौता या शर्त हो तो वह लिखकर पढ़ना चाहिये। अगर इसके पहिले किसी पर किसी दूसरे का ऋण हो तो उसके चुकाने का खुलासा हो जाना चाहिये।

६—अगर कुछ समय बाद वह कौटुम्बिकता न निभे तो दोनों कौटुम्बिकता को तोड़ सकते हैं। पर इसके लिये भी दो गवाह बुलाना चाहिये। सम्पत्तिका बटवारा कर लेना चाहिये। जहां तक हो सके मूल सम्पत्ति सब की अपने अपने पास जाना चाहिये। अगर कुछ आमदनी हुई हो तो उसके बराबर हिस्से हो जाना चाहिये।

मनुष्य एक कौटुम्बिक और सामाजिक प्राणी है, इसलिये उसे कुटुम्ब की हर समय ज़रूरत है। इसीलिये लोग संतान को गोद लेते हैं बुढ़ापे तक में शादियाँ करते हैं। इतने पर भी लोगों को सन्तोष नहीं होता। एक समवयस्क साथी की जरूरत मालूम होती है। कभी कभी सिर्फ एक निकट साथी की जरूरत मालूम होती है पर विवाह की ज़रूरत नहीं मालूम होती। किसी किसी जगह एक वृद्ध किसी वृद्धा से शादी कर लेता है-इस विवाह का प्रयोजन एक साथी ढूँढ़ना ही होता है, सन्तानोत्पादन आदि नहीं। फिर भी बुढ़ापे का विवाह एक मजाक-सा मालूम होता है, इसलिये लज्जा के मारे लोग साथी नहीं ढूँढ़ पाते। बिना विवाह के अगर कोई साथी ढूँढ़ लेता है और दोनों एक कुटुम्बी बनकर रहने लगते हैं, तो भी समाज की दृष्टि में उनके कौटुम्बिक अधिकार नहीं माने जाते। एक के मरने पर उसके रिश्तेदार सम्पत्ति ले जाते हैं। इन सब अड़चनों से बचने के लिये सुहृत्सुकुटुम्ब नाम से एक समाज-मान्य प्रथा आवश्यक है जिसका विधान यहां दिया गया है।

६—साधक सुकुटुम्ब—

जनहित या आध्यात्मिक विकास की किसी साधना में लग जाने वाले व्यक्ति साधक कहलाते हैं। ये विनिमय के आधार पर अपनी जीविका नहीं करते, ये अमापविनिमय के आधार पर निर्वाह करते हैं। और जनसेवा का या आध्यात्मिक विकास का जो ध्येय इनने बना लिया होता है उसी को केन्द्र बनाकर इनकी सारी जीवनचर्या घूमा करती है।

कोई कोई साधक अकेले भी रहते हैं उन्हें साधक कुटुम्ब बनाने की ज़रूरत नहीं होती, पर जब साधक की सेवा का क्षेत्र विशाल हो जाता है वह एक संस्था का रूप धारण कर लेता है तब एक साधक कुटुम्ब बन जाता है।

जो साधक है वह व्यक्तिगत स्वार्थ की मुख्यता की दृष्टि से अर्थोपार्जन न करेगा न उसकी मालिकी अपने पास रक्खेगा फिर भी आर्थिक दृष्टि से उसके सहयोग की सीमा अनेक तरह की हो सकती है इस दृष्टि से वह सुकुटुम्बी कुटुम्बकी या उपकुटुम्बी कहला सकता है।

सुकुटुम्बी अपनी सारी शक्ति अपने संघ के साधना कार्य में लगा देगा। उसकी सेवा से अगर कुछ आमदनी होगी तो वह संघ की समझी जायगी। कुटुम्ब के नियमानुसार वह अपने लिये खर्च करेगा, और कोशिश करेगा कि खर्च कम से कम हो और सेवा अधिक से अधिक हो।

हां ! यह हो सकता है कि साधक-कुटुम्ब में शामिल होने के पहिले उसके पास कुछ सम्पत्ति रही हो और उसने इसलिये अपने अधिकार में रक्खी हो कि वह कुटुम्ब की अनुमति के बिना भी उसे इच्छानुसार शुभ कार्यों में खर्च कर सके अथवा कभी उसे अपने ही लिये कुछ विशेष खर्च करना पड़े तो किसी से मांगना न पड़े, तो उस पूर्वसम्पत्ति की बात दूसरी है पर साधककुटुम्ब में शामिल होने के बाद उसकी कोई अलग आमदनी नहीं रह जाती। भिक्षा में या भेंट में या पारिश्रमिक के रूप में जो कुछ उसे मिलता है वह सब कुटुम्ब का समझा जाता है और कुटुम्ब के नियमानुसार ही उसका बटवारा होता है। जो कुछ उपकरण वगैरह उसके पास रहते हैं वे सब सिर्फ उपयोग के लिये रहते हैं उनका वह मालिक नहीं होता। उसकी मालिकी सिर्फ नियमानुसार उपयोग करने की ही होती है। हां, इस विषय में एक दूसरे के अधिकार की अवहेलना न करना चाहिये।

सभी सुकुटुम्बी एक दूसरे की योग्यतानुसार सेवा करें और उस सेवा का सम्बन्ध पैसे के देन लेन से न हो।

साधकों को भी कुटुम्ब की जरूरत होती है जिससे वे बीमारी आदि में एक दूसरे की सेवा कर सकें, साधना में एक दूसरे की सहायता कर सकें, आये हुए संकट में एक को दूसरे का बल मिल सके।

साधक कुटुम्ब अनेक तरह के होते हैं और उनके रूप के अनुसार उनके सदस्य भी अनेक तरह के होते हैं। यहां धर्म-साधक कुटुम्बों की दृष्टिसे साधक-कुटुम्बों के सदस्यों के ग्यारह भेद किये जाते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि सभी तरह के साधक कुटुम्बों में ये ग्यारह तरह के सदस्य होना ही चाहिये। सिर्फ दो भेदों से भी कुटुम्ब बन सकता है इतना ही नहीं सिर्फ दो साधकों से भी कुटुम्ब बन सकता है। खैर यहां साधक कुटुम्बों के सदस्यों के ग्यारह भेद बतादिये जाते हैं।

१ गुरुदेव, २ गुरुराज, ३ सामानिक, ४–गुरु, ५–उपाध्याय, ६–प्रसाधक, ७–साधक, ८–उपसाधक, ९–प्रसहयोगी, १०–सहयोगी, ११–उपसहयोगी।

पिछले तीन भेद साधक सुकुटुम्ब में नहीं उपकुटुम्ब में गिने जाते हैं। पर साधक कुटुम्ब का ठीक ठीक परिचय देने के लिये प्रकरण के खयाल से यहीं उनका उल्लेख किया जाता है।

१-गुरुदेव–जो साधना के मार्ग का मूल प्रवर्तक है जिसने अपनी असाधारण प्रतिभा तपस्या और अनुभव से साधना का मार्ग ढूंढ निकाला है, जो साधना के मार्ग में एक तरह से स्वतः प्रमाण है, जिसके व्यक्तित्व के कारण साधक-मंडल एकत्रित हुआ है वह गुरुदेव है।

बुद्ध, महावीर कन्फ्यूसियस, ईसा, जरथुस्त, मुहम्मद, कपिल, जैमिनि, कणाद, गौतम, बृहस्पति, सुकरात, नानक, कबीर, कार्लमार्क्स, दयानन्द, राममोहनराय, रामकृष्ण, गांधी, रवीन्द्र जगदीश बोस, धन्वन्तरि, आदि पुराने और आधुनिक महापुरुष अपने अपने क्षेत्र के गुरुदेव हैं। धर्म

विज्ञान दर्शन और विविध कलाओं के क्षेत्रों के विविध गुरुदेव होते हैं । हां, यह बात अवश्य है कि मानव समाज की जीवन-सम्बन्धी समस्याओं को हल करने वाले गुरुदेव, गुरुदेव रूप में विशेष रूप से माने जाते हैं क्योंकि लोक सुधार के साथ लोक संग्रह का काम बहुत कठिन और आवश्यक होता है । हर एक देश में गुरुदेव होते रहे हैं और आज भी हैं । बहुत से विख्यात हैं बहुत से अल्पख्यात हैं बहुत से अख्यात हैं ।

२-गुरुराज—यह गुरुदेव का योग्य उत्तराधिकारी है, गुरुदेव के द्वारा बतलाये हुए साधना मार्ग के आधार पर युगके अनुरूप साधना करता है कराता है । मौलिकता इस की गुरुदेव के बराबर नहीं है पर संचालन आदि का अधिकार करीब करीब गुरुदेव के बराबर है एक तरह से वह साधक कुटुम्ब का अधिकारी हैं । हां, उसका अधिकार गुरुदेव बराबर अनियन्त्रित नहीं हैं ।

३-सामानिक— जो व्यक्तित्व या सन्मान आदि में गुरुदेव या गुरुराज के बराबर हैं वे सामानिक हैं । जैसे गुरुदेव के अनेक शिष्य हों जो योग्यता में करीब करीब बराबर हों पर गुरुदेव के बाद उन में कोई एक गुरुराज बनाया जाये तो बाकी उसके योग्य साथी उसके सामानिक कहलायेंगे । गुरुराज का स्थान अगर पिता के समान होगा तो सामानिकों का स्थान चाचा के समान होगा । गुरुराज और सामानिक का पारस्परिक व्यवहार कैसा हो यह बात सामानिक की योग्यता पूर्व-सम्बन्ध आदि से निश्चित होगी । एक सुकुटुम्ब में अनेक सामानिक हो सकते हैं । गुरुदेव के मित्र या आदरणीय व्यक्ति यदि किसी कारण कुटुम्ब में शामिल हों तो वे भी सामानिक कहलायेंगे ।

४ गुरु— जिसने किसी साधक को साधकता की दीक्षा दी हो या जो उसे साधना के मार्ग में चला रहा हो प्रेरित कर रहा हो वह गुरु है । एक कुटुम्ब में ऐसे अनेक गुरु होते हैं । पर सुकुटुम्ब में इनकी संख्या जितनी थोड़ी हो उतना ही अच्छा है क्योंकि इससे पुत्र-मोह की तरह शिष्य-मोह बढ़ने लगता है और साधक की शक्ति इस तरफ बर्बाद होने लगती है । परिस्थिति देखकर इस पर नियन्त्रण करना चाहिये ।

प्रश्न— गुरुदेव गुरुराज गुरु आदि की आज कल दुनिया को जरूरत है ? गुरुडम या गुरुवाद ने अन्धविश्वास आदि को इतना बढ़ाया है कि गुरुओं को मिटा ही देना चाहिये ।

उत्तर— गुरुडम या गुरुवाद तो मिट सकता है और मिटाना भी चाहिये, पर गुरुदेव गुरुराज गुरु आदि नहीं मिट सकते न मिटाना चाहिये । हां, यह हो सकता है कि इन शब्दों का प्रयोग न करके दूसरे शब्दों का प्रयोग किया जाय पर जिस अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग किया गया है उस अर्थ की आवश्यकता है । न केवल धार्मिक क्षेत्र में, किन्तु राजनैतिक, आर्थिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक तथा विविध कलाओं के क्षेत्र में गुरुदेव गुरुराज और गुरु होते हैं । लोगों को इनकी जरूरत है । हां, धार्मिक क्षेत्र में गुरुवाद का दुरुपयोग हुआ है इसलिये गुरुवाद या गुरुडम से बचना चाहिये उससे बचने के लिये कुछ सूचनाएं यहां दी जाती हैं ।

क— हरएक को गुरु की आवश्यकता है ही, ऐसा नियम न समझना चाहिये । जो बिना गुरु के सत्य में आगे बढ़ सकता है वह खुशी से बढ़े । निगुरा (निर्गुरु) होने से उसकी

महत्ता कम नहीं होती ।

ख– गुरु की आवश्यकता है इसलिये जिस चाहे को गुरु न बना लेना चाहिये । योग्य गुरु मिले तो ठीक, नहीं तो बिना गुरु के रहना ही अच्छा । अनाड़ी चिकित्सक की अपेक्षा बिना चिकित्सा के रहना या अपने आप चिकित्सा करना ही अच्छा ।

ग– किसी वेष या पद के कारण किसी को गुरु न बनाना चाहिये ।

घ– गुरु स्वार्थ के लिये ठग तो नहीं रहा है इस बात की जांच करते रहना चाहिये ।

ङ– सच्चा ज्ञान, सदाचार, और परोपकार वृत्ति देखने के बाद ही किसी को गुरु बनाना चाहिये । इन बातों में जो अपने से बड़ा हो उसे ही गुरु बनाना चाहिये ।

च– गुरु परलोक का ठेकेदार नहीं है उसका काम तुम्हें सत्पथ दिखाना है । स्वयं उसका जीवन ही सत्पथ-दर्शक है ।

छ– जन्म से ही कोई गुरुत्व का अधिकारी नहीं होता ।

ज– गुरु की मुख्य शक्ति अधिकार नहीं आध्यात्मिक विकास है ।

झ– उपवास, अनेक कठिन आसन, ठंडी गर्मी के विविध कष्ट, तथा और भी इसी तरह की बाहरी तपस्याएँ देखकर किसी को गुरु न मानना चाहिये ।

ञ– जादू सरीखे चमत्कार देखकर किसी को गुरु न मानना चाहिये ।

ट– संगीत, लच्छेदार वक्तृत्व आदि देखकर ही किसी को गुरु न बना लेना चाहिये ।

ठ– गुरु बना लेने पर भी अपनी सदसद्विवेक-बुद्धि से जितना काम लिया जा सके लेना चाहिये ।

ड– तुम्हारी बुद्धि ठीक काम न दे रही हो, और गुरु को अनेक परीक्षणों में तुमने अपनी अपेक्षा ठीक पाया हो तब तुम्हें झुकना चाहिये ।

इन बातों का विचार किया जाय तो गुरुडम या गुरुवाद का प्रवेश नहीं हो पाता । इन बातों का विचार करने के बाद भी जिनको सद्गुरु मिल जाता है वे भाग्यशाली हैं । समाज सहयोग और उत्तराधिकारित्व पर टिका हुआ है । जो अपने से आगे हैं उनके अनुभव से लाभ उठाना कोई दुर्भाग्य नहीं है । जैसे माता पिता का होना कोई दुर्भाग्य या दीनता की बात नहीं है उसी प्रकार गुरु का होना भी कोई दुर्भाग्य या दीनता की बात नहीं है । हां, कुगुरु से, गुरुवाद या गुरुडम से अवश्य बचना चाहिये । दृष्टिकांड में गुरु-मूढ़ता के प्रकरण में जो कुछ कहा गया है उसपर भी ध्यान रखना चाहिये ।

५ उपाध्याय– साधना के विषय में जो शिक्षण देता है वह उपाध्याय है । गुरुदेव गुरुराज या गुरु में सिर्फ ज्ञान की योग्यता नहीं देखी जाती उनमें आध्यात्मिक विकास भी देखा जाता है संयम आदि भी देखा जाता है । उपाध्याय में ज्ञान की योग्यता मुख्यता से देखी जाती है । इसका यह मतलब नहीं है कि सदाचार आदि का बिलकुल खयाल नहीं किया जाता, थोड़ा बहुत खयाल तो रखना ही पड़ता है और रखना ही चाहिये, पर उससे सीखने की चीज ज्ञान है । उपाध्याय की अपेक्षा गुरु अधिक निकट और अधिक उपयोगी है । हां, यह हो सकता है कि एक ही व्यक्ति गुरु भी हो और उपाध्याय भी हो । यह तो सोने में सुगंध है ।

६ **प्रसाधक**– गुरु उपाध्याय आदि न होने पर भी जो साधना के मार्ग में काफी आगे बढ़ा हुआ है अर्थात् विशेष साधक है उसे प्रसाधक कहते हैं।

७ **साधक**– साधना के कार्य में लगा हुआ व्यक्ति साधक कहलाता है।

८ **उपसाधक**– जो साधना के कार्य में प्रत्यक्ष रूप में नहीं लगा है–साधक आदि के कार्यों में सहयोग देता है। जैसे–युद्ध में सिपाही के लिये भोजन-सामग्री या शस्त्र-सामग्री तैयार करने-वाले या पहुँचाने-वाले लोग उपसाधक हैं। इनकी उपयोगिता कम नहीं है, पर इनका कार्य साधना में परम्परा सहायक है–इसलिये ये उपसाधक कहलाते हैं।

उपसाधना के लिये उपसाधक वर्ग अलग होना ही चाहिये–ऐसी बात नहीं है। साधना का कार्य जब विशाल हो और कुटुम्ब भी विशाल हो तब उपसाधक वर्ग अलग बनाया जा सकता है, अन्यथा साधकों को ही उपसाधना का कार्य कर लेना चाहिये। साधक जब उपसाधना का भी काम करने में संकोच नहीं करता तब उसकी साधुता बढ़ जाती है।

उपसाधक को भी चाहिये कि वह साधना के कार्य में उपेक्षा न करे। योग्यता और अवसर के अनुसार उसे भी थोड़ा-बहुत साधक बनना चाहिये।

९ **प्रसहयोगी**– जो साधक-सुकुटुम्ब में शामिल तो नहीं है, पर साधना में अधिक से अधिक सहयोग देता है–वह प्रसहयोगी है।

१० **सहयोगी**– साधना में प्रसहयोगी की अपेक्षा जो कम सहयोग देता है–वह सहयोगी है।

११ **उपसहयोगी**– साधना में जो सहयोगी से भी कम सहयोग देता है–वह उपसहयोगी है।

इन तीनों भेदों की ठीक सीमा नहीं बनाई जा सकती। साधना, कार्य की महत्ता, आवश्यकता आदि की अपेक्षा इनकी सीमा निर्धारित करना चाहिये।

प्रसहयोगी सहयोगी या उपसहयोगी कौटुम्बिक जीवन की दृष्टि से कुछ बाहर के व्यक्ति समझे जायँगे, पर इसका यह मतलब नहीं है कि उनकी महत्ता या उपयोगिता कम है। सम्राट् अशोक बौद्ध-संघ के प्रसहयोगी ही कहे जा सकते थे, पर उनकी उपयोगिता अनेक साधकों प्रसाधकों और उपाध्याय आदि से अधिक थी। कोई मनुष्य सुकुटुम्बी रहकर भी कम साधुता और साधकता का परिचय दे पाता है, और कोई उपकुटुम्बी रहकर भी अधिक साधुता और साधकता का परिचय दे सकता है। इसलिये सुकुटुम्बता से साधना का कोई नियत सम्बन्ध नहीं है।

सुकुटुम्बी-जीवन को परखने के लिये और उसका निर्वाह करने के लिये साधक-कुटुम्बक के प्रकरण में जो चौदह बातें बताई जायँगी–वे यहां भी ज़रूरी हैं। पर कुटुम्बक में भी उनकी ज़रूरत कम नहीं है, इसलिये उनका वहां उल्लेख किया जायगा।

इस प्रकार तीन तरह के सुकुटुम्ब बताये गये। सुकुटुम्ब में ही पूरी कौटुम्बिकता है। पर इसका रूप विशाल नहीं हो सकता, विशाल होने पर यह छिन्न-भिन्न हो जाता है। ऐसा अवसर आने पर कुटुम्ब-जन्म प्रथा के अनुसार कुटुम्बक या उपकुटुम्ब बना देना चाहिये। लड़-झगड़ कर छिन्न-भिन्न होने का अवसर न आने देना चाहिये।

४ सहज-कुटुम्बक—

सहज सुकुटुम्ब में जब हिस्साबाट हो जाता है, पर किसी कारण भोजनादि की व्यवस्था सम्मिलित रहती है तब उसे सहज-कुटुम्बक कहते हैं। अथवा जब अनेक उपकुटुम्बी अपनी जीविका आदि की व्यवस्था या मालिकी अलग अलग रखते हुए भी भोजनादि की व्यवस्था इकट्ठी कर लेते हैं तब वे भी सहज-कुटुम्बकी कहलाने लगते हैं। कुटुम्बक में इसका हिसाब नहीं देखा जाता कि किसके पीछे कितना खर्च होता है और किसके कितने आदमी भोजन करते हैं? ऐसा हिसाब रक्खा जाय तो वे उपकुटुम्बी ही कहलायँगे। कुटुम्बक में सिर्फ भोजन की साझेदारी ही नहीं है, किन्तु इससे भी कुछ अधिक गहराई है।

कुटुम्बक बनाने से आर्थिक झगड़े दूर हो जाते हैं और भोजन की सम्मिलित व्यवस्था से थोड़े खर्च और थोड़े श्रम से ही बहुत काम हो जाता है।

फिर भी कुटुम्बक बनाना सरल काम नहीं है। काम और भोजन के बारे में ऐसे झगड़े होने लगते हैं कि कौटुम्बिकता का नाश हो जाता है। निम्नलिखित बुराइयों से बचने की और उनका इन्तजाम करने की पूरी कोशिश होना चाहिये।

(१) घी शक्कर आदि कीमती पदार्थ किसको कितना मिलता है—इस पर सबकी खुली हुई या छिपी हुई नजरें रहने लगती हैं और भीतर ही भीतर या कभी कभी बाहर भी झगड़े पैदा होने लगते हैं। फल यह होता है कि अधिक पाकर भी किसी न किसी को असन्तोष बना ही रहता है। प्रेम, भक्ति, वात्सल्य, उदारता आदि कौटुम्बिकता के लिये जरूरी गुण भीतर ही भीतर खोखले हो जाते हैं।

(२) सबकी भोजन-रुचि एक-सी नहीं होती, और एक ही चौके में सब तरह की भोजन सामग्री तैयार करना कठिन होता है, इसलिये हर दिन किसी न किसी को असन्तोष बना ही रहता है। वह असन्तोष कभी कभी या तो अस्वस्थता के रूप में प्रगट होता है या अस्वस्थता के बहाने के रूप में प्रगट होता है। और इससे भी कौटुम्बिक गुणों के नाश होने की सम्भावना रहती है। अन्त में कहा-सुनी या लड़ाई-झगड़े तक नौबत आ जाती है।

(३) काम की जिम्मेदारी सम्मिलित होने से सभी कम से कम काम करना चाहते हैं और अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहते हैं। काम को लेकर प्रायः सभी को किसी न किसी तरह का असन्तोष रहता है। बीमारियों के या काम को टालने के बहाने खूब बनते हैं और इस बात को लेकर एक दूसरे की बदनामी की जाने लगती है और अन्त में लड़ाई-झगड़े तक नौबत आ जाती है।

(४) अगर कोई एक व्यक्ति जिम्मेदार या नायक नहीं होता तो कम से कम व्यवस्था और अधिक से अधिक खर्च या बर्बादी होने लगती है। अगर कोई जिम्मेदार या नायक होता है तो बाकी लोग अपने को पराधीन-सा अनुभव करने लगते हैं और गुट बनाकर नायक के प्रति विद्रोह होने लगता है। नायक पर या तो सारा बोझ पड़ जाता है—इसलिये वह परेशान हो जाता है, अथवा उसे कठोरता से काम लेना पड़ता है इसलिये बदनाम हो जाता है।

(५) मितव्ययिता की तरफ़ लोगों का कम ख़याल जाता है—इसलिये बर्बादी काफी होती है, साथ ही दोनों को शिकायत रहती है। संचा-

लक को अधिक खर्च की शिकायत और संचालितों को कंजूसी की शिकायत।

इस तरह की परेशानियों से सुकुटुम्ब और कुटुम्बक सभी नष्ट हो जाते हैं। फिर भी अगर कुटुम्बक बनाना ज़रूरी हो तो बनाना चाहिये, पर निम्नलिखित बातें देख लेना या कर लेना चाहिये—

१— एक ऐसा व्यक्ति हो जिसपर सबकी श्रद्धा हो, जिसके आदेश पर खुशी से सब लोग काम करें, जो निःपक्ष हो अथवा जिसका पक्षपात स्पष्ट हो और उसमें किसी को इतराज न हो।

२— सबमें इतना स्नेह हो कि कम ज्यादा खाने या खर्च करने पर भी दूसरों को इतराज न हो।

३— सब मितव्ययी हों और कुटुम्ब की हानि को अपनी हानि समझते हों और उससे बचने की पूरी कोशिश करते हों।

४— जिस तरह के भोजन की व्यवस्था एक चौके में हो सकती है—उसमें सभी सन्तुष्ट हों। भोजन के प्रकार बढ़ाये जा सकें तो ठीक है—नहीं बढ़ाये जा सकें तो भी सब सन्तुष्ट रह सकें।

५— घी आदि में पक्षपात न हो, हो तो वह उचित और स्पष्ट हो। अगर ये दोनों बातें सम्भव न हों तो ऐसी चीजें सबको अलग अलग दी जायें।

६— किसी में काम से जी चुराने की वृत्ति न हो। अगर थोड़ी-बहुत मात्रा में हो तो काम का उचित बटवारा कर दिया जाय। बटवारा ऐसा हो जिसमें किसी को इतराज न हो। इसके लिये काम की बारी बदली जा सकती हो तो वह भी बदलना चाहिये।

अगर ये छः बातें हों तब तो कुटुम्बक बनाना चाहिए, नहीं तो कुटुम्बक बनाना ठीक नहीं। उपकुटुम्बी बनना ही ठीक है।

कुटुम्बकी के लिये जो ये बातें कही गई हैं— वे सुकुटुम्बी के लिये भी ठीक हैं।

अगर मालूम पड़े कि कौटुम्बिकता को नाश करनेवाले दोष विषांकुर की तरह दिखाई देने लगे हैं तो उपेक्षा न करे, उन्हें तुच्छ कहकर ऊपर से हँसने की कोशिश न करे। कुटुम्ब की परिस्थिति का ख़याल रखते हुए उसपर गहराई से विचार करे। न तो क्रोध में बड़बड़ाये, न इन कारणों से किसी की निन्दा करे, न इन बातों पर उपेक्षा करे। जो मुखिया हो वह सब को इकट्ठा कर दिखनेवाले विषांकुर की बात शान्ति से कह दे। किसी पर दोषारोपण करने की कोशिश न करे—इसे मानव स्वभाव समझकर उपकुटुम्बी बनने बनाने की प्रेरणा करे। मुखिया यह काम न करना चाहे या संकोच के कारण झिझक रहा हो तो कोई दूसरा व्यक्ति भी यह बात रख सकता है। मानव स्वभाव का विचार करके प्रेम से कुटुम्ब का विभाग करे।

इस चर्चा के समय कुटुम्ब के बाहर का व्यक्ति न बुलाना चाहिये। कुटुम्बी के समान कोई श्रद्धास्पद अनुभवी व्यक्ति हो तो बात दूसरी है।

कुटुम्बियों को चाहिये कि इस चर्चा के समय पूरी शिष्टता से काम लें, पर साथ ही इतना भी ख़याल रक्खें कि ऐसी बातों को तुच्छ कहकर ऊपर से उदारता और महत्ता का ढोंग न करें। दोष निकल सकें तो निकालने की कोशिश करें—न निकल सकें तो व्यर्थ ही दबाने की कोशिश न करें; क्योंकि इससे भीतर ही भीतर

बीमारी बढ़ती है ।

५ सुहृत्कुटुम्बक—

सहज-कुटुम्बक के विषय में जो बातें कही गई हैं—वे ही सुहृत्कुटुम्बक के विषय में समझना चाहिये । उपकुटुम्बी से कुटुम्बकी बनने में अनेक सुभीते तो होते हैं, निकटता के कारण सहयोग भी बढ़ता है, पर इससे जिन बुराइयों की सम्भावना है उनसे बचने की सतर्कता रखना चाहिये । ऐसा न हो कि शरीरों के पास आ जाने से मन दूर हो जायँ ।

बात यह है कि मनुष्य शैतानियत पर एक बार विजय पा भी जाय, पर हैवानियत पर—पशुता पर—मुश्किल से विजय पा पाता है । दूर रहने से संघर्ष के अवसर नहीं आते, इसलिये पशुता—तुच्छ स्वार्थपरता—दबी रहती है पर पास आने पर पद-पद पर संघर्ष होते हैं—इसलिये वह प्रगट हो जाती है । दूर से जो बुराई दिखाई नहीं देती—पास से वह दिखाई देने लगती है, तब हम इकदम ताज्जुब में आ जाते हैं कि 'अरे ! हम इसे ऐसा तो नहीं समझते थे' प्राय: ऐसा ही विचार तुम्हारे मित्र के मन में आता है। इस प्रकार मित्रता क्षीण होने लगती है, दूरी बढ़ने लगती है । जब तुम्हें इस प्रकार बदला हुआ रुख मालूम पड़े तब जल्दी से जल्दी किसी अच्छे बहाने से कुटुम्बक तोड़ दो और इतने दूर हो जाओ कि संघर्ष के कारण न मिल सकें ।

इन तुच्छ संघर्षों के कारण अपने सुहृत् को तुच्छ न समझना । आखिर दुनिया एक बाजार है—उसमें लेन-देन का हिसाब है । दूर रहने पर लेन-देन का हिसाब काफ़ी ठीक रहता है । वह कागज पर लिखा जाय या न लिखा जाय—वह रुपयों पैसों में तौला जाय या न तौला जाय, पर वह इतना साफ रहता है कि दोनों समझ लेते हैं कि यह अपने अपने मनों पर लिखा गया है । अति निकट आने में यह हिसाब गड़बड़ हो जाता है । दोनों समझ लेते हैं कि हमारा किया-दिया अब बट्टे-खाते में जा रहा है। यही कारण है कि अलग अलग रहने पर अगर तुम किसी मित्र के यहां जाओ तो तुम्हारे सत्कार में वह सेर भर मिठाई खर्च कर देगा—दे देगा, पर अगर तुम इकट्ठे रहो और तुम्हारे हिस्से में अगर छटाक भर मिठाई चुपचाप ज्यादा चली जाय तो वह नजर में खटक जायगी । कुटुम्बक बनने पर हिसाब नहीं रहता, अलग अलग रहने पर काफी रहता है ।

कुटुम्बक बनाने के पहिले इतना खूब अच्छी तरह सोच लो कि तुम काफी धन और उपकार को बट्टे-खाते डाल सकते हो या नहीं ? साथ ही तुम दूसरे के उपकार और धन की एक पाई भी बट्टे-खाते न डालने की तैयारी में हो कि नहीं ? ऐसे अनेक अवसर आ सकते हैं जब तुम्हारे मन में ऐसे विचार आयेंगे कि "मैं तो इतना करता हूं या अपनी बड़ी-बड़ी चीजों का हिसाब नहीं रखता, पर ये तो रखते हैं"--ऐसे विचार आने पर अगर इनको तुम न पचा पाये तो कुटुम्बक बुरी तरह नष्ट हो जायगा, यहां तक कि उपकुटुम्बी जीवन के मार्ग में भी रोड़े अटक जायेंगे ।

हां, यह ठीक है कि इकतरफी उदारता या सहिष्णुता से कुटुम्बक नहीं निभ सकता । तुम कितने भी उदार रहो, पर अगर उसका ठीक उत्तर दूसरी तरफ स न मिले तो तुम्हारी उदारता भी क्षीण हो जायगी । ऐसी हालत में धीरे से कुटुम्बक तोड़ डालो, और उपकुटुम्बी बनकर सहयोग

को और गहरा बनाओ।

निकट और दूर रहने की समस्या कुछ जटिल तो है। किसी को अच्छी तरह देखने के लिये न तो बहुत दूर जाना चाहिये--न बहुत पास। पलकों के पास ले जाने से चीज ठीक नहीं दिखती और कोसों दूर रखने से भी ठीक ठीक नहीं दिखती, कुछ निकटता और कुछ दूरी जरूरी है। निकटता कितनी हो और दूरी कितनी हो--इसका विचार पात्र को देखकर ही किया जा सकता है। कुछ लोग ऐसे हैं जिनसे चिट्ठी-पत्री से ही मुहब्बत ठीक निभती है--गांव में आ जाने पर वह बात नहीं रहती। कुछ ऐसे हैं जो गांव में आ जाने पर और भी गहरे मित्र हो जाते हैं, पर पड़ौस में आने पर बात बिगड़ जाती है। कुछ लोग पड़ौस में आने पर और निकट हो जाते हैं, पर एक ही घर में रहने पर बात बिगड़ जाती है। कुछ लोग एक ही घर में रहने से कुटुम्बी बन जाते हैं, पर एक साथ भोजन आदि होने से बात बिगड़ जाती है। कौन आदमी किस स्वभाव का है, और किससे किस तरह निभेगी--यह समझना कुछ कठिन तो है, पर धीरे-धीरे सम्हल सम्हलकर निकटता बढ़ाना चाहिये और जहां धक्का लगने की सम्भावना हो-वहां तुरंत पीछे हट जाना चाहिये।

साधारणत: सम्भावना यह है कि दो मित्रों में कुटुम्बक ठीक बन सकता है। चाहे वे दो मित्र स्त्री-स्त्री हों, चाहे पुरुष-पुरुष। एक स्त्री और एक पुरुष में कुटुम्बक इससे भी गहरा बन सकता है; क्योंकि इनमें पूरकता अधिक होती है, पर ऐसा सुहृत्कुटुम्बक विवाह के जरिये प्राय: सहज-सुकुटुम्ब बन जाता है। हां, समवयस्कता न हो या और कोई कारण हो, तो बात दूसरी है। पर समवयस्कता आदि हो और फिर भी यही आशा करना कि कुटुम्बक निभ जायगा--कुछ कठिन है; क्योंकि इसमें व्यभिचार गर्भादान आदि की सम्भावना रहती है, और विवाह का इरादा न हो तो अनेक अनर्थ पैदा होते हैं।

खैर, दो व्यक्तियों का कुटुम्बक किसी तरह निभ भी जाता है, पर अनेक दम्पति मिलकर जब एक कुटुम्बक बनाते हैं तब उसका निभना कठिन होता है। सुकुटुम्ब के समान कुटुम्बक के लिये भी यह जरूरी-सा है कि सबकी मिलकर एक धारा बने। पर, जब अनेक दम्पति होते हैं तब प्रत्येक दम्पति की धारा अलग-अलग बहती है। सहज-सुकुटुम्ब या कुटुम्बक में तो माता-पिता आदि के द्वारा सब किसी तरह एक सूत्र में बँधे भी रहते हैं, पर सुहृत्कुटुम्बक के दम्पतियों में इस प्रकार एक सूत्र में बांधने-वाला कोई नहीं होता, इसलिये उसके टूटने आदि की काफी सम्भावना रहती है।

सुहृत्कुटुम्बक बनाना अच्छा है, पर इसमें काफी सतर्कता की ज़रूरत है।

६ साधक-कुटुम्बक—

सहज-कुटुम्बक में जिन दोषों की सम्भावना पहिले बताई गई है--उनकी सम्भावना साधक-कुटुम्बक में भी है बल्कि कुछ ज्यादा है; क्योंकि सहज-कुटुम्ब में जन्म या विवाह का गहरा सम्बन्ध रहता है—उतना गहरा सम्बन्ध साधक-कुटुम्ब में नहीं रहता। कोई आदमी दम्भ से साधक कहलाकर जीविका आदि की दृष्टि से भी साधक-कुटुम्बक में प्रवेश पा सकता है, और काम निकल जाने पर या दूसरा कोई प्रलोभन मिल जाने पर साधक-कुटुम्ब की निन्दा करता हुआ कुटुम्ब छोड़ सकता है।

यद्यपि ऐसे लोगों को पहिचानना कठिन

होता है और चतुर से चतुर व्यक्ति भी धोका खा सकता है। फिर भी यथाशक्ति प्रयत्न करना चाहिये और साधक-कुटुम्बक में शामिल होने-वाले में निम्नलिखित बातें देख लेना चाहिये—

१- साधक या उपसाधक बनाने की बौद्धिक और शारीरिक योग्यता।

२- साधना या उपसाधना के कार्य में रुचि।

३- ईमानदारी। चोरी आदि से निवृत्ति।

४- शील। व्यभिचार से पूर्ण निवृत्ति।

५- तन्मयता। साधक-कुटुम्ब के कार्यों में ही अधिकांश समय लगाने की दृढ़ वृत्ति।

६- अन्य-कुटुम्ब-निरपेक्षता। साधक-कुटुम्ब को ही अपना मुख्य कुटुम्ब समझना। साधक-कुटुम्ब के हितों के सामने अन्य कुटुम्बों के हितों को गौण रखना।

७- स्थिरता। साधक-कुटुम्ब में ही जीवन खपाने का दृढ़ निश्चय, या जितने समय की प्रतिज्ञा ली हो, वचन दिया हो, या आशा दी हो उतने समय तक रहने का पूर्ण निश्चय।

८- असंग्रह-शीलता। अपने लिये धन जोड़ने की लालसा न होना।

९- श्रमशीलता। आलस्य लापर्वाही आदि न होना।

१०- अनुशासन। गुरुदेव गुरुराज आदि योग्य अधिकारियों के आज्ञा-पालन की वृत्ति। आज्ञा-पालन में अपमान न समझना, या यह न सोचना कि हम तो कुटुम्बी हैं—नौकर थोड़े ही हैं जितनी इच्छा होगी उतना काम करेंगे या नम्रता दिखायँगे आदि। साधक-कुटुम्ब में नौकर आदि की अपेक्षा अधिक अनुशासन का पालन करना पड़ता है।

११- मितव्ययिता। साधक-कुटुम्ब की सम्पत्ति के खर्च करने में कम से कम खर्च करने का भाव। 'अपना क्या जाता है' इत्यादि भाव न रखना।

१२- अनिंदकता। व्यक्तिगत वैर-विरोध के कारण साधक-कुटुम्बकी या कुटुम्बियों की कुटुम्ब के बाहर निन्दा न करना। सुधार की दृष्टि से कहीं कुछ बात कहना पड़े, तो बात दूसरी है। पर निंदकता को सुधारकता का जामा पहनाकर दम्भ न करना चाहिये।

१३- नियम-पालकता। प्रत्येक साधक-कुटुम्ब के कुछ विशेष नियम या शिष्टाचार होते हैं—उसके पालन में पूर्ण सतर्क रहना।

१४- सहयोग। सुख-दुःख में एक दूसरे का पूरा साथ देना, भाईचारे का या कौटुबिकता का परिचय देना।

कौटुम्बिकता के लिये ये खास खास बातें हैं। साधक-सुकुटुम्ब के लिये तो ये जरूरी हैं ही, पर साधक-कुटुम्बक के लिये भी काफी जरूरी है, इसीलिये कुटुम्बक के प्रकरण में इनका उल्लेख किया गया है। कौटुम्बिकता को परखने के लिये, कौटुम्बिकता के निर्वाह के लिये इन बातों का खयाल रखना जरूरी है।

७ सहज-उपकुटुम्ब—

एक ही घर के व्यक्तियों के अलग अलग हो जाने पर भी जो कौटुम्बिकता बनी रहती है, अथवा विवाह शादी आदि के द्वारा भिन्न-भिन्न कुटुम्बों में जो सम्बन्ध स्थापित होता है, उससे संगठित रहने-वाले कुटुम्ब समूह को सहज-उप-कुटुम्ब कहते हैं।

यद्यपि उपकुटुम्ब में सबकी आर्थिक व्यवस्था जुदी-जुदी रहती है, लेन-देन का हिसाब भी

रहता है, फिर भी खास-खास अवसरों पर अमुक अंश में लेन-देन गौण कर देना पड़ता है, बिना बदले के ही कुछ सेवाएँ देना पड़ती हैं—यह कौटुम्बिकता की निशानी है।

अलग हुए भाई-भौजाई, भतीजे, चाचा-चाची, चचेरे भाई-बहिन; और मामा-मामी, ममेरे भाई-बहिन आदि, मौसा-मौसी, फूफा-फूफी तथा मौसेरे फुफेरे भाई-बहिन आदि, साला-साली, बहिनोई आदि सब उपकुटुम्बी हैं। जन्म विवाह आदि सुख के अवसरों पर, मौत बीमारी आदि दुःख के अवसरों पर शामिल होना, सहानुभूति प्रगट करना, धन से-शरीर से या मन से सहयोग करना कौटुम्बिकता के कार्य हैं।

उपकुटुम्बों में परस्पर सहयोग के कुछ तरीके रिवाज बन जाते हैं। जिस समय ये बनते हैं उस समय तो अवश्य ही इनकी कोई न कोई उपयोगिता होती है, पर जब परिस्थिति बदल जाती है और तब भी वही पुराना रिवाज बना रहता है तब परेशानी होने लगती है। रिवाज बोझ बन जाता है—उसके पालन में झगड़े पैदा होने लगते हैं, प्रेम की जगह द्वेष बढ़ता है। इसलिये देखना चाहिये कि रिवाज आज के लिये उपयोगी है कि नहीं? उसके पालन में दोनों पक्षों को प्रसन्नता होती है कि नहीं? अगर यह बात हो तब तो रिवाज रखना चाहिये, अन्यथा रिवाज उठा देना चाहिये।

हरएक देश, हरएक प्रान्त, हरएक जाति या उपजाति में जुदे-जुदे ढंग के सैकड़ों रिवाज होते हैं—उन सबका उल्लेख करना या आलोचना करना सम्भव नहीं है। हां, किसी एकाध स्थान के कुछ रिवाजों की आलोचना करने से उस दृष्टि का पता लग सकता है, जिससे हम रिवाजों का भला-बुरापन समझ सकें और जिसके अनुसार बुरे रिवाजों को हटा सकें और नये रिवाजों को चला सकें।

उपकुटुम्बों में परस्पर सहयोग चार तरह का होता है। १—आर्थिक, २—शारीरिक, ३—मानसिक ४—वैनयिक। यह चारों तरह का सहयोग कौटुम्बिकता बढ़ाने-वाला, सुखकर और न्याय के अनुकूल होना चाहिये। ऐसा न हो तो सहयोग का वह रिवाज तोड़ देना चाहिये।

१ आर्थिक— आर्थिक सहयोग भेंट के रूप में अनेक तरह का होता है। इसका ध्येय तो यह है कि किसी विशेष अवसर पर कुटुम्ब का कोई आदमी आर्थिक कष्ट का विशेष अनुभव न करे। विवाह शादियों में कहीं कहीं दोनों तरफ़ से एक दूसरे के लिये जो थाल भरे जाते हैं—उनका मतलब यही था। पर देखा यह गया है कि यह आर्थिक सहयोग काफ़ी झगड़े की जड़ बन गया है। इतना ही नहीं, किन्तु यह अन्य तरह के सहयोग में बाधक बन गया है।

अमुक के यहां बच्चा पैदा हुआ है, उसके यहां जाना है, उसका निमन्त्रण भी आया है। पर उसके यहां से हमारे यहां कुछ आने का अवसर तो है ही नहीं, दूसरे किसी अवसर पर तो उसके यहां से निमन्त्रण आता नहीं, फिर मैं क्यों दूं? अथवा, मेरे घर में खाने को तो है नहीं, बच्चे को भेंट कहां से दूं? जाते ही वह बच्चे को गोद में रख देगा तो मैं कहां से दूंगा? इससे अच्छा यही है कि जाऊं ही नहीं, कोई बहाना ही कर दूं।

मेरी लड़की भानजी भतीजी अमुक गांव में विवाही गई है मुझे उससे मिलना तो है, पर जाऊं कैसे? देने के लिये पैसा तो है नहीं, अथवा

फिजूल में कौन दे ? जाकर न देने से तो बुराई होगी, इससे अच्छा है जाऊं ही नहीं।

उसके यहां लड़की की शादी है जाना तो है, पर लड़की की शादी में कुछ न कुछ तो देना ही पड़ेगा, पर क्यों दूं ? कहां से दूं ? इसलिये मैं नहीं जाता।

रक्षाबन्धन का त्यौहार है मेरी अमुक बहिन ने बुलाया है, यों तो वह कभी बुलाती नहीं, दुःख में भी आती नहीं, बस पैसा ठगने केलिये राखी के दिन बुला लिया। हिस्ट ! मैं न जाऊंगा। अथवा जाना तो है, पर पैसे तो हैं ही नहीं तब कैसे जाऊं ?

पैसा लेनेवाले भी प्रायः इस मनोवृत्ति को समझते हैं और जब कोई नहीं आता तो बुरा मानते हैं। दूसरे निमन्त्रणों को अस्वीकार करना बुरा नहीं मालूम होता, पर ऐसे निमन्त्रण को अस्वीकार करना जिसमें कुछ मिलने की आशा है—बुरा मालूम होता है। इस प्रकार बहुत ही पतित मनोवृत्ति का परिचय मिलता है।

हमारे चचेरे भाई के ससुर आये हैं। चलो, उनका निमन्त्रण कर लें, रुपये दो-रुपये का माल दे ही जायँगे। पर ससुरजी बेचारे एक से एक अद्भुत बहाने निकालकर निमन्त्रण अस्वीकार कर रहे हैं।

मतलब यह कि उपकुटुम्बों में लेन-देन के मामले में प्रायः ऐसा ही दृश्य होता है—जैसे कोई बहेलिया जाल बिछा रहा हो और पक्षी चौकन्ना होकर भागता फिर रहा हो। यह सब ठीक नहीं है। इसलिये रिवाज के रूप में उपकुटुम्बों में जो आर्थिक सहयोग है—वह काफी कम होना चाहिये। दहेज आदि इसी सहयोग के अंग हैं, जो पति-पत्नी के चुनाव में काफी बाधा डालते हैं, मां-बाप के लिये पुत्री का होना दुर्भाग्य बना देते हैं, 'बेटी का बाप' एक गाली बना देते हैं, विवाह के शुभ अवसर को द्वंदयुद्ध का मैदान बना देते हैं।

यद्यपि यह भी ठीक नहीं कि उपकुटुम्बों में आर्थिक सहयोग बिलकुल न रहे, फिर भी वह सहयोग टैक्स की तरह न होना चाहिए। इस सहयोग में दोनों पक्षों को अगर प्रसन्नता न हो तो वह बेकार है।

यद्यपि यह ठीक है कि रिवाज की विवशता न होगी तो आर्थिक सहयोग बहुत कम हो जायगा या सम्भव है वह मिट ही जाय, सो भले ही मिट जाय। अन्य सहयोग बढ़ाने के लिये आर्थिक सहयोग का बलिदान ही करना चाहिए। स्वाभाविक और अनिवार्य आर्थिक सहयोग तो किसी न किसी रूप में रहेगा ही।

सहज-उपकुटुम्बों में आर्थिक सहयोग कहाँ कैसा रहना चाहिये,—इस विषय की कुछ सूचनाएँ यहाँ दी जाती हैं। इन सूचनाओं पर से अन्य सूचनाओं का भी पता लग सकता है।

[१] दहेज की प्रथा बिलकुल बंद रहे। माता-पिता या अभिभावक वात्सल्य-वश जो कुछ लड़की को दें—वह लड़की ले सकती है। वह उस का स्त्री-धन होगा। पर माता-पिता कुछ न कुछ अवश्य दें,—यह रिवाज न होना चाहिये। उनने आज तक पालन-पोषण किया—यही बहुत है।

[२] वर-पक्ष की तरफ से कन्या के लिये जो भेंट आती है—वह वर के सुकुटुम्ब के तरफ से ही होना चाहिये। वर के उपकुटुम्बियों मामा आदि पर उसका बोझ न पड़ना चाहिये।

[३] कन्या-पक्ष बरातियों को कुछ भेंट न दे। ठहरने और भोजन का इन्तजाम कर देना

ही काफी है ।

[४] बरातियों के भोजनादि की जिम्मेदारी कन्या-पक्ष पर परमित होना चाहिये, अर्थात् उतनी ही जितनी कन्या-पक्ष खुशी से उठाना मंजूर करे ।

[५] कन्या के विवाह में उपस्थित होने वाले अतिथियों से कुछ भेंट न लेना चाहिये । वे आने-जाने का खर्च करें—यही काफी है ।

[६] विवाह में उपस्थित न हो सकने वाले लोग अगर कुछ भेंट भेज दें, तो वह स्वीकार की जा सकती है ।

[७] कन्या के माता-पिता आदि अगर कन्या के घर में भोजन कर जायँ तो इसके बदले में उनसे कुछ भेंट न लेना चाहिये और न इस प्रकार के आतिथ्य को अनुचित समझना चाहिये। हां, अगर आतिथ्य की भावना न हो, या आतिथ्य करना आर्थिक आदि दृष्टि से ठीक न हो तो वात्सल्य आदि के बहाने कुछ दिया जा सकता है।

[८] जब कोई किसी को निमन्त्रण देकर बुलाये तो निमन्त्रित व्यक्ति से किसी भी प्रकार की भेंट न ले । भले ही वह निमन्त्रण रक्षाबन्धन या सन्तान-जन्म के उपलक्ष्य में ही क्यों न हो ।

[९] भेंट का लेन-देन वहीं ठीक मालूम होता है—जहां या तो गहरी मित्रता हो, अथवा किसी दिन सुकुटुम्बी के रूप में रह चुके हों ।

[१०] मृतक-भोज वगैरह बिलकुल बन्द रहना चाहिये ।

[११] रिवाज का पालन करने के लिये अनुपयोगी चीजों का देन-लेन बन्द करना चाहिये। रद्दी कपड़े, रद्दी सुपारी-बादाम आदि जो सिर्फ देन-लेन के ही काम के लिये रख लिये जाते हैं—इससे देने का रिवाज तो पूरा होता है, पर देने का उपयोग कुछ नहीं होता । इनका देन-लेन व्यर्थ अपव्यय है ।

[१२] किसी भी तरह का आर्थिक संकट आ जाय तो यथाशक्य मदद करना चाहिये।

[१३] जहां तक हो सके, लेन-देन साहुकारी नहीं करना चाहिये । रिश्तेदारों से ऋण माँगना—रिश्तेदारी तोड़ने के लिये निमन्त्रण देना है । अगर उसने ऋण न दिया, तब दिल खट्टा हो ही जायगा । अगर उसने दे दिया तो ब्याज के बारे में संकोच होगा । अगर इस बारे में साफ साफ बातें हो ही गईं तो समय पर ऋण न चुका सकना, उसे तकाजा करने में संकोच होना, तकाजा करने पर तुम्हारे दिल को चोट पहुँचना, वह तकाजा तो कर ही नहीं सकता इसलिये ऋण चुकाने में प्रमाद होना आदि ऐसी बातें हैं जो मनुष्य को बेईमान, अविश्वसनीय बनाकर नाते-रिश्ते को नष्ट कर देती हैं । रिश्तेदारी में ऋण का देन-लेन तो होना ही न चाहिये और विनिमय का लेन देन भी यथाशक्य न होना चाहिये; क्योंकि संकोच के मारे दोनों खुलकर बात कर नहीं सकते, इसलिये दोनों ही मन ही मन एक दूसरे से घृणा करने लगते हैं । अगर संकोच तोड़कर कहा-सुनी हो गई तो रिश्तेदारी की लाज नष्ट हो जाती है, रिश्तेदारी बहुत ढीली हो जाती है ।

रिश्तेदारी में आर्थिक सहयोग का दृष्टिकोण समझने के लिये इतनी सूचनाएँ काफी हैं ।

२ शारीरिक—शरीर से एक दूसरे के काम आना शारीरिक-सहयोग है। बीमारी में बुढ़ापे में या किसी प्रकार के संकट में उसका साथ देने के लिये हाजिर होना, विपत्ति में हाथ बटाना, जरूरी सेवा करना आदि शारीरिक-सहयोग हैं। इसी प्रकार

उत्सव आनन्द आदि में भी उपस्थित होना शारीरिक सहयोग है।

पर इस बात का खयाल रखना चाहिये कि सुख में शामिल हुए और दुःख में शामिल न हुए तो सहयोग का मूल्य न रहेगा। हां, अवसर के महत्व और उपयोगिता की दृष्टि से शामिल होने न होने का विचार किया जाना चाहिये।

संकट में उपस्थित होते समय इस बात का पूरा खयाल रखना चाहिये कि तुम्हारी उपस्थिति से संकट बढ़ता तो नहीं है? जैसे, तुम किसी बीमार रिश्तेदार के यहां गये। मानलो, रिश्तेदार की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है और तुम सहानुभूति प्रगट करने के सिवाय और किसी काम के नहीं हो तो तुम्हारा वहां बहुत दिन रहना अनुचित होगा। बीमार के घर-वालों को एक तो बीमार की सेवा करना पड़ती है, फिर तुम्हारी मेहमानगिरी का बोझ और भी सिर पर आ गया, तो यह रिश्तेदारी का लाभ न कहलाया।

जब तुम संकट में मदद करने जाते हो तब इन बातों का खयाल रक्खो—

१–अपनी सेवा अपने आप कर लो। अथवा इतना ही बोझ डालो, जितना वे सरलता से सह सकें और उन्हें मानसिक कष्ट न हो।

२–उनका आर्थिक कष्ट न बढ़ाओ। ऐसे मौके पर कभी कभी खुद ज़रूरी चीजें बाजार से ला दी और उनके पैसे न लिये, या आते समय कोई चीज़ घर से लेते आये, आदि आत्मीयता के ढंग से मदद कर सको तो और भी अच्छा। हां, अगर उनकी आर्थिक स्थिति अच्छी है तो बात दूसरी है। अथवा तुम्हारी ही आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है तो बात दूसरी है।

३–यह देख लो कि तुम्हारी वहां ज़रूरत है कि नहीं? ज़रूरत हो और घर-वालों की इच्छा हो तभी रहो, नहीं तो यों-ही मेहमानगिरी करने के लिये या दिन काटने के लिये न पड़े रहो। केवल शिष्टाचार निभाने के लिये अगर वे जाने से मना करते हों तो उनके अनुरोध को नम्रता से टाल दो।

जो बातें बीमारी के बारे में कही गईं हैं–वे ही अन्य संकटों के अवसर पर भी समझ लेना चाहिये या उनसे अन्दाज लगा लेना चाहिये।

मरण-संस्कार आदि के समय तो शामिल होना ज़रूरी है ही।

साधारण सूचना यह है कि विशेष कारण के सिवाय अधिक मेहमानगिरी न करना चाहिये।

शुभ अवसरों पर शामिल होने के बारे में विशेष सूचना की ज़रूरत नहीं है। हां, ऐसे अवसरों पर काम में हाथ बटाने की खास ज़रूरत हो तब तो निमन्त्रित होने पर शामिल होना ही चाहिये, अगर ज़रूरत नहीं है तो शिष्टाचार के नाते आये हुए उसके निमन्त्रण का उपयोग न करना चाहिये।

उपकुटुम्बों में शिष्टाचार-वश निमन्त्रण देना ही पड़ता है, अगर सब लोग निमन्त्रण स्वीकार कर लें तो बड़ी परेशानी हो जाय। इसलिये ऐसे मौके पर निमन्त्रण के उत्तर में शाब्दिक सहानुभूति बधाई आदि ही देकर रह जाना चाहिये। विशेष ज़रूरत तो अनेक तरह से मालूम हो ही जाती है, उस अवसर पर ही शामिल होना ठीक है।

३ **मानसिक**–सहानुभूति प्रगट करना मानसिक-सहयोग है। पत्र वगैरह से वह प्रगट करना चाहिये। सुख में बधाई और दुःख में समवेदना प्रगट करने से कौटुम्बिकता का परिचय मिलता है। हां,

यह सोच लेना चाहिये कि—क्या सिर्फ मानसिक सहानुभूति प्रगट करना ही काफी है ? यह बात रिश्तेदारी के रूप पर और अपनी परिस्थिति पर निर्भर है। सोच-विचार कर जैसा उचित मालूम हो वैसा करना चाहिये।

४ वनयिक- वैनयिक-सहयोग अन्य सहयोगों का और प्रेम का—चिन्ह और बीज कहा जा सकता है। उपकुटुम्बियों के साथ सुकुटुम्बियों के समान शिष्टाचार निभाना उचित है। मामा, फूफा, मौसा आदि को पिता के समान; मामी, फूफी, मौसी आदि को माता के समान; इसी प्रकार उपकुटुम्बी भाई-बहिन, भाभी, भतीजी आदि के साथ सुकुटुम्बी भाई-बहिन आदि के समान शिष्टाचार निभाना चाहिये।

इस शिष्टाचार में नारी-पक्ष को छोटा और पुरुष-पक्ष को बड़ा समझने का जो कहीं कहीं रिवाज़ है—वह ठीक नहीं है, बल्कि अधिकांश अवसरों पर वह लज्जास्पद है। देखा गया है कि सास-ससुर जमाई के पैर छूते हैं, मामा-मामी अपने भनेज और भनेजिन के पैर छूते हैं, भौजाई देवर के पैर छूती है, बहिन अपने भाई की अपेक्षा यहां तक कि अपने से बड़े भाई की अपेक्षा अपने से छोटे देवर की इज्जत अधिक करती है। नारीत्व का यह अपमान नारियों के द्वारा ही होता है और कुसंस्कारों के कारण वे नहीं समझती हैं।

'सास-ससुर' माता-पिता या चाचा-चाची के समान है। दामाद को उनका विनय करना चाहिये अगर गुरुजनों के पैर छूने की आदत हो तो दामाद—सास-ससुर के भी पैर छुए।

हां, यह ठीक है कि दामाद सास-ससुर के घर में एक अतिथि के रूप में आता है, इसलिये एक अतिथि के रूप में उसका कुछ दिनों तक सत्कार हो, तो इसमें कोई बुराई नहीं है। पर यह सत्कार क़रीब-क़रीब ऐसा ही होगा जैसा कि वह अपने मामा मौसा आदि के यहां जाने पर पाता है।

माता-पिता जब अपनी लड़की के भी पैर छूते हैं तब यह और भी लज्जास्पद हो जाता है। पुत्र के समान पुत्री भी अपनी सन्तान है, तब पुत्री का इस प्रकार विनय कैसे उचित हो सकता है ! इसी प्रकार बड़ा भाई अपनी छोटी बहिन के पैर क्यों छुए ?

यह न समझना चाहिये कि पुत्र की अपेक्षा पुत्री का अधिक विनय करने से नारीत्व का सन्मान हुआ है, नारीत्व के सन्मान की परख तो उसकी ससुराल के स्थान से हो सकती है। माता-पिता आदि के द्वारा जो विनय किया जाता है—उसके मूल में तो नारी की घोर तुच्छता का भाव है।

कहा जाता है कि कन्या-दान किसी सुपात्र को करना चाहिये। सुपात्र को जब दान दिया जाता है तब उसकी पूजा करके दिया जाता है, इस प्रकार जमाई सुपात्र कहलाया—इसीलिये जमाई पूज्य है, और सुपात्र की पत्नी के नाते अपनी ही लड़की भी पूज्य है।

इस विचारधारा में दो गलतियाँ हैं। पहिली तो यह कि कन्या को दान की चीज़ समझ लिया गया। इसका मतलब यह कि उसे किसी पुरुष का धन बताया गया। पशु की तरह मनुष्य को किसी का धन बनाया जाय--यह मनुष्यता का घोर अपमान है। इसलिये जमाई को दान-पात्र समझना ठीक नहीं।

फिर अगर यह माना भी जाय कि वह दान-पात्र है तो भी वह इस प्रकार का पात्र नहीं हो

जाता कि उसके पैर छुए जायँ। अपने लड़के को अलग करते समय अगर हम कुछ सम्पत्ति दान करें तो वह दान लड़के के पैर छूकर देना चाहिये--यह ठीक नहीं है। सन्तानोपम व्यक्तियों को जो हम दान करते हैं, वह हमारी वत्सलता का परिणाम है, भक्ति का परिणाम नहीं।

कहीं कहीं विवाह के समय कन्या के गुरुजन या ज्येष्ठजन जो वर-कन्या के पैर छूते हैं, वह गुरुत्व का अपमान है। ज़रूरत इस बात की है कि गुरुजनों के द्वारा कुछ भेंट मिलने पर वर-कन्या दोनों ही गुरुजनों का यथायोग्य विनय--कहीं पैर छूकर, कहीं हाथ जोड़कर, या जैसा तरीका उचित हो--करें।

नारीत्व के अपमान के रूप में शिष्टाचार भंग का एक रिवाज यह है कि नारी-पक्ष के व्यक्तियों को नीची निगाह से देखा जाता है। एक नारी भी अपने भाई का कम सन्मान करेगी, देवर का अधिक। पति-पक्ष के आदमियों को खुद उठकर शिष्टता से पानी पिलायगी पर नारी-पक्ष के या अपने पक्ष के आदमियों से कह देगी--'वह तो है पानी, पीलो न!' यह तो एक छोटा-सा उदाहरण है, पर बैठने उठने बोलने तथा और काम करने में यही अन्तर दिखाई देगा।

निःसन्देह इनके मूल में एक तरह की बेतकल्लुफ़ी रहती है जो कि बाल्यावस्था के संस्कारों का परिणाम है। माता-पिता या सगे भाइयों में तो यह बेतकल्लुफ़ी जन्म के संस्कारों के कारण होती है, पर उपकुटुम्बियों के साथ इसका कोई कारण नहीं है। कम से कम इस बेतकल्लुफ़ी का रूप प्रेम और वात्सल्य पर निर्भर होना चाहिये, नारी-पक्ष का होने के कारण छोटा स्थान प्राप्त होने के कारण नहीं।

हरएक सभ्य आदमी हरएक समवयस्क स्त्री को बहिन की निगाह से देखता है, फिर भी उसे भाई कहलाने में संकोच होता है; क्योंकि इससे वह उस स्त्री के पति आदि की दृष्टि में नीचा हो जायगा--इसीसे 'साला' शब्द एक गाली बन गया है। नारीत्व के अपमान के विषैले कीटाणु हमारे व्यवहार में, बोल-चाल में बुरी तरह भर गये हैं और नारियों का भी यहां तक पतन हुआ है कि वे खुद इस अपमान को महसूस नहीं करतीं, इस अपमान के रूप को देख नहीं पातीं।

निःसन्देह व्यवहार में मनुष्य का व्यक्तित्व, योग्यता आदि काम करती है, सो वह तो करेगी ही। पर, उसमें नारी पक्ष का होने या पुरुष-पक्ष का होने से तरतमता--छोटा-बड़ा-पन का भाव न आना चाहिये।

जो बात सास-ससुर के बारे में कही गई है--वही मामा-मामी के बारे में समझना चाहिये। वे गुरुजन हैं, भनेज या भनेजिन उनका विनय करें। मामा-मामी उनके पैर आदि न छुएँ।

देवर भौजाई के बारे में भी साधारणतः यही नीति है कि वे अपनी अपनी उम्र के अनुसार एक दूसरे का विनय करें। हां, उनमें निर्दोष विनोद कुछ विशेष-मात्रा में रहता है, इसलिये कुछ बेतकल्लुफ़ी भी रहती है। इसे अविनय न समझना चाहिये।

इस प्रकार उपकुटुम्ब में चारों तरह का सहयोग कुछ विशेष-मात्रा में होना चाहिये।

८ सुहृत्-उपकुटुम्ब--

सुहृत्-उपकुटुम्ब में परस्पर व्यवहार सहज-उपकुटुम्ब की तरह होता है। रिश्तेदारी होती नहीं है, किन्तु रिश्तेदारी का रूप बना लिया जाता है। दो पुरुष-मित्र दो भाइयों की तरह

रहेंगे, दो सहेलियाँ दो-बहिनों की तरह रहेंगी। यद्यपि सहज-उपकुटुम्ब के बन्धन जितने स्थायी होते हैं–उतने स्थायी सुहृत्-उपकुटुम्ब के नहीं होते अर्थात् प्रायः कम होते हैं, पर इसका रंग गहरा होता है। रिश्तेदारी आदि का सम्बन्ध तो अनेक कारणों से इधर-उधर जुड़ जाता है, पर उससे प्रेम सम्बन्ध हो ही—ऐसी बात नहीं है; पर सुहृत्-उपकुटुम्ब में तो प्रेम की ही मुख्यता है। इसलिये यह भाईचारा सहज-उपकुटुम्बी भाईचारे की अपेक्षा भी गहरा होता है, गहरा होना चाहिये।

हां, कभी कभी ऐसा भी होता है कि सहज-उपकुटुम्ब पर सुहृत्-उपकुटुम्ब की छाप लग जाती है, तब उसका रंग और भी गहरा हो जाता है। पर साधारणतः सहज-उपकुटुम्ब की अपेक्षा सुहृत्-उपकुटुम्ब का रंग गहरा होता है, जोकि उचित है।

सुहृत्-उपकुटुम्बी लोग सहज-उपकुटुम्बियों की तरह परस्पर व्यवहार करते हैं। भाई-बहिन मां-चाचा-भतीजा आदि व्यवहार उनमें होने लगता है, यह होना भी चाहिये। सहज-उपकुटुम्बियों की अपेक्षा भी सुहृत्-उपकुटुम्बियों की जिम्मेदारी अधिक होती है।

पर, यह बात भूलना न चाहिये कि इनका मिलना है बहुत कठिन। स्वार्थ के लिये जो लोग मित्र बन जाते हैं–उन्हें मित्र न समझना चाहिये। हां, गुणानुराग, सहयोग, कृतज्ञता के वश में होकर जो मित्र बनते हैं–वे मित्र कहे जा सकते हैं। मित्रों के विषय में यहां कुछ सूचना दे दी जाती हैं।

१–जो धन के लालच से आये हों, जो सुन्दरता से लुभाकर मित्र बने हों, जो कोई काम निकालने की गरज से आये हों, जो संकट में अपनी रक्षा कराने के लिये आये हों, जो कुछ उधार माँगने के लिये आये हों,–इस प्रकार के लोगों की मित्रता विश्वसनीय नहीं है। हो सकता है कि इनमें कोई सच्चे मित्र भी निकल पड़ें, पर इसके लिये दूसरे चिन्ह देखना चाहिये।

२–जो तुम्हें किसी व्यसन में फँसाने के लिये आये हों, व्यभिचार आदि की तरफ़ प्रेरित करते हों या शामिल करते हों–उन्हें मित्र न समझो।

३–जो पारस्परिक सहयोग के लिये आये हों-उनके मित्र बनने की आशा की जा सकती है।

४–परिचय से या केवल शिष्टाचार के शब्दों से किसी को मित्र न समझो।

५–जो समय-समय पर उधार या अपने लिये मदद मांगा करते हैं, उन्हें मित्र न समझो।

६–जिनके मन में ईर्ष्या है, उन्हें मित्र न समझो।

७–जो तुम्हारी निन्दा सुनकर खुश होते हैं, उन्हें मित्र न समझो।

८–जो विपत्ति के समय किनारा काट जाते हैं, उन्हें मित्र न समझो।

९–जो तुम्हारी गुप्त बात प्रगट कर देते हों, वे मित्रता के योग्य नहीं है।

१०–जो तुम्हारे दुःख में दुखी और सुख में सन्तुष्ट नहीं होते, उन्हें मित्र न समझो।

११–जो तुम्हारी कमजोरी या विपत्ति का स्वार्थ के लिये उपयोग करने को तैयार रहते हों, वे तुम्हारे मित्र नहीं हैं।

१२–जरा-जरा से उपकारों को बार-बार गिनानेवाले मित्र नहीं हैं।

१३–मुँह पर 'हां में हां' मिलानेवाले और पीठ पीछे तुम्हारी हँसी उड़ानेवाले मित्र नहीं हैं।

१४–आश्वासन देने के लिये जितना ज़रूरी है उससे बहुत बढ़कर बातें बनानेवाले मित्र नहीं हैं।

१५–जिनका व्यवहार तुम्हारे साथ ईमानदारी का नहीं है, वे तुम्हारे मित्र नहीं हैं।

इन या ऐसी ही बातों से इस बात का भी पता लग सकता है कि मित्र कैसे होते हैं ? जो इन सूचनाओं से उल्टे हों–वे मित्र होने लायक या मित्र हैं। फिर भी स्पष्टता के लिये कुछ ऐसी सूचनाएँ भी दी जाती हैं जिनसे मालूम हो कि मित्र कैसे होते हैं ?

१६–जो गुणानुराग से आये हों या जिनमें स्वाभाविक कृतज्ञता हो, उनके मित्र बनने की काफ़ी सम्भावना है।

१७–जो यथाशक्ति लेने की अपेक्षा देने की कोशिश अधिक करते हों, वे मित्र हैं।

१८–जो यथाशक्ति तुम्हारा संकट अपने सिर पर लेने को तैयार हों, या संकट में मदद करने में और शामिल होने में बहाने-बाजी न करते हों, वे मित्र हैं।

१९– जो तुम्हारे लिये किये गये कार्य का बदला न चाहते हों–वे मित्र हैं।

२०– जो परोक्ष में तुम्हारी प्रशंसा करते हैं या तुम्हारी प्रशंसा से खुश होते हैं, वे मित्र है।

ये दिशासूचक सूचनाएँ हैं। इस प्रकार की और भी बातें मित्रता-अमित्रता का भेद बतलानेवाली मिल जायँगी। यों-तो मित्रों की परीक्षा काम निकल जाने पर होनेवाले उनके व्यवहार से और संकट में मिलनेवाले सहयोग से होती है।

मित्रता में अमाप-विनिमय काफ़ी रहता है, फिर भी यह बात भूलना न चाहिये कि विनिमय की तराजू अगर एक तरफ़ काफ़ी ढुल जायगी तो मित्रता को धक्का पहुँचेगा, अथवा तुम्हारे मन में परस्पर सहयोग की ही नहीं; किन्तु कुछ चूस लेने की–खींच लेने की भावना आ जायगी तो मित्रता में घुन लग जायगा।

इसलिये, अनात्मीयता का परिचय न देते हुए भी विनिमय की तराज़ू को भीतर ही भीतर सम्हाले रहो, जो कुछ तुम लो उसका बदला किसी न किसी रूप में चुकाने की पूरी कोशिश करो। तक़ाजा करने की नौबत कभी न आने दो। ऐसी नौबत दोनों को खटकती है और मित्रता को धक्का लगाती है।

कोई चीज़ मांग लाये, पर फिर दी ही नहीं, या देना ही भूल गये या तोड़-फोड़कर दी, रुपया उधार लिया फिर देने की कोई फ़िक्र ही नहीं या समय पर वायदा पूरा ही न किया, वायदे पर उसका जिक्र ही न किया, अथवा बेतकुल्लुफ़ी के नाम पर जो चाहे चीज़ खा ली,--ले ली आदि—ये सब बातें ऐसी हैं कि मित्रता को नष्ट कर देती हैं। यद्यपि इन बातों की निश्चित सीमा नहीं बताई जा सकती कि कहां तक बेतकल्लुफ़ी दिखाई जाय, यह तो दोनों के सम्बन्ध और योग्यता पर निर्भर है। हां, एक दूसरे के मन के भाव परखते रहना चाहिये, जिस बेतकल्लुफ़ी से दूसरे को कष्ट हो–उससे बचना चाहिये। थोड़े-बहुत अंश में तो बेतकल्लुफ़ी होना ज़रूरी भी है। सिर्फ़ इसका दुरुपयोग–असह्य-उपयोग–न करना चाहिये। मित्रता की गहराई कितनी है-- इसका ख़याल रखते हुये उपयोग करना चाहिये।

मित्रता की गहराई का ख़याल न रखने से तुम्हें मित्र में भी अमित्र होने का धोका हो सकता है, इसलिये उसका विवेक होना ज़रूरी है।

सुहृत्-कुटुम्ब यद्यपि दो व्यक्तियों का भी

बन सकता है, पर जब दो कुटुम्बों को मिलकर सुहृत् कुटुम्ब बनता है तब उसकी पूरी सार्थकता है, और ऐसी हालत में वह अधिक टिकाऊ और सुविधाजनक होता है।

पति की किसी से मित्रता है, पर उस मित्रता को पत्नी या और घरवाले सन्देह की नजर से देखते हैं—पसन्द नहीं करते, तो वह मित्रता अशान्तिकर हो जायगी। इसलिये कोशिश ऐसी करना चाहिये कि दो पुरुषों की मित्रता उनकी पत्नियों में भी सखीपन का भाव पैदा करे, और एक तरह से दोनों कुटुम्ब-रिश्तेदार से बन जायँ।

सुहृत्-कुटुम्ब की जीवन में बड़ी आवश्यकता है, पर स्वार्थ की खींचातानी के बिना पारस्परिक सहयोग और प्रेम के आधार पर इसकी इमारत खड़ी होना चाहिये।

९ साधक-उपकुटुम्ब—

किसी साधना के लिये मिले हुए कुटुम्बों के समूह को साधक-उपकुटुम्ब कहते हैं। यों तो एक धर्म मज़हब आदि के माननेवालों को परस्पर साधक-उपकुटुम्बी कह सकते हैं और उनसे एक तरह की कौटुम्बिकता की आशा भी रक्खी जाती है, पर यहां इतने विशाल साधक-उपकुटुम्ब से मतलब नहीं है। उपकुटुम्बी होने के लिये एक दूसरे का परिचय तथा कुछ अमाप-विनिमय ज़रूरी है।

जब कोई समाज प्रारम्भिक अवस्था में रहता है और अल्पसंख्यक होने से तथा अधिक उत्साह होने से उनमें कौटुम्बिकता अधिक मात्रा में रहती है, तब उसे भी साधक-उपकुटुम्ब कहते हैं।

साधक-कुटुम्ब के सदस्यों के जो ग्यारह भेद बनाये गये हैं—वे उपकुटुम्ब में भी होते हैं; बल्कि प्रसहयोगी आदि तीन तो उपकुटुम्ब में ही अधिक सम्भव हैं।

ग्यारह पदों के ये ग्यारह नाम यद्यपि पुरुषवाची हैं, पर इनके स्त्री-वाची रूप भी ध्यान में रखना चाहिये; क्योंकि इन पदों पर स्त्रियाँ भी पहुँच सकती हैं और उन्हें पहुँचना चाहिये। हां, कभी कभी ऐसा होता है कि साधक-कुटुम्ब और सहज-कुटुम्ब का मिश्रण हो जाता है। जैसे—गुरुदेव के पद पर कोई पुरुष हो तो उसकी पत्नी का भी उसके अनुरूप सन्मान करना कहीं कहीं आवश्यक होता है और खासकर जब उसकी पत्नी साधक-कुटुम्ब का अंग हो तब तो वह और भी आवश्यक हो जाता है। पर, गुरुदेव के पद पर अगर कोई स्त्री हो तो उसमें और गुरुदेव की पत्नी में अन्तर तो रहेगा ही और दोनों का रूप अलग अलग ध्यान में रखना पड़ेगा, भले ही शिष्टाचार एक-सा निभाया जाय। इसी तरह गुरुदेव के स्थान पर कोई स्त्री हो और उसका पति भी हो जो कि गुरुदेव के पद पर न हो, तो भी उसका विशेष स्थान होगा जिसे समझ लेना चाहिये। इस प्रकार पुरुष-गुरु, स्त्री-गुरु, पुरुष-गुरु की पत्नी और स्त्री-गुरु का पति इन चारों के नाम अलग अलग समझ लेना चाहिये, और ग्यारह पदों में ही इनका व्यवहार करना चाहिये। साधारण सूचना यहां दे दी जाती है—

	नर	नारी	नरपत्नी	नारीपति
१	गुरुदेव	गुरुदेवी	देवगुरुणी	गुर्वीदेव
२	गुरुराज	राजगुर्वी	राजगुरुणी	गुर्वीराज
३	सामानिक	सामानिका	सामानिकानी	अनुसामानिक
४	गुरु	गुर्वी	गुरुणी	अनुगुरु
५	उपाध्याय	उपाध्याया	उपाध्यायिनी	अनूपाध्याय
६	प्रसाधक	प्रसाधिका	प्रसाधकानी	अनुप्रसाधक
७	साधक	साधिका	साधकानी	अनुसाधक
८	उपसाधक	उपसाधिका	उपसाधकानी	अनूपसाधक

९	प्रसहयोगी	प्रसहयोगिका	प्रसहयोगिनी	अनुप्रसहयोगी
१०	सहयोगी	सहयोगिका	सहयोगिनी	अनुसहयोगी
११	उपसहयोगी	उपसहयोगिका	उपसहयोगिनी	अनूपसहयोगी

ये जो नाम दिये गये हैं वे सिर्फ इसलिये हैं कि साधक-कुटुम्बियों का सम्बन्ध एक शब्द में बताया जा सके। पर इनमें सम्बोधन के रूप में उपयोग करने लायक सभी नहीं हैं, कुछ लम्बे नाम सम्बोधन के रूप में उपयोग करने लायक नहीं है और कुछ ऐसे हैं जिनका सम्बोधन के रूप में उपयोग करने की ज़रूरत नहीं है।

यों साधारणतः साधक-कुटुम्बमें भी सहज कुटुम्ब सरीखे कुछ रिश्ते बना लेना चाहिये। मां, माताजी, बड़ीमां, दादी, जीजी, बहिन, बेटी, पिता, दादा, भाई, बेटा आदि शब्दों का उपयोग साधक-कुटुम्ब में भी हो सकता है। बुआ, मौसी, मौसा आदि शब्दों का उपयोग भी हो सकता है।

फिर भी यह ध्यान में रखना चाहिये कि साधक कुटुम्ब की रिस्तेदारियाँ कुल छः तरह की होती हैं — माता, पिता, भाई, बहिन, पुत्र और पुत्री। इन्हीं छः में बाकी रिश्ते समा जाते हैं।

हां, यह हो सकता है कि किसी जगह 'मां' की जगह 'चाची' 'मौसी' आदि उसी ढंग के शब्दों का प्रयोग हो, पर उसमें साला बहिनोई आदि रिश्ते नहीं होते। साधक कुटुम्ब में किसी पुरुष को भाई और उसकी पत्नी को बहिन कहते हैं। वहाँ भाभी वगैरह के रिश्ते नहीं होते।

प्रश्न–पति और पत्नी अगर दोनों ही साधक कुटुम्बी हों तो उनका आपस में क्या रिश्ता रहेगा?

उत्तर- अगर किसी साधक कुटुम्ब में शामिल होने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को सब तरह के सहज कुटुम्बों से रिश्ता तोड़ देना ज़रूरी है, तब तो पति पत्नी भी बहिन भाई की तरह रहेंगे, परन्तु अगर ऐसी शर्त नहीं है तो सहज सुकुटुम्बी की हैसियत से वे पति पत्नी के रूप में रहेंगे। साधक कुटुम्ब के छः रिश्ते तो उनके लिये हैं जिनका सम्बन्ध सिर्फ साधक कुटुम्ब का है, अथवा साधक कुटुम्ब का मुख्य है।

इसी प्रकार किसी पुरुष को पुत्र कहें तो उसकी पत्नी को पुत्री कहेंगे और उसकी बहिन को भी पुत्री कहेंगे। पुत्री और पुत्रवधू के बीच रहनेवाला ननँद भौजाई का रिश्ता साधक कुटुम्ब में नहीं माना जाता।

साधक कुटुम्ब की पुत्री का विवाह जिस पुरुष से किया जायगा। उसे भी पुत्र कहेंगे 'जमाई' नहीं।

सहज कुटुम्ब में पुत्री और पुत्रवधू के स्थान और शिष्टाचार में जो अन्तर होता है वह साधक-कुटुम्ब में नहीं होता। यहां पुत्री भी उम्र के अनुसार पुत्र वधू के समान जिम्मेदार होती है और उसे शिष्टाचार का पालन करना पड़ता है। और पुत्रवधू को भी पुत्री के समान निःसंकोच व्यवहार की सुविधा रहती है।

साधक कुटुम्ब के रिश्तों का सहज या सुहृत् कुटुम्ब के रिश्तों से सम्बन्ध नहीं होता। अर्थात् जो सम्बन्ध होता है वह उम्र और साधना के अनुसार इन्हीं छः रिश्तों में समा जाता है। जैसे साधक कुटुम्ब में जिसे हम 'मां' कहते हैं, वह हमारे सहज कुटुम्बी पिता या चाचा की दृष्टि में भाभी आदि न हो जायगी — वह बहिन ही रहेगी।

इसी प्रकार यह भी हो सकता है कि सहज कुटुम्ब की दो बहिनों में से एक बहिन उम्र या योग्यता के कारण तुम्हारी बहिन हो और दूसरी पुत्री; या एक मां हो और दूसरी बहिन।

जिन लोगों से तुम्हारा कोई रिश्ता नहीं है और न मित्रता के जरिये कोई रिश्ता कायम हुआ है—उनके साथ साधक-उपकुटुम्बी की दृष्टि से रिश्तेदारी होगी। जैसे तुम यात्रा आदि में किसी अपरिचित दम्पति से मिलो तो उसमें से पत्नी को 'बहिन' और पति को 'भाई' कहो। यह ठीक नहीं कि तुमने उस पति को भाई कहा इसलिये उसकी पत्नी को 'भाभी' कहने लगो या उस पत्नी को बहिन कहा इसलिये उसके पति को 'बहिनोई' कहने लगो। खास मित्रों और रिश्तेदारों को छोड़कर संसार के सर्व स्त्री-पुरुषों के साथ जो तुम्हारे नाते हैं--वे सिर्फ छः तरह के हैं, जो ऊपर कहे गये हैं।

कभी कभी ऐसे अवसर भी आते हैं जब तुम्हें सहज और सुहृत्-कुटुम्बियों के साथ साधक-कुटुम्बी सरीखा व्यवहार करना पड़ता है। जैसे, एक पुरुष व्याख्यान देने खड़ा होता है तो सब स्त्रियों को 'माता' या 'बहिन' कहता है। यह हो सकता है कि सुनने-वाली स्त्रियों में उसकी पत्नी, भाभी, पुत्र-वधू, साली आदि सहज-कुटुम्बियों की संख्या ज्यादा हो, पर इस अवसर पर साधक-कुटुम्बी की हैसियत से ही व्यवहार करना चाहिये।

मनुष्य-मात्र के साथ हमारा व्यवहार कुटुम्बी सरीखा होना चाहिये। जहां हम सहज-कुटुम्ब और सुहृत्-कुटुम्ब का रिश्ता न बना सकें, वहां हम एक तरह से साधक-कुटुम्बी हैं—ऐसा भाव मन में रहना चाहिये। विश्व-कल्याण की साधना के लिये मनुष्य-मात्र एक साधक-कुटुम्ब है।

साधक कुटुम्ब के संस्कारोत्सव—साधक-कुटुम्ब के संस्कार तीन होते हैं १—दीक्षा, २-पदारोहण, ३—समाधि।

दीक्षोत्सव भी दो तरह का होता है—एक तो कुटुम्ब-दीक्षा दूसरे श्रेणी दीक्षा। साधक-कुटुम्ब का जैसा रूप हो उसके अनुरूप दीक्षा का विधान बनाना चाहिये। कुटुम्ब-दीक्षा के समय नामकरण भी हो सकता है।

श्रेणी-दीक्षा में जीवन विकास सम्बन्धी कोई प्रतिज्ञा ली जाती है। इसका विवेचन आचार-कांड के कल्याण पथ प्रकरण में हुआ है।

पदारोहण— गुरुराज उपाध्याय आदि पद पर कोई स्थापित किया जाय तो उसका भी उत्सव किया जाय, जिससे सबको उसकी जिम्मेदारी आदि का पता रहे। देश-काल-परिस्थिति के अनुसार उत्सव का रूप होना चाहिये।

साधारणतः पहिले प्रार्थना हो, फिर किसी का प्रास्ताविक वक्तव्य हो, फिर दीक्षित प्रतिज्ञा ले उसका सब अनुमोदन करें। और पदारोहण में किसी जिम्मेदार व्यक्ति के मुँह से पद देने का प्रस्ताव हो, उसका सब अनुमोदन करें, पदारोही अपनी कर्तव्य-तत्परता बताये—आदि।

समाधि— मृत्यु-समय निकट आने पर, या जीवन अनेक तरह से भारभूत हो जाने पर, या जीवन की कोई उपयोगिता न रहने पर समाधि ली जाती है। समाधि का मतलब है निस्पृहता और शान्ति के साथ जीवन का विराम करना। समाधि के अनेक तरीके रहे हैं, जैसे—जल में डूब मरना, पहाड़ से गिरके मरना आदि। पर ये सब तरीके ठीक नहीं है। और अनावश्यक मौत को बुलाना भी ठीक नहीं है। समाधि कब लेनी चाहिये इसके लिये कुछ सूचनाएँ यहां दी जाती हैं—

१— जब कोई रोग असाध्य और असह्य हो गया हो। केवल असाध्य या केवल असह्य में समाधि नहीं लेना चाहिये।

२— शरीर इतना जर्जर हो गया हो कि

उससे कोई काम न हो सकता हो और सेवा करनेवालों के लिये जीवन बड़ा बोझ बन गया हो।

३– विश्वकल्याण के लिये जीवन का त्याग ज़रूरी हो गया हो।

४– अपनी नैतिकता, आत्म-गौरव या अधिकार की रक्षा के लिये जीवन का त्याग ज़रूरी हो गया हो।

५– मृत्यु-दंड आदि मिलने से मृत्यु निश्चित हो गई हो।

समाधि का सबसे अच्छा तरीका अनशन है। वह अनशन क्रम-क्रम से करना चाहिये। पहिले अन्न का त्याग, फिर फलादिका त्याग करना चाहिये, पानी यथाशक्य अन्त तक लेना चाहिये। हां, चौथे-पांचवें कारण में अगर ज़रूरी हो तो शुरू से ही निर्जल अनशन किया जा सकता है।

आग में जलना, विष-पान करना, पानी में डूबना आदि आत्म-हत्या के तरीके हैं–इन्हें समाधि नहीं कहना चाहिये। शीघ्र मृत्यु की घटनाएँ क्रोध आदि के कारण हो जाती हैं, इसलिये इनमें समाधि की सम्भावना बहुत कम रहती है।

हां, समाधि का कारण ही ऐसा हो कि उसमें शीघ्र मृत्यु हो जाती हो तो बात दूसरी है, अथवा दूसरे के द्वारा मृत्यु हो जाती हो तो बात दूसरी है।

समाधि लेते समय इन बातों का ख़याल रखना चाहिये—

१– क्रोध, शोक, निराशा आदि के कारण समाधि न ली जाय।

२– किसी के ऊपर अनुचित दबाव डालने के लिये समाधि न ली जाय।

३– अपना पाप छिपाने के लिये समाधि न ली जाय।

प्रश्न– समाधि एक तरह की आत्म-हत्या ही कहलाई, इसका उपयोग क्यों करना चाहिये?

उत्तर– समाधि और आत्म-हत्या के कारणों और रूप में बहुत अन्तर है। 'समाधि' लोक-हित और न्याय-रक्षा की दृष्टि से ली जाती है–वह अहिंसा की साधना है; जब कि 'आत्म-हत्या' क्रोध, क्षोभ, निराशा, ईर्ष्या, द्वेष आदि के कारण की जाती है–वह हिंसा का परिणाम है। समाधि में परिणामों में शान्ति है, जब कि आत्म-हत्या में घोर अशान्ति है।

प्रश्न– जिस कारण को लेकर समाधि ली गई है, अगर समाधि लेने से वह कारण दूर हो जाय तो समाधि बन्द की जा सकती है या नहीं?

उत्तर– की जा सकती है, बल्कि कर ही देना चाहिये। मानलो, कोई असाध्य बीमारी के कारण समाधि ले रहा है, पर अनशन करने के बाद वह असाध्य बीमारी दूर हो गई तो समाधि का त्याग किया जा सकता है, अथवा कर ही देना चाहिये। इसी प्रकार किसी अन्याय को दूर कराने के लिये अगर समाधि ली जा रही हो और वह अन्याय दूर हो जाय तो समाधि छोड़ देना चाहिये।

मतलब यह कि मृत्यु हमारा ध्येय न होना चाहिये, सिर्फ़ हम में मृत्यु से निर्भयता होना चाहिये और जीवन का मोह न होना चाहिये या ऐसा मोह न होना चाहिये–जो स्वपर-कल्याण की पर्वाह न करने दे। जब तक जियें–स्वयं आनन्द से जियें–दुनिया को आनन्दित करें और जब देखें कि जीवन न अपने काम का है–न दूसरों के काम का, तब समाधि ले लें।

प्रश्न– एक आदमी ने जीवन भर समाज

की सेवा की अब वृद्धावस्था में वह कुछ काम नहीं कर सकता, पर पिछली सेवाओं के कारण आराम से जीना चाहता है, तो वह समाधि क्यों ले ?

उत्तर— समाधि स्वेच्छा से ही ली जा सकती है, अगर उसकी इच्छा नहीं है तो समाधि लेने की कोई ज़रूरत नहीं है। और ऊपर जो कारण बताया गया है—उसमें तो समाधि लेने की जरूरत है ही नहीं।

प्रश्न— एक आदमी इस इच्छा से समाधि लेना चाहता है कि यह संसार दुःखमय है—मरने के बाद मुझे अवश्य ही अच्छा जीवन मिलेगा, इसलिये जितनी जल्दी मरूं उतना ही अच्छा, तो क्या यह ठीक है ?

उत्तर— नहीं, यह ठीक नहीं है। संसार से घबराकर परलोक की आशा से जीवन छोड़ने में अतथ्य भी है और असत्य भी। अतथ्य तो इसलिये कि उसकी जो पारलौकिक कल्पना है—उसके ठीक होने का कोई ठिकाना नहीं, और असत्य इसलिये कि यह जीवन-संग्राम में कायरता है और पारलौकिक प्रलोभनों के आगे आत्म-समर्पण है।

प्रश्न— अगर कोई मनुष्य ईश्वर के दर्शन के लिये या उसे पाने के लिये समाधि लेकर मर जाना चाहता हो, तो इसमें क्या बुराई है ?

उत्तर— वह ईश्वर का परम-भक्त अपने जीवन की डोर ईश्वर के ही हाथ में छोड़ देगा। वह न जबर्दस्ती जीना चाहेगा—न जबर्दस्ती मरना। उसे ईश्वर-दर्शन के लिये समाधि लेकर प्राण त्यागने की कोई ज़रूरत नहीं है—वह जीवित अवस्था में ही ईश्वर के दर्शन कर सकता है।

प्रश्न— समाधि की ज़रूरत ही क्या है ? जीवन और मरण ईश्वर के हाथ में छोड़कर निश्चिन्त जीवन क्यों न बिताया जाय ?

उत्तर— मृत्यु के समय निश्चिन्तता के लिये ही समाधि है। समाधि के द्वारा मौत को निमन्त्रण नहीं दिया जाता; किन्तु मृत्यु को ईश्वर का आदेश समझकर उसका स्वागत किया जाता है। भले ही वह मृत्यु प्राकृतिक कारण से आई हो या कर्तव्य की प्रेरणा से आई हो। वास्तव में जब जीवन का स्व-पर-कल्याण की दृष्टि से कोई उपयोग नहीं रहता, अथवा जीवन की अपेक्षा मरण का उपयोग ही महत्वपूर्ण हो जाता है, तब उसे ईश्वरार्पण कर देना चाहिये। जीवन का हर तरह निरुपयोगी या स्व-पर-सुख में बाधक होना ही ईश्वर के द्वारा मरण-संकेत है। और जब तक जीवन का उपयोग है तब तक समझो कि जीवन के लिये ईश्वर का संकेत है, इसलिये तब तक समाधि न लेना चाहिये। निरीश्वर-वादी प्रकृति का, धर्म का, या सत्य का संकेत मानकर इस नीति का पालन कर सकते हैं।

प्रश्न— मनुष्य सर्वज्ञ नहीं है, वह कैसे समझ सकता है कि अब जीवन का उपयोग नहीं है ? या आगे उपयोग न होगा ? अथवा, यह भी वह कैसे समझ सकता है कि बीमारी असाध्य है ? देखा गया है कि असाध्य से असाध्य बीमारी अन्त में साध्य हो गई है।

उत्तर— मनुष्य के पास जितना ज्ञान हो उसी के आधार पर उसे काम करना चाहिये। वह स्वयं समझे, विशेष समझदारों से सलाह ले, जानने के जितने साधन वह जुटा सकता हो जुटावे, फिर समाधि लेने—न लेने का निर्णय करे, जल्दबाजी न करना चाहिये।

प्रश्न— एक आदमी के जीवन का आर्थिक

आदि दृष्टि से कोई उपयोग नहीं है, इसलिये वह समाधि लेना चाहता है, पर पत्नी सिर्फ़ इसीलिये समाधि लेने देना नहीं चाहती कि उसके जीवन से वह सौभाग्यवती कहलाती है, अथवा पुत्र भी उसे समाधि लेने देना नहीं चाहता; क्योंकि उसे अपने पिता की सेवा में एक तरह की तृप्ति मिलती है, या पिता की सलाह से या बातचीत से ही उसे काफ़ी आनन्द मिलता है, तब भी क्या समाधि ली जा सकती है ?

उत्तर— इतना उपयोग भी जीवन का काफ़ी उपयोग कहा जा सकता है। सहज-कुटुम्ब के लिये तो यह काफ़ी है ही, पर साधक-कुटुम्ब के लिये इन कारणों पर कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। हां, सलाह का अगर मूल्य हो तब तो साधक-कुटुम्ब में भी वह काफी मूल्य कहलाया, फिर भी साधारण कारणों से मृत्यु को बुलाया नहीं जाना चाहिये। समाधि का मतलब यह है कि आई हुई मृत्यु का दो-क़दम आगे बढ़कर निर्भयता से स्वागत किया जाय। मृत्यु पर विजय पाई जाय।

प्रश्न— क्या किसी नासमझ या बेहोश व्यक्ति को समाधि दी जा सकती है ? मरते समय बेहोशी में ही किसी को पलंग से नीचे उतार देना आदि समाधि के रिवाज़ जो कहीं कहीं प्रचलित हैं, उनकी उपयोगिता कहां तक है ?

उत्तर— वे सब व्यर्थ हैं। समाधि की क्रिया स्वेच्छा से ही की जानी चाहिये और उसमें मृत्यु से निर्भयता और शान्ति पैदा होना चाहिये। बाहरी क्रिया करने से कोई फ़ायदा नहीं।

समाधि की ये सब बातें जो साधक-कुटुम्ब के प्रकरण में लिखी गई हैं—उसका कारण है कि साधकों में मृत्यु से निर्भयता अधिक होना चाहिये। यों यह है सबके लिये उपयोगी। हरएक व्यक्ति को समाधि से ही मरना चाहिये। सहज-कुटुम्ब के प्रकरण में जो मरण-गीत दिये गये हैं—उनका साधक-कुटुम्ब में भी उपयोग है; बल्कि कुछ अधिक उपयोग है।

मरण गीत का यह मतलब नहीं है कि वे ताल-साज के साथ गाये जायँ। वे तो हलकी आवाज़ में करुण-स्वर में गाये जाना चाहिये। यह भी बहुत कम सम्भव है कि मरने-वाले व्यक्ति में गाने की या पढ़ने की ताक़त हो, सम्भव यही है कि उसकी तरफ़ से कोई दूसरा गा दे। वह मन में ही अनुमोदन कर अपनी भावना को उसके साथ मिला दे—इस प्रकार वियोग-जन्य दुःख को भूलने की कोशिश करे। विदा देने के गीत भी किसी ख़ास व्यक्ति को ही गाना चाहिये—ऐसा नियम नहीं है। पुत्र की मृत्यु पर पिता शायद न गा सके तो उसकी तरफ़ से दूसरा गा सकता है। हां, देखना यह चाहिये कि गाने-वाला व्यक्ति ऐसा हो जिसके मुँह से गीत फब सके। पति की तरफ़ से दूसरा कोई पुरुष गायगा तो वह न फबेगा, पर कोई बच्ची-बच्चा गा सकता है। ये सब मौके की बातें हैं—उपस्थित व्यक्तियों को ही विचार लेना चाहिये। फोनोग्राफ के रिकार्ड में ऐसे गीत मिल सकें तो उनका भी उपयोग किया जा सकता है।

यह भी हो सकता है कि विदा देने वालों और विदा लेने वालों में गाने की रुचि न हो। तब बातचीत के द्वारा ही ऐसी भावनाएँ पैदा करना चाहिये, जिससे उनमें मृत्यु से निर्भयता पैदा हो वियोग-जन्य कष्ट को सहने की दोनों में हिम्मत बढ़े। गीत तो इसलिये हैं कि गीत का प्रभाव सरलता से हृदय पर पड़ता है। ऐसे अव-

सर पर योग्य बातचीत करना हरएक के वश की बात भी नहीं है। गीत सरलता से असर डालते हैं और विशेष समझदार व्यक्ति उपस्थित न हों तो भी गीतों से भावना जगाई जा सकती है। एक बच्चे के द्वारा भी यह काम कराया जा सकता है, फिर भी अगर अवसर ऐसा हो कि गाना हास्यास्पद मालूम हो तो न गाना चाहिये।

स्मशान आदि की क्रियाएँ जैसी सहज-कुटुम्ब के प्रकरण में बताई थीं—वैसी ही साधक-कुटुम्ब के प्रकरण में समझना चाहिये।

उपसंहार— इन नौ भेदों में कुटुम्ब का कुछ विस्तार से वर्णन किया गया है। समाज राष्ट्र और विश्व की समस्याएँ तो मनुष्य के सामने हैं ही, पर जीवन का विशेष सम्बन्ध कुटुम्ब से हुआ करता है। समाज राष्ट्र आदि की समस्याएँ व्यक्तिगत जीवन में इतना हस्तक्षेप नहीं करतीं, जितनी कि कौटुम्बिक समस्याएँ करती हैं। सामाजिक और राष्ट्रीय संघर्ष के कष्ट सामूहिक होने से बट जाते हैं, पर कौटुम्बिक कष्ट नींद हराम कर देते हैं। अगर तुम्हारा कौटुम्बिक-जीवन सुखमय है तो समझ लो बाहर से पाने योग्य सुख का बहुभाग तुम्हारे हाथ आ गया है। अगर कौटुम्बिक व्यवस्था अच्छी है तो समझ लो सामाजिक व्यवस्था का बहुभाग अच्छा है। बीमारी और बुढ़ापे का कष्ट आधा रह गया है, और आर्थिक कष्ट भी बहुत कुछ कम हो गया है।

मनुष्य को कौटुम्बिक सम्बन्ध जितना अधिक हो सके बढ़ाना चाहिये और उसे निभाने की कोशिश करना चाहिये। फिर भी सुकुटुम्ब या कुटुम्बक बहुत विस्तीर्ण हो तो गड़बड़ी होने की सम्भावना है। उपकुटुम्ब के रूप में ही अधिक विस्तार की जरूरत है।

साधारणतः मनुष्य को चार तरह के कुटुम्बों का सदस्य होना चाहिये। (१) सहज-सुकुटुम्ब, (२) सहज-उपकुटुम्ब, (३) सुहृत्-कुटुम्ब और (४) साधक-उपकुटुम्ब। साधारणतः एक गृहस्थ के लिये इतने कुटुम्बों की सदस्यता उचित, और आवश्यक है। जो किसी कारण सहज-कुटुम्बी नहीं है, वह सुहृत्-सुकुटुम्ब से उस स्थान की पूर्ति कर सकता है।

जो साधना के काम में विशेष रूप में लगा है उसके लिये दो तरह की सदस्यता ही काफ़ी है—साधक-सुकुटुम्ब और साधक उपकुटुम्ब। विशेष साधक सहज और सुहृत्-कुटुम्बों के साथ साधक-कुटुम्ब के रूप में ही व्यवहार करे। खैर, अपनी अपनी परिस्थिति और शक्ति के अनुसार हरएक मनुष्य को कौटुम्बिकता का क्षेत्र बढ़ाना चाहिये। पर सिर्फ़ बढ़ाना ही उचित नहीं है—उसकी जिम्मेदारी को सम्हालना चाहिये।

व्यवहार-काण्ड (तीसरा अध्याय)

समाज

किसी समानता या सहयोग के आधार पर संगठित हुए समूह को 'समाज' कहते हैं। ग्राम-नगर, प्रान्त, देश, धर्म, जाति, रंग, आकृति, गुण, जीविका, वंश, सभ्यता, संस्कृति आदि के नाम से संगठित हुए अनेक प्रकार के समाज होते हैं। यों मनुष्य-मात्र एक समाज है। सामाजिकता जितनी विशाल होती जायगी—संसार में सुख-शान्ति उतनी ही अधिक बढ़ती जायगी। फिर भी, कुटुम्ब और मानवता के बीज में अनेक प्रकार के वर्ग रहेंगे ही, सो वे बने रहें या पैदा होते रहें, सिर्फ़ ज़रूरत इस बात की है कि उनमें अनुचित संघर्ष न हो, वे एक दूसरे के घातक न हों, मानवता के विरोधी न हों।

प्रत्येक मनुष्य का सम्बन्ध अनेक प्रकार के समाजों से होता है। (१) उन सब तरह के समाजों की सदस्यता का समन्वय कर सकना (२) जो लोग सामाजिक दृष्टि से अपने वर्ग में नहीं आते उनसे न्यायोचित सम्बन्ध रख सकना, (३) सामाजिकता का आधार कल्याणकारी बनाना। इन तीन बातों से सत्य सामाजिकता की परीक्षा होती है। इस दृष्टि से समाज की निम्न लिखित तीन श्रेणियाँ होती हैं—

(१) असत्य समाज

(२) सत्यक-समाज

(३) सत्य-समाज

असत्य-समाजी वह है जो दूसरे समाजों के साथ द्वेष रखता है, अपना न होने से ही उन्हें पतित–नीच–नास्तिक–म्लेच्छ–काफ़िर आदि समझता है, उनके साथ अच्छा सम्बन्ध रखने को तैयार नहीं है।

सत्यक-समाजी वह है जो दूसरों के साथ घृणा द्वेष आदि तो नहीं रखता, पर उपेक्षा रखता है--उनका समन्वय नहीं कर सकता।

सत्य-समाजी वह है जो दूसरों के साथ योग्य सम्बन्ध रखता है--उनका समन्वय करता है। उत्तम सामाजिकता के तीनों गुण उसमें होते हैं।

असत्य-समाजी की तीन श्रेणियाँ होती हैं। १–पाप-समाजी २–विभ्रम-समाजी, ३–मत्त-समाजी।

पाप-समाजी वह है जिसकी सामाजिकता का आधार ही पापमय है। जैसे, चोरों का डाकुओं का समाज, साम्राज्य-वादी शासकों का समाज, गुंडों का समाज, आदि।

विभ्रम-समाजी वह है जिसकी सामाजिकता का आधार भ्रम-पूर्ण है – गलत है। जैसे,

हिन्दूओं की हज़ारों जातियाँ-उपजातियाँ आदि। इनसे पैदा होनेवाली सामाजिकता से मनुष्य विभ्रम-समाजी बनता है।

मत्त-समाजी वह है जिसकी सामाजिकता का आधार तो साधारणतः ठीक है, पर उस आधार को मद या अहंकार का शिकार बना लेने से वह असत्य हो गया है—अपूर्ण और घातक हो गया है।

सत्यक-समाजी की दो श्रेणियाँ हैं—भ्रम-समाजी, छिन्न-समाजी।

भ्रम-समाजी वह है जिसकी सामाजिकता का आधार तो गलत है, पर सम्यक-समाजी होने से दूसरों की निन्दा की चेष्टा नहीं करता—उन पर उपेक्षा रखता है। उन्हें अपनाना भी नहीं चाहता, सिर्फ़ सहिष्णुता या उपेक्षा का परिचय देता है।

छिन्न-समाजी वह है जिसकी सामाजिकता का आधार ठीक है, पर दूसरों से सम्बन्ध विच्छिन्न है; क्योंकि वह सत्यक-समाजी है।

सत्य-समाजी वह है जिसकी सामाजिकता का आधार भी ठीक है और अधिक से अधिक समन्वय करके पूर्णता की ओर झुका हुआ है, जो घातक संघर्षों से बचने की चेष्टा करता हुआ अन्य सामाजिकताओं से सम्बन्ध जोड़ने की कोशिश करता है। इस प्रकार कुल छः श्रेणियों के समाजी हुए—

१. पाप-समाजी	असत्य-समाजी
२. विभ्रम-समाजी	
३. मत्त-समाजी	
४. भ्रम-समाजी	सत्यक-समाजी
५. छिन्न-समाजी	
६. सत्य-समाजी	

सामाजिकता के आधार अनेक होते हैं, देखना चाहिये कि उन आधारों पर खड़े हुए समाज किस श्रेणी के हैं। पाप-समाजी तो हेय हैं ही। पर, धर्म--जाति--राष्ट्र, सभ्यता आदि अच्छे आधारों पर खड़े हुए समाजों के सदस्य अपने अपने रूप में सत्य-समाजी बनें, वे विभ्रम-समाजी, मत्त-समाजी, भ्रम-समाजी, या छिन्न-समाजी न बनें—ऐसी कोशिश होना चाहिये।

सामाजिकता के चिन्ह—

सामाजिकता कितनी गहरी है या कितनी मात्रा में है-इसका निर्णय करने के लिये इन बारह बातों का विचार करना चाहिये। १—संगठन, २—विवाह, ३—सहभोज, ४—सहायता ५—व्यवस्था ६—सहविकास, ७—सहसाधना, ८—सहानुभूति, ९—सभ्यता, १०—संस्कृति, ११—शिष्टाचार, १२—भाषा।

इन बारह बातों में जितनी एकता होगी सामाजिकता उतनी ही गहरी होगी और जितनी कमी होगी सामाजिकता उतनी उथली होगी। हां, यह हो सकता है कि इनमें से किसी एकाध बात की कमी हो और दूसरी बातें इतनी अधिक मात्रा में हों कि उस कमी की पूर्ति हो जाय। फिर भी, इस बात की कोशिश होना चाहिये कि एक समाज के भीतर उपर्युक्त बारह बातें अधिक से अधिक मात्रा में हों। उन बारह बातों का संक्षिप्त विवेचन यहां कर दिया जाता है—

(१) **संगठन**— जिस प्रकार शरीर में अनेक अंग होते हैं, उनके आकार और कार्यों में विभिन्नता भी रहती है, पर सबका इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध रहता है कि एक का हानि लाभ सबका हानि-लाभ बन जाता है। सभी अंग एक दूसरे की रक्षा में सेवा में तथा सामूहिक

रूप में सारे शरीर को जीवित रखने में प्रयत्न-शील रहते हैं। उसी प्रकार समाज को एक शरीर मानकर सब सदस्यों का उसके अंग की तरह व्यवहार करना, कोई ऐसी चेष्टा न करना जिसमे शरीर को हानि पहुँचे, एक दूसरे के सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझना, सेवा सहायता आदि के लिये तैयार रहना आदि संगठन है। संगठन सामाजिकता का मूल या प्राण है। इसके होने पर बाकी अन्य चिन्ह प्रगट होने लगते हैं।

(२) **विवाह**— विवाह-शादी सामाजिकता का महत्वपूर्ण चिन्ह है। अगर यह न हो तो सामाजिकता को बिलकुल लँगड़ी समझना चाहिये। अनेक कुटुम्बों के समूह को समाज कहते हैं और कुटुम्बों को स्थायी रूप में मिलाने का मुख्य महत्वपूर्ण साधन विवाह है। जो लोग अपने को एक समाज का कहते हैं, पर परस्पर शादी-विवाह नहीं कर सकते—वे सामाजिकता की हँसी उड़ाते हैं।

(३) **सहभोज**--विवाह की अपेक्षा कुछ कम गहरा किन्तु उसकी अपेक्षा अधिक व्यापक, सामाजिकता का चिन्ह है सहभोज, अर्थात् साथ बैठकर खाना—एक दूसरे के घर भोजन करना। सहभोज के अभाव में वैवाहिक सम्बन्ध भी नहीं रह सकता, तथा सामाजिकता के अन्य बहुत से चिन्हों में भी बाधा आती है। साथ बैठकर खाने से या एक दूसरे के यहाँ खाने से परस्पर प्रेम सहयोग आदि बढ़ता है। सामाजिकता के लिये यह जरूरी है

(४) **सहायता**—एक दूसरे के दुःख में सहायता करना, कार्य के बोझ में हाथ बटाना, थोड़े अंश में अमाप-विनिमय का परिचय देना, आदि सहायता से एक सामाजिकता का परिचय मिलता है।

(५) **व्यवस्था** -कोई एक दूसरे पर आक्रमण न कर सके या बाहर का कोई आक्रमण न हो सके, न्याय की रक्षा हो, निर्बलों को या अकेले आदमी को सनाथता का अनुभव होता रहे, आदि व्यवस्था के काम सामाजिकता का परिचय देते हैं।

(६) **सहविकास**-- सबका सामूहिक विकास हो सके---इसके लिये मिल-जुलकर शिक्षण आदि का प्रबन्ध करना, प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक कुटुम्ब, सदाचार में, ज्ञान में, बल में, स्वास्थ्य में, कला में, धन आदि में अधिक समुन्नत हो सके, इसलिये सामूहिक प्रयत्न करना सहविकास है।

(७) **सहसाधना**— किसी भी लौकिक या पारलौकिक कल्याण के लिये, किसी संकट का सामना करने के लिये मिल-जुलकर साधना करना प्रयत्न करना सहसाधना है।

(८) **सहानुभूति**— अगर कोई सहायता आदि न कर सके तो भी अपने सामाजिक सदस्य के सुख-दुःख में अपनी प्रसन्नता या दुःख प्रगट करना, आवश्यक सेवा करने की तैयारी बताना आदि सहानुभूति है।

(९) **सभ्यता**--दूसरे के अधिकार और सुविधा अधिक से अधिक रक्षित रह सकें--ऐसे सद्व्यवहार का नाम सभ्यता है। व्यक्तिगत रूप में तो प्रायः हरएक समाज में सभ्य से सभ्य और असभ्य से असभ्य व्यक्ति मिल जाते हैं, पर बहुभाग को देखते हुए हरएक समाज में सभ्यता के कुछ अंगों का काफी स्थान पाया जाता है, जो साधारणतः दूसरे समाजों में नहीं होता या कम-ज्यादा होता है। इस सभ्यता से भी किसी समाज की एक सामाजिकता का पता लगता है।

१० संस्कृति-मनुष्य को सभ्य और समुन्नत बनाने के लिये बाल-काल से ही जो असर डालने का प्रयत्न किया जाता है उसे संस्कृति कहते हैं। इसी संस्कृति के लिये बहुत से रीति-रिवाज़ बनाये जाते हैं, समाज के प्रत्येक सदस्य में अमुक आदतें पैदा करने की या रक्षित रहने की कोशिश की जाती है। खान-पान वेष-भूषा आदि में भी समानता रखने की कोशिश की जाती है। संस्कृति भी एक सामाजिकता का ख़ास चिन्ह है।

११ शिष्टाचार—भक्ति-प्रेम-वात्सल्य-आदर आदि प्रगट करने के तरीकों का नाम शिष्टाचार है। यह एक तरह की कायिक भाषा है। किसी न किसी तरह का शिष्टाचार हरएक समाज में पाया जाता है। शिष्टाचार के अन्तर से सामाजिकता में भी अन्तर माळूम होने लगता है। शिष्टाचार की व्यापकता और उच्चता से सामाजिकता ऊँची समझी जाती है।

१२ भाषा-अपने विचारों को प्रगट करने का तरीका भाषा है। हरएक मनुष्य और पशु पक्षी आदि की भी भाषा होती है। पर भाषा दो तरह की होती है—सहज और संस्कृत। जन्म से ही या किसी के बिना सिखाये ही प्राणी जिस भाषा का प्रयोग करने लगता है वह **सहज-भाषा** है। यह पशु-पक्षी तथा मनुष्य के अबोध बच्चों को भी आती है। पर स्वर व्यञ्जनों को मिलाकर शब्द या वाक्यमय जो भाषा होती है वह **संस्कृत-भाषा** है—इसे सीखने के लिये मनुष्य के ऊपर संस्कार डालना पड़ते हैं।

हिन्दी गुजराती, मराठी, बंगाली, पंजाबी, उड़िया, आसामी, कनडी, तामिल, तेलगु, मलयानिल, संस्कृत, प्राकृत, अरबी, फ़ारसी, चीनी, जापानी, अंग्रेज़ी, जर्मन, फ्रेंच, रूसी आदि सैकड़ों संस्कृत भाषाएँ दुनिया में चलती हैं। मनुष्य सरीखे विकसित प्राणी का काम सहज भाषा से नहीं चल सकता, उसे एक न एक संस्कृत भाषा की आवश्यकता होती है तभी वह अपने विचार अच्छी तरह प्रगट कर पाता है। एक समाज के लिये एक भाषा ज़रूरी-सी चीज़ है।

समाज-भेद के आधार—

समाज-भेद के आधार अनेक हैं— कुछ ज़रूरी हैं, कुछ गैरज़रूरी, कुछ सुधारने लायक हैं - कुछ मिटा डालने लायक,—इन बातों का निर्णय करने के लिये देखना चाहिये कि उपर्युक्त बारह चिन्हों में से उसमें कितने चिन्ह हैं? और उपर्युक्त छः श्रेणियों में से वह किस श्रेणी में आता है? इन्हीं बातों के विचार से यह कहा जा सकता है कि अमुक समाज-रचना तथ्याधार है या द्वेषाधार है या मृताधार है?

जिस समाज का आधार उचित कहा जा सकता हो और वह अभी भी मौजूद हो, उसे **तथ्याधार** समाज कहते हैं। जैसे, राष्ट्र-भेद के आधार पर खड़े हुए समाज।

जिस समाज का आधार द्वेष-स्वार्थ-अहंकार आदि होता है, उसे **द्वेषाधार** समाज कहते हैं। जैसे, किसी एक धर्म के भीतर पैदा हुई दलबन्दियों के आधार पर बने हुए समाज।

जिस समाज का वास्तविक आधार नष्ट हो गया हो, जिसकी कोई आवश्यक विशेषता न रह गई हो, सिर्फ रूढ़ि या परम्परा के मोह के कारण ही जिसका अस्तित्व रह गया हो वह **मृताधार-समाज** है। जैसे, हिन्दुओं के भीतर बने हुए हज़ारों जाति-उपजाति के भेद। द्वेषाधार या मृताधार समाजों के भेद मिटा डालना चाहिये

और तथ्याधार-समाजों के भेद रक्खे जा सकते हैं। इनमें भी इस बात का विचार करना चाहिये कि वे मानवता के विरुद्ध तो नहीं हैं? उसका उपयोग विश्वहित के विरुद्ध या न्याय के विरुद्ध तो नहीं होता?

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और ज्यों-ज्यों इसका विकास होता गया त्यों-त्यों इसके जीवन के पहलू बढ़ते गये और उसने हरएक पहलू के आधार पर समाज-रचना की, इसलिये एक ही मनुष्य एक ही समय में अनेक तरह के समाजों का सदस्य होता है। उनमें मूढ़ाधार और द्वेषाधार समाजों की सदस्यता को तो दूर ही कर देना चाहिये और तथ्याधार समाजों की सदस्यता परस्पर घातक न हो इसका भी खयाल रखना चाहिये, जिससे वह असत्य-समाजी या सत्यक-समाजी बनकर न रह जाय। हरएक तरह की सामाजिकता की एक मर्यादा होती है—उसकी रक्षा करना जरूरी है।

सामाजिकता की मर्यादा बना लेने पर बहुत-सी जटिल समस्याएँ हल हो जाती हैं। फिर किसी व्यक्ति के सामने यह जटिल प्रश्न नहीं रह जाता कि वह अपने को पहिले राष्ट्रीय कहे या धार्मिक, वह अपने को पहिले भारतीय माने या पहिले मुसलमान आदि। धार्मिकता और राष्ट्रीयता की मर्यादा बना लेने पर वह अपनी अपनी मर्यादा के भीतर अपनी अपनी सामाजिकता में प्रथम हो सकता है। राजनैतिक आर्थिक आदि क्षेत्रों में भारतवासी हरएक हिन्दू या मुसलमान पहिले भारतीय होगा, पर आध्यात्मिक विकास आदि में वह पहिले हिन्दू या मुसलमान होगा, इस प्रकार अपनी अपनी जगह वह पहिला भी होगा और राष्ट्रीयता-धार्मिकता आदि में परस्पर संघर्ष भी न होगा। यहां कुछ खास-खास तरह के समाजों के नाम दिये जाते हैं, फिर उनकी मर्यादाएँ और कर्तव्य निश्चित किये जायँगे।

१. **दैशिक-समाज**—इनमें राष्ट्रीयता की मुख्यता है। भारतीय, चीनी, जापानी, रूसी, तुर्की, मिस्री, जर्मन, फरासीसी, अंग्रेजी आदि समाज राष्ट्र के आधार पर खड़े हैं। पर बड़े बड़े देशों में या संयुक्त राज्यों में राष्ट्रीयता के भीतर प्रान्तीय समाजों की भी संख्या होती है। उनकी भी कुछ मर्यादा और कर्तव्य होते हैं। इसी प्रकार नगर या ग्राम, और मुहल्लों के भी समाज बन जाते हैं, उनकी भी मर्यादाएँ और कर्तव्य होते हैं।

२. **धार्मिक-समाज**—इसमें सदाचारी बनने सदाचार का पाठ पढ़ने, सभ्यता का विकास करने आदि का समावेश होता है। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, बौद्ध, पारसी आदि अनेक धार्मिक-समाज हैं।

३. **आजीविक-समाज**- आजीविका की सुविधा के लिये जो समाज बन जाते हैं—वे आजीविक-समाज हैं। पहिले जमाने में ब्राह्मण क्षत्रिय-वैश्य और अनेक तरह के शूद्र समाज थे। आज ये मूढ़ाधार हैं, पर फिर भी आजीविका की समानता से समाज बनते रहते हैं और अमुक अंश में बने हुए हैं।

समाज-रचना के ये मुख्य तीन ही कारण हैं और जो अनेक कारण हैं—वे इन तीन से ही सम्बन्ध रखते हैं। अथवा, इन-तीन से सम्बन्ध नहीं रखते तो उनका कारण—अहंकार, कोई कल्पित या निरर्थक वंशानुक्रम, कोई गलतफ़हमी आदि होता है, इसलिये उन्हें असत्य-समाज कहना चाहिये।

इस प्रकार के असत्य-समाज पैदा ही न हों तो ठीक है। और अगर पैदा ही हो जायँ तो शीघ्र ही इन्हें मिटा डालना चाहिये, अर्थात् अपने मूल-समाज में मिला देना चाहिये, अथवा नाम-मात्र का अन्तर रखने-वाले अनेक समाजों को मिलाकर एक समाज बना देना चाहिये। यहां कुछ उदाहरण देकर इस विषय को स्पष्ट कर दिया जाता है।

१—हम चन्द्र के वंशज हैं, हम सूर्य के वंशज हैं, हम ईश्वर के मुनीम (चित्रगुप्त) के वंशज हैं—आदि कल्पित वंशानुक्रम के आधार पर बने हुए समाज असत्य हैं। हां! यह हो सकता है कि किसी ने कभी अपनी ध्वजा में या मुकुट में या और कहीं चन्द्र का निशान बनाया हो या सूर्य का निशान बनाया हो और धीरे-धीरे वे दल समाज के रूप में परिणत हो गये हों, किसी ने मुनीमी का या लिखने का व्यवसाय स्वीकार कर लिया हो और पौराणिक कल्पना के आधार पर वह चित्रगुप्त का वंशज अपने को कहने लगा हो, तो आजीविका की दृष्टि से ही उस समाज के भेद का विचार करना चाहिये वंशानुक्रम की दृष्टि से नहीं।

२—किसी नगर या प्रान्त से सम्बन्ध रखने-वाले लोग देशान्तर में जाकर बस जायँ और वहां अपने गांव या प्रान्त के नाम से अलग समाज बना बैठें। जैसे—खंडेलवाल, पोरवाल, परवार (परावाल), अगरवाल, आदि। कालान्तर में जब इनमें कोई विशेषता नहीं रह जाती, तब ये सब समाज असत्य-समाज कहलाने लगते हैं, आजकल ये सब असत्य-समाज हैं।

३—कोई महत्व-पूर्ण मत-भेद न होने पर भी व्यक्तिगत द्वेष—पक्षपात—हठ आदि के कारण जब दो दल हो जाते हैं और उनके अलग-अलग समाज बन जाते हैं, तब वे समाज भी असत्य-समाज कहलाते हैं। जैसे—सर्वूपारि, खरौआ, लोहड़साजन-बड़साजन, शिया-सुन्नी, आदि हज़ारों की संख्या में ऐसे क्षुद्र भेद पाये जाते हैं।

इस प्रकार और भी समाज बनाये जाते हैं जिनमें निरर्थक या महत्वहीन रीति-रिवाजों के ही भेद हैं या ऐसे ही महत्वहीन मत-भेद हैं—ये सब असत्य-समाज हैं। भले ही उनके आधार-भूत रीति-रिवाजों को संस्कृति आदि का सुन्दर नाम क्यों न दिया जाता हो।

परम्परा के मोह के कारण बहुत से ऐसे समाज बने हुए हैं जिनमें न तो कोई विशेषता है और न जिनकी संख्या ही काफी है, वे मुश्किल से सहज-उपकुटुम्ब ही कहे जा सकते हैं, वे समाज के रूप में असत्य-समाज ही हैं, उन्हें दूसरों के साथ मिलकर एक विशाल समाज के रूप में परिणत हो जाना चाहिये।

खैर! दैशिक, धार्मिक और आजीविक समाज के बारे में यहां कुछ विस्तार से कह दिया जाता है।

दैशिक समाज—

एक समाज के निर्माण में देश की एकता मुख्य कारण है। एक देश का जल-वायु, साधन-सामग्री एक-सी होती है, दिन-रात का सम्बन्ध होने से भी एक का दूसरे पर काफी असर पड़ता है, इस तरह सामाजिकता के बारह चिन्ह एक देश के कारण पैदा हो जाते हैं। इसलिये कहना चाहिये कि समाज-रचना का प्रथम-रूप मूल-रूप आवश्यक-रूप दैशिक-समाज है, इसलिये यही मुख्य है। इसलिये जब किसी दूसरे तरह के समाज की रचना हो तब उसमें दैशिक-समाज की अधिक से अधिक रक्षा हो—ऐसी कोशिश

होना चाहिये।

देश की सीमाएँ समय समय पर बदलती रहीं हैं। ज्यों-ज्यों आने-जाने की सुविधा और एक दूसरे की जानकारी बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों देश का परिमाण भी बढ़ता जाता है। एक जमाना था जब दस-बीस कोस का ही देश बन जाता था। कहावत है कि 'बारह कोस पर भाषा बदल जाती है'। अब भले ही बारह कोस पर भाषा न बदलती हो, पर किसी जमाने में आने-जाने के साधन कम होने से और उसकी आवश्यकता भी कम होने से थोड़ी-थोड़ी दूर पर ही भाषा बदल जाती थी, पर वह मनुष्य की प्रारम्भिक अवस्था थी। मनुष्य को आख़िर अपनी दैशिक सीमा को बढ़ाना ही है और एक दिन ऐसा लाना है—जब सारी पृथ्वी का एक देश होगा। पर, आज भी एक देश का परिमाण कम न होना चाहिये। देश की सीमा निम्नलिखित बातों के आधार पर निश्चित होना चाहिये।

१–सीमा पर कोई दुर्लंघ्य पहाड़ या विशाल समुद्र हो। इन प्राकृतिक सीमाओं से घिरी हुई जगह को एक देश कहना चाहिये।

२–एक-शासन।

३–एक-भाषा।

इनमें से पहिला कारण ही मुख्य कारण है। दूसरे का महत्व उससे आधा है और तीसरे का उससे भी आधा।

धर्म-भेद के कारण या साधारण रीति-रिवाज या वेष-भूषा आदि के भेद के कारण किसी देश के टुकड़े नहीं करना चाहिये, और न किसी एक भू-भाग के निवासियों के अधिकार अधिक और दूसरे के कम होना चाहिये।

दैशिक समाज के कार्य – दैशिक-समाज का मुख्य कार्य एक सम्मिलित या समन्वित शासन-व्यवस्था बनाना है। उस शासन-व्यवस्था में सारे देश के हित की दृष्टि से न्याय, रक्षण, अर्थ-व्यवस्था और शिक्षण होना चाहिये। इसी के अनुरूप और भी ऐसे काम हो सकते हैं जो देश के हरएक निवासी के हित की दृष्टि से निःपक्ष होकर किये गये हों।

शासन-व्यवस्था कैसी हो? इत्यादि बातें आगे कही जायँगीं। यहां सिर्फ सामाजिक जीवन की दृष्टि से दैशिक-समाज के भेद बताये जाते हैं।

दैशिक-दृष्टि से समाज के पांच भेद हैं या हो सकते हैं—१. ग्राम, २. नगर, ३. प्रान्त, ४. राष्ट्र, ५. संयुक्त-राष्ट्र।

१. **ग्राम**—कुटुम्बों की छोटी-छोटी बस्तियों को ग्राम कहते हैं। नगरों की अपेक्षा ग्राम में खुली जगह अधिक होती है या होना चाहिये। संख्या छोटी होने से वास्तव में ग्राम-वासियों का पारस्परिक सम्बन्ध उपकुटुम्बियों सरीखा होना चाहिये। ग्रामों में बाहरी साधन इतने नहीं होते जितने नगरों में, इसलिये निम्नलिखित बातों का विचार कुछ विशेष रूप में रखना चाहिये—

(१) सहयोग—संख्या कम होने से साधन कम ही होते हैं, इसलिये साधनों की कमी को सहयोग से पूरा करना चाहिये। आग लगने आदि के संकट में सब ग्राम-वासियों को कुटुम्बियों की तरह मिलकर काम करना चाहिये। हरएक चीज़ की अनेक दूकान वहां नहीं हो सकतीं, इसलिये एक दूकानदार या कोई एक मजदूर मौके से लाभ उठाने के लिये अड़ जाय तो इससे ग्रामीण जीवन के दुख बढ़ जायँगे। ग्रामीण-जीवन नष्ट हो जायगा।

(२) स्वच्छता—नगरों के समान बड़ी-बड़ी

प्रबन्धक-संस्थाएँ ग्रामों में नहीं होतीं, इसलिये गंदगी फैलने की सम्भावना रहती है—उसकी स्वच्छता का इन्तजाम होना चाहिये। कुछ तो गन्दगी पैदा न करने के नियम बनाना चाहिये, जैसे—बस्ती के आस-पास ही टट्टी न जाना, जहां चाहे कूड़ा-कचरा न फेंकना आदि। इन सबके लिये नियत स्थान होना चाहिये जिससे इनका उपयोग खाद आदि के लिये हो सके। इसके अतिरिक्त साल में कुछ दिन ऐसे नियत करना चाहिये जब सब लोग मिलकर गांव भर की सफाई कर डालें। होली सरीखे त्यौहारों का यही उपयोग है। कीचड़ तथा गन्दा पानी उछालकर फैला देना जो आनेवाली कड़ी धूप में सूख जाय तथा इधर-उधर जमा हुआ कूड़ा-कर्कट जला डालना—ये ही सब होली सरीखे त्यौहारों के उपयोग हैं। खैर ! किसी भी तरह हो—सफाई रखना चाहिये।

(३) न्याय-रक्षा-यह स्वाभाविक है कि हरएक गांव में सरकार की तरफ़ से न्याय-रक्षण का पूरा प्रबन्ध न हो सके। इसलिये जनता को ही न्याय-रक्षण का काम करना चाहिये। गांव एक बड़ा-सा कुटुम्ब ही है, उसमें छोटी छोटी बातों के झगड़े पंचायती ढंग पर निबटा लेना चाहिये। खेतों के सीमाओं की रक्षा, खेतों के फसल आदि की रक्षा, जानवरों को नियन्त्रण में रखना कि वे फसल आदि नष्ट न कर जायँ, आदि छोटे-छोटे काम गांव-वालों को मिलकर कर लेना चाहिये।

(४) शिक्षण-प्रारम्भिक शिक्षण की व्यवस्था हरएक गांव में होना चाहिये, पर सिर्फ प्रारम्भिक शिक्षण से ही काम नहीं चल सकता, देश विदेश आदि की जानकारी भी होना चाहिये, इसके लिये ज़रूरी है कि एक वाचनालय की व्यवस्था हो।

(५) गांव सिर्फ कृषि-जीवी ही न हों, उनमें शिल्प को भी काफी स्थान होना चाहिये।

सामाजिकता के जो बारह चिन्ह पहिले बताये गये हैं—वे एक ग्राम में काफी मात्रा में होना चाहिये। हां, ग्राम उनकी सीमा नहीं है। विवाह आदि तो प्रायः ग्राम के बाहर ही ठीक होते हैं। हां, ग्राम-संगठन एक ज़रूरी चीज़ है और उसका उपयोग ग्राम की न्यायोचित रक्षा के लिये होना चाहिये। पुलिस वगैरह के द्वारा कभी अन्याय-पूर्ण कोई काम हो तो उसके विरोध में सारे गांव को संगठित होकर काम करना चाहिये। हां ! इस बात का ख़याल रहे कि इस संगठन के द्वारा अन्याय का समर्थन न किया जाय।

एक दूसरे की सहायता करना भी ज़रूरी है। गांव में कोई भूखा हो, कोई ऐसा रोगी हो जिसकी सहायता को कोई नहीं है, आदि अवसरों पर एक दूसरे की सहायता करना ज़रूरी है। इसी प्रकार सामाजिकता के अन्य चिन्हों का भी विचार करना चाहिये।

२. **नगर**—ग्राम के बारे में जो बातें कही गई हैं—वे बातें यथासम्भव नगर के बारे में भी समझ लेना चाहिये। हां ! नगर का रूप विशाल होने से वहां इतनी कौटुम्बिकता नहीं हो सकती जितनी ग्राम में। हां, उस कौटुम्बिकता के दर्शन मुहल्ले में या पास-पड़ोस में होना चाहिये।

नगर में संघर्ष की बहुत सम्भावना रहती है, इसलिये नागरिकों में व्यवस्था होना ज़रूरी है। 'व्यवस्था' सभ्यता की निशानी है। व्यवस्था, स्वच्छता, सभ्यता आदि की कुछ ख़ास-ख़ास सूचनाएँ यहां दी जाती हैं—

(क) रेल के स्टेशनों, सिनेमा घरों आदि पर टिकिट लेने में, सार्वजनिक नलों से पानी लेने में धाँधली से काम न लो, जो जिस नम्बर से आये उसी नम्बर से टिकिट ले-पानी भरे आदि। सब जगह इसी प्रकार क्रम-व्यवस्था से काम लेना चाहिये।

(ख) सड़कों पर जहां चाहे कचरा डाल देना, जहां चाहे थूक देना, जहां चाहे छिलके डाल देना, आदि ठीक नहीं।

(ग) बाग वगैरह में जाना और जहां बैठना वहां की जगह गंदी कर देना, जूटन डाल देना आदि ठीक नहीं।

(घ) खिड़की आदि से बिना देखे कचरा फेंक देना, थूक देना, आदि न करना चाहिये। सब काम देखकर ही करना चाहिये।

(ङ) एक दूसरे के घर के सामने कचरा आदि न डालो, अथवा अपनी चीजें इस प्रकार न रक्खो कि उसे आने-जाने बैठने-उठने में परेशानी हो।

(च, पड़ौसी से कभी कोई चीज़ उधार लेने की जरूरत पड़े तो लेकर जल्दी से जल्दी वापिस करो और उसे तोड़-फोड़कर या मैली-कुचैली करके न दो।

(छ) ऐसी चीज़ उधार न माँगो जिसका मूल्य उपयोग करने के बाद घट जायगा।

(ज) रात्रि में, जो सोने का समय है उसमें इस प्रकार गाना-बजाना न करो जिससे लोगों की नींद में बाधा आवे। इस प्रकार के पर्व-त्यौहार भी बन्द कर देना चाहिये या उनका समय शाम से लेकर सोने के समय तक निश्चित कर देना चाहिये।

(झ) अपने और वाहनों के आने-जाने के नियमों का पालन करो, जिससे तुम्हें और दूसरों को बाधा न पहुँचे।

(ञ) पड़ोस में अगर कोई मृत्यु या उसके समान बड़ी दुर्घटना हो गई हो तो यथाशक्य अपने आनन्दोत्सव के प्रदर्शन रोक दो या कम करो।

सूचनाओं के ये कुछ नमूने हैं, इससे और भी अनेक सूचनाओं को समझा जा सकता है। नागरिक-जीवन की ऐसी सूचनाओं में जो सूचनाएँ ग्राम-जीवन के लिये उपयोगी हैं—उनका पालन वहां भी करना चाहिये।

ग्राम और नगर एक दूसरे के पूरक हैं, दोनों की अपनी अपनी विशेषताएँ हैं, उनमें संघर्ष न होना चाहिये।

ग्राम-समाज और नगर-समाज अपनी अपनी नीति के कारण असत्य-समाज, सत्यक-समाज या सत्य समाज बन जाते हैं। अगर किसी ग्राम या नगर की जनता या कोई व्यक्ति दूसरे नगर या ग्राम से अकारणक विरोध करे, निन्दा करे, अपने नगर की प्रशंसा में दूसरे नगर की योग्य प्रशंसा को भुलाकर छिद्रान्वेषण करे, नगरों के संगठन का विरोध करे, तो वह ग्राम या नगर की दृष्टि से असत्य-समाजी कहलायगा।

जो इस प्रकार दूसरों का विरोध निन्दा आदि तो न करे, पर संगठन आदि पर उपेक्षा दिखलाय, दूसरे नगरों पर आये हुए संकट की जरूरी पर्वाह न करे, तो वह ग्राम नगर की दृष्टि से सत्यक-समाजी कहलायगा।

जो दूसरे नगरों आदि की उचित प्रशंसा करे, उनके साथ उचित संगठन का स्वागत करे, उनके सुख-दुःख में सहानुभूति आदि रक्खे, यथाशक्य सहयोग दे, तो वह ग्राम नगर की दृष्टि

से सत्य समाजी कहलायगा ।

३. प्रान्त-दैशिक-समाज का तीसरा रूप है प्रान्तीय-समाज । प्रान्त की रचना दो कारणों से हुआ करती है—एक तो भाषा के भेद के कारण, दूसरे शासन-प्रबन्ध की सुविधा के कारण । यद्यपि एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में नदी-पहाड़ आदि भौगोलिक आधारों से भी भेद हो सकता है, पर मुख्यता भाषा की है ।

एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में जल-वायु आदि का भी भेद रहता है, इसलिये उसके आधार से वहां के रीति-रिवाज भी कुछ जुदे-जुदे होते हैं, सार्वजनिक उत्सव त्यौहार आदि भी कुछ जुदे हो जाते हैं । यह सब होने पर भी और भाषा-भेद होने पर भी यह न भूलना चाहिये कि प्रान्त एक राष्ट्र के अविच्छेद्य अंग हैं । एक अंग जैसे दूसरे अंग का सहयोगी है—उसी प्रकार एक प्रान्त दूसरे प्रान्त का सहयोगी है । प्रान्तीयता का अभिमान कदापि न होना चाहिये । इस अभिमान का राष्ट्रीयता की वेदी पर बलिदान कर देना चाहिये ।

सुविधा के लिये प्रान्तीय भाषाएँ रहें, पर एक राष्ट्रीयता के लिये एक राष्ट्र-भाषा भी होना चाहिये । और प्रान्तीय-भाषा के सिवाय उसका उपयोग भी काफी करना चाहिये । अपने घरेलू या स्थानीय काम प्रान्तीय-भाषा में और सार्वजनिक या व्यापक काम राष्ट्रीय-भाषा में करना चाहिये ।

अगर कोई मनुष्य एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में जाकर बस जाय, तो उस प्रान्त की भाषा अपना लेना चाहिये, साथ ही राष्ट्रीय-भाषा का उपयोग करना चाहिये । अपने प्रान्त की भाषा दूसरे प्रान्तों में चलाने की कोशिश करना ठीक नहीं, इससे प्रान्तीय पक्षपात और द्वेष पैदा होता है।

जो लोग पीढ़ियों से एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में जाकर बस गये हैं, पर वहां जाकर अपनी मूल प्रान्तीयता को भुला नहीं सके, दूसरे प्रान्तों में भी अपने प्रान्त वालों का संगठन करके उस प्रान्त के लोगों से अपना जुदापन दिखाते हैं—वे अपनी दृष्टि से उस प्रान्त-वालों की दृष्टि से और मानवता की दृष्टि से अच्छा नहीं करते हैं । उनकी समृद्धि दूसरे प्रान्त-वालों को चुभती है, वे समझते हैं कि ये लोग तो हमारे प्रान्त को लूटने आये हैं । इसलिये यह ज़रूरी है कि जिस प्रान्त में जाकर बसो, उसी में पूरी तरह मिलने की कोशिश करो । अपनी भिन्न प्रान्तीयता का प्रदर्शन न करो । हां ! भाषा-वेष आदि एक दिन में नहीं बदल जाते और वयस्क आदमी तो उसे जीवन भर नहीं बदल पाते तो कोई बात नहीं, तुम न बदलो, पर अपनी सन्तान को बदलने के लिये सुसंस्कृत अवश्य करो ।

हां ! जिस प्रान्त में जाकर तुम बसे हो वहां के उन रीति-रिवाजों को अपनाने की ज़रूरत नहीं है जो जीवन के लिये हानिकर हैं, विवेक के द्वारा निष्पक्ष निर्णय करके तुम्हें काम करना चाहिये । इसी प्रकार असुविधा-जनक हानिकर वेष-भूषा आदि को भी अपनाने की ज़रूरत नहीं है ।

अपने मूल-प्रान्त के रीति-रिवाज दूसरे प्रान्त में तभी ले जाओ जब वे उस प्रान्त की दृष्टि से भी उपयोगी मालूम हों । इसी प्रकार उस प्रान्त के रीति-रिवाजों का विचार भी निष्पक्ष होकर उपयोगिता की दृष्टि से करना चाहिये ।

प्रान्तीयता को लेकर भी असत्य-समाजी आदि तीन तरह के समाजी बनते हैं ।

इस दृष्टि से सभी को सत्य-समाजी बनना चाहिये। तीनों के कुछ चिन्हों का यहां उल्लेख किया जाता है।

प्रान्तीय असत्य-समाजी में निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं—

१—वह दूसरे प्रान्त की भाषा, वेष-भूषा आदि का परायेपन के कारण निंदक होता है।

२—वह दूसरे प्रान्तों में जाकर भी वहां वालों से घृणा करता है और उनके विरोध में अपने प्रान्त-वालों का अलग संगठन करता है।

३—वह अपने प्रान्त के निरुपयोगी रीति रिवाजों को भी दूसरे प्रान्तों में चलाता है और अगर दूसरे प्रान्त में रहता है तो वहां के उपयोगी रीति-रिवाजों को भी परायेपन के कारण नहीं अपनाता।

४—वह अपने प्रान्त को राष्ट्र से अलग करने की कोशिश करता है। अथवा राष्ट्र-हित के विरुद्ध भी अपने प्रान्त-हित को मुख्यता देता है।

५—वह प्रान्तीयता के मोह के कारण किसी दूसरे प्रान्त की ऐसी भाषा को, जो राष्ट्र-भाषा के योग्य हो, राष्ट्र-भाषा मानने से इन्कार करता है।

६—अगर उसके प्रान्त की भाषा राष्ट्र-भाषा मानली जाती है तो इस बात के घमंड में, वह दूसरे प्रान्त के साहित्य की या भाषा आदि की निन्दा करता है। उसे तुच्छता की दृष्टि से देखना है।

७—दूसरे प्रान्त के आदमी अगर उसके प्रान्त में बस जाते हैं और वे पूरी तरह मिलने की कोशिश करते हैं तो वह उनको मिलाने का विरोध करता है।

८—वह राजनीति तथा अन्य क्षेत्रों में अपने प्रान्त-वाले के साथ पक्षपात करता है, दूसरे प्रान्त-वाले को उचित न्याय नहीं देता।

इसी प्रकार की और भी कुछ चिन्ह समझे जा सकते हैं। किसी राष्ट्र में जब प्रान्तीय असत्य-समाजियों का जोर बढ़ जाता है तब उस राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, वह राष्ट्र निर्बल हो जाता है, कदाचित् गुलाम भी हो जाता है। अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार छिन्न-भिन्न-सा हो जाने से सभी की असुविधा बढ़ जाती है, आर्थिक-सहयोग न होने से देशव्यापी गरीबी तबाह करने लगती है, अथवा आर्थिक-विकास रुक जाता है। इसलिये प्रान्तीय असत्य-समाजियों की संख्या कम करना चाहिये और ऐसी मनोवृत्ति का त्याग करना चाहिये।

प्रान्तीय सत्यक-समाजियों के चिन्ह भी इनसे समझे जा सकते हैं। इनमें इतनी विशेषता है कि असत्य-समाजी जहां निंदक, विरोधी और पक्षपाती होता है—वहां सत्यक-समाजी तटस्थ या उपेक्षक होता है। ये राष्ट्र-निर्माण में बाधक तो नहीं बनते पर साधक भी नहीं बनते हैं।

प्रान्तीय सत्य-समाजी के चिन्ह निम्नलिखित हैं।

१—वह भाषा को सरल से सरल तरीके से अधिक से अधिक व्यक्तियों के सामने विचार प्रगट करने का तरीका समझता है। अभ्यास-वश वह किसी भी भाषा का प्रयोग क्यों न करे, पर उसकी दृष्टि सरल और व्यापक भाषा पर रहती है। तथा अन्य भाषाओं को भी सरस्वती का अंग समझकर आदर की दृष्टि से देखता है।

२—अगर उसके प्रान्त की भाषा राष्ट्र-भाषा मान ली जाती है तो इससे वह अभिमान नहीं करता, बल्कि राष्ट्रीयता की वेदी पर कुछ चढ़ाने का मौका उसे कम मिला, इसका कुछ

सदाचार सत्संग वय, भोजन एक विचार।
ब्रह्मचर्य विद्या स्वास्थ्य धन, सत् शिक्षित व्यवहार।
रूप देश-अनुकूलता, और परस्पर चाह।
ये बारह गुण हों जहां करना वहां विवाह॥

इसलिये ग्राम-नगर की सामाजिकता का सम्बन्ध विवाह से कम है। हां, देश-अनुकूलता का विचार करने से एक प्रान्त में वैवाहिक सम्बन्ध सुविधाजनक होता है; क्योंकि इससे भाषा तथा पारस्परिक सहयोग की सुविधा रहती है। फिर भी विवाह के लिये प्रान्त सीमा का काम नहीं दे सकते हैं। राष्ट्रीय एकता को पैदा करने के लिये अन्तर्प्रान्तीय विवाह होना ज़रूरी है। पर, एक प्रान्त-वाला दूसरे प्रान्त में बस जाय; किन्तु विवाह आदि का सम्बन्ध अपने मूल प्रान्त में ही जाकर करे तो यह अन्तर्प्रान्तीय विवाह न कहलायगा। ऐसे अवसर पर तो अपने मूल प्रान्त को भुलाकर उस प्रान्त में शादी करना उचित है, जिसमें वह बस गया है।

राष्ट्र को विवाह क्षेत्र की सीमा बनाना बुरा नहीं है। फिर भी इसे स्वाभाविक और सुविधाजनक ही कहा जा सकता है—आवश्यक नहीं। अगर उपर्युक्त बारह गुण मिलें तो अन्तर्राष्ट्रीय विवाहों को उत्तेजन अवश्य देना चाहिये।

जो लोग यह सोचते हैं कि हमारे राष्ट्र की नस्ल ही ऊँची नस्ल है। उसमें किसी दूसरे राष्ट्र का मिश्रण न होना चाहिये। हमारी नस्ल तो ईश्वर के द्वारा संसार पर शासन करने के लिये भेजी गई है'—ये सब विचार-धाराएँ असत्य-समाजी विचार-धाराएँ हैं। इन्हें दूर करके विवाह का क्षेत्र विस्तृत से विस्तृत बनाना चाहिये। हां! उनमें उपर्युक्त बारह गुणों का विचार अवश्य कर लेना चाहिये। हां! अगर यह मालूम हो कि किसी साम्राज्यवादी राष्ट्र की स्त्रियां इसलिये किसी राष्ट्र में विवाहित होकर जाना चाहती हैं कि वे अपने राष्ट्र के साम्राज्यवाद में सहायक बनें, तो ऐसे विवाह मानवता के अनुकूल न कहलायेंगे। पर, ये सब आपवादिक बातें हैं। साधारणतः वैवाहिक सम्बन्ध का क्षेत्र विशाल से विशाल होना चाहिये। दैशिक सीमाएँ कम से कम बाधाएँ डाल सकें, ऐसी कोशिश करना चाहिये।

सहभोज—सहभोज का सम्बन्ध ग्राम, नगर प्रान्त राष्ट्र, संयुक्त-राष्ट्र में सीमित नहीं है। जहाँ स्वास्थ्यकर स्वच्छ स्वादिष्ट भोजन मिले और भोजन करने में अपने आत्म-गौरव को धक्का न लगे वहां भोजन करने में आपत्ति न करना चाहिये। आत्म-गौरव को धक्का न लगने का मतलब यह है कि जो लोग अपने साथ भोजन करने में तौहीन समझते हों—उनके साथ भोजन करना आत्म-गौरव की दृष्टि से ठीक नहीं। हां! आवश्यकता-वश भोजन करने में कोई हानि नहीं। साधारणतः सहभोजन विश्व के सब जातियों के मनुष्यों के साथ करना चाहिये। भोजन में जाति-पाँति के विचार को मुख्यता देना असत्य-समाजी बन जाना है।

सहायता—एक दूसरे के दुःख में सहायता करने का सम्बन्ध यद्यपि विश्व-मात्र से है; फिर भी इसमें अन्य तरह के सम्बन्धों का भी विचार करना पड़ता है, जिससे सहायता की जिम्मेदारी में तरतमता हो जाती है। फिर भी, अगर कोई दूसरा सम्बन्ध जबर्दस्त न हो तो दैशिक सम्बन्ध में जहां जितनी निकटता है—वहां सहायता की जिम्मेदारी उतनी ही अधिक है। मानव-मात्र की या संयुक्त-राष्ट्र की अपेक्षा अपने राष्ट्रीय

व्यक्ति की सहायता की जिम्मेदारी अधिक है। इसी प्रकार प्रान्त या नगर आदि के व्यक्ति की। हां! इसका यह मतलब नहीं है कि नगर-हित के लिये प्रान्त-हित का या प्रान्त-हित के लिये राष्ट्र-हित आदि का बलिदान कर देना चाहिये। अधिक से अधिक बहुजन-हित का विचार सदा करना चाहिये।

व्यवस्था—न्याय आदि की व्यवस्था में दैशिक आधार की मुख्यता है। अपने आस-पास न्याय आदि की व्यवस्था के लिये विशेष और पहिले प्रबन्ध करना पड़ता है। पर, न्याय में संकुचित दृष्टि का उपयोग करना—पक्षपात से काम लेना असत्यसमाजीपन है। इसी प्रकार दूसरे देश में बसकर वहां न्याय के लिये विशेष अधिकार माँगना आदि भी ठीक नहीं है।

सहविकास—सामूहिक विकास के लिये दैशिक-समाज की सीमाएँ ज्यादः व्यावहारिक होती हैं। यद्यपि यह बात स्वाभाविक और क्षन्तव्य है कि मनुष्य सहविकास के कार्य में कौटुम्बिकता को प्रधानता दे। फिर भी, धर्म या जीविका आदि के नाम पर खड़े हुए समाजों में सहविकास की दृष्टि से ऐसा पक्षपात न होना चाहिये—जिससे दैशिक निकटता का अपमान हो। हां! यह बात दूसरी है कि विश्व-हित या बहुजनहित की दृष्टि से गुणों को महत्ता दी जाय और गुणी अर्थात् विश्वहितार्थी लोगों को प्रथम अवसर दिया जाय, पर इस प्रकार का प्रथम अवसर गुण के कारण ही देना चाहिये—जन्म के कारण नहीं।

सामाजिक सुव्यवस्था के लिये सहविकास भी जरूरी है। सुशिक्षित और संयमी समाज में जो व्यवस्थाएँ जितनी सफल हो सकती हैं—उतनी अशिक्षित और असंयमी समाज में नहीं। व्यक्ति यद्यपि अपनी योग्यता से काफी विकास कर सकता है, पर फिर भी सामाजिक वातावरण उसके विकास को न्यूनाधिक बनाने में काफी सहायक होता है, इसलिये व्यक्ति के विकास के लिये और सामाजिक सुव्यवस्था के लिये सहविकास जरूरी है।

अगर कोई दैशिक-समाज के भीतर किसी संकुचित समाज का निर्माण करके सिर्फ उसी के सहविचार की चिन्ता करता है, तो उससे समाज-रचना का ध्येय पूरा नहीं हो पाता। क्योंकि पास-पड़ौस का असर सबसे ज्यादा पड़ता है। दैशिक परिस्थिति अन्य सामाजिक विशेषताओं को भी नष्ट कर देती है। जहाँ चारों तरफ असभ्य, चोर, व्यभिचारी, क्रूर व्यक्ति बसे हुए हों—वहाँ कोई कितना ही सभ्य ईमानदार आदि क्यों न हो उसके जीवन पर उस परिस्थिति का असर पड़ेगा। किसी खास सुधारक महात्मा की बात दूसरी है। बल्कि देखा तो यहाँ तक गया है कि उन महात्माओं के जीवन पर भी परिस्थिति का असर पड़ता है। इसीलिये म. राम को शिकारी के रूप में देखा जा सकता है, दयालु ईसा भी मांसभक्षी पाये जाते हैं, हजरत मुहम्मद के अनेक पत्नियाँ देखी जाती हैं। मतलब यह कि दैशिक परिस्थिति का बड़ा प्रभाव होता है। इसलिये दैशिक समाज को छोड़कर या उस पर उपेक्षा करके सहविकास की जो चेष्टा की जाती है, वह जैसी चाहिये वैसी सफल नहीं होने पाती। इसलिये सहविकास के लिये पूरी कोशिश करना चाहिये। हमारा गांव, हमारा नगर, हमारा प्रान्त, हमारा देश, ज्ञान संयम शक्ति आदि की दृष्टि से विकसित बने—यह तो आवश्यक कर्तव्य है ही, साथ ही सारे विश्व को विकसित बनाने की जरूरत

है, अन्यथा विश्व-शांति सुरक्षित न रहेगी और उसका बुरा असर हमारे गांव, नगर, प्रान्त और राष्ट्र पर भी पड़ेगा।

सहसाधना-धार्मिक आदि समाजों की रचना सहसाधना के आधार पर हुआ करती है। पर दैशिक समाज-रचना में भी सहसाधना की पूरी ज़रूरत है। कुछ साधनाएँ या साधनाओं के तरीके ऐसे हो सकते हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्ति से ही या कुछ व्यक्तियों के सम्मिलित समूह से या संस्था से हो, जैसे तुम अपने शरीर को स्वस्थ और पुष्ट बनाने के लिये कैसा व्यायाम करो या न करो आदि साधना के काम अपनी अपनी रुचि पर निर्भर हैं। इसी प्रकार ईश्वराराधन आदि की साधना भी अपनी अपनी रुचि पर निर्भर कही जा सकती है। पर, गांव या नगर को साफ रखना हो, देश को स्वतन्त्र करना हो, उसकी आर्थिक उन्नति करना हो, उत्पादन शक्ति बढ़ाना हो आदि, तो दैशिक-समाज के रूप में सहसाधना की ज़रूरत है। ऐसे मामलों में धर्म या जीविका आदि के आधार पर अपनी अपनी अलग साधना करना उचित नहीं; क्योंकि इससे काम तो होगा नहीं, संघर्ष ही बढ़ेगा।

धार्मिक या अन्य किसी तरह की जो साधनाएँ अपनी अपनी रुचि पर निर्भर हैं—उनमें इस बात का सदा ख़याल रखना चाहिये कि उनका दैशिक-समाज के हितों से विरोध न हो। बल्कि सच पूछा जाय तो अन्य समाजों की साधनाएँ दैशिक-समाज के लिये होना चाहिये। नमाज पूजा आदि में व्यक्ति स्वतन्त्र है, पर इनका उद्देश यही है कि तुम खुदा या ईश्वर की याद करके हरएक आदमी के बारे में ईमानदार रहो। इस प्रकार हरएक समाज की साधनाएँ दैशिक-समाज की साधनाओं की पूरक होना चाहिये। अगर नमाज और पूजा के नाम पर झगड़े हों तो समझना चाहिये कि यह साधना नहीं है। यह तो अहंकार या शैतानियत है। मतलब यह है कि दैशिक सहसाधना तो है ही, पर अन्य समाजों की साधनाएँ भी दैशिक साधनाओं के कार्य में सहायक होना चाहिये।

८ सहानुभूति—हर तरह के सामाजिक जीवन में सहानुभूति अत्यन्त आवश्यक है। आवश्यक तो सहायता है, पर यह हो सकता है कि परिमित शक्ति के कारण मनुष्य सहायता न कर सके पर सहानुभूति तो काफी सुलभ है। पड़ौस में कोई मर गया हो और तुम्हारे यहां आनन्दोत्सव के बाजे बजें, तो इससे दैशिक सामाजिकता नष्ट होती है। यह ठीक है कि पड़ौस के बारे में जो सहानुभूति प्रगट की जा सकती है—वह दूसरे गांव के बारे में नहीं की जा सकती; फिर भी इसका विचार घटना की दृष्टि से करना चाहिये। व्यक्तिगत संकट में पड़ौसी व्यक्ति की सहानुभूति आवश्यक हो सकती है, पर गांव पर संकट हो तो आस-पास के गांवों की सहानुभूति आवश्यक है। इसी प्रकार प्रान्त के लिये आसपास के प्रान्तों की, राष्ट्र के लिये आसपास के या सम्बन्धित राष्ट्रों की सहानुभूति आवश्यक है। जो बात सहानुभूति के बारे में कही गई है—वही बात सहायता के बारे में भी समझना चाहिये।

ख़याल रखने की बात इतनी है कि अन्य प्रकार की सामाजिकताओं के कारण होने-वाली सहानुभूति और सहायता दैशिक-सामाजिकता की राह में खटकने-वाली न हो। ख़ास-ख़ास जिम्मेदारियों की बात दूसरी है, उनमें मनुष्य

अन्य सामाजिकताओं को मुख्यता दे सकता है, पर साधारणतः दैशिक-समाज में सहानुभूति आदि का विचार पूरी तरह करना चाहिये। इनसे अन्य सामाजिकताओं की शोभा बढ़ती है- उपयोगिता बढ़ती है।

सभ्यता—सभ्यता के बिना सामाजिकता नहीं रह सकती, सामाजिकता के लिये ज़रूरी है कि एक दूसरे की सुविधा का ख्याल रक्खा जाय यही तो सभ्यता है। ज्यादा पढ़ लिख जाना, ज्यादा ताकतवर होना, ज्यादा धनवान होना आदि सभ्यता की निशानी नहीं है, उसका सम्बन्ध एक तरह के संयम से आत्मौपम्य भाव से है। रहन-सहन मिलने-जुलने बोलचाल, ईमानदारी, आदि से सभ्यता का पता लगता है। रहन-सहन व्यवहार आदि के जो तरीके दूसरों के लिये जितने सुविधाजनक होते हैं—वे उतने ही अधिक सभ्यतापूर्ण हैं। एक जगह लोग बाग में घूमने जाकर जगह जगह गंदगी फैला आते है, तो समझना चाहिये कि वे असभ्य हैं। एक जगह के आदमी जरा सी बात में गाली देने, मारने-पीटने को तैयार हो जाते हैं, तो समझना चाहिये कि वे असभ्य हैं। स्त्रियों की तरफ घूरने वाले-कुचेष्टा करने वाले आदि भी असभ्य हैं। कहीं जाकर वहां के लोगों को अन्याय से सताने-वाले भी असभ्य हैं। कृतघ्नता का परिचय देने वाले भी असभ्य हैं। इस प्रकार सैकड़ों तरह के असभ्य हैं।

प्रायः हरएक आदमी किसी न किसी क्षेत्र में सभ्य और किसी न किसी क्षेत्र में असभ्य होता है। समाज में असभ्य कहलाने-वाले व्यक्ति भी घर में, मां के सामने, पत्नी, बहिन या पुत्री के सामने सभ्य होता है; परन्तु वही दूसरे लोगों के सामने असभ्य हो जाता है। पर, वास्तव में सभ्य उसे ही कहना चाहिये जो मनुष्य-समाज के सामने सभ्य हो। जो लोग अपने गांववालों के सामने सभ्य हैं दूसरे गांववालों के सामने असभ्य हैं, अपने प्रान्त या राष्ट्र के व्यक्ति के सामने सभ्य हैं—दूसरे राष्ट्र के सामने असभ्य हैं, अपने संयुक्त राष्ट्र या महाद्वीप के लोगों के सामने सभ्य हैं दूसरों के सामने असभ्य हैं, ऐसे लोगों को असभ्य ही समझना चाहिये। हां! यह बात अवश्य है कि सभ्यता का क्षेत्र जितना बड़ा होगा असभ्यता उतनी ही कम होगी।

सभ्यता यद्यपि मन की वृत्ति है पर व्यवहार से ही उसकी पहिचान होती है और व्यवहार का अनुमान वेष भूषा बैठना-उठना आदि से लगता है इसलिये इन सब में सभ्यता-असभ्यता आदि का व्यवहार होने लगता है। एक आदमी की वेष भूषा ऐसी होती है कि देखकर डर लगे, वह गुंडा बदमाश मालूम होने लगे तो उसे असभ्य वेष कहेंगे, जिस वेष से निरुपद्रवता का अंदाज हो उसे सभ्य वेष कहते हैं इस प्रकार सभ्यता की परम्परा काफी दूर तक जाती है।

पर वेष-भूषा आदि बहुत सी बातें देश-देश के जलवायु के अनुसार होती हैं इसलिये अपने देश के वेष आदि को सभ्य वेष कहना दूसरे देश के वेष को असभ्य-वेष कहना अनुचित है-असत्य-समर्थन का परिचय देना है। दाढ़ी, चोटी, कोट अंगरखा, धोती पायजामा पतलून, आदि को सभ्यता या असभ्यता की निशानी समझना भूल है। हां! यह बात दूसरी है कि किसी खास जगह पर कोई खास वेष किसी अच्छी या बुरी मनोवृत्ति का सूचक हो, साधारणतः वेष आदि में जलवायु का, अपनी

आर्थिक स्थिति का, सुविधा-असुविधा का तथा रुचि-अरुचि का ही विचार करना चाहिये।

सभ्यता के बाहरी रूप यद्यपि अनेक हो सकते हैं पर उन सब के भीतर प्राणरूप सभ्यता, जो कि संयम और विवेक रूप है, एक ही है इसलिये हमारे गांव की या नगर की सभ्यता, हमारे प्रान्त की सभ्यता, हमारे राष्ट्र या महाद्वीप की सभ्यता आदि का अहंकार व्यर्थ है। हां! सभ्यता का विचार करते समय यह देखना चाहिये कि यह नियम या रिवाज़ अपने और दूसरों के लिये कल्याणकारी है या नहीं? अगर कल्याणकारी हो तो सब जगह से अपना लेना चाहिये और अगर कल्याणकारी न हो तो अपना भी छोड़ देना चाहिये। हर-एक देश में (गांव, नगर, प्रान्त, राष्ट्र आदि में) कुछ ऐसे रिवाज़ या व्यवहार होते हैं, जो अत्यन्त अनुकरणीय हो सकते हैं—उनका अनुकरण करना चाहिये। सिर्फ वे ही भेद प्रचलित रहने देना चाहिये जो अपनी अपनी जगह के साधनों आदि के अनुकूल हो।

संस्कार—जो बात सभ्यता के बारे में कही गई है वही संस्कारों के बारे में भी कही जा सकती है। संस्कार तो मनुष्य को सभ्य बनाने का एक प्रयत्न है। देखना चाहिये कि कहां किस प्रकार के संस्कारों से मानव-जीवन का कितना विकास होता है, इसमें ग्राम-नगर प्रान्त देश आदि का भेद न करके उचित संस्कार—सभ्य बनाने के तरीके—अपना लेना चाहिये। संस्कार कोई क्षणभर की या मंत्र फूकने की क्रिया नहीं है। संस्कार तो दिनरात असर डालने-वाला सामाजिक वातावरण है।

यह संस्कार का ही प्रभाव है कि जो बहिन-भाई को दिन-रात एक घर में रहने पर भी परस्पर कामुकता से दूर रखता है, यह संस्कार का ही प्रभाव है कि कोई मनुष्य मांस शराब आदि दुर्व्यसनों से इतना दूर रहता है कि वह इन्हें सह भी नहीं सकता। संस्कारों में बड़ी शक्ति है। मनुष्य को जिस प्रकार का बनाना हो; हम उसे उसी तरह के संस्कारों के द्वारा वैसा ही बना सकते हैं।

ग्राम नगर प्रान्त देश आदि के संस्कारों में कुछ अन्तर होता है। खान-पान आदि के संस्कार तो जलवायु और साधनों पर निर्भर हैं। इनके अनुसार संस्कार बदल जाते हैं—बदल जाना चाहिये। पर देश-काल की परिस्थिति का विचार करते हुए भी संस्कार ऐसे डालना चाहिये जो जीवन को विश्व-हितकारी बनावें। जन्म से साम्राज्यवादी मनोवृत्ति बनाना, आवश्यक न होने पर भी शराब मांस आदि की आदत डालना, दूसरों को नीच अछूत आदि समझना, दूसरे धर्मों की निन्दा आदि करना, इत्यादि कुसंस्कार तथा झूठ बोलना आदि अनीति के कुसंस्कार डालना असत्य-समाजी कुसंस्कार हैं—इनसे बचना चाहिये।

संस्कारों की यह उपयोगिता और स्वरूप समझ जाने पर संस्कारों में न तो विरोध की दुर्वासना रहेगी, न अपने अपने संस्कारों का झूठा घमंड रहेगा। यही निष्पक्षता 'सत्यसमाजी नीति' है।

शिष्टाचार—सामाजिकता का एक महत्व-पूर्ण चिन्ह शिष्टाचार है। शिष्टाचार से ही प्रेम, नम्रता, वात्सल्य आदि का परिचय मिलता है। चिट्ठी-पत्री, बोल-चाल, बैठने-उठने आदि में अनेक तरह का शिष्टाचार पालन करना जरूरी

है। शिष्टाचार के तरीके देश-देश में अनेक तरह के होते हैं : हाथ जोड़कर नमस्कार करना, पैर छूना या दबाना, हाथ मिलाना, हाथ का चूमा लेना, छाती से छाती मिलाना, टोप उतारना, जूता उतारना, सिर झुकाना, बन्दूक या तलवार झुकाना, चुम्बन लेना, सिर पर हाथ रखना, आशीर्वाद देना, आदि सैकड़ों तरह के कायिक शिष्टाचार होते हैं, इसी प्रकार प्रणाम-सलाम आदि शाब्दिक शिष्टाचार होते हैं। शिष्टाचार एक भाषा है जो हृदय की वृत्ति बताने के लिये काम में लाई जाती है। कौन-सा शिष्टाचार अच्छा, कौन-सा बुरा?—यह सोचना व्यर्थ है, या यह ऐसा ही है जैसे यह कहना कि कौन-सी भाषा अच्छी या बुरी है? भाषा में तरतमता हो सकती है-शिष्टाचार में भी हो सकती है, पर जहां जो रिवाज हो वहां अपना भाव बताने के लिये उसका उपयोग कर लेना चाहिये।

शिष्टाचार का रूप यद्यपि धार्मिक-समाजों में भी खासतौर का बन जाता है; फिर भी मुख्यता दैशिक-समाज की है। धार्मिक-शिष्टाचार बहुत थोड़े खास अवसरों पर काम आते हैं। और कोई कोई धार्मिक-शिष्टाचार दैशिक-शिष्टाचार बन जाते हैं।

शिष्टाचार के शब्द कैसे भी हों, क्रिया कैसी भी हो; उसमें सुधार की जरूरत होने पर सुधार भी कर लिया गया हो, पर वह सामाजिक जीवन में बहुत आवश्यक है। दिन में पहिले बार मिलने पर कुछ न कुछ शाब्दिक या कायिक शिष्टाचार होना चाहिये। कुछ न हो तो चेहरे पर मुसकराहट आदि ऐसा भाव आ जाना चाहिये, जिससे प्रेमभाव प्रगट हो। और भी अनेक अवसर ऐसे हो सकते हैं जब शिष्टाचार करना आवश्यक है। शिष्टाचार से सामाजिकता बल्कि एक प्रकार की कौटुम्बिकता बनी रहती है।

भाषा—भाषा सामाजिकता का प्रथम साधन है। मनुष्य-मात्र का एक समाज बनाने के लिये मनुष्य-मात्र की एक भाषा भी होना चाहिये। यद्यपि एक भाषा होने के पहिले भी हम दुभाषियों आदि के जरिये मनुष्य-मात्र में एक सामाजिकता पैदा कर सकते हैं; फिर भी साधारणतः यह बात ठीक है कि भाषा के भेद से समाज भिन्न होता है। पहिले जमाने में आने-जाने के साधन अल्प होने से थोड़ी-थोड़ी दूर पर भाषा बदल जाती थी, पर ज्यों-ज्यों आने-जाने के साधन बढ़ने लगे त्यों-त्यों भाषाओं का क्षेत्र विशाल होने लगा। अब वह जमाना आ गया है कि सब संसार भर की एक भाषा हो। प्रान्तीय या राष्ट्रीय भाषाएँ रहें या न रहें—यह प्रश्न दूसरा है, पर यह एक निश्चित और आवश्यक बात है कि संसार भर की कोई एक भाषा होना चाहिये, जिस विश्व-भाषा को सीखकर आदमी दुनिया भर में भ्रमण कर सके। इस बारे में निम्नलिखित सूचनाओं पर ध्यान देना चाहिये—

१—जब तक लोगों में प्रान्तीय और राष्ट्रीय भाषाओं का मोह है तब तक अपने अपने क्षेत्र में वे काम करें, पर उनके रहते पर भी एक विश्व-भाषा तो बना लेना ही चाहिये।

२—इस विश्व-भाषा का निर्माण संसार के खास-खास और निष्पक्ष भाषा शास्त्रियों के द्वारा कराना चाहिये। इस भाषा को सब देशों की सरकारें मान्य करें।

३—आज की प्रचलित किसी एक भाषा को विश्व-भाषा बनाने की कोशिश बेकार है।

योंकि पहिले तो इससे झगड़े बढ़ेंगे, दूसरे आज ई भाषा ऐसी नहीं है जो निर्दोष कही जा के। किसी एक देश की भाषा को विश्व-भाषा ाने की कोशिश करने में एक तो लोगों का ष्ट्रीय अभिमान जग पड़ता है इसलिये उसे ग अपनाते नहीं है, दूसरे उस भाषा की म्परा पुराने नियम आदि कठिनाइयाँ उपस्थित ते हैं। इसलिये सरल से सरल एक स्वतन्त्र षा का निर्माण होना चाहिये, जिसमें संसार प्रायः सभी भाषाओं से अच्छे अच्छे सरल द लिये जा सकें। जिसका शब्द भंडार ल किन्तु परिपूर्ण हो। व्याकरण भी बिलकुल ल और आपवादिक नियमों से रहित हो।

४--शब्दों का चुनाव करने में इस बात ख्याल रक्खा जाय कि वह बहुत लम्बा र संयुक्ताक्षरों से भरा हुआ न हो। साथ एक शब्द का एक ही अर्थ रहना चाहिये। ! एक अर्थ के वाचक अनेक शब्द भले ही !

५--शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द कुछ लम्बे र संयुक्ताक्षर-पूर्ण भी हो सकते हैं; फिर भी हें भी यथासाध्य सरल बनाना चाहिये।

६--शब्दों के लिंग किसी निश्चित नियम आधार पर हों। शब्द पुल्लिंग स्त्रीलिंग इस ार दो भागों में बटे हों, या नपुंसकलिंग मिलाकर तीन भागों में बटे हों या उभयलिंग मिलाकर चार लिंगों बटे हों--यह सब आवश्य- ा और सुविधा के अनुसार तय कर लेना हिये, पर जो तय हो वह नियमानुसार तय ना चाहिये। साधारणतः वाच्य और वाचक लिंगों में एकता होना चाहिये। इस विषय कुछ साधारण सूचनाएँ यों हैं--

क--जिन शब्दों से पुरुष चिन्ह-वाले अर्थ का भान होता हो उन्हें पुल्लिंग समझा जाय। जैसे--पुरुष, घोड़ा, बैल, आदि।

ख--जिन शब्दों से स्त्री चिन्ह-वाले अर्थ का भान होता हो उन्हें स्त्रीलिंग समझा जाय। जैसे--स्त्री, घोड़ी, गाय, आदि।

ग--जिनसे दोनों चिन्ह-वाले पदार्थों का भान होता हो उसे उभयलिंगी समझा जाय। जैसे--मनुष्य, पशु-पक्षी, जनता, समाज, आदि।

घ--जिससे स्त्री-पुरुष दोनों के चिन्ह न रखने-वाले पदार्थ का भान होता हो उसे नपुंसक लिंगी या अलिंगी कहा जाय। जैसे--पत्थर, लकड़ी, मकान, गाड़ी, सड़क, आदि।

ङ--जिन शब्दों से किसी लैंगिक चिन्ह-वाले और कोई भी चिन्ह न रखने-वाले पदार्थ का भान होता हो उसे सर्वलिंगी या लिंगालिंगी शब्द कहना चाहिये। जैसे--मूर्ति, चित्र, आदि। मूर्ति आदि स्त्री-पुरुष नपुंसक आदि सभी की होती है।

पांच चार तीन दो आदि लिंगों की संख्या सुविधानुसार रखना चाहिये। पर जो कुछ हो सकारणक और नियमित हो। परम्परा ही उसका कारण न होना चाहिये और कारणों की या नियमों की जटिलता रहना चाहिये।

७--एक वचन और बहुवचन ये दो वचन भी काफी हैं। संस्कृत के समान द्विवचन की जरूरत नहीं है।

८--दुनिया की प्रधान प्रधान सभी भाषाओं में से कुछ न कुछ शब्द विश्व-भाषा में लिये जाना चाहिये। जिस भाषा को बोलने-वाले कम से कम एक करोड़ आदमी हों और जो थोड़े-बहुत अंश में साहित्यिक भी हो, उसे मुख्य

भाषा समझना चाहिये । यों आवश्यक उपयोगी और सरल शब्द किसी भी भाषा या बोली से लेना चाहिये ।

९–अगर एक ही अर्थ को कहने-वाले अनेक शब्द मिलें और वे सभी, उपयोगी और सरल हों तो उन सबको विकल्प रूप में अपना लेना चाहिये ।

१०–संस्कृत लेटिन आदि मृत भाषाओं से भी शब्द लिये जा सकते हैं, उनसे सहायता भी ली जा सकती है; फिर भी प्राचीन होने के कारण इन्हें महत्ता देने की ज़रूरत नहीं है ।

ऐसी एक विश्व-भाषा एक दिन विश्व की भाषा बन जायगी और मनुष्य-मात्र को एक सूत्र में बांधने के लिये यह एक ज़बर्दस्त कड़ी होगी । विश्व-विहार के मार्ग में पड़ी हुई एक बड़ी भारी बाधा दूर हो जायेगी ।

विश्व-भाषा के समान उसी के अंग रूप **विश्व-लिपि** का भी एक प्रश्न है । इसका प्रचार भाषा-प्रचार की अपेक्षा बहुत सरल है । पर इसके मार्ग में भी राष्ट्रीय या प्रान्तीय अथवा जातीय घमंड रोड़ा अटकाये हुए है । आदत हो जाने पर भी लोग रद्दी से रद्दी और अनेक दोष-पूर्ण लिपि से भी किसी न किसी तरह काम चला ही लेते हैं, पर घमंड के चक्कर में पड़कर इस प्रकार संकुचित बने रहना और कष्ट उठाते रहना आदमियत के खिलाफ़ है । इस घमंड के कारण लोग पीढ़ी दर पीढ़ी कष्ट तो उठाते ही हैं, साथ ही मनुष्य मनुष्य के परिचित होने में बाधक भी बनते हैं । इसलिये हरएक आदमी को अपनी अपनी लिपियों का मोह छोड़कर एक विश्व-लिपि बना लेना चाहिये । विश्व-लिपि में निम्नलिखित विशेषताएँ अवश्य होना चाहिये —

(१) प्रत्येक अक्षर का एक ही उच्चारण हो ।

(२) प्रत्येक उच्चारण के लिये एक ही अक्षर हो ।

(३) संसार की हरएक भाषा के उच्चारणों के लिये उसमें अक्षर नियत हों । किसी भाषा के किसी भी तरह के उच्चारण के लिये अक्षर की कमी न होना चाहिये ।

(४) लिपि ऐसी हो जो प्रेस में सुविधा के साथ चल सके । उच्चारण क्रम से ही वह लिखी जाय या छापी जाय । मात्राएँ ऊपर-नीचे या आगे न हों ।

(५) अक्षरों का विस्तार यथाशक्य कम हो ।

(६) अक्षरों के मिलने पर भी वे सरलता से पढ़े जा सकें ।

(७) संयुक्ताक्षरों की आकृतियाँ उसमें अलग न हों ।

(८) स्वर और मात्राएँ अलग-अलग तो हों पर मात्राओं की आकृति स्वर की आकृति में से ही निकली हो और ऐसी हो जो सरलता से हरएक अक्षर के साथ जुड़ सके ।

(९) संयुक्ताक्षर बनाने के, या मात्रा लगाने के नियम ऐसे हों जिनमें किसी जगह अपवाद नियम न बनाना पड़े ।

(१०) अक्षरों की रचना इस प्रकार नियमबद्ध हो कि थोड़े-से अक्षर सीख लेने पर बाक़ी के अक्षर कुछ नियमों के आधार से उन्हीं थोड़े-से अक्षरों पर से सीखे जा सकें । जैसे अल्पप्राण 'क' 'ग' आदि से महाप्राण 'ख' 'घ' आदि सीख लिये जायँ ।

इस प्रकार और भी आवश्यक सुविधाएँ देखी जा सकती हैं । इन सब सुविधाओं-वाली लिपि का निर्माण करना चाहिये । इसके लिये

न तो यह ज़रूरी है कि दुनिया की हरएक लिपि का कोई न कोई अक्षर रखना चाहिये और न आज के प्रचलित सब अक्षरों के बहिष्कार की ज़रूरत है। विश्व-लिपि का निर्माण स्वतन्त्र रूप में होना चाहिये और इन्हीं सब विशेषताओं को महत्व देना चाहिये।

इसके लिये विश्व-भाषा निर्माण करनेवाली कमेटी के समान विश्व-लिपि निर्माण करनेवाली कमेटी होना चाहिये, जिसमें विश्व के खास खास लिपि विशेषज्ञ हों और जिनमें संसार की सब लिपियों को जाननेवालों का प्रतिनिधित्व हो। उस कमेटी के सामने इस विषय में रुचि रखनेवाले लोग अपनी अपनी लिपि के नमूने पेश करें और उन नमूनों पर काफ़ी बहस होने के बाद उनमें से जो सर्वाङ्गपूर्ण नमूना हो उसे, अथवा अच्छे अच्छे नमूनों को मिलाकर एक नया नमूना बनाया जाये, उसे विश्व-लिपि घोषित किया जाय।

उस विश्व-लिपि में अगर किसी को कोई दोष निकालना हो तो उसमें वह दोष निकाले। तीन वर्ष के भीतर अगर कोई दोष न निकाले, या दोष निकाले पर उसका उचित समाधान कर दिया जाय तो वह विश्व-लिपि हरएक देश की सरकार मान ले।

यद्यपि यह लिपि विश्व-लिपि के रूप में घोषित की जायगी; फिर भी इसे राष्ट्र-लिपि के रूप में भी स्वीकार कर लेना चाहिये और धीरे धीरे भिन्न भिन्न देशों प्रान्तों भाषाओं आदि की लिपियाँ अजायबघर में इतिहास की सामग्री के रूप में विराजमान कर देना चाहिये। विश्व-लिपि ही सब जगह फैल जाना चाहिये।

शुरू शुरू में इसके प्रचार में कठिनाई तो होगी। जिनका हाथ एक लिपि पर जम गया है उन्हें इस लिपि के प्रचार में कष्ट होगा। पर इसका प्रचार एक ही दिन में नहीं करना है, इसके लिये तीस वर्ष का समय देना चाहिये। तीस वर्ष में पीढ़ी बदल जायगी, बूढ़े नई लिपि के झंझट से बचे रहेंगे और जवान या लड़के बचपन से ही नई लिपि में अच्छी तरह चल निकलेंगे। इस प्रकार एक लिपि और एक भाषा विश्व का एक समाज बनाने में सहायक होगी।

परन्तु जब तक विश्व की एक भाषा और एक लिपि का निर्माण नहीं हो पाया है तब तक बड़े बड़े महाराष्ट्रों या संयुक्त राष्ट्रों को अपनी एक लिपि और एक भाषा तो बना ही लेना चाहिये। इस राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि के निर्माण में भी प्रान्तों आदि को उसी उदारता विवेक आदि से काम लेना चाहिये, जिसे विश्व-भाषा और विश्व-लिपि में लेना ज़रूरी है। इस विषय में निम्नलिखित सूचनाओं पर ध्यान देना ज़रूरी है—

१—राष्ट्र-भाषा का सम्बन्ध किसी जाति या मज़हब से न लगाया जाय।

२—राष्ट्र-भाषा के लिये नई भाषा तो नहीं बनाई जा सकती, परन्तु राष्ट्र के जिस प्रान्त की भाषा ज़्यादा फैली हुई हो और कुछ सरल भी हो उसे ही राष्ट्र-भाषा मान लेना चाहिये।

३—राष्ट्र-भाषा को अपने मूल-रूप में सुरक्षित रखने की कोशिश न करना चाहिये। सब प्रान्तों के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिये उसे कुछ मिश्रित बनाने की, कुछ सुधारने की, ज़रूरत हो तो सुधारना चाहिये। प्रान्तीय भाषाओं से भी यथाशक्य शब्द संग्रह करना चाहिये।

राष्ट्र-भाषा के समान राष्ट्र-लिपि का भी

सवाल है। लिपि में इतनी विशेषता है कि सारे राष्ट्र की एक ही लिपि बनाना है। राष्ट्र-भाषा के बनने पर भी चिरकाल तक प्रान्तीय भाषाएँ रहेंगी, पर प्रान्तीय लिपियों के लिये यह ज़रूरी नहीं है। लिपि तो जल्दी से जल्दी सारे राष्ट्र की एक बना लेना चाहिये। और जब विश्व-लिपि तैयार हो जाय, तब उस विश्व-लिपि को अपना लेना चाहिये।

अगर विश्व-लिपि के अनुकूल कोई राष्ट्र-लिपि नई तैयार की जाय, तब तो और भी अच्छा है, अन्यथा जो प्रान्तीय-लिपि पहिले कही गई लिपि की दस विशेषताओं में अधिक योग्य हो उसे, अथवा उसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके राष्ट्र-लिपि बना लेना चाहिये। इस प्रकार राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि के बनाने से राष्ट्रीय-समाज के निर्माण में और संगठन में सहूलियत होती है।

दैशिक-समाज में प्रान्तीय-समाज का एक चिन्ह 'एक लिपि' और 'एक भाषा' है। परन्तु अब वह जमाना आ गया है जब प्रान्तों की अलग-अलग लिपियाँ न रहें और प्रान्तीय भाषाएँ भी धीरे-धीरे एक राष्ट्रीय-भाषा के लिये, और राष्ट्रीय भाषाएँ एक विश्व-भाषा के लिये स्थान छोड़ती चलें। नगर और ग्राम-समाज के चिन्ह रूप में तो कोई लिपि या कोई भाषा होती ही नहीं है, इसलिये भाषा और लिपि की दृष्टि से इनका विचार नहीं किया जाता।

काल-गणना– दैशिक-समाज में भाषा और लिपि के समान अथवा उसी के अंग-रूप कुछ और समान व्यवहारों की ज़रूरत पड़ती है। जैसे दिनों-महीनों के नाम, संवत्सर आदि की काल-गणना, आदि। दैशिक-समाज में इनकी एकता ज़रूरी है। एक कहता है–आज जुम्मा है, दूसरा कहता है–आज शुक्रवार है, तीसरा कहता है–आज फ्राइडे है। निःसन्देह ये जुदे-जुदे भाषाओं के पर्यायवाची शब्द हैं, पर एक जगह जन-साधारण में यथाशक्य ऐसे शब्दों में से किसी एक का प्रचार हो जाना चाहिये। जब तक सबकी एक भाषा नहीं हुई है तब तक भले ही भाषाएँ बनी रहें; पर इस प्रकार के शब्द तो एक हो ही जाना चाहिये, ख़ासकर एक ग्राम या नगर में।

भाषा-भेद के इन शब्दों से भी ज्यादा गड़बड़ मचती है अनेक तरह की काल-गणना से। विक्रम संवत्, शक संवत्, ईस्वी सन्, हिजरी सन्, अनेक तरह के सन् संवत् जब एक ही देश में चलते हैं तब व्यवहार में बड़ी अड़चन आती है। और इसी के साथ महीनों के नाम और समय से भी बड़बड़ी पैदा होती है। इन बातों को लेकर दैशिक समाज के टुकड़े-टुकड़े न किये जायँ। कोई ऐसी काल-गणना बना ली जाय जो सब जगह काम आवे। हां! यह कहा जा सकता है कि बहुत-से सन् संवत् लोकोद्धारक महात्माओं के स्मरण में चलाये जाते हैं, उनके प्रति कृतज्ञता प्रगट करने के लिये जुदी-जुदी काल-गणना का रखना ज़रूरी है। सो अगर इस आशय से काल गणना रखना ही हो तो उसका क्षेत्र धार्मिक या साहित्यिक आदि ही रहना चाहिये। अथवा, अपने घरू व्यवहार में ही उनका उपयोग करना चाहिये। सार्वजनिक क्षेत्र में किसी एक काल-गणना को मानकर चलना ही ठीक है।

जब तार रेडियो आदि से सारी दुनिया का सम्बन्ध बिलकुल निकट आ गया है, तब

काल-गणना आदि के विषय में तो एक रूपता हो ही जाना चाहिये : इस विषय की कुछ सूचनाएँ यहाँ दी जाती हैं—

१—जो सन् या संवत् चलाया जाय वह आज कम से कम दस हजार तो होना ही चाहिये; क्योंकि दो-तीन हजार के सन् संवत् से ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख कठिनाई से होता है। आज इतिहास आठ दस हजार वर्ष पुरानी घटनाओं का उल्लेख कुछ व्यवस्थित रूप में करता है।

२—जो सन् बने वह सूर्य-वर्ष से सम्बद्ध हो; क्योंकि ऋतु परिवर्तन—ठंड वर्षा गर्मी आदि का सम्बन्ध—सूर्य-वर्ष से है। चन्द्र-वर्ष मानने से ऋतुओं का महीनों से सम्बन्ध ही नहीं रहता। मुहर्रम कभी वर्षा में आयगा, कभी गर्मी में, कभी शीत में—यह ठीक नहीं। चैत्र वैशाख आदि चन्द्र-मास मानकर अधिक-मास मानने से इस बारे में कुछ सुविधा तो होती है, पर फिर भी एकाध महीने की गड़बड़ी बनी ही रहती है। फिर दो वर्षों के बाद तीसरा वर्ष काफ़ी बड़ा हो जाता है।

३—नये सन् संवत् के महीनों के साथ पूर्णिमा अमावस्या आदि चन्द्र की अवस्थाओं का परिचय भी निश्चित नियम से हो जाय तो अच्छा ही है, नहीं तो हरएक तिथि-पत्रक के साथ तारीख में पूर्णिमा अमावस्या का परिचय दिया जाय।

४—महीनों के दिनों की संख्या जहां तक हो समान हो। कोई महीना अट्ठाईस का, कोई उन्तीस का, कोई तीस का, कोई इकतीस का, ऐसा न होना चाहिये। अगर वर्ष को बराबर दिनों में बांटना अशक्य हो तो महीनों के दिनों की संख्या में एक दिन से अधिक अन्तर न होना चाहिये। कोई महीना तीस दिन का हो तो कोई इकतीस का।

५—इस समय सूर्य-वर्षों में ईस्वीसन् की प्रसिद्धि है, परन्तु उसमें तीन आपत्तियाँ हैं। पहिली यह कि उसमें फरवरी का महीना २८ या २९ का होता है, दूसरी यह कि उसकी संख्या दो हज़ार से भी कम है, तीसरी यह कि उसका सम्बन्ध एक धार्मिक सम्प्रदाय से है। इन आपत्तियों को इस प्रकार दूर करना चाहिये—

(क) फरवरी के भी तीस दिन मान लिये जायँ, एक दिन जनवरी का और एक दिन मार्च का कम करके उसमें मिला दिये जायँ।

(ख) ईस्वीसन् में दस हज़ार जोड़ दिये जायँ।

(ग) पुराने सन् और महीने की तारीखों से अन्तर मालूम हो, इसलिये महीनों के नाम कुछ कुछ बदल दिये जाय। जैसे—यानँवरी ३०, फलवरी ३०, मार्ग ३०, अपरैल ३०, मही ३१, यौन ३०, जुलाई ३१, अगस्थ ३१, सिताम्बर ३०, अक्षाम्बर ३१, नवाम्बर ३०, दिशम्बर ३१ दिन का। फलवरी चौथे सन् ३१ दिन का मान लिया जाय। जिससे ३६५। दिन के वर्ष का हिसाब पूरा हो जाय।

(घ) दस हज़ार वर्ष बढ़ाने पर इस सन् का नाम इतिहास संवत् कर दिया जाय। जिससे किसी ख़ास देश या सम्प्रदाय की छाप उस पर न रहे और उसका सम्बन्ध सभी तरह के दैशिक-समाजों से हो जाय।

६—साम्प्रदायिक अथवा स्थानीय किसी घटना विशेष या व्यक्ति विशेष के आधार पर प्रचलित हुए सन् संवतों को वैकल्पिक रूप में

यता उसमें सुधार करने की कोशिश करती है। दोनों का कार्य-क्षेत्र भिन्न-भिन्न होने पर भी सत्य-न्याय की पूजा के लिये दोनों का समन्वय सहयोग ज़रूरी है।

जैसे-मानलो, किसी जगह पर धर्म के नाम पर स्त्रियों को पर्दा करने के लिये विवश किया जाता है, कुछ लोगों को अछूत समझा जाता है, रास्ते चलते लोगों पर कीचड़ उछाला जाता है (होली) और भी उपद्रव किये जाते हैं, रात्रि में सोने के समय में बाजों-गाजों से उछल-कूद मचाई जाती है, खुले आम पशुओं की हत्या की जाती है, तो राष्ट्रीयता या राजनैतिक शक्ति ऐसे कामों को रोकने के लिये कानून बना सकती है। ऐसे अवसर पर धर्म की दुहाई न देना चाहिये; क्योंकि ये काम जनहित के विरुद्ध हैं, इसलिये धर्म के भी विरुद्ध हैं। इसी तरह मानलो, राष्ट्रीयता के आधार पर दूसरे राष्ट्रों को पीसा जाता है, निर्बल समाजों को सताया जाता है, स्वतन्त्रता की हत्या की जाती है, तो ऐसे अवसर पर धर्म राष्ट्रीयता का सुधार करने की कोशिश करेगा।

मतलब यह है कि धार्मिक-समाज बनाने का उद्देश संस्कार-उपदेश-रीति आदि के जरिये लोगों के जीवन को स्वपर-कल्याणकारी बनाना है। बहुत से काम ऐसे हैं, जो सरकारें नहीं कर पातीं-वह धर्म कर जाता है। वह मनुष्य को ईमानदार, त्यागी, कष्टसहिष्णु, परोपकारी आदि बनाता है। जिनके ऊपर कोई राजनैतिक सत्ता नहीं होती, उन पर धार्मिक सत्ता संस्कार और उपदेश का प्रभाव पड़ता है।

केवल कानून बनाने से काम नहीं चल सकता। जनता का चरित्र जब गिरा हुआ होता है, तब अच्छी से अच्छी शासन-पद्धति और कानूनी व्यवस्थाएँ फेल हो जाती हैं। धर्म चरित्र बनाने का काम करता है, इससे मनुष्य हर तरह के दैशिक समाज के लिये या विश्व-हित के लिये अधिक उपयोगी हो जाता है। बहुत से अपराधों का इलाज कानून नहीं कर पाता, दैशिक-समाज भी नहीं कर पाता; किन्तु धार्मिक समाज कर जाता है। इस दृष्टि से भी धार्मिक-समाज की उपयोगिता है।

प्रश्न-दैशिक-समाज बड़ा है कि धार्मिक-समाज?

उत्तर—एक अपेक्षा से धार्मिक-समाज जगत्व्यापी है और जीवन के हरएक पहलू में किसी न किसी रूप में दिखाई देता है, इसलिये धार्मिक-समाज का काफ़ी महत्व है। दूसरी तरफ़ समाज का मूलाधार दैशिक-समाज है, धार्मिक-समाज की उपयोगिता की कसौटी ही दैशिक-समाज है। दैशिक-समाज में अगर कोई व्यक्ति योग्य सदस्य साबित नहीं हो रहा है तो उसकी धार्मिक-सदस्यता का कुछ मूल्य नहीं है। इस प्रकार यही कहना चाहिये कि अपनी अपनी दृष्टि से दोनों महान् हैं। दोनों का समन्वय और सहयोग ज़रूरी है। हां! इतना कहना ज़रूरी है कि धार्मिक-समाज दैशिक-समाज की राह में जल्दी रोड़े अटकाने लगता है, इसलिये धार्मिक-समाज को रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, अहंकार आदि का शिकार होकर दैशिक-समाज की राह में रोड़े न अटकाना चाहिये।

प्रश्न-विश्व में एक ही धार्मिक-समाज आवश्यक या लाभप्रद है या नहीं? एक विश्व-राष्ट्र या मानव-राष्ट्र की तरह क्या एक विश्व-धर्म या मानव-धर्म ज़रूरी नहीं है?

उत्तर–विश्व में एक ही धार्मिक-समाज हो तो अच्छा ही है, पर यह ज़रूरी नहीं है, ज़रूरी है–धर्मों के विषय में उदारता और समता का दृष्टिकोण। जैसे, विश्व भर का एक ही विश्व-विद्यालय बनाना इतना ज़रूरी नहीं है, जितना कि विश्व-विद्यालयों के विषय में उदारता से भरा हुआ दृष्टिकोण। एक विश्व-विद्यालय का विद्यार्थी दूसरे विश्व-विद्यालय के विद्यार्थी के बारे में यह नहीं सोचता कि मेरा विश्व-विद्यालय मनुष्य को ज्ञानी बनाता है और दूसरा विश्व-विद्यालय मूर्ख। विद्यार्थी विद्यार्थी की योग्यता में अन्तर हो सकता है, देशकाल आदि भेद के कारण उनके पठन-क्रम में अन्तर हो सकता है; फिर भी ज्ञान-वर्द्धकता सभी में मानी जाती है, उसी प्रकार धर्मों में भी चरित्र की उन्नति मानी जानी चाहिये। विश्व-विद्यालयों सरीखी उदारता समता आदि की ज़रूरत है। फिर भले ही विश्व भर के लोग एक धर्म को माने या अनेक को। बुराई धर्मों की संख्या बढ़ने में नहीं है, बुराई उनकी कट्टरता में है। कट्टरता होने पर एक ही धर्म के दो सम्प्रदाय कहर बरसा सकते हैं, पर कट्टरता-हीन सैकड़ों धर्म भी एक देश में हों तो नहीं बरसा सकते, इतना ही नहीं, किन्तु, विविधता का आनन्द ले सकते हैं। इसलिये ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि धर्मों को विश्व-विद्यालयों के समान विश्व-चारित्रालय समझा जाय। एक दूसरे की खूबियों की कद्र की जाय, अपनाया जाय। फिर भले ही एक नहीं सैकड़ों हजारों धर्म रहें इससे कुछ नहीं बिगड़ता।

प्रश्न–धर्म के भेद से आखिर मनुष्यों में भेद हो ही जाते हैं। और इससे दलबन्दी द्वेष आदि बढ़ते हैं, तब जुदे-जुदे धर्मों को क्यों रखना चाहिये?

उत्तर–जुदे-जुदे धर्मों को रखना या उठाना किसी एक आदमी के हाथ में नहीं है। जबर्दस्ती धर्मों को नष्ट नहीं किया जा सकता, अगर करने की कोशिश की जायगी तो बीमारी से इलाज कई गुणा नाशक होगा। दूसरी बात यह है कि धर्म-भेद से मानव-भेद नहीं होता, किन्तु मानव-भेद से धर्म-भेद होता है। देश-काल-ऋतु आदि के अनुसार चिकित्सा पद्धति में अन्तर हो जाता है, इसका यह मतलब नहीं है कि चिकित्सा पद्धति के भेद ने देश-काल का भेद पैदा किया है। हां! धर्म के नाम पर दल-बन्दियाँ होती हैं–यह ज़रूर दुःख की बात है। पर, यह अपराध 'धर्म' का नहीं है; क्योंकि धर्म का यह उद्देश नहीं होता। मोह, अहंकार, अज्ञान आदि के कारण मनुष्य धर्म के बारे में कुछ का कुछ जानने या मानने लगता है, इसलिये आवश्यक या अनावश्यक विभिन्नता द्वेष-वर्धक हो जाती है। अगर इन भेदों पर अच्छी तरह विचार किया जाय तो पहिले तो बहुत से भेद 'भेद' ही न रहेंगे और जो रहेंगे भी वे विरोध के कारण न बन सकेंगे।

प्रश्न–धर्म का आचार-व्यवहार पर काफ़ी असर पड़ता है। और वह असर कभी कभी इतना असह्य हो जाता है कि धर्म-भेद से विरोध हो जाना अनिवार्य है। एक धर्म वाला मांस खाना उचित समझता है या क्षन्तव्य समझता है, दूसरा इसके बिलकुल विरुद्ध है। एक आदमी मूर्ति-पूजक है, दूसरा एकदम विरुद्ध है। जैसे–हिन्दू-मुसलमानों को लो, दोनों निर्विरोध कैसे रहेंगे?

उत्तर–धर्म में बहुत से भेद ऐसे हैं, जिनको लोगों ने अहंकार-वश व्यर्थ ही महत्व दे दिया

है, उनके रहने पर भी कुछ बिगड़ता नहीं है, पर व्यर्थ ही लोग चिढ़ते हैं। कुछ ऐसे हैं जिनका मर्म नहीं समझा जाता है, इसलिये वे असत्य या भिन्न मालूम होते हैं—इन बातों का विचार कर लिया जाय तो अनेक धर्म-वाले बिलकुल निर्विरोध जीवन बिता सकते हैं। अगर कोई भेद विरोधी मालूम हो तो उस भेद के कारण पर स्वतन्त्र रूप में विचार करना चाहिये। धर्म-भेद का बहाना बनाकर सामाजिकता नष्ट न करना चाहिये।

धर्मों का समन्वय कैसे होता है—इसकी दृष्टि 'दृष्टि-कांड' में बता दी गई है, पर यहां कुछ धर्मों के उदाहरण लेकर इस बात को स्पष्ट कर दिया जाता है—

पहिले हम **हिन्दू-मुसलमान** इन दो धर्मों को ले लें। इसमें कुछ भेद ऐसे हैं जो भ्रमवश भेद मान लिये गये हैं और जिनका सामाजिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे—एकेश्वरवाद, पुनर्जन्म, अवतार, आदि।

एकेश्वरवाद—मुसलमान अपने को एकेश्वरवादी कहते हैं और हिन्दुओं को बहुदेववादी। पर यह समझ गलत है। हिन्दू भी एकेश्वरवादी हैं। हां, जिस प्रकार मुसलमान हजारों लाखों फरिश्ते और लाखों पैगम्बर मानते हैं, उसी प्रकार हिन्दू भी अनेकों देव, अवतार, ऋषि, अंश आदि मानते हैं। अनेक देवी-देवताओं की मान्यता एकेश्वरवाद का विरोध नहीं करती किन्तु एकेश्वरवाद के व्यापक और बुद्धिगम्य रूप को बताती है।

फिर दूसरी बात यह है कि दर्शन-शास्त्र की इस बात का सामाजिकता से सम्बन्ध क्यों जोड़ना चाहिये? सदाचार का सहारा लेने के लिये दर्शन शास्त्र की कोई कैसी भी मान्यता रक्खे उससे किसी का क्या बिगड़ता है, जिससे हम एक समाज न बना सकें?

पुनर्जन्म—हिन्दुओं के पुनर्जन्म और मुसलमानों की कयामत में कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है। दोनों का मतलब इस जन्म के पुण्य-पाप की सफलता पर विश्वास है, भले ही हिन्दुओं के अनुसार वह तुरंत मिले और मुसलमानों के अनुसार किसी ख़ास नियत दिन पर। दोनों का असर हमारी भावना पर एक-सा पड़ता है। फिर यह एक दार्शनिक बात है, जिसका सामाजिकता से कोई सम्बन्ध नहीं।

अवतार—हिन्दू मान्यता यह है कि ईश्वर अवतार लेता है जब कि मुसलमान कहते हैं कि वह पैग़ाम भेजता है। सच पूछा जाय तो दोनों ही बातें तर्कशास्त्र का विषय नहीं हैं। ईश्वर, उसका अवतार, या उसे मनुष्य के द्वारा पैग़ाम भेजने की ज़रूरत, आदि बातों को दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो न मुसलमानों के दावे में जान है न हिन्दुओं के। पर अगर इन बातों का लक्षणा और व्यञ्जना से अर्थ किया जाय तो दोनों की बातें ठीक हैं। जो मनुष्य ईश्वरीय गुणों को अधिक से अधिक जीवन में उतारकर दुनिया का कल्याण करता है—वही अवतार है, और जो दुनियादारी के राग-द्वेष स्वार्थ की वासनाओं से रहित शुद्ध अन्तःकरण से जन-हितकारी शुद्ध ज्ञान की बातें कहता है—वही शुद्ध सन्देश सत्यसन्देश या ईश्वर का सन्देश है—खुदा का पैग़ाम है, उसे लानेवाला पैग़म्बर है। इस प्रकार ईश्वर तो दोनों नहीं हैं, पर अवतार भी सत्य है और पैग़म्बर भी सत्य है। केवल अभिधेय अर्थ को न पकड़कर

उसके वास्तविक प्रकरण-संगत और संभव अर्थ को पकड़ना चाहिये। फिर कोई झगड़ा न रहेगा।

हां, अपनी अपनी रुचि की भाषा का प्रयोग करने में कोई बुराई नहीं है। हिन्दू लोग अनीश्वरवादी म. बुद्ध को भी अवतार कहते हैं, इसी तरह वे म. ईसा म. मुहम्मद को भी अवतार कह सकते हैं। इसी प्रकार मुसलमान लोग म. ईसा को भी पैगम्बर मानते हैं, इसी तरह वे म. राम, म. कृष्ण, म. महावीर, म. बुद्ध को भी पैगम्बर कह सकते हैं। मुसलमान लोग किसी आदमी को ईश्वर का बेटा नहीं मानते, इसलिये उनके मत से म. ईसा भी ईश्वर के बेटा नहीं हैं; जबकि ईसाइयों की मान्यता यही है कि वे ईश्वर के बेटा हैं। खुद म. ईसा भी अपने को ईश्वर का बेटा कहते थे। पर इसीलिये इस्लाम ने म. ईसा को पैगम्बर मानने से इन्कार नहीं किया, उन्हें साफ़-साफ़ शब्दों में अनेक बार पैगम्बर ही कहा। इसी तरह हिन्दू लोग अगर म. राम, म. कृष्ण, आदि को अवतार कहें और मुसलमान लोग अवतार शब्द से सहमत न हों तो भी म. राम म. कृष्ण को पैगम्बर मानने में कोई इतराज न होना चाहिये। इन शब्दों के वास्तविक अर्थ पर विचार करने से तो झगड़ा ही शान्त हो जाता है, पर उसके बिना भी उन्हें पैगम्बर कहना चाहिये।

फिर इन मान्यताओं का अपने जीवन से क्या सम्बन्ध है? उन्हें अवतार कहो, पैगम्बर कहो, मसीह कहो, तीर्थंकर कहो, सीधी बात यह है कि वे महात्मा थे, उनने दुनिया का काफी भला किया और लोग आज भी उनके जीवन से, उनके मौलिक उपदेशों से बहुत कुछ सीख सकते हैं। अब अवतार, पैगम्बर, आदि शब्दों पर झगड़ने से क्या मतलब है?

हिन्दू-मुसलमानों में कुछ भेद ऐसे हैं जो बिलकुल दिखाऊ हैं, उनका मर्म समझा जाय तो वह भेद है ही नहीं और अगर हो भी तो उससे किसी का कुछ बनता बिगड़ता नहीं। जैसे, पूर्व-पश्चिम का भेद। हिन्दू पूर्व में प्रणाम करते हैं—मुसलमान पश्चिम में नमाज पढ़ते हैं। पहिले तो इन भेदों की कल्पना ही गलत है। हिन्दू मूर्ति के सामने सिर झुकाते हैं, फिर भले ही उनका मुँह पूर्व को, पश्चिम को, उत्तर को, दक्षिण को कहीं भी होता हो। हां, सूर्य को ईश्वर की मूर्ति मानकर उसे प्रणाम करते हैं और सबेरे सूर्य का दर्शन जिस दिशा में होता है—उसे पूर्व कहते हैं, इसलिये उस समय हिन्दू का मुँह पूर्व को होता है। यों सभी दिशाओं में देवताओं का निवास माना जाता है, इसलिये सभी दिशाओं को प्रणाम करने का रिवाज हिन्दुओं में हैं। इसलिये इस बात को लेकर उनका मुसलमानों से मत-भेद है ही नहीं।

मुसलमानों को पश्चिम का पुजारी कहना भी गलत है। अल्लाह या ईश्वर के लिये सभी आसमान की तरफ़ मुँह किया करते हैं, चाहे वह हिन्दू हो, मुसलमान हो, या ईसाई हो। मुसलमानों की नमाज की भी कोई निश्चित दिशा नहीं है। जैसे, हिन्दू लोग मूर्ति की तरफ़ मुँह करके प्रणाम करते हैं—उसी तरह मुसलमान किब्ला की तरफ़ मुँह करके सज्दा करते हैं। किब्ला ही उनकी मूर्ति है। हिन्दुस्तान में रहनेवालों को किब्ला पश्चिम में पड़ता है, इसलिये वे पश्चिम की तरफ़ मुँह करके नमाज पढ़ते हैं। दक्षिण अफ्रिका के मुसलमानों को उत्तर की

तरफ़ किब्ला होने से उत्तर की तरफ़ मुँह करके नमाज पढ़ना पड़ती है। इसी प्रकार यूरोप में पूर्व की तरफ़ नमाज पढ़ी जाती है। मक्का के उत्तर में रहने-वाले दक्षिण की तरफ़ मुँह करते हैं। मक्का शहर में अपनी अपनी जगह के अनुसार नमाजियों का मुँह चारों तरफ़ को होता है। इसलिये दिशा का झगड़ा व्यर्थ है।

अगर हिन्दू-मुसलमानों में यह दिशा-भेद हो भी, तो इससे क्या बिगड़ता है? बल्कि, यह दिशा-भेद तो मेल-मुहब्बत के लिये उपयोगी ही हो सकता है। यह बात निम्नलिखित कहानी से मालूम हो सकती है—

एक बार रेलगाड़ी की सफर में दो मुसलमान आपस में बातचीत कर रहे थे। एक भाई ने दूसरे मुसलमान भाई से कहा—

लोग कहते हैं-हिन्दू-मुसलमानों में इत्तफाक (एकता) होगा, पर क्या खाक होगा? एक पूरब में पूजा करता है—दूसरा पश्चिम में नमाज पढ़ता है। दोनों का जब किब्ला नहीं मिलता, तब दिल तो क्या मिलेगा! तब कहां इत्तफाक और कहां मुहब्बत!

दूसरे साथी ने उसकी 'हां' में 'हां' मिलाई। पर थोड़ी दूर पर एक फकीर इस तरफ़ पीठ किये बैठा था, वह गा पड़ा—

क्या पूरब क्या पश्चिम भाई क्या मन्दिर क्या मसजिद
खुदा जहां किब्ला है वोही, खुदा भरा तिल-तिल में।
है किब्ला तेरे दिल में।

उसका गीत सुनकर दोनों मुसलमान चौंककर उसकी तरफ़ देखने लगे, पर वह पीठ किये बैठा रहा। तब उसी मुसलमान ने दाद देते हुए कहा—खूब! खूब फरमाया आपने, जनाब का दौलतखाना?

पर फिर भी उसने उन दोनों मुसलमानों की तरफ़ मुँह न किया, वह उनकी तरफ़ पीठ किये ही बोला—मैं एक फकीर हूं, मेरा क्या दौलतखाना—क्या गरीबखाना?

तब उसी मुसलमान ने कहा—मिहरबानी करके जरा मुँह तो इधर कीजिये! बिना मुँह देखे बातचीत में क्या मजा आयगा?

फकीर ने कहा— मैं आपसे मुहब्बत रखना चाहता हूं, इसलिये आपकी तरफ़ मुँह न करूंगा।

यह सुनकर उन दोनों मुसलमानों को बड़ा ताज्जुब हुआ! पर पहिले मुसलमान ने विनोद में इसका उत्तर देकर फकीर को झेंपाना चाहा, इसलिये कहा—मुहब्बत के साथ पर्दानशीनी तो कहीं कहीं औरतों में होती है, पर आप तो मर्द हैं।

फकीर ने फिर भी उनकी तरफ़ मुँह न किया और कहा—सो तो हूं, पर यहां मर्द औरत का सवाल नहीं है, सवाल किब्ला का है। अभी तो आपका मुँह भी पश्चिम को है और मेरा भी, लिहाजा बातचीत में मजा आये या न आये, पर किब्ला एक है। अगर मैं आपके सामने मुँह कर दूं तो आपका मुँह पश्चिम को रहेगा और मेरा पूरब को, लिहाजा जब किब्ला ही न मिलेगा तब क्या तो दिल मिलेगा और क्या मुहब्बत होगी?

वह मुसलमान भाई बड़ा शरमिन्दा हुआ। वह उठा और फकीर के सामने जाकर घुटने टेक दिये। अब एक का मुँह पूरब को था और दूसरे का पश्चिम को!

मतलब यह कि इस प्रकार के दिशा-भेद मिथ्या और निःसार हैं। सच बात तो यह है कि जब दिल का दिशा-भेद हो जाता है, तब

ऐसे दिशा-भेद कल्याण-पथ के रोड़े बन जाते हैं। अन्यथा, ये कल्याण-पथ के सहायक से मालूम होने लगते हैं।

दिशा-भेद सरीखी और भी बहुत-सी बातें हैं जो भेद-भाव का कारण बताई जाती हैं, पर जो मिथ्या और निःसार हैं। जैसे, एक **दाढ़ी चोटी** की बात है। मुसलमान लोग दाढ़ी रखते हैं और हिन्दू लोग चोटी रखते हैं। बहुत से लोग हिन्दू-मुसलिम दंगों को दाढ़ी-चोटी संग्राम कह दिया करते हैं। पर दोनों मिथ्या हैं। दाढ़ी मुसलमान ही रखते हैं—यह बात नहीं है, हज़ारों लाखों हिन्दू दाढ़ी रखते हैं, रखते रहे हैं। हिन्दू साधु आमतौर पर दाढ़ी रखते हैं। और चोटी भी एक फैशन है। बहुत से मुसलमान सिर में नहीं तो टोपी में चोटी रखते हैं। पुराने जमाने में पश्चिमी देशों में यह रिवाज था कि धनी आदमी बालों का फैशन टोपी के द्वारा प्रदर्शित किया करते थे। वे लोग सिर मुड़ाकर उस पर अच्छे अच्छे ढंग के बालों की टोपियाँ पहिना करते थे। इससे जिसके बाल अच्छे नहीं होते थे, वह भी अच्छे बालों का प्रदर्शन कर सकता था। चोटी भी एक फैशन है, जिसे सिर की अपेक्षा टोपी में प्रदर्शित करना अच्छा समझा गया। इस प्रकार दोनों ही दाढ़ी-वाले हैं और दोनों ही चोटी-वाले हैं।

फिर इन फैशन की चीजों से इतना भेद-भाव क्यों? फैशन की बातें तो समय समय पर बदलती ही रहती हैं। पहिले लोग स्त्रियों सरीखे लम्बे बाल रखते थे, पीछे गर्दन तक के बाल रह गये, उसमें भी कम होते होते एक छोटी-सी चोटी रह गई और अन्त में वह भी साफ हो गई। मूँछों का भी ऐसा ही हाल हुआ। लम्बी-लम्बी मूँछें घटते-घटते मक्खी के बराबर हो गई और अन्त में साफ हो गई। यही हाल दाढ़ी के बालों का है। फैशन के ये रंग-ढंग सभी देशों में बदलते रहे हैं—बदलते रहते हैं। इनको हिन्दू-मुसलमानों के बीच की दीवार बनाना मूर्खता है। फैशन का भेद एक घर के भीतर भी होता है। बाप का रहन-सहन, कपड़े, बाल आदि जैसे होते हैं—बेटे के बिलकुल बदले हुए भी रहते हैं, पर इससे बाप बेटे का सम्बन्ध नहीं टूट जाता। फिर सामाजिक सम्बन्ध क्यों टूटना चाहिये या विरोध क्यों होना चाहिये?

हिन्दू-मुसलमानों के बीच में कुछ बातें ऐसी हैं जो एक को दूसरे को सीख लेना चाहिये। निःपक्ष होकर न्याय बुद्धि से विचार करना चाहिये।

जाति पाँति—हिन्दू लोग जाति-पाँति मानते हैं—जन्म से मानते हैं; जब कि मुसलमान ऐसा नहीं मानते। यों थोड़े-बहुत रूप में यह बीमारी मुसलमानों में भी पाई जाती है, पर हिन्दुओं की अपेक्षा बहुत कम है। सर्व-जाति-समभाव के प्रकरण में इस बात पर काफ़ी कहा जा चुका है। यह बात हिन्दुओं को मुसलमानों से सीख लेना चाहिये। जाति-पाँति आदि का भेद 'एक सामाजिकता' में बाधक हो सकता है।

मूर्ति—हिन्दू प्रायः मूर्ति का उपयोग करते हैं, मुसलमान नहीं करते। मूर्ति की पूजा तो अच्छी बात नहीं है, पर मूर्ति का अवलम्बन उपयोगी है। इस विषय में आगे विवेचन किया जायगा। मुसलमान लोग संगे-असवद आदि का आदर करते ही हैं। यों साधारण मुसलमान क़ब्र और ताजियों का आदर करता ही है, इस तरह वह भी मूर्ति का अवलम्बन करता है। पर

निरीश्वर-वादी जैन बौद्ध, और ईश्वर-वादी हिन्दू मुसलमान ईसाई वास्तव में एक ही पथ के पथिक हैं। नग्न रहने या कपड़े पहिरने, जटा रखने या मुंड रहने आदि से धर्म-अधर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। 'दृष्टि-कांड' और 'आचार-कांड' में जो विस्तार से विवेचन किया गया है—उससे सब धर्मों के समन्वय की राह साफ़ दिखाई देने लगती है।

दैशिक-समाज की रचना जैसी ज़रूरी है वैसी धार्मिक-समाज की रचना ज़रूरी नहीं है, हालां कि धार्मिकता ज़रूरी है। धार्मिक-समाज के बिना जब धार्मिकता का ध्येय पूरा होने लगेगा, तब वह मनुष्य के लिये समुन्नत युग होगा। परन्तु, जब तक धार्मिक-समाज की ज़रूरत है तब तक उसका उपयोग करना चाहिये पर इससे दैशिक-समाज के सम्बन्धों को या अधिकारों को धक्का न लगना चाहिये।

धार्मिक-दृष्टि से सत्य-समाजी वह है—जो विवेक-पूर्वक सब धर्मों से सार-सार ग्रहण करता है, कल्याण विरोधी बातों को धर्म के नाम पर नहीं अपनाता, सब धर्मों का आदर करता है, समन्वय करता है, सहयोग करता है।

धार्मिक-दृष्टि से सत्यक-समाजी वह है—जो किसी धर्म की निन्दा तो नहीं करता पर अपने धर्म में ही मस्त रहता है, दूसरों पर उपेक्षा करता है, समन्वय की तरफ़ नहीं झुकता।

धार्मिक-दृष्टि से असत्य-समाजी वह है—जो दूसरे धर्मों का निन्दक है, जिसमें निःपक्षता है ही नहीं, अन्धश्रद्धा से भरा हुआ है, आदि। पर यह मत्त असत्य-समाजी है। परन्तु जिसने अपने को धर्मों के भीतर पैदा होने-वाले नाम-मात्र के उपसम्प्रदायों में कैद कर लिया है, वह मामूली वेष, या मामूली क्रियाकांड के झगड़ों या वैयक्तिक झगड़ों के कारण ही किसी उपसम्प्रदाय को मूल धर्म के समान महत्व देकर असत्य-समाजी बनता है, वह विभ्रम-समाजी नाम का असत्य-समाजी है। जैसे, ईसाइयों के प्रोटेस्टेन्ट कैथोलिक आदि एक ही धर्म के अनुयायी होने पर भी एक दूसरे को नरकगामी आदि समझते थे, वे विभ्रम-समाजी थे। इसी प्रकार की मनोवृत्ति में मुसलमानों के शिया-सुन्नी, जैनियों के दिगम्बर-श्वेताम्बर आदि को भी विभ्रम-समाजी नामक असत्य-समाजी कहा जा सकता है।

धार्मिक दृष्टि से पाप-समाजी नामक असत्य-समाजी वे हैं जिनकी साम्प्रदायिकता या उपसाम्प्रदायिकता किसी पाप के आधार पर खड़ी होती है। उसका आधार कोई ऐसा सुधार भी नहीं होता जो सामयिक भी कहा जा सके। नर-बली आत्महत्या आदि के प्रचारक ऐसे समाज अब खुले रूप में खड़े नहीं हैं।

इस प्रकार से अनेक तरह के धार्मिक-समाजों में सत्य-समाजी धार्मिक-समाज ही बनाना चाहिये, रखना चाहिये।

हिन्दू-मुसलमान आदि धार्मिक-समाज प्रारम्भ में अपने अपने ढंग के सत्य-समाजी धार्मिक-समाज थे।

आजीविक-समाज—

समाज भेद का तीसरा आधार है—आजीविका। आजीविका का जीवन पर चहुँमुखी प्रभाव पड़ता है। खान-पान, बैठना-उठना, वेष-भूषा, मनोवृत्ति आदि सभी बातों पर आजीविका का प्रभाव पड़ता है। पहिले ज़माने में भारतवर्ष में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, इस प्रकार चार आजीविक समाज बनाये गये थे। पर ज्यों-

ज्यों समाज का फैलाव होता गया, औद्योगिक विकास होता गया त्यों-त्यों उनकी संख्या बढ़ती गई। और उन सबकी गिनती शूद्र वर्ण में होती गई। पर वास्तव में आजीवक-समाज के ये भेद अधूरे हैं। और सदा के लिये पूरे भेदों का बनाना अशक्य है। जीविका के जैसे जैसे साधन बढ़ते और बदलते जावेंगे त्यों-त्यों नये-नये वर्ग बनते जायँगे। फिर भी, आजीविक-समाज के विषय में निम्नलिखित सूचनाओं का खयाल रखना चाहिये—

१—आजीविका के कारण कोई आदमी नीच-ऊँच न समझा जाय। आजीविका के लिये व्यक्ति को वही काम करना चाहिये जो समाज के लिये उपयोगी हो। समाज के लिये उपयोगी काम करने में ऊँच-नीच का क्या सवाल है? नीचता तो सिर्फ दुर्जन से आ सकती है। वह दुर्जन तो पाप-जीविका छल-जीविका जुवा सट्टा भिक्षा और व्याज हैं—इनसे ही कोई नीच कहलाना चाहिये, पर शूद्र का काम करने से या मजदूरी करने से कोई नीच नहीं कहला सकता।

हां! यह एक स्वाभाविक बात है कि समाज को जिस काम की सबसे अधिक ज़रूरत है और जिस काम को करने-वाले दुर्लभ हैं—उस काम को करने-वालों का मूल्य बढ़ जाय। पर इस प्रकार का मूल्य समय समय पर बदलता रहता है। आज एक काम का मूल्य अधिक है कल दूसरे काम का हो सकता है—यह परिवर्तन ठीक है और इससे यही सिद्ध होता है कि किसी काम से कोई ऊँच-नीच नहीं कहलाता।

२—आजीविक समाज का सम्बन्ध वंश-परम्परा से नहीं लगाना चाहिये। योग्यता रुचि और दैशिक-समाज की आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को जीविका का चुनाव करना चाहिये। भले ही बाल्यावस्था के संस्कारों के कारण वह वंश-परम्परा की जीविका की तरफ़ ही झुके, पर यह तो अवसर की बात कहलाई। पर सामाजिक नियम ऐसा न होना चाहिये।

३—आजीविक-समाज का सम्बन्ध विवाह शादी या खान-पान के साथ न जोड़ना चाहिये। किसके हाथ का खाना और किसके हाथ का न खाना,—इसका विचार परस्पर परिचय और विश्वास, सफाई, भोजन की अनुकूलता आदि की दृष्टि से होना चाहिये, न कि जीविका की दृष्टि से। जिस जगह जीविका का असर इन बातों पर पड़ता हो वहीं भी जीविका के कारण नहीं, पर जीविका के कारण भोजनादि व्यवस्था में होने-वाली प्रतिकूलता के कारण, परहेज करना चाहिये।

जो बात भोजन के बारे में कही गई है—वह बात शादी के बारे में भी कही जा सकती है। हां! विवाह के लिये जिन बारह बातों का विचार करने की बात पहिले बताई गई है—उनका विचार करना ही चाहिये और उसमें सहाजीविका भी एक बात है—इस दृष्टि से ही जीविका का विचार करना उचित है। पर वह सब अपनी वैयक्तिक रुचि पर निर्भर है—इसके लिये कोई सामाजिक बन्धन बनाना ठीक नहीं।

४—आजीविक-समाज की रचना विशेषता से धंधों की सुव्यवस्था के लिये होना चाहिये। एक धंधे-वाले परस्पर प्रतियोगिता के कारण धंधे को बर्बाद न कर दें, राज्य का कानून उस धंधे पर आक्रमण न कर डाले, धंधे को पनपने के लिये समाज या राज्य की तरफ़ से आवश्यक सुविधा मिले, दूसरे धंधे-वाले उस धंधे को नुकसान न पहुँचावें, देश की आवश्यकता-

नुसार उस धंधे को व्यवस्थित बनाया जा सके, उस धंधे-वालों के द्वारा जनता लूटी जाने न लगे, अथवा देश के सामूहिक-हित को नुकसान न पहुँचे, इस प्रकार अन्याय सहने या अन्याय करने से बचने के लिये आजीविक-समाज की रचना होना चाहिये।

५—बहुत से धंधे ऐसे होते हैं जिनके करने-वाले परिश्रम तो दूसरे वर्गों से अधिक करते हैं, पर कितना भी श्रम करने पर भी वे कंगाल ही बने रहते हैं, यह सामाजिक अव्यवस्था दूर करने के लिये भी आजीविक-समाजों की आवश्यकता है।

६—कोई कोई धंधे-वालों में खासतौर पर कई कुरूढ़ियाँ, दुराचार, दुर्व्यसन आदि घुस जाते हैं, जिनसे उनका आर्थिक और नैतिक पतन होने लगता है, आजीविक-समाज इन दोषों को दूर करने के प्रयत्न करते हैं।

७—किसी धंधे-वालों के ऊपर जब संगठित या असंगठित लोग किसी प्रकार से अन्यायपूर्ण आक्रमण करें, तब उनसे बचने का उपाय ये आजीविक-समाज करते हैं।

इस प्रकार के और भी कारण हो सकते हैं, जिस से जीविका के सम्बन्ध में सभी वर्गों को सुविधा हो सके।

जीविका की दृष्टि से समाज के कितने वर्ग बनाये जायँ—कह नहीं सकते। आज की अपेक्षा कल वर्गों की संख्या अधिक हो सकती है, नये वर्ग पैदा हो सकते हैं। यंत्रादि के आविष्कारों के कारण कार्य करने की पद्धति और उस से आर्थिक मानसिक आदि अवस्थाओं में परिवर्तन हो सकता है। इसलिये इतना ही कहा जा सकता है कि जीविका के वर्गों का स्थान या उनकी संख्या सदा के लिये निश्चित नहीं की जा सकती। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र इस प्रकार के चार वर्ग अब बिलकुल अपर्याप्त हैं। इसकी अपेक्षा संशोधित वर्गीकरण यह है—

१—ब्राह्मण, २—शिल्पी, ३—कृषक, ४—व्यापारी, ५—कलाकार, ६—चिकित्सक, ७—क्षत्रिय, ८—यान्त्रिक, ९—मजदूर, १०—परिचर्यक ११—दुर्जक।

ये भेद मुख्यता की दृष्टि से बनाये गये हैं। अन्यथा एक वर्ग में दूसरे वर्ग का भी काफ़ी काम करना पड़ता है। कृषि में, व्यापार में, शिल्प में, यंत्र में मजदूरी काफ़ी करना पड़ती है। क्षत्रिय को अमुक अंश में यान्त्रिक आदि भी होना पड़ता है, इस प्रकार एक की दूसरे में ज़रूरत होती ही है, पर कौन किस वर्ग का है—इसमें मुख्यता देखना चाहिये।

(१) ब्राह्मण—इस वर्ग में लेखक, सम्पादक, व्याख्याता, कवि, न्यायाधीश, व्यवस्थापक सभाओं के सदस्य, अध्यापक, धर्म—दर्शन—इतिहास—ज्योतिष—गणित—भाषा—विज्ञान—अर्थशास्त्र आदि विषयों के विद्वान्, राजनीतिक नेता, हिसाब-किताब आदि रखने-वाले आदि क्लर्क वगैरह आते हैं। यह विद्या-बुद्धि-जीवी वर्ग है।

(२) शिल्पी—मकान आदि बनाने-वाले मिस्त्री, लुहार, बढ़ई, दर्जी, कुम्हार, कपड़ा बनाने-वाले, रसोइया, आदि वे लोग आते हैं जो जीवन के लिये विशेष उपयोगी चीजों के बनाने का अभ्यास करते हैं। अर्थात्, विशेष उपयोगी हस्त-कौशल जानने-वाले लोग इस वर्ग में आते हैं।

(३) कृषक—खेती करने-वाले, फल-फूल शाक भाजी आदि का उत्पादन करने-वाले इस वर्ग में आते हैं।

(४) व्यापारी—एक जगह की चीज़ दूसरी

जगह पहुँचाकर या एक समय की चीज़ दूसरे समय के लिये सुरक्षित रखकर बेचने-वाले व्यापारी हैं। चीजों को तैयार कराकर बेचनेवाले भी व्यापारी कहलाते हैं।

(५) **कलाकार**– मुख्यता से मन के ऊपर असर डालने-वाली चीजों को तैयार करने-वाले, या कार्य करने-वाले लोग कलाकार कहलाते हैं। जैसे—चित्रकार, मूर्तिकार, गवैया, नृत्यकार, अभिनेता (एक्टर) जादू का खेल दिखाने-वाला, सरकस का खेल दिखाने-वाला आदि।

(६) **चिकित्सक**– शरीर के स्वास्थ्य की चिकित्सा करने वाला डाक्टर वैद्य हकीम आदि चिकित्सक हैं।

(७) **क्षत्रिय**– जान-माल की रक्षा करने-वाले सैनिक, पुलिस के सिपाही, पहरेदार, आदि क्षत्रिय हैं। सैनिकता यद्यपि आज राज्य-शासन की आवश्यकता बनी हुई है, पर इस का अस्तित्व मानव-समाज की पशुता की निशानी है। सैनिकों का उपयोग प्रायः एक राज्य की दूसरे राज्य से रक्षा करने के लिये है, पर एक राज्य का दूसरे राज्य पर आक्रमण करना ठीक नहीं है। चोर-डाकुओं आदि से प्रजा की रक्षा करने के लिये पुलिस ही काफ़ी है। पर जब तक सब राज्यों का एक संगठन नहीं बन जाता और सब सरकारों के बीच स्थायी सुलह नहीं हो जाती, सब सरकारों को मान्य ऐसा निःपक्ष अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय नहीं बन जाता, तब तक मानवता की कलंक स्वरूप सैनिकता भी रहेगी और उस का गुण-गान भी होगा। इस में अपराध सैनिकों का नहीं है—उन में तो जीवन का बलिदान करने-वाले त्यागी वीर व्यक्ति भी हो सकते हैं, पर यह मानव-समाज की मूढ़ता का चिन्ह है। चोर-डाकुओं के बारे में यह कहा जा सकता है कि समाज के भीतर कुछ व्यक्तियों की नीचता के कारण उन का अस्तित्व है, पर जब सरकारों के बीच में झगड़े होते हैं और मार-काट होती है तब यह कहा जा सकता है कि इस पशुता के पीछे राष्ट्रों या राज्यों की अधिकांश और जिम्मेदार जनता का पीठ-बल है।

खैर! जब तक सैनिकता का पाप है तब तक सैनिक भी क्षत्रिय वर्ग के भीतर आयेंगे।

(८) **यान्त्रिक**– विशेष रूप में यन्त्र चलाने-वाला वर्ग यान्त्रिक है। हवाई जहाज, पानी के जहाज, रेल के एंजिन, मोटर आदि चलाने-वाले या प्रेस-मशीन आदि और भी अनेक तरह की मशीनों को चलाने-वाले यान्त्रिक हैं।

(९) **मजदूर**–जिस में शरीर-श्रम की प्रधानता है–ऐसा काम करने-वाले मज़दूर कहलाते हैं। जिस में अधिक श्रम करने की शक्ति के अभ्यास के सिवाय और किसी खास अभ्यास की ज़रूरत नहीं होती वह मज़दूरी का काम है। बर्तन मलना, पीसना, पानी निकालना, सामान ढोना, कूटना, लकड़ी काटना, आदि अनेक मज़दूरी के काम हैं। थोड़े-बहुत अंश में इस प्रकार के मज़दूरी के काम हर-एक को करना चाहिये, और इन कामों के करने में अपमान न समझना चाहिये।

(१०) **परिचर्यक**– दूसरों की सेवा करने-वाले परिचर्यक हैं। जैसे–धोबी, नाई आदि। इन कामों से भी किसी को नीच न समझना चाहिये। और परिचर्या को धर्म के रूप में करने को तो सभी को तैयार रहना चाहिये।

(११) **दुर्जक**– पाप-जीविका, छल-जीविका जूवा, सट्टा आदि से जीविका करने-वाले दुर्जक हैं। इस प्रकार की जीविकाओं से मनुष्य का पतन होता है।

इन भेदों को और भी बढ़ाया जा सकता हैं, एक के अनेक भेद किये जा सकते हैं।

इनमें से दुर्जक नाम का आजीविक-समाज तो असत्य-समाज है। और बाकी दस प्रकार के समाज सत्य-समाज, सत्यक-समाज या असत्य-समाज बन सकते हैं।

किसी भी प्रकार की जीविका करने-वाला व्यक्ति जब संगठित रूप में या अकेले ही इस बात की कोशिश नहीं करता जिस से दूसरे आजीविक-समाजों को लुट जाना पड़े, बल्कि वह ऐसी कोशिश करता है जिस से सभी वर्गों का हित हो, तब वह आजीविक सत्य-समाजी कहलाता है। ऐसा आदमी अगर व्यापारी है—कारखाने का मालिक है तो अपनी पूंजी के बल पर मजदूरों को इस के लिये विवश न करेगा कि वे गरीबी से घबराकर उस के शिकार हो जायँ, अर्थात् तुच्छ से तुच्छ वेतन में अधिक से अधिक काम करने के लिये तैयार हो जायँ। वह अपने या अपने वर्ग के हित के साथ दूसरे वर्ग का भी खयाल रक्खेगा। उस के साथ अन्याय न करेगा।

सत्यक-समाजी वह है जो दूसरे वर्गों को लूटने के लिये कोई षड्यन्त्र या संगठन नहीं करता। साधारण बाजार की जो परिस्थिति होती है, उसी के अनुसार अपनी जीविका करता है। किसी वर्ग को गिराने के लिये या चूसने के लिये वह कोशिश न करेगा—ऐसा संगठन न करेगा, पर दूसरे वर्गों की रक्षा का भी विचार न करेगा—कोशिश न करेगा।

असत्य-समाजी जीविका को युद्ध-क्षेत्र का रूप दे देता है। वह अपने अधिकार का, साधनों का, अवसर का ऐसा उपयोग करता है जिस से अपने या अपने वर्ग के लाभ के लिये दूसरे या दूसरे वर्ग के लोगों का सर्वनाश तक हो सकता है। दूसरे के संकट से वह अधिक से अधिक लाभ उठाने की कोशिश करता है। वह किसी को संकट में देखकर दूने-चौगुने दाम वसूल करेगा या आधे-चौथाई दाम देगा। इस प्रकार की व्यवस्थित लूट के लिये अपने वर्ग का संगठन करेगा।

दैशिक-समाज की परिस्थिति के अनुसार अनेक तरह के आजीविक-समाज बनते हैं, इनके बनने में बुराई नहीं है, पर वे सत्यसमाजी नीति से बनने चाहिए। जिससे वे दूसरे समाजों के लिये विघातक न बनें और अन्य सामाजिक सहयोग बना रहे।

देश, धर्म और अर्थ की दृष्टि से तीन प्रकार के समाज बनते हैं। समाजों के भीतर जो अनेक तरह के संगठन हुआ करते हैं—उन्हें संस्था कहते हैं। पर, सिर्फ नाम के भेद के कारण या और भी निरर्थक-दुरर्थक कारणों के आधार से जो समाज-रचना कर ली जाती है— वह असत्य-समाज-रूप होने से हेय है।

एक आदर्श समाज

जब तक सारे विश्व का एक राष्ट्र नहीं बन गया है, जब तक सब में कौटुम्बिकता का पूर्ण रूप से संचार नहीं हुआ है, जब तक हर तरह की विभिन्नताओं का पूर्ण रूप में समन्वय नहीं हुआ है; तब तक मानव-समाज को इस दिशा में ले जाने के लिये एक आदर्श समाज की, जिसे सत्यसमाज कहना चाहिये—आवश्यकता है। सत्यसमाज की संघटना का रूप निम्नलिखित रूप से होना चाहिये।

उद्देश

१—(क) सर्व-धर्म-समभाव का प्रचार और पालन।

धर्म समभाव में सभ्यता संस्कृति आदि का समन्वय भी शामिल होता है।

(ख) सर्व-जाति-समभाव का प्रचार और पालन।

देश के नाम पर, वंश परम्परा के नाम पर, जीविका आदि के नाम पर बनी हुई हर तरह की जातियों में समभाव रखना है—और निराधार जातियों को तोड़ना है।

(ग) समाज-सुधार—दैशिक समाज, धार्मिक-समाज, आजीवक-समाज तथा और भी अनेक तरह के समाजों में जो बुरे रिवाज प्रचलित रहते हैं अथवा देश-काल बदलने से जो रिवाज हानिकर बन जाते हैं—उन्हें दूर करना, सुधारना तथा भलाई करने-वाले रिवाजों को चलाना।

२–(क) जनहित को धर्म या कर्तव्य की कसौटी मानकर अपने और दूसरों के जीवन को विकसित और पवित्र बनाना।

(ख) अधिक से अधिक प्राणियों को अधिक से अधिक सुखी करना।

इस से मनुष्य पूर्ण सदाचारी, योगी और विश्व-हितैषी बनेगा।

नियम

३– सत्यसमाजी सब धर्मों को विश्व-विद्यालयों के समान विश्व-चरित्रालय समझेगा। इसलिये उन में समभाव रक्खेगा।

हां! निःपक्ष आलोचना करेगा, किस धर्म में क्या क्या उपयोगी तत्त्व हैं और कौन कौन-सी बातें आज के लिये उपयोगी या अनुपयोगी हैं, इस प्रकार का विचार विवेक-पूर्वक निःपक्षता से करेगा।

४– उस के मन में किसी प्रकार के जाति-पांति का मोह न होगा।

५– वह शास्त्रों या धर्म-शास्त्रों का अन्ध-भक्त न होगा। वह शास्त्रों का उपयोग विचार-पूर्वक निःपक्षता से करेगा। वह शास्त्र के नाम पर वैज्ञानिक तथ्यों का विरोध न करेगा।

६– सत्य-समाजी, वेष-पूजक नहीं होगा। हरएक वेष में साधुता और गुरुता रह सकती है, यह समझकर उदारता से व्यवहार करेगा और वेष की ओट में छिपे हुए दंभियों से सावधान रहेगा। नियत वेष को सिर्फ़ किसी धर्म-संस्था के सदस्य होने की निशानी समझेगा।

७– वह विवाह-शादी में जाति-पांति को उचित न समझेगा, वह यथाशक्य जाति-पांति के बन्धनों को तोड़कर शादी करेगा। हां! विवाह में सदाचार, कुलशील, अर्थोपार्जन, सद्‌-जीविका, भोजन-रुचि, अनन्यानुराग, सहविचार, शिक्षण, स्वास्थ्य, सुन्दरता, अनुकूल-निवास, समवयस्कता, इन का विचार तो करना ही चाहिये, सो वह करेगा।

८– वह जाति-पांति के नाम पर सहभोज का विरोध न करेगा।

(मांस-भक्षणादि भोजन की विषमता से या अस्वच्छता आदि के कारण सहभोज न कर सके तो बात दूसरी है।)

९– स्त्री-पुरुष के जन्मसिद्ध अधिकारों में समानता का सिद्धान्त स्वीकार करेगा। समानता में जो व्यावहारिक बाधाएँ होंगी—उन्हें दूर हटाने की यथाशक्य कोशिश करेगा।

१०– जाति और सम्प्रदायों के नाम पर विशेषाधिकारों की मांग न करेगा। हां! समानाधिकार की मांग करेगा, दूसरों के अनुचित विशेषाधिकारों का विरोध भी करेगा।

११– न्यायोचित राष्ट्रीयता का समर्थक

होने पर भी वह अपने को विश्व का नागरिक मानेगा। उन की जाति होगी मनुष्य, धर्म होगा सत्य।

जाति, धर्म, संस्कृति, भाषा आदि दृष्टियों से विश्व का एक समाज बनाने के लिये जो एक संगठन बनाया जाय उसमें पूर्ण रूप में प्रवेश करने के लिये तीन श्रेणियाँ बनाना चाहिए। पहिली श्रेणी का नाम नैष्ठिक; दूसरी का नाम पाक्षिक और तीसरी का नाम अनुमोदक।

नैष्ठिक– यह पहिली श्रेणी का व्यक्ति पूर्ण सत्य-समाजी होगा। यह अपने को धर्म और जाति की दृष्टि से सत्य-समाजी ही (अर्थात् जाति से मनुष्य और धर्म से सत्यधर्मी) मानेगा। यह नाम के लिये भी स्वत्व-मोह, काल-मोह का परिचय न देगा।

पाक्षिक– यह किसी धर्म की छाप तो लगाये रखना चाहेगा पर, जाति की दृष्टि से वह अपने को नैष्ठिक की तरह मनुष्य जाति का ही मानेगा। और अपने धर्म की व्याख्या ऐसी करेगा जो सर्व- धर्म-समभाव के विरुद्ध न जायगी।

अनुमोदक– जो सत्य-समाज के सब सिद्धान्तों का समर्थक है, पर परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण उन्हें व्यवहार में नहीं ला पाता पर व्यवहार में उतारने की इच्छा पूरी रखता है, वह अनुमोदक है।

जो लोग इकदम पूर्ण सत्य-समाजी नहीं बन पाते वे पहिले अनुमोदक बनें फिर पाक्षिक बनें फिर नैष्ठिक बनें। जो इकदम नैष्ठिक या पाक्षिक बन सकते हैं वे इकदम नैष्ठिक या पाक्षिक बनें। पर इस बात का ख़याल रक्खें कि नैष्ठिक या पाक्षिक बन जाने के बाद सदस्योचित कर्तव्य करने में कुटुम्बियों आदि की दुहाई देकर बहाना न बनाना चाहिये जब तक ऐसी बाधा दूर न हो जाय तब तक अनुमोदक ही रहना चाहिये।

अनुमोदक के लिये प्रवेश-पत्र भरना काफ़ी है पर, नैष्ठिक या पाक्षिक को सत्य-समाज की दीक्षा लेना चाहिये। उस की विधि इस प्रकार है।

सत्यसमाज दीक्षा– प्रत्येक नैष्ठिक या पाक्षिक को सत्यसमाज की दीक्षा लेना चाहिये। जो बालक सत्य-समाजी कुटुम्ब में पैदा हैं—उन्हें भी सोलह वर्ष की उम्र में दीक्षा लेना चाहिये, स्त्रियाँ चौदह वर्ष की उम्र में भी दीक्षित हो सकती हैं। अनुमोदक बनने के लिये दीक्षित होने की ज़रूरत नहीं है।

१– सत्य-समाज की दीक्षा धर्मालय में हो, या चित्रों द्वारा अस्थायी धर्मालय बना लिया जाय वहां पर हो।

२– पहिले प्रार्थना हो।

३– दीक्षार्थी बतलावे कि मैं अमुक कारण से सत्य-समाजी होना चाहता हूँ; मैंने उसके नियम समझ लिये हैं। मैं भ. सत्य, भ. अहिंसा तथा सब महात्माओं को साक्षी करके सत्य-समाज का नैष्ठिक या पाक्षिक सदस्य बनता हूँ।

१ **प्रतिज्ञा**– मैं सब धर्मों, उन के देवों, और मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर आदि धर्मस्थानों में आदर भाव रक्खूंगा। यथाशक्य सब धर्मों के उत्सवों में आदर-पूर्वक भाग लेने की कोशिश करूंगा।

२– मुझे किसी ख़ास सम्प्रदाय के शब्दों, मंत्रों या पूजाविधियों में कोई मोह या पक्षपात नहीं होगा। आवश्यकतानुसार मैं उन में किसी भी विधि का उपयोग करूंगा। हां समभाव-वर्धक विधियों या पाठों को विशेष महत्व दूंगा।

३– मैं मनुष्य-मात्र को एक जाति मानूंगा। [क] खानपान में भोजन की शुद्धि-अशुद्धि, रुचि-

अरुचि, तथा अन्य अनुकूलता-प्रतिकूलता का ही विचार करूंगा। जाति-पाँति के विचार को इस में बाधक न समझूंगा।

[ख] विवाह-सम्बन्ध में भी सहयोग, शान्ति विकास और इस के लिये ज़रूरी गुणों और परिस्थितियों का विचार करूंगा, जाति-पांति का विचार न करूंगा।

४— सुव्यवस्था, स्वतन्त्रता और विकास का यथाशक्य समन्वय करते हुए समाज-सुधार के सब कार्यों का, जिन का उल्लेख सत्य-समाज ने किया है या करेगा, उन को जीवन में उतारूंगा।

५— मैं अपने को जाति से मनुष्य, और मज़हब से सत्यधर्मी मानूंगा, परन्तु अगर कहीं जाति या मज़हब का विशेष परिचय देना होगा तो अपने को सत्य-समाजी कहूंगा।

६— जिस किसी रीति-रिवाज़ के पालन करने में सत्य-समाज के उद्देश या नियम का विरोध होगा उस रीति-रिवाज़ का पालन न करूंगा और सत्य-समाज के सूचनानुसार नये रीति-रिवाज़ पालन करने की पूरी कोशिश करूंगा।

७— मैं यथाशक्य मनुष्य-मात्र के प्रति अधिक से अधिक ईमानदार रहने की कोशिश करूंगा, साथ ही जहाँ सत्य-समाज का सम्बन्ध है वहां आर्थिक आदि हरएक मामले में विशेष रूप में विश्वसनीय और ईमानदार रहूंगा।

८— प्रतिवर्ष सत्याष्टमी के अवसर पर सत्य-समाज को शक्ति अनुसार भेंट [धर्म-पूजा] अवश्य देता रहूंगा।

९— सत्य-समाज का ध्येय मेरे जीवन का ध्येय रहेगा, सत्य-समाज के नियम मुझे कानून के समान होंगे, उस की सूचनाओं की मैं उपेक्षा न करूँगा।

१०— आज से मेरा कुटुम्ब (पति और पत्नी) सत्य-समाजी है। भविष्य में मैं अपना वैवाहिक सम्बन्ध सत्य-समाज की विधि से इसी आधार पर करूंगा जिस से सत्य-समाजी कुटुम्ब बने।

मेरा नाम............................है।

मेरे माता-पिता का नाम....................

....है।

मेरे कुटुम्ब में..............................

.................व्यक्ति हैं।

मेरा विशेष परिचय यह है कि...........

....।

इस के बाद उपस्थित सत्य-समाजियों में से कोई प्रमुख व्यक्ति इस तरह के भाव प्रदर्शित करे—

"हम आप का स्वागत करते हैं। मनुष्य-जाति, धर्म और जाति के नाम पर जिस प्रकार टुकड़ों में बटकर अपना नाश कर रही है, रूढ़ियों की गुलाम बनकर जिस प्रकार विकास के मार्ग में रोड़े अटका रही है, उन्हें हटाकर मनुष्य-मात्र में एकता—प्रेम पैदा करने के लिये आपका सत्य-समाजी बनना बहुत उपयोगी है। सत्यसमाजी होने का मतलब किसी धर्म का तिरस्कार करना नहीं है; किन्तु सब धर्मों को अपनाना है, किसी जाति का द्वेष करना नहीं है; किन्तु सब कल्पित जातियों में एक प्राकृतिक महाजाति मनुष्य-जाति के दर्शन करना है। आप के सत्यसमाजी कुटुम्ब के मिलने से समाज-सुधार आदि का क्षेत्र विशाल होता है। आशा है, आप पूरी ईमानदारी के साथ अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन करेंगे और अपने व्यवहार से साबित कर देंगे कि हरएक धर्म-वाले के लिये सत्यसमाजी एक साधर्मी भाई है,

हरएक जातिवाले के लिये सत्यसमाजी सजातीय बन्धु है और हरएक समाज-सुधार के काम में सत्यसमाजी व्यक्ति बड़ा से बड़ा सहारा है।

इस के बाद अगर दीक्षार्थी की इच्छा हो तो उसका नाम बदल देना चाहिए। अन्यथा ज्यों का त्यों रहने देना चाहिए। पर, गोत्र सरनेम आदि अवश्य बदल देना चाहिए। सरनेम बदलने का कारण यह है कि जिससे एक सुधरे हुए नये कुटुम्ब का भान होता रहे और पुराने कुटुम्ब का मोह कर्तव्य में बाधा न डाले।

दीक्षार्थी अगर नारी हो और पर्दा करती हो तो दीक्षा के अवसर पर उसे पर्दा का त्याग कर देना चाहिए। और उसकी घोषणा इस प्रकार के शब्दों में करना चाहिए—

'पर्दा ने जहां स्त्रियों के स्वास्थ्य, शक्ति और विकास को नष्ट किया - वहाँ पुरुषों की नज़रों में पाप भरने की कोशिश की है, शील की दृष्टि से पुरुष और स्त्री दोनों को कमज़ोर कर दिया है। इसलिये आज से मैं इस पर्दे का त्याग करती हूँ। पति को छोड़कर समस्त पुरुष मेरे लिए यथा-योग्य पिता, पुत्र या भाई के समान हैं, इसलिए मैं अब किस से पर्दा करूँ? पर्दा छोड़कर मैं गुरु-जनों का विनय नहीं तोड़ रही हूँ; किन्तु सब से पवित्रता का नाता जोड़ रही हूँ। सत्यसमाजी होने से मेरा पुनर्जन्म हो गया है, इस समय पुराने जीवन की सब कुरूढ़ियाँ नहीं रह गई हैं, इसलिये पर्दा की कुरूढ़ि भी आप मेरे इस जीवन में न देखेंगे। आशीर्वाद दीजिये कि पर्दा का त्याग कर के बता सकूँ कि पवित्रता इस खुली हवा में भी रहती है, और कुछ अधिक रहती है।'

इस समय उपस्थित स्त्री-पुरुष 'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' कहकर उस बाई की बातों का समर्थन करें।

अगर वेष-भूषा असंस्कृति की सूचक हो तो इस समय वह भी बदल देना चाहिये।

इसके बाद दीक्षित व्यक्ति गुणदेवों और व्यक्तिदेवों की वन्दना करे। उपस्थित व्यक्तियों में गुरुजनों को प्रणाम और बाकी सब सज्जनों से 'जयसत्य' आदि कहे।

इसके बाद दीक्षार्थी के हाथ से सब को प्रसाद बाँटा जाय। अगर भोजन का प्रबन्ध हो तो सहभोज किया जाय, जिसमें परोसने का थोड़ा बहुत काम दीक्षित व्यक्ति भी करे।

सत्यसमाजियों की सामाजिकता—

मनुष्य-मात्र में कैसी सामाजिकता होना चाहिये—इस का नमूना बताने के लिये तथा उस का अभ्यास करने के लिये, तथा मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है इसलिये सत्य-समाज के ढंग की क्रान्ति करने-वालों को परस्पर सहयोग के लिये सत्य-समाजियों की सामाजिकता के विषय में कुछ सूचनाएँ यहां दी जाती हैं।

१. संगठन— सुख-दुःख में सहयोग, न्याय-नीति की रक्षा के लिये सम्मिलित प्रयत्न आदि संगठन के सभी चिन्ह जीवन में उतारना चाहिए। जिस से किसी को अनाथता, असहायता का अनुभव न हो। सहयोग अधिक से अधिक हो। संगठन सभी सामाजिकताओं का मूल है—आदि, पहिले कहा जा चुका है।

प्रश्न—अगर कोई मनुष्य समाज के नियमों का भंग करे तो क्या उसका बहिष्कार करना चाहिए? अगर कुछ न किया जाय तो संगठन कैसे रहेगा?

उत्तर—हरएक संगठन के लिए प्रायश्चित या दंड की आवश्यकता है। कोशिश यह होनी चाहिए कि लोग अपराध होने पर प्रायश्चित लें।

जो लोग अपराध की पर्वाह ही नहीं करते–वे तो स्वेच्छा से संगठन के बाहर हो जायेंगे। फिर भी, संगठन में ऐसी आवश्यकता हो सकती है जब दंड-विधान करना पड़े। पर, दंड-विधान में निम्न-लिखित सूचनाओं का पालन होना चाहिये—

[क] वैयक्तिक द्वेष के कारण किसी बहाने से किसी को दण्ड न दिया जाय।

[ख] जबतक कोई मूल-सिद्धान्तों का पालन करता है, कोई विशेष अनैतिकता का परिचय नहीं देता, तबतक उस का बहिष्कार न किया जाय।

[ग] पूर्ण बहिष्कार से बचने की पूरी कोशिश की जाय। बहुत ज़रूरी हो तो पहिली से दूसरी या तीसरी श्रेणी में कर दिया जाय।

[घ] वंश-परम्परा के लिए बहिष्कार कभी न किया जाय। हां, उस की सन्तान भी अगर वैसा ही अपराध करे तो उस को अलग दंड दिया जाय, पर माता-पिता आदि के अपराध के कारण सन्तान को अपराधी न समझा जाय।

[ङ] जहां तक बने–बहिष्कार का दण्ड न दिया जाय। जब कोई दूसरा उपाय न रहे तभी वैसा दंड दिया जाय, सो भी मित-मात्रा में।

[च] स्वतन्त्र विचारकता या रूढ़ि-विरोध के कारण किसी को अपराधी न माना जाय, बशर्तें कि वह सामाजिक जिम्मेदारी को पूरा करे और संगठन को नष्ट करने की कोशिश न करे।

[छ] न्याय के सामने सबको झुकना चाहिए, बहुमत की इच्छा होने से ही अल्पमत पर अन्याय लादना न चाहिए। ऐसा अवसर आने पर किसी निष्पक्ष विचारक से न्याय कराना चाहिए।

[ज] संगठन की दृढ़ता जरूरी है, पर उस के नाम पर अहंकार पोषण नहीं!

२. विवाह—पहिले कहे हुए विवाह-योग्य बारह गुणों का विचार करते हुए सत्यसमाजियों को पारस्परिक विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की पूरी कोशिश करना चाहिये। देश, प्रान्त, जाति आदि के बन्धनों को तोड़कर भी विवाह-सम्बन्ध करना चाहिये। पर, इस का यह मतलब नहीं कि सत्यसमाजी २ ही आपस में विवाह-सम्बन्ध करें! सत्यसमाजियों के लिये दुनिया के किसी भी कोने में जाकर, किसी भी कौम के व्यक्ति के साथ विवाह सम्बन्ध करना है, भले ही कोई सत्यसमाज का सदस्य बना हो या न बना हो। वैवाहिक-सम्बन्ध दो व्यक्ति को मिलाने का अच्छा सम्बन्ध है, सत्यसमाजी को तो मनुष्य-मात्र को मिलाकर एक वर्ग, एक कौम बनाना है, इसलिये उस का वैवाहिक-क्षेत्र अधिक से अधिक विशाल है। हां! वैवाहिक जीवन की सफलता के लिये जिन बारह बातों का या और आवश्यक बातों का देखना ज़रूरी है, वह तो देखना ही चाहिये।

३. सहभोज—जैसा कि सत्यसमाज के नियमों में पहिले बताया गया है–उसके अनुसार सहभोज के द्वारा सामाजिकता बढ़ाना चाहिये। कहां किस के हाथ का या किस के साथ खाये या न खाये आदि बातों के बारे में कुछ सूचनाएँ ये हैं—

(क) भोजन अगर अभक्ष्य या अभक्ष्य से मिश्रित हो, इसलिये अगर कोई भोजन न करे तो इस में उसका कोई दोष नहीं।

(ख) गंदगी के कारण या बीमारी आदि के कारण भोजन न करे, तो कोई दोष नहीं।

(ग) अगर भोजन करने में किसी प्रकार के विश्वासघात की आशंका हो, इसलिये भोजन न करे तो कोई दोष नहीं।

(घ) एक आदमी अगर हमें तुच्छ समझता है

अपने साथ या अपने हाथ का भोजन करने में धर्मनाश—अपमान आदि समझता है तो उसके इस दुराग्रह, अन्ध-विश्वास, मूढ़ता आदि के विरोध के लिये उसके हाथ का भोजन न करना या उसके साथ न खाना, उचित कहा जा सकता है।

(ङ) भोजन करने योग्य परिचय आदि वैयक्तिक सम्बन्ध न होने से कोई भोजन न करे या आर्थिक लेन-देन आदि की असुविधा के कारण भोजन न करे तो क्षन्तव्य है।

(च) अगर भोजन न करने से हमारी उदारता में लोग सन्देह करें या सत्य-प्रचार के लिये आवश्यक हो तो यथासह्य असुविधा सहकर भी भोजन करना चाहिये।

(छ) सामाजिकता को बनाये रखने के लिये कभी कभी सहभोज के अवसर अवश्य लाते रहना चाहिये।

४. सहायता—पारस्परिक सहायता के अनेक मार्ग हैं। सामाजिकता एक शरीर के अनेक अंगों का समन्वय करने वाले प्राणों के समान है। जहां सच्ची सामाजिकता होती है—वहां सहायता के कार्य ढूँढ़ना नहीं पड़ते, वे अपने आप सूझने लगते हैं। फिर भी, सहायता के कुछ कार्यों का यहां संकेत कर दिया जाता है—

(क) बीमारी में तन से और धन से सेवा करना।

(ख) मृत्यु के अवसर पर मरण संस्कार आदि कार्यों में तथा मरण के बाद कुटुम्बियों को सान्त्वना देने में—उनकी व्यवस्था जमाने में हर तरह की मदद करना।

(ग) प्राकृतिक या पर-प्राणिकृत संकटों में मदद पहुँचाना। जैसे, आग लगी हो तो बुझाने जाना, चोर-डाकू आदि सता रहे हों तो मदद को जाना, आदि।

(घ) वैवाहिक सम्बन्ध जुटा देना,—इस कार्य में मदद करना, सहयोग देना।

(ङ) आजीविका वगैरह की ठीक व्यवस्था न हो तो यथाशक्य उसकी व्यवस्था करना, गरीबी में भी सनाथता का अनुभव कराना।

इस प्रकार के और भी सहायता के कार्य किये जा सकते हैं। सच पूछा जाय तो ये कार्य मनुष्य-मात्र के साथ करना चाहिये और सत्य-समाजी को तो अधिक से अधिक उदार बनकर इस नीति पर चलना चाहिये। फिर भी, जहां सामाजिकता का विशेष सम्बन्ध है वहां विशेष रूप में इस का खयाल रखकर अधिक से अधिक सहायता करना चाहिये।

५. व्यवस्था—व्यवस्था का बहुत-सा काम दैशिक-समाज और राज्य-संस्था के जरिये होता है, पर बहुत-सी व्यवस्थाएँ ऐसी हैं जो इन के द्वारा ठीक तरह से नहीं हो सकतीं, वे व्यवस्थाएँ ऐसी ही आदर्श-समाज के द्वारा हो सकती हैं। दैशिक-समाज या राज्यसंस्था में आध्यात्मिकता का मिश्रण नहीं रहता या नाम-मात्र का रहता है, इसलिये व्यवस्था के नियम अच्छे रहने पर भी उनका पालन अच्छी तरह नहीं होने पाता।

आदर्श-समाज या सत्यसमाज में दंड की व्यवस्था कम से कम होगी, उसमें प्रायश्चित्त की मुख्यता होगी। दंड में बदला या क्षतिपूर्ति तो होती है, पर आत्म-शुद्धि नहीं होती; जब कि प्रायश्चित्त में आत्म-शुद्धि होती है। सत्यसमाज में या किसी भी अच्छे समाज में व्यवस्था के काम में दंड की नहीं—प्रायश्चित्त की प्रधानता होना चाहिये।

प्रायश्चित्त एक तरह से स्वेच्छा से लिया जाता

है जैसे कोई रोगी चिकित्सक से औषध मांगे, अपराध होने पर मनुष्य को इसी तरह प्रायश्चित मांगना चाहिये।

आदर्श समाज में व्यवस्था के उन कामों पर तो विचार होता ही है या होना चाहिये—जिस पर दैशिक-समाज या राज्यसंस्था में होता है, पर अन्य घरेलू बातों में भी आदर्श-समाज या सत्य-समाज विचार करता है। कुछ बातों का उल्लेख यहां किया जाता है।

१—पति पत्नी के ऊपर या पत्नी पति के ऊपर कोई अत्याचार तो नहीं करते?

२—पुत्र पुत्र-वधू अपने वृद्ध मां-बाप के पालन-पोषण की अवहेलना तो नहीं करते?

३—कोई भी कुटुम्बी दूसरे कुटुम्बी के नैतिक विकास, उचित स्वतन्त्रता में बाधा तो नहीं डालता?

४— विधवाओं के नैतिक या आर्थिक-अधिकार तो नहीं हड़पे जाते?

५— किसी संस्था की सम्पत्ति का अथवा प्राप्त अधिकार या सुविधा का कोई दुरुपयोग तो नहीं करता?

६— अनाथों की सम्पत्ति आदि का कोई दुरुपयोग तो नहीं करता?

७- ऐसा कोई दुराचार तो नहीं करता, जिससे समाज का नाम बदनाम हो?

८— समाज के सिद्धान्तों का, या नियमों का पालन तो होता है?

९— समाज के द्वारा स्वीकार किये गये प्रस्तावों का—निर्णयों का—पालन तो होता है?

१०— लोग समाज के कार्यों में यथायोग्य सहयोग तो देते हैं संविभाग या आर्थिक-भेंट तो देते हैं?

इस प्रकार और भी सामाजिक व्यवस्था के काम हो सकते हैं।

६. **सहविकास**— सहविकास में मुख्यता दैशिक-समाज की है—जैसा कि दैशिक-समाज के प्रकरण में कहा गया है। संसार के जितने अधिक प्राणी सुखी और नीतिमान होंगे, हमारे धर्म और सुख के रक्षण में उतनी ही अधिक सहूलियत होगी, इसलिये आत्म-विकास के लिये भी सह-विकास की बहुत जरूरत है। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि धर्म या जीविका आदि के नाम पर खड़े हुए समाजों में सहविकास की दृष्टि से ऐसा पक्षपात न होना चाहिये जिससे दैशिक निकटता का अपमान हो; फिर भी इस बात का खयाल रखते हुए सहविकास की पूरी कोशिश करना चाहिये। कुछ सूचनाएँ यहां दी जाती हैं।

१— कोई सदाचार या नीति से भ्रष्ट हो रहा हो तो उसे समझा-बुझाकर तथा किसी तरह का सहारा देकर उसे नीति के मार्ग में स्थिर रखना।

२— कोई देश-प्रदेश गुलाम हो, गरीब हो, अशिक्षित हो तो उसे स्वतन्त्र, समृद्ध, शिक्षित बनाना।

३— सदाचारी, शिक्षित, समृद्ध, सशक्त और स्वस्थ आदि बनाने-वाली संस्थाओं का निर्माण करना।

४— जिन परिस्थितियों के कारण लोगों में कोई बुराई फैली हो उन परिस्थितियों को हटाकर अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण करना. जैसे, अन्न न मिलने से अगर किसी देश के लोग मांस-भक्षण करते हों तो अन्न उत्पन्न करने या लाने का प्रयत्न करना, आदि।

५— नीति सदाचार आदि के प्रचार का उद्योग करना, अपने जीवन से और उपदेशों से

लोगों को कल्याण के मार्ग में लगाना ।

इस प्रकार और भी सूचनाएँ दी जा सकती हैं । मतलब यह है कि समाज के सदस्य का कर्तव्य है कि वह सिर्फ़ आत्मोद्धार की ही चिन्ता न करे; किन्तु समाज के उद्धार की या जगत् के उद्धार की भी चिन्ता करे । अद्वैत की भावना से तो यह करना ही चाहिये, साथ ही स्व-हित की दृष्टि से भी यह ज़रूरी है; क्योंकि एक व्यक्ति के आचरण का असर दूसरे पर थोड़ा-बहुत पड़ता ही है और एक व्यक्ति के आचरण का फल भी दूसरे को थोड़ा-बहुत भोगना पड़ता है । समाज की बुराई-भलाई का फल व्यक्ति को, व्यक्ति की बुराई-भलाई का फल समाज को सहना पड़ता है ।

एक देश का व्यक्ति दूसरे देश में जाकर अगर चोरी करता है तो उससे सारा देश बदनाम होता है, दूसरे नागरिकों को भी अविश्वसनीय कहलाने के कारण अनेक असुविधाओं का सामना करना पड़ता है ।

अगर किसी धंधे-वालों में आम रिवाज़ है कि वे ग्राहकों की चोरी कर लेते हैं, जैसे—सुनारों में गहना बनाते समय सोना-चांदी चुरा लेना, घड़ीसाजों में घड़ी सुधारते समय उसके पुर्जे बदल देना आदि, तो इस क्षेत्र में कोई आदमी ईमानदार भी हो तो भी उसे अविश्वसनीय बनना पड़ेगा ।

किसी वर्ग के लोगों में अगर लाँच रिश्वत की आदत पड़ गई है, अथवा जरा-सा भी डराने धमकाने से वे पुलिस आदि अधिकारियों के शिकार हो जाते हैं तो ऐसे वातावरण में एक ईमानदार व्यक्ति को रहना मुश्किल हो जाता है । रिश्वत देने-वाले और लेने-वाले, डराने-वाले और डरने-वाले सब उसके विरोधी हो जाते हैं । अगर वह महान शक्तिशाली व्यक्ति भी हो तो भी उसे उन का सामना करना और सचाई से काम लेना कठिन होता है ।

अगर किसी देश के लोगों में थोड़े से पैसे के कारण अपने अपने 'वोट' बेच देने का रिवाज़ है तो उस देश में प्रजातन्त्र जिन्दा नहीं रह सकता और न जन-सेवा के लिये योग्य जन-सेवक सरलता से मिल सकते हैं । जिसके पास पैसा है, वही लोगों के वोट खरीदकर शासक बन जायगा । प्रजातन्त्र की सिर्फ़ लाश रह जायगी ।

इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिससे मालूम होगा कि सहविकास की कितनी ज़रूरत है । इसलिये व्यक्ति को अपने ईमान की रक्षा के लिये भी दुनिया को अधिक से अधिक ईमानदार बनाना ज़रूरी है ।

७. सहसाधना—सहविकास और सहसाधना का बहुत कुछ सम्बन्ध है । किसी भी ध्येय की पूर्त्ति के लिए जो ख़ास कोशिश की जाती है उसे 'साधना' कहते हैं । इसलिये विकास के लिए भी साधना की जाती है, और उस विकास का भी विशेष साधना के लिये उपयोग किया जाता है । शिक्षा-प्रचार के लिए कोई साधना कर सकता है । पर, शिक्षा-प्रचार से होनेवाले विकास का उपयोग राष्ट्र की स्वतन्त्रता आदि की साधना के लिए किया जा सकता है ।

समाज एक संगठित और व्यवस्थित जनसमूह है और उसके सामने जीवन सम्बन्धी कोई ध्येय होना भी ज़रूरी है । उस ध्येय की पूर्त्ति में प्रत्येक व्यक्ति को साधना करनी पड़ती है या करना चाहिए । फिर भी, ध्येय की पूर्त्ति के लिए व्यक्ति पर्याप्त नहीं होता, इसलिए सारे समाज को मिलजुलकर साधना करना पड़ती है । व्यक्ति की

शक्ति बहुत सीमित है, जो महान व्यक्ति कहलाते हैं—उन की महत्ता का मुख्य चिन्ह यही रहा है कि वे किसी साधना के लिए मानव-समाज के एक किसी बड़े भाग को प्रेरित कर सकते हैं। अगर वे ऐसा न कर पाते, अथवा ऐसा होने का अमर बीज न बो जाते तो उन की महत्ता का क्या उपयोग था? उच्च और विशाल ध्येय की पूर्त्ति के लिए सहसाधना करना ज़रूरी है।

सत्यसमाज के सामने मुख्य ध्येय यही है कि मनुष्य-समाज के टुकड़ों के विरोध या असहयोग को हटाना; मनुष्य को विवेकी, ईमानदार और अवस्था-समभावी बनाना। इस के लिये प्रत्येक सत्यसमाजी को प्रयत्न करना है और उस प्रयत्न को व्यापक बनाने के लिये मिलजुलकर साधना करना है।

सहसाधना के आलम्बन अनेक हो सकते हैं, पर उन में मुख्य मुख्य पांच तरह के आलम्बन हैं—(क) उद्बोधक, (ख) बोधक, (ग) प्रेरक, (घ) प्रसाधक, (ङ) व्यवस्थापक।

(क) उद्बोधक उन्हें कहते हैं जो किसी ध्येय की तरफ़ भावनाओं को जगाते हैं; रुचि, उत्साह, साहस आदि पैदा करते हैं। झण्डा, झण्डा-वन्दन, मंदिर, मसजिद, गिरजाघर, मूर्त्ति, चित्र, पूजा, नमाज, प्रार्थना, तीर्थस्थान, महात्माओं के स्मारक आदि उद्बोधक हैं। हरएक समाज या संस्था अपने अपने ध्येय के अनुरूप ऐसे उद्बोधक रखती है। सत्यसमाज यों तो सभी उद्बोधकों का उपयोग करता है, पर उस के ध्येय के अनुरूप उद्बोधक है धर्मालय, अर्थात् सत्य-अहिंसा प्रधान सर्व धर्म-समभावी मंदिर। उद्बोधन के लिए उद्बोधक स्थान का साथ साथ उपयोग करने से संगठन पैदा होता है, सहयोग बढ़ता है, उत्साह बढ़ता है। इसलिए जगह जगह धर्मालयों की स्थापना होना चाहिये।

धर्मालयों का रूप देश-काल के अनुसार कुछ बदलता रहना चाहिये। उन में रक्खे गये स्मारक आदि ऐसे होना चाहिये जो देश की मुख्य-मुख्य जमातों को आकर्षित कर सकें। कहीं कोई स्मारक बिलकुल अनावश्यक हो सकता है—कहीं कोई बहुत आवश्यक, इस हिसाब से स्मारकों की संख्या और रूप बदलता रहेगा। हां! इस बात का ख़याल रखना चाहिये कि धर्मालय की रचना सत्य-समाज के सिद्धान्तों के अनुरूप हो। पशुबलि आदि कोई हिंसक क्रिया-कांड वहाँ न हो सकें। पूजा, प्रार्थना, नमाज आदि अनेक तरह के क्रिया-कांड प्रबन्ध की सुविधा के अनुसार हो सकते हैं। धार्मिक क्रियाओं में परस्पर विरोध न हो—इस बात का ख़याल रखना चाहिये।

(ख) बोधक— बोधक आलम्बन है शास्त्र। दृष्टि-कांड में शास्त्र की परिभाषा आदि पर विचार किया गया है। सहसाधना में साधारणतः यह होना चाहिये कि प्रतिदिन नियत समय पर धर्मालय आदि किसी पवित्र स्थान में समझदारी के साथ शास्त्र का वाचन किया जाय। चर्चा तथा शंका-समाधान किया जाय, जिस से मनुष्य की ज्ञान-वृद्धि हो। शास्त्र में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रहना चाहिये। आवश्यकतानुसार उस में उचित संशोधन की आवश्यकता हो तो वह भी होना चाहिये। इस प्रकार शास्त्र के विषय में उदार और वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखते हुए, एक शास्त्र के आधार पर समाज को चलाने से लक्ष्य की तरफ़ विशेष गति होती है। हां! देश-काल के अनुसार कर्तव्य के रूप का निर्णय करने की गुंजाइश शास्त्र में अवश्य होना चाहिये—जैसी कि इस

'सत्यामृत' में है।

(ग) प्रेरक– ध्येय की तरफ़ प्रेरणा देने-वाला 'प्रेरक' है। यह गुरु, नेता या गुरु-तुल्य व्यक्ति होता है। इसे स्वीकार करने में काफ़ी सतर्कता से काम लेना चाहिये, फिर उस के शब्दों का काफ़ी सन्मान करना चाहिये। सारी समाज का जब एक प्रेरक होता है, तब संगठन मजबूत और कार्य जल्दी होता है। पर इस का खयाल रखना है कि संगठन के नाम पर अन्ध-श्रद्धाएँ और मूढ़ताएँ जड़ न जमा लें, गुरुडम और पोपडम का नंगा-नाच न होने लगे। निःपक्ष और समाज-हितैषी विचारकों के विचारों का मूल्य नष्ट न होना चाहिये।

(घ) प्रचारक–प्रसारक आलम्बन है–साधु-वर्ग। सत्य का प्रचार करना ही जिन के जीवन का ध्येय है, इसी में जिन्हें आनन्द आने लगा है, अपने लिये धन-संग्रह से जो विमुख हो गये हैं, जिन का जीवन प्रसारक के अनुरूप है–वे ही प्रसारक साधु हैं। सहसाधना के लिये इस वर्ग की बहुत जरूरत है। उस की साधुता में न्यूनाधिकता हो सकती है, पर उसे विद्वान्, सदाचारी और विश्व-हितैषी अवश्य होना चाहिये।

संसार को एक सूत्र में बाँधने के लिये, असंयम या पाप का दुष्फल समझाने के लिये, विवेक का पाठ पढ़ाने के लिये–हर देश, हर प्रान्त और हर नगर के विस्तार में साधुओं की जरूरत है। साधु सिर्फ़ वेषधारी और पेटभरू न होना चाहिये।

(ङ) व्यवस्थापक– सहसाधना की आर्थिक तथा प्रबन्ध सम्बन्धी व्यवस्था के लिये व्यवस्थापक वर्ग की आवश्यकता है। उद्बोधक, बोधक, प्रेरक और प्रसारक आलम्बनों का निर्माण और निर्वाह की जिम्मेदारी भी व्यवस्थापक वर्ग पर है। थोड़े-बहुत अंश में समाज के हरएक सदस्य को इस में भाग लेना चाहिये। और कुछ नहीं तो वह शक्ति के अनुसार आर्थिक मदद तो कर ही सकता है। वार्षिक संविभाग आदि तो दे ही सकता है। हरएक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह सार्वजनिक विकास के लिये कुछ न कुछ धन और शक्ति खर्च करे। सहसाधना का यह कार्य विश्व-हित के साथ स्व-हित के लिये भी ज़रूरी है।

८.सहानुभूति–मनुष्य में सेवा और सहयोग करने की शक्ति काफ़ी परिमित होती है, इस रूप में तो वह अपने विश्व-प्रेम का परिचय नहीं दे सकता, पर सहानुभूति के रूप में काफ़ी दे सकता है। दूसरों के दुःख में दुःखी होना और दूसरों के उचित सुख में आनन्द मनाना—सत्य-समाज का स्वभाव बन जाना चाहिये। यथाशक्य उस सहानुभूति को प्रगट भी करना चाहिये।

अपनी सहानुभूति का मूल्य और आवश्यकता का विचार कर वह दुनिया के किसी भी भूखंड में रहने-वाले, या किसी भी वर्ग के मनुष्यों से वह सहानुभूति—दुःख में दुःख और सुख में प्रसन्नता—प्रगट करे।

अगर दो दल लड़ रहे हों और दोनों ही स्वार्थी आदि हों तो किसी की भी जीत-हार में सहानुभूति प्रगट न करे; किन्तु इस प्रकार की हार-जीत मानवता का पराजय ही है—इस रूप में खेद ही प्रकाशित करे।

अन्यायी अगर अन्याय के कारण दुःख उठावे तो वह दुःख उठाता है, इसलिये नहीं; किन्तु 'बेचारा अन्यायी हो गया' इसलिये दुःख प्रगट करे।

सामाजिकता जितनी निकट हो सहानुभूति की मात्रा उतनी ही अधिक होना चाहिये। इस-

लिये सत्यसमाजी सत्यसमाजी आपस में विशेष रूप में सहानुभूति प्रगट करेंगे, इसी प्रकार दैशिक-समाज की दृष्टि से जो निकट का है उस से भी विशेष सहानुभूति प्रगट करेंगे। पर, सहानुभूति में मानवता की—न्याय की उदार दृष्टि न भूल जाना चाहिये।

९. सभ्यता— दैशिक-सामाजिकता के प्रकरण में सभ्यता के बारे में जो कहा गया है वह यहां भी समझना चाहिये। दूसरे के न्यायोचित अधिकार और सुविधाएँ अधिक से अधिक सुरक्षित रह सकें, ऐसे सद्व्यवहार का नाम सभ्यता है। नमूने के रूप में कुछ सूचनाएँ यहां दी जा सकती हैं।

—बैठने-उठने में गुरुजनों, मित्रों आदि की सुविधा का ख़याल रक्खो।

—कोमल स्वर में बातचीत करो!

—कम से कम उत्तेजित होओ। बात-बात में उत्तेजित होना असभ्यता है।

—सार्वजनिक स्थानों में—उपवन वगैरह में—जब घूमने जाओ, तब जगह गंदी न करो। ट्रेन आदि में मत थूंको।

—रेलगाड़ी वगैरह में बैठो तो दूसरों को जगह देने में आनाकानी न करो। जगह न हो तो बात दूसरी है।

—टिकिट कटाने आदि में आगे-पीछे आने-वालों के क्रम का यथाशक्य ख़याल रक्खो।

—स्त्री या पुरुष, एक दूसरे की तरफ़ घूर-घूर कर मत देखो, न अंगोपांगों को इस प्रकार खुले करो जिस से देखने-वालों को लज्जा मालूम हो।

जांति-पांति के कारण किसी का तिरस्कार न करो।

—दूसरों के महात्माओं का बुरी तरह मजाक न उड़ाओ!

—शेखी न बघारो!

—अपने मुँह से अपनी बड़ाई न करो! आत्म-गौरव की रक्षा का अगर कोई ख़ास प्रसंग आ जाये तो बहुत संकोच के साथ, ज़रूरी से ज़रूरी और बिलकुल सत्य कुछ बातें भले ही कह दो, पर आत्मश्लाघा से बचने की अधिक से अधिक कोशिश करो।

—अगर थोड़ा-बहुत वैभव हाथ में आ गया है तो बड़प्पन बताने के लिये उस का प्रदर्शन न करो। इस से तुम दूसरों का अपमान करने के साथ अपनी क्षुद्रता का परिचय देते हो।

—पर्याप्त कारण मिले बिना किसी पर दोषारोपण न करो।

—ज्यादा बकवाद मत करो। इस बात का ख़याल रक्खो कि सुनने-वालों को अरुचि तो नहीं हो रही है।

—छोटी बातों से तुम बड़ी-बड़ी बातों का अनुमान कर सकते हो तो भले ही करो, पर उन पर लड़ने-झगड़ने न बैठ जाओ। यथाशक्य उन पर उपेक्षा बताने की ही कोशिश करो।

—वेष-भूषा ऐसी न बनाओ कि जिस से लोग तुम से डरने लगें, तुम्हें गुंडा आदि समझने लगें।

—गंदगी न फैलाओ, अपने रहने की जगह साफ़ रक्खो जिस से पड़ौसियों को कष्ट न हो।

—असमय में मजाक मत करो और यह देख लो कि जिस का तुम जैसा मजाक कर रहे हो वैसा मजाक करने के लिये उस के साथ तुम्हारी बराबरी है या नहीं!

—एक तो किसी को गालियाँ दो ही नहीं,

अंश के कल्याणकारी दिन की याद में नये उत्सव मनाना चाहिये । जैसे, किसी देश में स्वतन्त्रता-दिवस आदि मनाये जायँ ।

सत्यसमाज-सप्ताह आदि भी इसी श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं ।

अपने देश-काल का विचार करते हुए इन सूचनाओं के अनुसार त्यौहार आदि मनाना चाहिये । दूसरों के त्यौहार अच्छे और अपने लिये उपयोगी हों तो उन्हें अपना लेना चाहिये ।

संस्कृति के और भी बहुत-से अंग हैं । वेष-भूषा, खान-पान, बैठने-उठने के तरीके आदि भी संस्कृतियों में गिन लिये जाते हैं । इनमें से अधिकांश बातें देश-काल के अनुसार मिलनेवाली सामग्री पर निर्भर हैं । किसी के देश में आम के झाड़ बहुत हैं इसलिये वह आम के पत्तों से मंडप सजाता है, किसी के देश में खजूर के झाड़ हैं इसलिये वह खजूर के पत्तों से मंडप सजाता है, यह परिस्थिति की बात है । संस्कृति की दुहाई देकर आम और खजूर पर अपनी संस्कृति की नींव रखने लगाना—भूल है ।

इसी प्रकार हमारे यहां 'यों' खाते हैं और तुम्हारे यहां 'त्यों' खाते हैं । हमारे यहां पहिले यह चीज़ खाते हैं – तुम्हारे यहां वह चीज़ खाते हैं, हमारे यहां यों परोसा जाता है—तुम्हारे यहां त्यों, हमारे यहां ऐसे कपड़े पहिनते हैं—तुम्हारे यहां त्यों कपड़े पहिनते हैं,—इन सब बातों को संस्कृति के नाम पर महत्व देना, अभिमान करना, भूल है ।

हां ! उपयोगिता अनुपयोगिता की दृष्टि से हरएक बात पर विचार करना चाहिये, पर उस में स्वत्व-मोह को जगह न देना चाहिये ।

प्रत्येक समाज, अपने को सभ्य और सदाचारी बनाने के लिये अपने सदस्यों पर अनेक तरीकों से असर डालने का प्रयत्न करता है । सत्यसमाजी भी करे तो कोई हानि नहीं है । पर, निःसार तरीकों को दूर करने की, अच्छे तरीकों को अपनाने की वृत्ति उस में रहना चाहिये, अपने-पराये का भेद-भाव नहीं । हां, फलाफल विवेक उस में आवश्यक है ।

मानव-हितकारी सिद्धान्तों की बाल्यावस्था से दिल पर छाप लगाना चाहिये । जैसे, जन्म से किसी को नीची जाति का या अछूत न मानना, स्त्रियों को पुरुषों से नीच न समझना, सभी धर्मों के पवित्र स्थानों का आदर करना, नीति और शिष्टाचार का भंग न करना आदि । इस प्रकार संस्कार डालने से ही मनुष्याकार जन्तु में मनुष्यता पैदा होगी ।

११. शिष्टाचार—शिष्टाचार के विषय में पहिले कहा गया है, और 'आचार-काण्ड' में तप के प्रकरण में विनय का वर्णन किया गया है—उस का भी उपयोग करना चाहिये ।

शिष्टाचार एक प्रकार की भाषा है, जो कि सामाजिक व्यवहार के लिये जरूरी है । जैसे, देश-देश की भाषा जुदी-जुदी होती है उसी प्रकार देश-देश का शिष्टाचार भी जुदा-जुदा होता है । भाषा-भेद की तरह शिष्टाचार भेद से घबराना न चाहिये । जहां जैसे शिष्टाचार से जैसी भावना प्रगट हो वहां उस का वैसा ही स्थान मानना चाहिये । भारतवर्ष के बहुभाग की दृष्टि से यहां कुछ शिष्टाचार विषयक सूचनाएँ दी जाती हैं । इन सूचनाओं पर से ही अपने अपने देशकाल के अनुसार सूचनाएँ समझ लेना चाहिये । इन सूचनाओं से शिष्टाचार के विषय में दिशा-निर्देश होगा ।

१. सुबह अथवा दिन में पहिली बार मिलने पर निस्तारक माता-पिता आदि को प्रणाम करो।

२. निस्तारक या गुरुओं को उच्च या अपने से श्रेष्ठ आसन दो। अर्थात् उत्थान, आसनरिक्तता, श्रेष्ठासन, केन्द्रीकरण, अवैमुख्य आदि आसन-विनय का पालन करो। इसी प्रकार अञ्जली, अनुमोदन, पुरःकरण, प्रशंसा, वैयावृत्य, सम्पर्क-भक्ति का भी परिचय दो।

३. अपने से बड़े व्यक्तियों का नाम लेकर न पुकारो। उल्लेख करने में जहां नाम लेने की खास जरूरत हो वहीं नाम से उल्लेख करो, अन्यथा उपनाम से उल्लेख करो, या 'काका' 'भाई' आदि सहज-कुटुम्बी शब्दों का प्रयोग करो।

४. जरूरत होने पर ही किसी बात चीत के बीच में पड़ो।

५. अभिवादन के शब्दों का योग्य रीति से पालन करो। जयराम के उत्तर में जयराम, जयजिनेंद्र के उत्तर में जयजिनेंद्र आदि कहो। हां, तुम अपनी इच्छानुसार कुछ भी कह सकते हो। साधारणतः 'जयसत्य' शब्द का उपयोग करना ठीक है।

६. शिष्टाचार के शब्दों के साथ बड़ों को 'सविनय', बराबरी वालों को 'सादर' लिखो। 'सप्रेम' 'सस्नेह' आदि का उपयोग छोटों को तथा कुछ बराबरी वालों के साथ भी कर सकते हो।

७. किसी व्यक्ति के साथ एक बार जिस श्रेणी का शिष्टाचार शुरू कर दिया है वह सिर्फ इसलिए न बदलो कि किसी कारण से आपसी मनमुटाव या मतभेद हो गया है। (हां, बेईमानी आदि की बात दूसरी है।)

८. घर के बाहर पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को अधिक और पहिले सुविधा दो।

९. गुरुजनों के सामने किसी दूसरे पर भी क्रोध आदि प्रगट करने से बचते रहो।

१०. अतिथियों की सुविधा का पहिले खयाल करो।

११. लेने के काम में आगे और देने के काम में पीछे रहने का प्रदर्शन न करो।

१२. 'आप' 'तुम' 'तू' आदि शब्दों का प्रयोग ठीक ठीक समझकर करो। बराबरी वालों में 'तू' शब्द का प्रयोग न करो।

१३. बेमौके न हँसो।

१४. सभ्यता के नियमों का पालन करो।

१५. स्त्रियों के आगे जांघ आदि उघाड़ना, गंदा मजाक करना, भद्दे ढंग से नाचना-कूदना, बकवाद करना आदि घोर असभ्यता है, उस से बचो।

१२. भाषा—भाषा की एकता दैशिक-समाज का विषय है। इस विषय में दैशिक समाज के प्रकरण में जो कहा गया है उसी का अनुकरण करना चाहिये। धार्मिक आदि समाज-भेद से भाषा-भेद नहीं होता है। हां, एक विश्व-भाषा के निर्माण के लिये कुछ प्रयत्न करने की जरूरत होगी, उसके निर्माण या प्रचार के लिये हरएक उदार समाज को भाग लेना चाहिये। सत्यसमाज सरीखे आदर्श समाज को तो ऐसे प्रयत्न में अधिक से अधिक भाग लेना चाहिये।

इस प्रकार सत्यसमाज सरीखे एक आदर्श समाज बनाने की जरूरत है। इस प्रकार के प्रयत्न जुदे जुदे देशों में अनेक भी हो सकते हैं, जो कि अन्त में परस्पर सहयोगी बनकर मानव-समाज को एक सूत्र में बाँध सकें। एक ध्येय को लेकर अगर अनेक समाज काम करें तो भी कोई बुराई नहीं है। हां, नाममात्र के मतभेद के कारण किसी समाज के टुकड़े न करना चाहिये न प्रतिस्पर्द्धा में ऐसा कोई काम करना चाहिये जिससे सहयोग नष्ट हो।

प्रश्न—अगर इस प्रकार के संगठन न किये जायँ, केवल विचार-क्रान्ति की जाय तो?

उत्तर—विचार जब तक व्यवहार में न आवे तब तक विचार की सत्यता का पता नहीं लगता और जब एक बिचार को व्यवहारिक रूप दिया जाता है तब उसके लिये एक संगठन करना जरूरी हो जाता है। विचार को व्यवहार में लाने के लिये सहयोगियों के पीठबल की जरूरत होती है, जब सहयोग दृढ़ हो जाता है तब वह संगठन का रूप धारण कर लेता है।

संगठन न हो तो लोग बड़ी बड़ी बातें तो मारते रहते हैं पर कार्य-परिणत करने का अवसर आने पर यह कह कर छुट्टी पा जाते हैं कि 'अपन अकेले क्या कर सकते हैं' कुछ लोग वास्तव में कुछ करना चाहते हैं पर सचमुच अपने वर्तमान, समाज के डर के मारे कुछ नहीं कर पाते। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह अकेला नहीं रह पाता इसलिए क्रांति के लिए एक संगठन आवश्यक है। भले ही उस का नाम कुछ भी हो।

प्रश्न—मनुष्य-मात्र की एकता के लिए किये गये ऐसे प्रयत्न क्या एक अलग टुकड़ा नहीं बना देते?

उत्तर—बन भी सकते हैं। पर, इस डर से क्रांति या सुधार का काम रोका नहीं जा सकता। हां, देखना यह चाहिए कि जहां तक हो सके उन में कट्टरता, एकान्तता का विष न घुल जाय; सब धर्म सब जातियों से सम्बन्ध रखने मिलाने की कोई व्यावहारिक योजना हो तो फिर अलग टुकड़ा बनाने की चिन्ता न करना चाहिये। अगर वह अलग टुकड़ा बनेगा तो बहुत से कट्टर टुकड़ों को मिटाता जायगा, या उन पर उदारता की छाप मारता जायगा।

फिर अलग टुकड़ों की चिन्ता वहीं करना चाहिये जहां परस्पर विरोध तीव्र हो। यूरोप में एक ही धर्म के दो टुकड़े हुए प्रोटेस्टेन्ट और कैथोलिक, पर इन नाममात्र के टुकड़ों ने जो कहर बरसाया, जितनी निर्दय हत्याएँ कीं, उतनी हिन्दुस्तान के सैकड़ों धर्म भी नहीं कर सके। इस विषय में पहिले भी कहा जा चुका है।

फिर भी, हो सकता है कि किसी न किसी दिन उस में विकार आ जाय तो उस दिन उसके स्थान में किसी दूसरे संगठन के लिये प्रयत्न किया जायगा। व्यक्ति जैसे पैदा होता है, बढ़ता है, जवान होता है, बूढ़ा होता है, अन्त में मरता है—उसी प्रकार धर्म या समाज भी पैदा होते हैं बढ़ते हैं, जवान होते हैं, विकृत होते हैं और मरते हैं। मरने के डर से जैसे व्यक्ति का पैदा होना नहीं रोका जाता—उसी प्रकार धर्म या समाज को भी नहीं रोकना चाहिये। हां! उसकी आवश्यकता होना चाहिये। उसका कारण अहंकार आदि न होना चाहिये, न उससे किसी अच्छे संगठन को धक्का लगना चाहिये।

इस आदर्श समाज में जो मानवता की ओर बढ़ने की विशाल प्रेरणा है, हरएक तरह की क्रांति करने की जो सुविधा है, एक नई दुनिया बनाने के लिये जो सहयोग का सब को निमंत्रण है—उस का विचार करके हरएक को इस में शामिल होना चाहिए।

मानव-समाज धीरे धीरे विशालता की ओर बढ़ता जाता है, पर उस की प्रगति अपने आप नहीं हो सकती है। उस के लिए ऐसे ऐसे विवेक-पूर्ण संगठन करना पड़ते हैं। आज तक जो प्रगति हुई है उस के लिए ऐसे ही प्रयत्न करना पड़े हैं और उस के लिए कुछ लोगों को आगे बढ़कर रास्ता साफ करना पड़ा है।

मानव समाज ज्यों ज्यों संकुचित नीति का त्याग करता जायगा, त्यों त्यों मानव के कष्ट कम होते जायेंगे, अनाथता दुनिया में रहने न पायगी, सहयोग खूब विशाल, गहरा और स्थायी होगा। तभी वास्तविक मानव-समाज के दर्शन होंगे सत्यसमाजोंको इसी राहमें आगे बढ़ना चाहिए।

व्यवहार-काण्ड (चौथा अध्याय)

संस्थाएँ

सामाजिक जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिये उस की प्रगति करने के लिये अनेक प्रकार की संस्थाएँ बनानी पड़ती हैं। राज्य भी एक संस्था है, धर्म भी एक संस्था है। इन के द्वारा समाज की स्थिति अच्छी तरह से कायम रहती है। संस्थाओं के बिना समाज की गुजर नहीं होती।

पर, राज्य-संस्था और धर्म-संस्था में एक अन्तर है। राज्यसंस्था दंड-प्रधान है और उसके पीछे पशुबल है, जब कि धर्म-संस्था प्रायश्चित्त-प्रधान है और उसके पीछे ज्ञानबल और प्रेम-बल है। यद्यपि राज्य-संस्था में भी प्रायश्चित का, ज्ञान-बल और प्रेमबल का उपयोग किया जाता है और धर्म-संस्था में भी दंड आदि का उपयोग किया जाता है, पर यह सब गौण रूप में। मुख्य रूप में जिसका जहां जैसा उपयोग है वहां वह बता दिया गया है।

यहां पर राज्य-संस्था का विवेचन नहीं करना है, किन्तु उन संस्थाओं का विवेचन करना है जिनमें लोग अपनी इच्छा से शामिल होते हैं, अपनी इच्छा से सहयोग देते हैं, ज्ञानपूर्वक विश्व-हित और स्व-हित का समन्वय करते हैं।

संस्थाएँ देश-काल के अनुसार अनेक तरह की होती हैं, उन सब की सूची उपस्थित नहीं की जा सकती। समाज-हित के जो काम राज्य नहीं कर पाता—उन की पूर्ति जनता विविध संस्थाओं द्वारा करती है। एक दिन वह आ सकता है और आयगा—जब राज्य खुद एक संस्था बन जायगा और जन-हित के प्रत्येक कार्य उस के द्वारा होने लगेंगे। दिन प्रतिदिन राज्य के ऊपर इस प्रकार के उत्तरदायित्व बढ़ते ही जाते हैं। पर, जब तक राज्य-संस्था के जरिये मानव-विकास के पूरे काम अच्छी तरह नहीं होने लगते तथा मानव समाज संयम आदि की दृष्टि से भी काफी विकसित नहीं हो जाता, तब तक राज्य के सिवाय अन्य संस्थाओं की भी जरूरत रहेगी, जिनके जरिये मानव के विकास की तथा मानव को सुखी बनाने की चेष्टा की जायगी, या करना चाहिए। अपने देश-काल का विचार कर के हमें संस्थाएँ रखना, बनाना या मिटाना चाहिए। यहां कुछ खास खास संस्थाओं के बारे में विवेचन कर दिया जाता है।

१—धर्म संस्था

पहिले तथा समाज के प्रकरण में भी धर्म के बारे में बहुत कुछ कहा गया है; क्योंकि धर्म के जरिये से एक समाज का भी निर्माण हो जाता है। परन्तु धर्म एक संस्था भी है, विश्व-विद्यालय

के समान यह विश्व-चरित्रालय है, यह मनुष्य को चरित्र का—संयम का—सदाचार आदि का शिक्षण देता है।

धर्म के बारे में 'सत्यामृत' में बहुत कुछ कहा गया है इसलिये यहां विशेष कहने की जरूरत नहीं है, फिर भी कुछ विशेष स्पष्टीकरण के रूप में यहां कुछ कह दिया जाता है।

प्रश्न—क्या धर्म-संस्था की जरूरत है?

उत्तर—एक लम्बे समय तक मनुष्य को धर्म-संस्था की जरूरत रहेगी। जिस दिन धर्म-संस्था अनावश्यक हो जायगी उस दिन उसे मिटाने के लिये प्रयत्न न करना पड़ेगा। जब सदाचार या विश्व-हित में स्व-हित का पाठ, मानव स्वभाव में शामिल हो जायगा तब धर्म-संस्था के न होने पर भी मनुष्य का काम अच्छी तरह चलेगा। पर, जब तक जहां यह परिस्थिति नहीं आई है तब तक वहां धर्म-संस्था की जरूरत है।

प्रश्न—अगर किसी व्यक्ति का इतना विकास हो गया हो तो?

उत्तर—तो उसे धर्म-संस्था की जरूरत नहीं है। मुख्य बात सदाचार, संयम और काम मोक्ष का समन्वय है। जिसके जीवन में ये गुण हैं—वह यदि किसी धर्म-संस्था का अवलम्बन नहीं लेना चाहता तो इसमें कोई बुराई नहीं है।

प्रश्न—आखिर धर्म संस्था से अन्धश्रद्धा तो फैलती ही है।

उत्तर—धर्म-संस्था का सम्बन्ध अन्धश्रद्धा से तो नहीं है, फिर भी श्रद्धा से है। सदाचार के मूल में श्रद्धा आवश्यक है। इतना ही नहीं, किन्तु कोई भी विचार जब कार्य-रूप में परिणत होता है तब उसके मूल में श्रद्धा होती ही है। हां! वह श्रद्धा अनावश्यक विषयों पर न चली जाय, अन्ध-श्रद्धा न बन जाय—इतनी सतर्कता रखना चाहिये। हर बात में ऐसी सतर्कता की जरूरत तो रहने ही वाली है कि जिसमें उसका दुरुपयोग न हो। धर्म में भी रखना चाहिये।

प्रश्न—अगर धर्म-संस्था जबर्दस्ती या कानून से बंद कर दी जाय तो?

उत्तर—एक तो कानून से ही बन्द कर सकना कठिन है कदाचित् असम्भव है, सभी लोग स्वेच्छा से इसका त्याग करें तभी यह हो सकता है। दूसरे अगर इसकी आवश्यकता हुई अर्थात् धर्म संस्था को निरुपयोगी बनाने लायक जनता का विकास न हुआ तो जनता की कठिनाइयाँ खूब बढ़ जायँगी। इतना ही नहीं, किन्तु कानून का पालन कराना तक कठिन हो जायगा; क्योंकि जनता में नैतिकता न हो तो अकेला कानून क्या करेगा? उसका सदुपयोग जनता की नैतिकता के बिना नहीं हो सकता। इसलिए जबर्दस्ती धर्म-संस्था को बन्द करने का विचार ठीक नहीं है।

प्रश्न—सत्यसमाज को एक धर्म-संस्था कह सकते हैं या नहीं?

उत्तर—कह सकते हैं। हां! धर्म-संस्थाओं का आज जो रूप है, उससे इसमें कुछ विशेषता अवश्य है। मुख्य विशेषता यह है कि धर्म-समभाव पर यह असाधारण रूप में जोर देता है और उसका व्यावहारिक रूप भी रखता है। दूसरी विशेषता यह है कि विज्ञान भूगोल आदि अन्य शास्त्रों के मार्ग में रोड़ा नहीं अटकाता, उनकी प्रगति के कदम के साथ कदम मिलाता है। इसके अतिरिक्त युग के अनुरूप जो विकास होना चाहिए वह तो है ही। सत्यसमाज की इस विशेषता से पुरानी धर्म-संस्थाओं का अपमान नहीं होता, क्योंकि विकास की यह स्वाभाविक गति

है। पुरानी धर्म-संस्थाओं के हजारों वर्ष बाद पैदा होनेवाले सत्यसमाज का इतना विकसित होना जरूरी और स्वाभाविक था।

धर्म-संस्था के आधार—धर्म-संस्था के बाहरी आधार तीन हैं—धर्म-शास्त्र, धर्मगुरु और धर्मालय।

धर्मशास्त्र-तीन आधारों में मुख्य आधार है धर्म-शास्त्र। इसी के जरिये कल्याण पथ दिखाई देता है, कर्तव्य का भान होता है। इस के लिये शास्त्र पर श्रद्धा तो होना ही चाहिये, पर अन्ध-श्रद्धा न होना चाहिये। इस के लिये शास्त्र-मूढ़ता से बचे रहने की जरूरत है। (शास्त्र मूढ़ता का विस्तृत वर्णन दृष्टिकांड में किया गया है) शास्त्र पर देशकाल का प्रभाव पड़ता ही है। उस प्रभाव का खयाल रखते हुए शास्त्र का अर्थ समझना चाहिये, शब्दों के गुलाम न बनना चाहिये। शास्त्र को श्रद्धापूर्वक पढ़ना, उसकी कसौटी पर अपने जीवन को कसना और जो त्रुटियाँ मालूम हों-उन्हें दूर करना चाहिये।

धर्म-संस्था के अन्य आधार अगर नष्ट या विकृत हो जायँ; किन्तु शास्त्र अगर सुरक्षित रहे तो धर्म-संस्था के विकार को दूर कर के फिर धर्म-संस्था को कल्याणकारी बना सकता है। इस-लिये शास्त्र की मुख्यता है।

धर्मगुरु—दूसरा आधार है धर्मगुरु। समाज ने धर्मगुरु का कोई पद बना रक्खा हो तो उसे पा लेने से कोई धर्मगुरु नहीं हो जाता है। वास्तव में उस में असाधारण ज्ञान, असाधारण सदाचार और सत्पथ-प्रदर्शकता चाहिये। पहिले (दृष्टि-कांड में) गुरु-मूढ़ता से बचने के लिये जो जो सूचनाएँ दी गई हैं उन का पालन करना चाहिये। वेष, पद, व्यर्थ क्रिया और व्यर्थ विद्या से किसी को गुरु न मानना चाहिये।

हां! गुरु अगर मिल जाय तो गुरु की उपयोगिता है बहुत, शास्त्र को हरएक आदमी नहीं पढ़ सकता और न उसका पूरा मतलब ध्यान में ला सकता है। देश-काल परिस्थिति और अपनी योग्यता के अनुसार कब क्या कर्तव्य है, इसका निर्णय करना कठिन है, यह बात सद्गुरु से मिल सकती है। जैसे, वैद्यक शास्त्र की किताबें घर में रहने पर भी अनुभवी वैद्य की आवश्यकता रहती है उसी प्रकार शास्त्र के होने पर भी सद्गुरु की आवश्यकता रहती है। धर्म-संस्था को सुरक्षित और सुव्यवस्थित रखने और उस का अधिक से अधिक सदुपयोग कराने का काम सद्गुरु का है।

धर्मालय— तीसरा आधार है धर्मालय। धर्मालय में गुण-देव या व्यक्ति-देव या दोनों तरह के देवों की स्थापना करके उस के सहारे धार्मिक भावना जगाना चाहिये—जगाते रहना चाहिये। धर्मालय में जाने से मन के ऊपर महात्माओं के जीवन का प्रभाव पड़ता है, विश्व-कल्याण की तरफ़ आकर्षण होता है, एक तरह के पवित्र वातावरण में पहुँच जाने का आनन्द मिलता है, मानसिक वेदनाओं को या और भी अनेक प्रकार के कष्टों को सहने की शक्ति मिलती है, अशरण को शरण मिलने के समान निराकुलता होती है, दुराचार से भय और सदाचार में अनुराग पैदा होता है, संकट में आश्वासन मिलता है, इस के सिवाय मिलने जुलने, परस्पर परिचय प्राप्त करने तथा स्वाध्याय, व्याख्यान, प्रवचन आदि के अवसर मिलते हैं। इस प्रकार बहुत से लाभ हैं।

प्रायः सभी धर्मों या सम्प्रदायों के धर्मालय होते हैं, भले ही उन का नाम मन्दिर-मसजिद-

चर्च आदि कुछ भी हो। धार्मिक व्यक्ति को यथाशक्य सभी का उपयोग करना चाहिये। हो सकता है कि उसे इन में कुछ सुधार की आवश्यकता माळूम हो, इसलिये इन में सुधार भी करना चाहिये, पर जब तक सुधार न हो तब तक इन का उपयोग ही न किया जाय—ऐसी हठ पकड़कर न रह जाना चाहिये। हां! कोई ऐसी बुराई हो जिसे हम और कहीं भी सहन न कर सकते हों तो उस बुराई से बचने के लिहाज से, या वैसा दुर्दृश्य (जैसे-पशुवध आदि) देखने से बचने के लिहाज से किसी समय किसी धर्मालय का उपयोग न किया जाय तो बात दूसरी है।

खैर! यहां कुछ ऐसी सूचनाएँ दी जातीं हैं जिन के अनुसार धर्मों के धर्मालयों में यथायोग्य संशोधन कर लेना चाहिये।

१— हरएक धर्मालय में कोई न कोई ऐसा या ऐसे स्मारक ज़रूर होना चाहिये जिन्हें देखकर मनुष्य की भावनाएँ जगें।

मसजिद, प्रोटेस्टेन्ट चर्च, आर्य-समाज मन्दिर, ब्राह्म-समाज मन्दिर आदि में मूर्ति आदि न होने से एक तरह की कमी माळूम होती है।

२— स्मारक ऐसा न होना चाहिये जिस से भावनाओं में क्रूरता-उग्रता आदि पैदा हो। जैसे, काली-माता की विकराल मूर्ति। ऐसी भयंकर मूर्तियाँ आज के विकसित युग के लिये ठीक नहीं हैं। शक्ति या वीरता का परिचय सिंह की सवारी, तथा शस्त्र-अस्त्र से मिल सकता है, इस के लिये रुंड-मुंड आदि दृश्यों की ज़रूरत नहीं है।

३— पूजा अर्चा के नाम पर ऐसी क्रियाएँ न करना चाहिये जिसे सभ्य मनुष्य सहन न कर सकें। जैसे—पशु-हत्या आदि।

४— धार्मिक क्रिया-पूजा प्रार्थना आदि करने में जाति-पांति या स्त्री-पुरुष का भेद न होना चाहिये। हां! कार्य की योग्यता तो आवश्यक है ही।

५— दूसरे धर्मों और धर्मवालों से प्रेम-सम्बन्ध का सूचक, समभावी प्रदर्शन भी होना चाहिये। जिस धर्म का मन्दिर हो उस धर्म की मूर्ति मुख्य और बाकी गौण रूप में रहे, ऐसी कोई व्यवस्था होना आवश्यक है।

आदर्श धर्मालय— उपर्युक्त सूचनाओं को ठीक रूप में समझने के लिये सत्य-समाज ने जो एक आदर्श धर्मालय की योजना की है उस का उपयोग सब जगह होना ज़रूरी है। सत्य-समाज के इस आदर्श धर्मालय की ख़ास-ख़ास बातें ये हैं—

१— उस में भगवान-सत्य भगवती-अहिंसा की मूर्ति केन्द्र में रहेगी और आसपास म. राम, म. कृष्ण, म. महावीर, म. बुद्ध, म. जरथुस्त, म. ईसा, म. मुहम्मद आदि की मूर्तियाँ रहेंगी। देश-काल की परिस्थिति के अनुसार गुणदेवों की संख्या कुछ और बढ़ाई जा सकती है, जैसे—शक्ति, सरस्वती, लक्ष्मी, कला आदि। प्रधानता सत्य-अहिंसा की रहेगी, व्यक्ति-देवों की संख्या कम-ज्यादा की जा सकती है। एक धर्मालय जैसा बना है वैसा ही दूसरा भी बनना चाहिये, ऐसा नियम नहीं है। हां! समभाव की दृष्टि से अनेक धर्मों का समन्वय करना ज़रूरी है।

२—मूर्त्तियों को इस प्रकार न सजाना चाहिये जिससे चोरों को आकर्षण हो। उन पर ऊपर से आभूषण पहिनाना ठीक नहीं और कीमती धातु की मूर्त्तियाँ बनाना भी ठीक नहीं सब से अच्छी मूर्त्तियाँ पत्थर की होंगी।

३–किसी की मूर्त्ति को ऐसा न बनाना चाहिये, जिस से उसे देखकर उस के मूल को समझने में कठिनाई हो। जैसे, जैन महावीर की मूर्त्ति को आभूषणों से सजाना ठीक नहीं।

४–धर्मालय की मूर्त्तियों को साफ करने छूने दर्शन करने आदि के बारे में स्त्री-पुरुष की दृष्टि से या जाति-पांति की दृष्टि से कोई अधिकार अनधिकार का सवाल न रहेगा। जिसमें उस काम को करने की योग्यता और विश्वसनीयता हो वही उस काम को कर सकेगा, भले ही वह स्त्री हो या पुरुष, ब्राह्मण हो या शूद्र। हां! स्वच्छता आदि के नियमों का पालन होगा।

५–मुख्य धार्मिक विधि 'प्रार्थना' होगी। यों कोई वहां नमाज पढ़ना चाहे या और कोई धार्मिक विधि करना चाहे तो खाली समय में कर सकता है। हां! दो बातों का ख़याल रखना पड़ेगा—एक तो यह कि ऐसे पाठ न पढ़े जायँ जिनमें दूसरे धर्मों आदि की निन्दा हो। दूसरी यह कि ऐसी क्रिया न की जाय जिससे गन्दगी फैले या चलने-फिरने वाले प्राणियों की जानबूझकर हत्या हो। पशु-बलि आदि वहां निषिद्ध रहेंगे।

६–धर्मालय का उपयोग प्रवचन, व्याख्यान, पठन-पाठन, लोक-हित की चर्चा आदि कार्यों में भी हो सकेगा।

प्रश्न–सत्यसमाज के अलग धर्मालय की जरूरत क्या है? सब धर्मों के धर्मस्थानों को अपनाकर ही क्यों न काम चलाया जाय?

उत्तर–सत्यसमाजी को सभी धर्मस्थानों का उपयोग तो करना चाहिये। फिर भी, न तो उतने से ही सत्यसमाजियों का काम चल सकता है, न सभी धर्मस्थानों के उपयोग का अवसर मिल सकता है, न दूसरे धर्मों के स्थान सर्व-धर्म-समभाव के अभ्यास के लिये धर्मालय के समान उपयोगी हो सकते हैं।

१–हरएक धर्मस्थान में किसी खास देव की उपासना की जाती है इसलिये किसी एक ही धर्मस्थान में जाकर सर्व-धर्म-समभाव की भावना नहीं जगती। और सब धर्मस्थानों का उपयोग तो कभी कभी ही किया जा सकता है। जो लोग हफ्ते में एकाध बार ही धर्मस्थान में जाते हैं--वे तो महीनों में सब धर्मों के स्थानों में जा पायेंगे। यह बात सर्व-धर्म-समभाव की छाप के लिये बिलकुल अपर्याप्त है।

२–बहुत से धर्मस्थानों में उनके अनुयाइयों के सिवाय दूसरों का प्रवेश निषिद्ध है या उन्हें ख़ास आज्ञा लेना पड़ती है। वहां समभावी प्रार्थना करना तक कठिन है।

३–बहुत से धर्मस्थानों में प्रवेश पाने के लिये खास जाति का होना या न होना जरूरी है। उन धर्मस्थानों से सत्यसमाजियों का काम नहीं चल सकता, बल्कि एक दृष्टि से वे उनकी दृष्टि में योग्य धर्मस्थान ही नहीं रहते।

४–व्यवस्था की दृष्टि से भी सत्यसमाजियों लिये एक अलग धर्मालय की आवश्यकता है। सत्यसमाज के कार्यक्रम रखने के लिये दूसरे धर्मस्थानों के व्यवस्थापकों से अनुमति लेना जब तक अनुमति न मिले तब तक बाट देखना या कार्यक्रम रोक रखना आदि असुविधाजनक अपमानजनक और अव्यवहार्य भी है।

५–धर्मालय कैसे बनना चाहिये, वहां किस प्रकार की उदारता से काम लेना चाहिये, कैसे कार्यक्रम रखना चाहिये आदि बातों का जनता को पाठ पढ़ाने के लिये भी सत्यसमाज के आदर्श

धर्मालयों की गांव गांव में आवश्यकता है।

मूर्ति—

प्रश्न— धर्मालय भले ही रहे, पर उस में मूर्तियाँ क्यों ? मूर्ति-पूजा तो एक तरह की अज्ञानता या बालकपन है ! हज़ारों वर्ष बीत जाने पर भी क्या मूर्ति-पूजा से मनुष्य का पिंड न छूटेगा ? इसलाम ने मूर्ति-पूजा को हटा दिया है, ईसाइयों में भी आधे ईसाई मूर्ति-पूजा नहीं मानते, हिन्दुओं के अनेक सम्प्रदायों ने उस का बहिष्कार किया है; तब सत्य-समाज में उस को स्थान होना आश्चर्य है ? सत्य-समाज तो सभी धर्मों के सार को लेकर वैज्ञानिकता के साथ आगे बढ़ने-वाला समाज है उस में तो इस मामले में काफ़ी प्रगति होना चाहिये।

उत्तर— इस लम्बे प्रश्न के उत्तर में कुछ विस्तार से कहना पड़ेगा और निम्नलिखित तीन बातों पर प्रकाश डालना पड़ेगा। १— मूर्ति की ज़रूरत, २— मूर्ति-बहिष्कार की असफलता, ३— मूर्ति-पूजन और मूर्ति-अवलम्बन का भेद। इनमें से प्रत्येक बात पर गहरा विचार करना चाहिये।

(१) मूर्ति की ज़रूरत— जब तक मनुष्य के पास हृदय है तब तक मूर्ति या उस के समान अन्य स्मारक—चित्र आदि—का उस पर प्रभाव पड़ेगा। मूर्ति उस के लिये असरकारी मौन भाषा रहेगी। धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, किन्तु जीवन के हरएक क्षेत्र में मनुष्य के इस स्वभाव का परिचय मिलता है। प्रोटेस्टेन्ट लोग भी चित्रों का उपयोग करते हैं, महान् व्यक्तियों की मूर्तियों से सड़कों के चौराहों की शोभा बढ़ाते हैं, मुसलमान आदि भी घर में महान् आदरणीय और आकर्षक व्यक्तियों के चित्र रखते हैं। राष्ट्रीय या धार्मिक झंडा का विशेष आदर करते हैं, मतलब यह कि किसी न किसी रूप में अच्छे स्मारक का आदर करना प्रत्येक समाज के अधिकांश व्यक्तियों के स्वभाव में शामिल है। इस दृष्टि से बूढ़े, जवान, बालक, पढ़े बे-पढ़े, गरीब-अमीर आदि में कोई अन्तर नहीं है, जो अन्तर है वह कला की दृष्टि से है। कोई कलाहीन या मामूली कला की वस्तु में सन्तुष्ट हो जाते हैं, कोई विशेष कला-पूर्ण वस्तु की आवश्यकता समझते हैं। किसी कारण से किसी की किसी में रुचि कम होती है किसी में ज्यादा, पर साधारणतः सभी का स्वभाव एक सरीखा है।

मनुष्य के इस स्वभाव को जब तक बदला नहीं जा सकता, तब तक मूर्तियों की उपयोगिता और ज़रूरत रहेगी। विश्व-कल्याण या सुख की दृष्टि से देखा जाय तो इस स्वभाव को बदलने की ज़रूरत भी नहीं है। हां ! परिष्कृत करने की ज़रूरत है सो करना चाहिये। कला-प्रियता मनुष्य के आनन्द को तो बढ़ाती ही है, साथ ही सीख सिखाने के भी काम में आती है। यदि चल-चित्र (सिनेमा) मनुष्य को कुछ आनन्द दे सकता है और पाठ भी पढ़ा सकता है तो अचल-चित्र (मूर्ति आदि) भी कुछ शिक्षा तथा आनन्द दे सकता है। इसलिये मानव-स्वभाव के इस पहलू को नष्ट करने की ज़रूरत नहीं है।

सत्य-समाज के धर्मालय में तो मूर्ति की खास ज़रूरत है; क्योंकि सत्य-समाजी को सभी धर्मों के धर्मस्थानों के उपयोग का अभ्यास करना है और समभाव को व्यावहारिक बनाना है। धर्मालय का यह अभ्यास उसे सभी धर्मस्थानों में जाने में काम आयगा, संकोच हटायगा, तथा एक

अपढ़ के मन में भी धर्मालय को देखकर धर्म-समभाव के विचार पैदा हो सकेंगे ।

(२) मूर्ति के बहिष्कार की असफलता— जिन लोगों ने मूर्ति का बहिष्कार किया वे भी इस काम में सफल नहीं हुए । सब से ज्यादा मूर्ति के बहिष्कार पर जोर दिया इसलाम ने, पर मुसलमानों में कब्रों और ताजियों की पूजा का घटाटोप मूर्ति-पूजकों से जरा भी कम नहीं है । मनुष्य की साधारण प्यास को न बुझाने का परिणाम उस की प्रतिक्रिया में होता है । इसीलिये मुसलमानों में बुतपरस्ती की मनोवृत्ति काफ़ी तीव्र मात्रा में है । बहुत से मुसलमान कुरान की किताब का तथा और भी चीजों का सन्मान बुत की तरह ही करते हैं । मतलब यह कि मूर्ति के बहिष्कार का प्रयत्न मनोवृत्ति की दृष्टि से असफल ही हुआ है । हां, बहिष्कार का ढांचा हास्यास्पद रूप में जरूर खड़ा रह गया है । घर में अपने चित्र होंगे, बाप-दादों के चित्र होंगे, नटियों के चित्र होंगे, पर न होंगे तो मुसलमानों के सब से अधिक आदरणीय हजरत मुहम्मद साहब के ! मूर्ति-बहिष्कार का ऐसा हास्यास्पद रूप उस की विडम्बना का सूचक है ।

इतना ही नहीं, उसका दुष्फल भी हुआ है । कुरान ने सर्व-धर्म-समभाव का विधान अनेक जगह काफ़ी साफ़ लब्ज़ों में किया है, अधिकांश मजहबों में सर्वधर्म-समभाव का ऐसा विधान नहीं पाया जाता, पर वह व्यावहारिक रूप न पा सका । इस का मुख्य कारण था–मूर्ति का बहिष्कार । मूर्ति विरोधी होने से मुसलमान लोग ईसाई, हिन्दू, जैन, बौद्ध आदि के धर्मस्थानों के बारे में सन्मान प्रगट न कर सके । किसी किसी धर्मान्ध मुसलमान तो इन धर्मस्थानों को बुतपरस्ती के विरोध के बहाने तोड़ा, नापाक किया । फल यह हुआ कि मनुष्य मनुष्य के बीच में स्थायी-सा बैर आ गया जो शताब्दियों के बीतने पर भी न गया ।

इतिहास की इन घटनाओं पर अगर उपेक्षा भी कर दी जाय तो भी मूर्ति-बहिष्कार से सर्व-धर्म-समभाव, और विभिन्न धर्मों के व्यक्तियों के बीच में मेल कठिनतम हो गया है । मुसलमान मन्दिर का उपयोग नहीं करना चाहता, उसे बुत-परस्ती का डर है, तब दूसरे लोग मसजिद का उपयोग कैसे करेंगे ? दोनों को परस्पर सन्मान नहीं है, यहां तक कि साधारण शिष्टाचार निभाना तक मुश्किल है ।

मूर्ति-बहिष्कार से मनुष्य में एक तरह की अनुदारता आ जाती है । मूर्ति का उपयोग करने-वाला सदा गले में मूर्ति नहीं लटकाये रहता, वह वहां भी चला जाता है जहां मूर्ति नहीं है पर मूर्ति-विरोधी ऐसे धर्मस्थानों का उपयोग नहीं कर पाता जहां मूर्ति है । यह संकुचितता–अनुदारता धर्म-समन्वय में पारस्परिक प्रेम-मिलन में काफ़ी बाधा डालती है ।

इस प्रकार मूर्ति का बहिष्कार निष्फल तो हुआ ही है पर दुष्फल भी हुआ है ।

(३) पूजन और अवलम्बन का भेद– मूर्ति का बहिष्कार करने-वाले पूजन और अवलम्बन का भेद भूल जाते हैं । मूर्ति का उपयोग देखकर ही वे मन में या मुँह से भी कहने लगते हैं–'कैसे मूर्ख हो तुम ! एक शिल्पी का बनाया हुआ पत्थर तुम्हारा उद्धार करेगा ! जो अपनी रक्षा नहीं कर सकता, जिसे एक बच्चा भी तोड़ सकता है—वह तुम्हारी रक्षा करेगा ! देखो तो सन्त कबीर क्या कह गये हैं—

पाहन पूजें हरि मिलें तो मैं पूजूं पहार ।
पत्थर की चक्की भली पीस खाय संसार ॥

उस सर्व शक्तिमान परमात्मा की जगह एक पत्थर को पूजना कैसी मूर्खता है !"

ऐसा कहने-वाले भाई सचमुच मूर्ति का उपयोग करने-वालों पर दया कर डालते हैं, पर अपनी नासमझी पर दया नहीं कर पाते। वे इतना नहीं समझते कि मूर्ति का उपयोग दो तरह से किया जा सकता है—एक तो मूर्ति को ही देवता समझकर, दूसरे मूर्ति को देवपूजा का अवलम्बन समझकर। दोनों का बाहरी-रूप एक होने से दोनों को मूर्ति-पूजा कहते हैं। यों मूर्ति-पूजा शब्द के भी दो अर्थ होते हैं। एक तो मूर्ति की पूजा, दूसरे मूर्ति से पूजा। मूर्ति की पूजा में मूर्ति ही मुख्य है जब कि 'मूर्ति से पूजा' में, मूर्ति तो अवलम्बन मात्र है—पूजा तो किसी देवता की है। मूर्ति शब्द है, और देवता अर्थ है। इस दूसरे अर्थ में जो मूर्ति पूजा है, जिसे ठीक शब्दों में मूर्ति-अवलम्बन कह सकते हैं, अच्छी चीज़ है इसका विरोध न होना चाहिये। सत्य-समाज के धर्मालय में इसी का उपयोग होता है।

हां! एक जमाना था जब लोग मूर्ति-अवलम्बक नहीं; किन्तु मूर्ति के पूजक थे। पहिले जमाने में यहां यक्ष आदि की मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। उन्हें सिर्फ़ मूर्ति ही नहीं समझा जाता था, पर उसे यक्ष-शरीर के समान या यक्ष के घर के समान माना जाता था। इस प्रकार की कहानियाँ भी गढ़ ली गई थीं कि यक्ष की पूजा में गड़बड़ी हो गई—उस का अपमान हो गया इसलिये उसने प्राण ले लिये आदि। यह एक तरह से मूर्ति की पूजा थी।

चैत्य पूजा भी एक तरह से मूर्ति की पूजा थी। जब किसी महान् व्यक्ति का देहान्त हो जाता था तब उसकी चिता पर एक स्मारक बना दिया जाता था जिसे चैत्य कहते थे, उस चैत्य के विषय में भी लोगों की यह मान्यता रहती थी कि इस में उस महापुरुष या महामहिला की आत्मा रहती है इसलिये लोग उस की पूजा करते थे।

म. मुहम्मद के जमाने में अरब में करीब-करीब ऐसी ही मूर्ति-पूजा होती थी और उसके कारण उस देश के टुकड़े-टुकड़े भी हो गये थे इसलिये वहां उस का निषेध करना पड़ा।

पर, मूर्ति की पूजा का मूढ़ युग कभी का लद गया। म. महावीर और म. बुद्ध के मज़हबों ने इस बारे में काफ़ी काम किया। चैत्यों और यक्षों का जो डर लोगों के दिल में घुसा हुआ था—वह निकल गया और ऐसी मूर्तियाँ बनने लगीं जो लोगों को डराती नहीं थीं, किन्तु जीवन के किसी आदर्श की तरफ़ या किसी आदर्श जीवन की तरफ़ लोगों का मन खींचती थीं। यह मूर्ति की पूजा नहीं थी, मूर्ति से पूजा थी—मूर्ति-अवलम्बन था। इस में मूर्ति की पूजा के दोष भी नहीं थे और मूर्ति का ऐसा सदुपयोग था जिस से मानव-हृदय की प्यास बुझती थी, उसे सदाचार का पाठ पढ़ने का अवसर मिलता था। अब प्रायः सभी देशों में मूर्ति अवलम्बन रूप मूर्ति-पूजा रह गई है, मूर्ति की पूजा नष्ट हो गई है। हां! कहीं कहीं उस के भग्नावशेष रह गये हैं। कहीं कहीं खास मूर्तियों में लोग विशेष अतिशय मानते हैं। यह भ्रम अवश्य दूर होना चाहिये। हर हालत में मूर्ति को एक आदरणीय पुस्तक मानना चाहिये। जैसे पुस्तक की लिखावट कागज आदि में विशेषता हो सकती है, पुरानी होने पर उसे आर्थिक या ऐतिहासिक महत्व भी मिल सकता है, उसी प्रकार मूर्ति में कला आदि की विशेषता हो सकती

है—ऐतिहासिक महत्व भी हो सकता है, पर इस के सिवाय उस में ऐसे अलौकिक अतिशय मानना जिस से वह भी पूज्य समझी जाय, भूल है। इस से मूर्ति की पूजा होती है मूर्ति से पूजा नहीं, मूर्ति–अवलम्बन नहीं।

पर अब अधिकांश स्थानों पर अधिकांश व्यक्ति मूर्ति-अवलम्बक हैं। मूर्ति का उपयोग करने-वालों को देखकर उन की हँसी उड़ाने-वालों को मूर्ति के आगे होने वाली प्रार्थना सुनकर उस का अर्थ समझना चाहिये। प्रार्थना करने-वाला, देवता की सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, दयालुता, हितोपदेशकता आदि का वर्णन करता है–ये मूर्ति के गुण नहीं हैं। मूर्ति की प्रार्थना तो तब कहलाये जब वह कहे कि–'हे देव आप संगमर्मर के बने हो, बड़े चिकने हो, बड़े भारी हो' आदि। ऐसी प्रार्थना नहीं की जाती, इसलिये मूर्ति की पूजा नहीं कह सकते।

मुसलमान जैसे मक्का की तरफ मुँह कर के नमाज पढ़ता है तो उस का यह अर्थ नहीं है कि वह मक्का की इमारत की पूजा करता है। वह सिर्फ खुदा की बन्दगी के लिए मक्का का अवलम्बन लेता है, उसी प्रकार मूर्त्ति के आगे प्रार्थना करनेवाला मूर्त्ति की पूजा नहीं करता उसका अबलम्बन लेता है।

इस प्रकार मूर्त्ति की पूजा और मूर्त्ति-अवलम्बन का भेद समझ जाने से धर्मालय में मूर्त्ति की उपयोगिता समझ में आ जाती है। मूर्त्ति का उपयोग करने से यह न समझना चाहिए कि मनुष्य का विकास रुकेगा; क्योंकि मूर्त्ति-अवलम्बन मूर्त्ति के उपयोग का विकसित रूप है। फिर भी, जिन्हें मूर्त्ति की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता उन पर कोई जबर्दस्ती नहीं है। वे मूर्त्ति का उपयोग न करें। हां! जब सामूहिक प्रार्थना आदि का अवसर हो तब शिष्टाचार का पालन करें! धर्मालय में कोई विशेष शिष्टाचार भी तो नहीं है। हां! जब तक मूर्ति में रुचि रखने-वाले लोग हैं तब तक संयत रूप में मूर्ति का उपयोग आवश्यक है, इसीलिये धर्मालय में उस की योजना की गई है। अभी चिरकाल तक उन की काफी ज़रूरत है।

प्रश्न– धर्मालय में अगर चित्र रक्खे जायँ तो?

उत्तर– एक ही बात है। जब मूर्ति उपलब्ध न हो सके तब चित्रों से ही काम चलाना चाहिये। हां! चित्रों की अपेक्षा मूर्ति ज्यादा असरकारक होती है—यह बात न भूलना चाहिये।

धर्म-संस्था के इन तीनों अंगों में विकार न आ जाय, उन का दुरुपयोग न हो—इस का सदा खयाल रखना चाहिये। और जिस दिन मनुष्य का इतना विकास हो जाय कि उसे नैतिकता के सहारे के लिये धर्म-संस्था की बिलकुल ज़रूरत न रहे उस दिन धर्म-संस्था स्थगित कर देना चाहिये। और जो धर्म-संस्था बिलकुल विकृत हो जाय, युग के अनुरूप न रहे—उसे भी उठा देना चाहिये। हां! उस के संस्थापक का या मुख्य महात्मा का नाम जितने अंश में लोक-हितकर हो उतने अंश में उसे जीवित रखना चाहिये।

२—साधु संस्था

साधु का अर्थ है अच्छा या भला। यों तो थोड़ी बहुत भलाई हरएक आदमी में होती है, पर इसी से वह भला आदमी या साधु नहीं कहला सकता। साधु होने के लिये जन-साधारण की अपेक्षा काफी अधिक मात्रा में भलाई चाहिए। जैसे—पैसे दो पैसे के धन से कोई नहीं धनी

नहीं कहलाता, उस के लिए काफी धन की जरूरत होती है उसी प्रकार साधु बनने के लिए भी काफ़ी अधिक साधुता की—भलमंसाहत की—जरूरत होती है।

पर साधु होना एक बात है और साधु-संस्था के सदस्य होना दूसरी। ऐसे भी व्यक्ति हो सकते हैं। जो साधु-संस्था के सदस्य न हों, पर जिन में साधुता साधु-संस्था के सदस्यों से कई गुणी हो और ऐसे भी व्यक्ति हो सकते हैं जो साधु-संस्था के सदस्य तो हैं पर जिन में साधुता नहीं के बराबर हो। व्यक्ति का मूल्य उस की साधुता से लगाना चाहिये साधु-संस्था की सदस्यता से नहीं।

साधु दो तरह के होते हैं—एक आत्मार्थी दूसरे परार्थी। यों तो आत्मार्थियों के द्वारा भी थोड़ा-बहुत परार्थ—परोपकार—होता ही है और परार्थी तो आत्मार्थी होते ही हैं, परन्तु यहां ये दोनों नाम मुख्यता की दृष्टि से ही किये गये हैं। आत्मार्थी ध्यानयोगी के पथ का पथिक है और परार्थी कर्मयोगी के पथ का पथिक।

साधु आत्मार्थी हो या परार्थी, संस्था-प्रविष्ट हो या स्वतंत्र, उसे नीति और सदाचार के मार्ग में साधारण जनता से काफ़ी आगे बढ़ा हुआ होना चाहिये और साथ ही उसे अमुक अंश में त्यागी भी होना चाहिये।

जो लोग साधु-संस्था में प्रविष्ट नहीं हैं उन की साधुता के बारे में तो सिर्फ़ उपर्युक्त नियम ही कहे जा सकते हैं। बाकी नियम तो अपनी परिस्थिति के अनुसार वे खुद बना लेते हैं या बन जाते हैं। पर जो संस्था-प्रविष्ट हैं उन के नियम-उपनियम आदि देश-काल की परिस्थिति के अनुसार बनाये जा सकते हैं।

यद्यपि आत्मार्थियों की भी साधु-संस्था होती है या हो सकती है, पर उसे अपवाद ही समझना चाहिये। जिस संस्था का उद्देश लोक-हित न हो अर्थात् जिस संस्था के सदस्यों के जीवन में लोक-हित की दृष्टि अनिवार्य न हो, वास्तव में ऐसी संस्था बनाना दुनिया पर बोझ लादना है।

अगर किसी कारण आत्मार्थियों की साधु-संस्था बने तो ऐसी संस्था अधिक अंश में स्वाश्रयी होना चाहिये। अथवा कम से कम इतना तो होना ही चाहिये कि प्रचलित आर्थिक-व्यवस्था के अनुसार आत्मार्थी साधुओं के पास अपने निर्वाह के योग्य सामग्री हो। साधु बनने के पहिले उन ने सम्पत्ति का उपार्जन कर लिया हो, या उन की सन्तान या सन्तानोपम व्यक्तियों की तरफ़ से उन्हें निर्वाह योग्य मिलता हो, या उन ने जीवन की आवश्यकताएँ इतनी कम करलीं हों कि इसके लिए उन्हें अपने श्रम से ही निर्वाह योग्य मिल जाता हो। मतलब यह कि आत्मार्थी लोगों को भिक्षा आदि से निर्वाह न करना चाहिए।

हां, इसमें यह अपवाद हो सकता है कि किसी की पहिली सेवाएँ मूल्यवान रही हों और उस के बदले में समाज पेन्शन के रूप में उसे निर्वाह की सामग्री देना चाहता हो तो वह ले सकता है। पर, यह अधिकार सिर्फ वृद्ध या वृद्धों के समान व्यक्तियों को ही मिल सकता है। तरुण आत्मार्थी बनकर समाज से निर्वाह के योग्य सामग्री ले यह आत्मार्थी के लिये लज्जा की बात है इससे कदाचित वह आत्मार्थी ही न रह जायगा।

खैर! ऐसे अपवाद को छोड़कर आत्मार्थियों की संस्था नहीं बनाई जाती और कभी किसी युग में बने भी तो यहां उस से मतलब नहीं है।

यहां साधु-संस्था से मतलब है ऐसे आदमियों की संस्था से जो लोक-कल्याण के लिये त्यागी बने हैं, जिन ने लोक-कल्याण में स्व-कल्याण के भी दर्शन किये हैं और इसी स्व-पर-कल्याण में जो काम और मोक्ष दोनों सुखों का अनुभव करते हैं।

साधुओं की जरूरत तो हर समय और हर जगह है, पर साधु-संस्था की जरूरत भी हर एक युग में और हर एक देश में रही है। चाहे धर्म प्रचार के लिये हो चाहे और भी किसी लोक-कल्याणकारी कार्य के लिये, साधु-संस्था की जरूरत रहती ही है।

यद्यपि साधु-संस्था का सम्बन्ध किसी धर्म-संस्था से रहता आया है, पर इस का मतलब यह नहीं है कि धर्म-संस्था से सम्बन्ध न रखकर साधु-संस्था रह नहीं सकती। लोक-कल्याण के लिये जीवन देनेवाले त्यागी लोग संगठित और व्यवस्थित होकर जब काम करने लगते हैं तब उसे साधु-संस्था ही समझना चाहिये।

इस दृष्टि से किसी गुलाम देश को स्वतंत्र करनेवाले स्वयंसेवकों या क्रान्तिकारियों का दल भी एक तरह की साधु-संस्था है, फीस वगैरह न लेकर, बीमारों की सेवा करने वाले चिकित्सकों का संघ भी एक तरह की साधु-संस्था है। हां! यह बात अवश्य है कि इस प्रकार की जन-सेवा करने वाले व्यक्तियों का जीवन पवित्र, निस्वार्थ और न्याय-परायण होना चाहिये। अच्छे पदों को पाने की आशा से या और भी किसी अपने ऐहिक स्वार्थ की आशा से क्रान्ति आदि करनेवाले साधु नहीं हैं—वे व्यापारी या कृषक हैं। वे अपनी शक्तियों को बोकर उस से कई गुणी फसल पैदा करना चाहते हैं, वे एक व्यापारी की तरह मुनाफा के लिये जन-सेवा का धंदा करते हैं। ऐसे मनुष्य कदाचित् एक व्यापारी की तरह उपयोगी हो सकते हैं, पर साधु की तरह महान और वंदनीय नहीं हो सकते। ऐसे लोगों की उपयोगिता सीमित रहती है। ऐसे लोगों में से अधिकांश लोग न तो ज्यादा जोखिम उठा सकते हैं, न अधिक समय तक बाट देख सकते हैं। जब कोई धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक ऐसी क्रान्ति करना होती है जिस के सफल होने में पूरा जीवन या पीढ़ियाँ गुजर सकती हैं, तब उस काम में सच्चे साधुओं की ही जरूरत होती है। अगर क्रान्ति का काम न भी करना हो, पर लोक-सेवा का ऐसा कोई काम करना हो जिस में धन और यश पर्याप्त या शीघ्र न मिल सकता हो तो भी उसमें वे ही लोग टिक सकते हैं जिन में सच्ची साधुता होती है।

साधुओं की आवश्यकता हरएक युग में हर समय रही है और रहेगी, और साधु-संस्था की आवश्यकता भी मिट नहीं सकती। हां! उस के रूप अनेक तरह के होंगे। पर किसी एक रूप से ही साधुता को चिपका देना ठीक नहीं। देश-काल, पात्र और रुचि के अनुसार साधु-संस्था के ध्येय, कर्तव्य, निर्वाह के तरीके, रहन-सहन, उपग्रह, वेष, व्यवस्था भिन्न भिन्न होते हैं; परन्तु अगर उस में साधुता के मूल चिन्ह, जो पहले बताये गये हैं—पाये जाते हों तो विभिन्नता होने पर भी वे साधु और साधु संस्थाएँ आदरणीय हैं।

पुराने समय में वैदिक, जैन, बौद्ध, ईसाई, इसलाम आदि धर्मों के साधु या साधु-संस्थाएँ रही हैं, तथा अनेक राजनैतिक क्रान्तियों में जो सच्चे साधु रहे हैं तथा और अनेक प्रकार के निःस्वार्थ जन-सेवक हुए हैं—वे सब आदरणीय हैं।

आज भी साधु-संस्था की आवश्यकता है।

पुरानी साधु-संस्थाएँ जीर्ण-शीर्ण और संकुचित हो गई हैं, लाखों आदमी सिर्फ साधु का वेष लेकर साधु-संस्था के नाम को कलंकित कर रहे हैं, उन में बहुतसे दुराचारी, भू-भार और निकम्मे लोग घुस गये हैं, दम्भ फैल गया है, इसलिये साधु-संस्था के एक सुधरे हुए व्यापक और उपयोगी रूप की आवश्यकता है।

इस का यह मतलब नहीं है कि पुरानी साधु-संस्था में सच्चे साधु रह नहीं सकते या हैं नहीं, पर कहना इतना ही है कि जमाना बदल जाने से उपयोगिता कम रह गई है और लोक-हित के कार्यों में कठिनाई आ गई है। साधारण जनता 'सुधार या क्रान्ति' को पसन्द नहीं करती और जनता से ही साधु को रोटी, यश, पूजा आदि की प्राप्ति होती है, इसलिये किसी पुराने सांचे में ढला हुआ साधु आज के लिये उपयोगी काम नहीं कर पाता, क्रान्ति का बिगुल नहीं फूँक पाता, सुधार की आवाज़ नहीं निकाल पाता। फिर भी, अगर कोई इन बन्धनों के भीतर रहते हुए और प्रतिकूल परिस्थिति की कठिनाइयों को पार करते हुए, अनावश्यक बोझ सिर पर उठाये हुए जन-सेवा के कार्य में डटा हुआ है तो वह भी साधु है। फिर भी, विवेक की दृष्टि से युग के अनुसार साधु-संस्था का निर्माण करना चाहिये या पुरानी साधु-संस्था में संशोधन करना चाहिये।

सत्यसमाज और साधु-संस्था—

सत्यसमाज के प्रचार के लिये ही नहीं किन्तु सत्यसमाज की दृष्टि से जन-सेवा करने के लिये एक साधु-संस्था की आवश्यकता है। किसी भी साधु-संस्था का रूप निश्चित करने के लिये साधारणतः दस बातें विचारणीय होती हैं, उन पर यहां भी विचार किया जाता है। दस बातें ये हैं—

१. ध्येय, २. कर्तव्य, ३. गुण, ४. प्रवेश, ५. निर्वाह, ६. कुटुम्ब, ७. उपग्रह, ८. चर्या, ९. वेष, १०. व्यवस्था।

१. ध्येय— सत्य-समाज जिन कार्यों की पूर्ति करना चाहता है उन्हीं की पूर्ति करना सत्य-समाज की साधु-संस्था का ध्येय है। ये बारह ध्येय सत्य-समाज की साधु-संस्था के भी ध्येय हैं।

१— धर्मों संस्कृतियों आदि का समन्वय।

२— जाति की दृष्टि से मनुष्य-जाति की एकता।

३— संसार की एक भाषा और लिपि।

४— भावना और बुद्धि का समन्वय कर जनता को विवेकी और सुधार-प्रिय बनाना।

५— मनुष्य-मात्र का संगठित एक शासन-तंत्र बनाना, जिस में कोई भी एक राष्ट्र या जन-समूह दूसरे राष्ट्र या जन-समूह को दबा न सके।

६— युद्धों को गैर-कानूनी ठहराना, जिस से अन्तर्राष्ट्रीय विवाद पंचायती तरीके से या सब राष्ट्रों के किसी वरिष्ठ न्यायालय से निबट सकें।

७— शासन-तंत्र की बागडोर निस्वार्थ, निष्पक्ष, कर्मठ और कुशल व्यक्तियों के हाथ में सौंपना।

८— पूंजीवाद का नाश कर ऐसे निरतिवाद का प्रचार करना जिस से सब को अपनी सेवा के अनुसार भोजन, वस्त्र, घर आदि मिल सकें।

९— अपनी सेवा या गुण के आधार के बिना मिले हुए विशेषाधिकारों का, खासकर जन्म-सिद्ध विशेषाधिकारों का नाश करना।

१०— मनुष्य-मात्रको सदाचारी, सभ्य, ईमानदार, सेवाभावी बनाकर कर्मयोगी बनाना।

११— मानव-जाति के ज्ञान-भंडार को बढ़ाना।

१२— आवश्यक सुख-साधनों की खोज

और निर्माण ।

२. कर्तव्य- इन ध्येयों की पूर्ति के लिये साधु तीन तरह के काम करता है। प्रचार, जीवन-शोधन और सेवा ।

प्रचार के दो अंग है- एक तो लोगों को समझाना, दूसरे समझे हुए लोगों का संगठन। सत्य-समाज के जो उपर्युक्त ध्येय हैं उन ध्येयों की उपयोगिता समझाना, उन ध्येयों का व्यावहारिक रूप बताना आदि 'प्रचार' है। और जो लोग उन ध्येयों को और उस के व्यावहारिक रूपों को अपनाने के लिये तैयार हैं उन्हें सत्य-समाज के सदस्य बनाना, उन का संगठन करना, परस्पर में सहयोग बढ़ाना, उन सब में एक तरह की कौटुम्बिकता पैदा करना आदि 'संगठन' है। सत्य-समाज का साधु ये काम निस्वार्थ भाव से निरालस होकर करे ।

जीवन-शोधन का मतलब है मनुष्य को नीतिमान सदाचारी बनाना। मनुष्य झूठ न बोले, चोरी न करे, छल न करे, व्यभिचार न करे, हत्या मार-पीट आदि न करे, असभ्य व्यवहार न करे, दानी बने, त्यागी बने, कृतज्ञ बने, स्वच्छता से रहे, व्यसनों से बचे, आहार-विहार में संयम रक्खे, दुर्जन न करे आदि जीवन-शोधन का काम करने-वाला साधु जीवन-शोधक है। संक्षेप में इसे शोधक कह सकते हैं। ऐसा साधु ज्ञानी तो होगा ही, साथ ही जीवन-शोधन के कार्य में उस का जीवन आदर्श या अनुकरणीय होगा ।

सेवा- प्रचार और जीवन-शोधन के सिवाय बाकी सब काम जो कि जन-हित की दृष्टि से किये जायँ-वे सब सेवा हैं। जैसे-रोगियों की सेवा, पढ़ाना-लिखाना, किसी का संकट निवारण करना, इस प्रकार सेवा के सैकड़ों काम हैं जो आवश्यक मालूम हों या जो साधु-संस्था के योग्य अधिकारी द्वारा बताये गये हों, करना चाहिये ।

सेवा के साथ कुछ ऐसे काम भी होते हैं जिन्हें उपसेवा कह सकते हैं। जो सेवा के कार्य में किसी न किसी रूप में सहायक होते हैं, जिन से सेवा के काम की मात्रा बढ़ जाती है या उस में सुविधा हो जाती है। उपसेवा का कार्य भी जरूरी है। थोड़ा-बहुत उपसेवा का काम तो हर एक को करना चाहिये, पर जो साधु विशेष रूप में उपसेवा ही करते हैं-वे उपसेवक हैं।

इन कर्तव्यों की दृष्टि से साधु-संस्था के सदस्यों के छः भेद होते हैं। (१) उपसेवक (२) प्रचारक (३) शोधक (४) सेवक (५) उभयांगी (६) सर्वांगी ।

जो किन्हीं दो कामों की जिम्मेदारी लेते हैं-वे उभयांगी हैं। जो प्रचारक शोधक और सेवक की जिम्मेदारी लेते हैं-वे सर्वांगी साधु हैं।

साधारणतः एकांगी की अपेक्षा उभयांगी और उभयांगी की अपेक्षा सर्वांगी श्रेष्ठ है, पर फिर भी मात्रा का विचार करना चाहिये। एक साधु सिर्फ प्रचारक हो पर उस की प्रसारकता इतनी अधिक हो कि जन-कल्याण की दृष्टि से सर्वांगी साधु की सेवा से भी उस का मूल्य बढ़ जाय, तो वह एकांगी, सर्वांगी से भी श्रेष्ठ हो जायगा। इसलिये जिस की जिस में योग्यता और रुचि विशेष हो-वही काम उसे विशेष रूप में करना चाहिये। हां! थोड़े-बहुत अंश में दूसरे काम भी करना चाहिये और उपसेवा के जरूरी कामों से घृणा न करना चाहिये। और यथा-शक्य अपना बोझ दूसरों पर न डालना चाहिये।

३. गुण- जिस युग में जिस साधु-संस्था

के सामने जैसा कार्य रहता है उसे अपने सदस्यों में उसी के अनुरूप गुणों की आवश्यकता होती है। गुणों में कोई गुण अत्यन्त आवश्यक और मूल रूप हैं। इन गुणों में से एकाध गुण की कमी भी साधु-संस्था के सदस्य होने की योग्यता को नष्ट कर सकती है और कुछ गुण उत्तर-गुण होते हैं जो हैं तो उनकी कमी आवश्यक, पर मूल-गुणों की अपेक्षा अधिक क्षम्य है।

मूल गुण बारह हैं—१. सज्ञान २. सत्य-समाजीपन, ३. सत्यवादन, ४. ईमान, ५. अहिंसकता, ६. शील, ७. सद्भोग, ८. अनर्जन, ९. निर्भारता, १०. दिव्याहार, ११. साधुता, सन्तोष, १२. कर्मठता।

उत्तर-गुण पन्द्रह हैं—१. विनय. २. सुभाषण, ३. सरलता, ४. शान्ति, ५. अनसूया, ६. आज्ञाकारिता, ७. समय-पालन, ८. अविस्मरण ९. आत्मनिवेदन, १०. जागरूकता, ११. सहयोग, १२. क्षमापणा, १३. स्वच्छता, १४. स्वाध्याय, १५. सद्वेष।

(१) **सज्ज्ञान**— साधु को दो तरह का ज्ञान आवश्यक है। पहिला तो जीवन-विषयक, जिस के अनुसार वह जीवन का ध्येय और अपना कर्तव्य अच्छी तरह समझ सके। दूसरा वह जिस से संस्था के द्वारा सौंपे गये कार्य को वह अच्छी तरह कर सके। जैसे—प्रचारक-साधु को सत्य-समाज के प्रायः समस्त (पूर्ण 'सत्यामृत' तथा यथाशक्य अन्य) साहित्य में निष्णात होना ज़रूरी है, साथ ही उसे वर्तमान जगत की समस्याओं का तथा विविध धर्मों, संस्कृतियों का, इतिहास, भूगोल आदि का ज्ञान होना ज़रूरी है। इसके साथ उसमें तार्किकता तथा अच्छी वक्तृत्व-शक्ति भी चाहिये।

शोधक-साधु में भी उपर्युक्त ज्ञान की ज़रूरत है। हां! बाहरी-ज्ञान कुछ कम रहे और वक्तृत्व-शक्ति भी कुछ कम रहे तो भी चल सकता है, पर उस में सहज मनोवैज्ञानिकता कुछ विशेष-मात्रा में होना चाहिये। साथ ही सेवक-साधु में जीवन-विषयक ज्ञान तो औरों के समान ही चाहिये, पर अन्य-विषय के ज्ञान में कुछ कमी रह सकती है। लेकिन, जिस सेवा के काम की जिम्मेदारी उसके ऊपर है उस विषय में वह काफ़ी होश्यार होना चाहिये।

(२) **सत्यसमाजीपन**— इस में धर्म-समभाव, जाति-समभाव, सुधारकता आदि सभी गुण जो सत्य-समाजी होने के लिये ज़रूरी हैं, आ जाते हैं। साधु सत्य-समाज का नैष्ठिक सदस्य होना चाहिये। पर, अगर समाज-हित की दृष्टि से उचित हो और साधु-संस्था के संचालक उचित समझें तो पाक्षिक सत्य-समाजी भी साधु-संस्था का सदस्य रह सकता है। अर्थात् वेष और कुछ बाहरी चर्या दूसरे सम्प्रदाय की रखने पर भी वह सत्य-समाज की साधु-संस्था में स्थान पा सकता है। पर अन्य सब बातों में उसे सत्य-समाजी होना चाहिये।

(३) **सत्यवादन**— साधु, शुद्ध और शोधक तथ्य बोले; किन्तु प्रमादज, राहस्यिक, निन्दक और पापोत्तेजक तथ्य न बोले। अतथ्य का उपयोग कम से कम करे, अर्थात् बाधक-अतथ्य और तक्षक-भक्षक अतथ्य तो बिलकुल न बोले, अविवेकज-अतथ्य, प्रमादज-अतथ्य भी न होना चाहिये। आरम्भज-अतथ्य का तो उसे प्रायः अवसर ही नहीं है, स्व-रक्षक अतथ्य भी इसके लिये उचित नहीं कहा जा सकता, बाकी अतथ्य का प्रयोग वह कर सकता है। पर ध्यान रखना

यहां साधु-संस्था से मतलब है ऐसे आदमियों की संस्था से जो लोक-कल्याण के लिये त्यागी बने हैं, जिन ने लोक-कल्याण में स्व-कल्याण के भी दर्शन किये हैं और इसी स्व-पर-कल्याण में जो काम और मोक्ष दोनों सुखों का अनुभव करते हैं।

साधुओं की जरूरत तो हर समय और हर जगह है, पर साधु-संस्था की ज़रूरत भी हर एक युग में और हर एक देश में रही है। चाहे धर्म प्रचार के लिये हो चाहे और भी किसी लोक-कल्याणकारी कार्य के लिये, साधु-संस्था की ज़रूरत रहती ही है।

यद्यपि साधु-संस्था का सम्बन्ध किसी धर्म-संस्था से रहता आया है, पर इस का मतलब यह नहीं है कि धर्म-संस्था से सम्बन्ध न रखकर साधु-संस्था रह नहीं सकती। लोक-कल्याण के लिये जीवन देनेवाले त्यागी लोग संगठित और व्यवस्थित होकर जब काम करने लगते हैं तब उसे साधु-संस्था ही समझना चाहिये।

इस दृष्टि से किसी गुलाम देश को स्वतंत्र करनेवाले स्वयंसेवकों या क्रान्तिकारियों का दल भी एक तरह की साधु-संस्था है, फीस वगैरह न लेकर बीमारों की सेवा करने वाले चिकित्सकों का संघ भी एक तरह की साधु-संस्था है। हां! यह बात अवश्य है कि इस प्रकार की जन-सेवा करने वाले व्यक्तियों का जीवन पवित्र, निस्वार्थ और न्याय-परायण होना चाहिये। अच्छे पदों को पाने की आशा से या और भी किसी अपने ऐहिक स्वार्थ की आशा से क्रान्ति आदि करनेवाले साधु नहीं हैं—वे व्यापारी या कृषक हैं। वे अपनी शक्तियों को बोकर उस से कई गुणी फसल पैदा करना चाहते हैं, वे एक व्यापारी की तरह मुनाफा के लिये जन-सेवा का धंदा करते हैं। ऐसे मनुष्य कदाचित् एक व्यापारी की तरह उपयोगी हो सकते हैं, पर साधु की तरह महान और वंदनीय नहीं हो सकते। ऐसे लोगों की उपयोगिता सीमित रहती है। ऐसे लोगों में से अधिकांश लोग न तो ज्यादा जोखिम उठा सकते हैं, न अधिक समय तक बाट देख सकते हैं। जब कोई धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक ऐसी क्रान्ति करना होती है जिस के सफल होने में पूरा जीवन या पीढ़ियाँ गुजर सकती हैं, तब उस काम में सच्चे साधुओं की ही ज़रूरत होती है। अगर क्रान्ति का काम न भी करना हो, पर लोक-सेवा का ऐसा कोई काम करना हो जिस में धन और यश पर्याप्त या शीघ्र न मिल सकता हो तो भी उस में वे ही लोग टिक सकते हैं जिन में सच्ची साधुता होती है।

साधुओं की आवश्यकता हरएक युग में हर समय रही है और रहेगी, और साधु-संस्था की आवश्यकता भी मिट नहीं सकती। हां! उस के रूप अनेक तरह के होंगे। पर किसी एक रूप से ही साधुता को चिपका देना ठीक नहीं। देश-काल, पात्र और रुचि के अनुसार साधु-संस्था के ध्येय, कर्तव्य, निर्वाह के तरीके, रहन-सहन, उपग्रह, वेष, व्यवस्था भिन्न-भिन्न होते हैं; परन्तु अगर उस में साधुता के मूल चिन्ह, जो पहले बताये गये हैं—पाये जाते हों तो विभिन्नता होने पर भी वे साधु और साधु संस्थाएँ आदरणीय हैं।

पुराने समय में वैदिक, जैन, बौद्ध, ईसाई, इसलाम आदि धर्मों के साधु या साधु संस्थाएँ रही हैं, तथा अनेक राजनैतिक क्रान्तियों में जो सच्चे साधु रहे हैं तथा और अनेक प्रकार के निःस्वार्थ जन-सेवक हुए हैं— वे सब आदरणीय हैं।

आज भी साधु-संस्था की आवश्यकता है।

पुरानी साधु-संस्थाएँ जीर्ण-शीर्ण और संकुचित हो गई हैं, लाखों आदमी सिर्फ साधु का वेष लेकर साधु-संस्था के नाम को कलंकित कर रहे हैं, उन में बहुतसे दुराचारी, भू-भार और निकम्मे लोग घुस गये हैं, दम्भ फैल गया है, इसलिये साधु-संस्था के एक सुधरे हुए व्यापक और उपयोगी रूप की आवश्यकता है।

इस का यह मतलब नहीं है कि पुरानी साधु-संस्था में सच्चे साधु रह नहीं सकते या हैं नहीं, पर कहना इतना ही है कि जमाना बदल जाने से उपयोगिता कम रह गई है और लोक-हित के कार्यों में कठिनाई आ गई है। साधारण जनता 'सुधार या क्रान्ति' को पसन्द नहीं करती और जनता से ही साधु को रोटी, यश, पूजा आदि की प्राप्ति होती है, इसलिये किसी पुराने सांचे में ढला हुआ साधु आज के लिये उपयोगी काम नहीं कर पाता, क्रान्ति का बिगुल नहीं फूँक पाता, सुधार की आवाज़ नहीं निकाल पाता। फिर भी, अगर कोई इन बन्धनों के भीतर रहते हुए और प्रतिकूल परिस्थिति की कठिनाइयों को पार करते हुए, अनावश्यक बोझ सिर पर उठाये हुए जन-सेवा के कार्य में डटा हुआ है तो वह भी साधु है। फिर भी, विवेक की दृष्टि से युग के अनुसार साधु-संस्था का निर्माण करना चाहिये या पुरानी साधु-संस्था में संशोधन करना चाहिये।

सत्यसमाज और साधु-संस्था —

सत्यसमाज के प्रचार के लिये ही नहीं किन्तु सत्यसमाज की दृष्टि से जन-सेवा करने के लिये एक साधु-संस्था की आवश्यकता है। किसी भी साधु-संस्था का रूप निश्चित करने के लिये साधारणतः दस बातें विचारणीय होती हैं, उन पर यहां भी विचार किया जाता है। दस बातें ये हैं—

१. ध्येय, २. कर्तव्य, ३. गुण, ४. प्रवेश, ५. निर्वाह, ६. कुटुम्ब, ७. उपग्रह, ८. चर्या, ९. वेष, १०. व्यवस्था।

१. **ध्येय**— सत्य-समाज जिन कार्यों की पूर्ति करना चाहता है उन्हीं की पूर्ति करना सत्य-समाज की साधु-संस्था का ध्येय है। ये बारह ध्येय सत्य-समाज की साधु-संस्था के भी ध्येय हैं।

१— धर्मों संस्कृतियों आदि का समन्वय।

२— जाति की दृष्टि से मनुष्य-जाति की एकता।

३— संसार की एक भाषा और लिपि।

४— भावना और बुद्धि का समन्वय कर जनता को विवेकी और सुधार-प्रिय बनाना।

५— मनुष्य-मात्र का संगठित एक शासन-तंत्र बनाना, जिस में कोई भी एक राष्ट्र या जन-समूह दूसरे राष्ट्र या जन-समूह को दबा न सके।

६— युद्धों को गैर-कानूनी ठहराना, जिस से अन्तर्राष्ट्रीय विवाद पंचायती तरीके से या सब राष्ट्रों के किसी वरिष्ठ न्यायालय से निबट सकें।

७— शासन-तंत्र की बागडोर निस्वार्थ, निष्पक्ष, कर्मठ और कुशल व्यक्तियों के हाथ में सौंपना।

८— पूंजीवाद का नाश कर ऐसे निरतिवाद का प्रचार करना जिस से सब को अपनी सेवा के अनुसार भोजन, वस्त्र, घर आदि मिल सकें।

९— अपनी सेवा या गुण के आधार के बिना मिले हुए विशेषाधिकारों का, खासकर जन्म-सिद्ध विशेषाधिकारों का नाश करना।

१०— मनुष्य-मात्रको सदाचारी, सभ्य, ईमानदार, सेवाभावी बनाकर कर्मयोगी बनाना।

११— मानव-जाति के ज्ञान-भंडार को बढ़ाना।

१२— आवश्यक सुख-साधनों की खोज

और निर्माण ।

२. कर्तव्य- इन ध्येयों की पूर्ति के लिये साधु तीन तरह के काम करता है। प्रचार, जीवन-शोधन और सेवा ।

प्रचार के दो अंग है- एक तो लोगों को समझाना, दूसरे समझे हुए लोगों का संगठन । सत्य-समाज के जो उपर्युक्त ध्येय हैं उन ध्येयों की उपयोगिता समझाना, उन ध्येयों का व्यावहारिक रूप बताना आदि 'प्रचार' है । और जो लोग उन ध्येयों को और उस के व्यावहारिक रूपों को अपनाने के लिये तैयार हैं उन्हें सत्य-समाज के सदस्य बनाना, उन का संगठन करना, परस्पर में सहयोग बढ़ाना, उन सब में एक तरह की कौटुम्बिकता पैदा करना आदि 'संगठन' है । सत्य-समाज का साधु ये काम निस्वार्थ भाव से निरालस होकर करे ।

जीवन-शोधन का मतलब है मनुष्य को नीतिमान सदाचारी बनाना । मनुष्य झूठ न बोले, चोरी न करे, छल न करे, व्यभिचार न करे, हत्या मार-पीट आदि न करे, असभ्य व्यवहार न करे, दानी बने, त्यागी बने, कृतज्ञ बने, स्वच्छता से रहे, व्यसनों से बचे, आहार-विहार में संयम रक्खे, दुर्जन न करे आदि जीवन-शोधन का काम करने-वाला साधु जीवन-शोधक है । संक्षेप में इसे शोधक कह सकते हैं । ऐसा साधु ज्ञानी तो होगा ही, साथ ही जीवन-शोधन के कार्य में उस का जीवन आदर्श या अनुकरणीय होगा ।

सेवा- प्रचार और जीवन-शोधन के सिवाय बाकी सब काम जो कि जन-हित की दृष्टि से किये जायँ-वे सब सेवा हैं । जैसे-रोगियों की सेवा, पढ़ाना-लिखाना, किसी का संकट निवारण करना, इस प्रकार सेवा के सैकड़ों काम हैं जो आवश्यक मालूम हों या जो साधु-संस्था के योग्य अधिकारी द्वारा बताये गये हों, करना चाहिये ।

सेवा के साथ कुछ ऐसे काम भी होते हैं जिन्हें उपसेवा कह सकते हैं । जो सेवा के कार्य में किसी न किसी रूप में सहायक होते हैं, जिन से सेवा के काम की मात्रा बढ़ जाती है या उस में सुविधा हो जाती है । उपसेवा का कार्य भी ज़रूरी है । थोड़ा-बहुत उपसेवा का काम तो हर एक को करना चाहिये, पर जो साधु विशेष रूप में उपसेवा ही करते हैं-वे उपसेवक हैं ।

इन कर्तव्यों की दृष्टि से साधु-संस्था के सदस्यों के छः भेद होते हैं । (१) उपसेवक (२) प्रचारक (३) शोधक (४) सेवक (५) उभयांगी (६) सर्वांगी ।

जो किन्हीं दो कामों की जिम्मेदारी लेते हैं-वे उभयांगी हैं । जो प्रचारक शोधक और सेवक की जिम्मेदारी लेते हैं-वे सर्वांगी साधु हैं ।

साधारणतः एकांगी की अपेक्षा उभयांगी और उभयांगी की अपेक्षा सर्वांगी श्रेष्ठ है, पर फिर भी मात्रा का विचार करना चाहिये । एक साधु सिर्फ़ प्रचारक हो पर उस की प्रसारकता इतनी अधिक हो कि जन-कल्याण की दृष्टि से सर्वांगी साधु की सेवा से भी उस का मूल्य बढ़ जाय, तो वह एकांगी, सर्वांगी से भी श्रेष्ठ हो जायगा । इसलिये जिस की जिस में योग्यता और रुचि विशेष हो-वही काम उसे विशेष रूप में करना चाहिये । हां ! थोड़े-बहुत अंश में दूसरे काम भी करना चाहिये और उपसेवा के ज़रूरी कामों से घृणा न करना चाहिये । और यथा-शक्य अपना बोझ दूसरों पर न डालना चाहिये ।

३. गुण- जिस युग में जिस साधु-संस्था

के सामने जैसा कार्य रहता है उसे अपने सदस्यों में उसी के अनुरूप गुणों की आवश्यकता होती है। गुणों में कोई गुण अत्यन्त आवश्यक और मूल रूप हैं। इन गुणों में से एकाध गुण की कमी भी साधु-संस्था के सदस्य होने की योग्यता को नष्ट कर सकती है और कुछ गुण उत्तर-गुण होते हैं जो हैं तो उनकी कमी आवश्यक, पर मूल-गुणों की अपेक्षा अधिक क्षम्य है।

मूल गुण बारह हैं—१. सज्ज्ञान २. सत्य-समाजीपन, ३. सत्यवादन, ४. ईमान, ५. अहिंसकता, ६. शील, ७. सद्भोग, ८. अनर्जन, ९. निर्भारता, १०. दिव्याहार, ११. साधुता, सन्तोष, १२. कर्मठता।

उत्तर-गुण पन्द्रह हैं—१. विनय. २. सुभाषण, ३. सरलता, ४. शान्ति, ५. अनसूया, ६. आज्ञाकारिता, ७. समय-पालन, ८. अविस्मरण ९. आत्म-निवेदन, १०. जागरूकता, ११. सहयोग, १२. क्षमापणा, १३. स्वच्छता, १४. स्वाध्याय, १५. सद्वेष।

(१) **सज्ज्ञान**— साधु को दो तरह का ज्ञान आवश्यक है। पहिला तो जीवन-विषयक, जिस के अनुसार वह जीवन का ध्येय और अपना कर्तव्य अच्छी तरह समझ सके। दूसरा वह जिस से संस्था के द्वारा सौंपे गये कार्य को वह अच्छी तरह कर सके। जैसे—प्रचारक-साधु को सत्य-समाज के प्रायः समस्त (पूर्ण 'सत्यामृत' तथा यथाशक्य अन्य) साहित्य में निष्णात होना ज़रूरी है, साथ ही उसे वर्तमान जगत की समस्याओं का तथा विविध धर्मों, संस्कृतियों का, इतिहास, भूगोल आदि का ज्ञान होना ज़रूरी है। इसके साथ उसमें तार्किकता तथा अच्छी वक्तृत्व-शक्ति भी चाहिये।

शोधक-साधु में भी उपर्युक्त ज्ञान की ज़रूरत है। हां! बाहरी-ज्ञान कुछ कम रहे और वक्तृत्व-शक्ति भी कुछ कम रहे तो भी चल सकता है, पर उसमें सहज मनोवैज्ञानिकता कुछ विशेष-मात्रा में होना चाहिये। साथ ही सेवक-साधु में जीवन-विषयक ज्ञान तो औरों के समान ही चाहिये, पर अन्य-विषय के ज्ञान में कुछ कमी रह सकती है। लेकिन, जिस सेवा के काम की जिम्मेदारी उसके ऊपर है उस विषय में वह काफ़ी होश्यार होना चाहिये।

(२) **सत्यसमाजीपन**— इसमें धर्म-समभाव, जाति-समभाव, सुधारकता आदि सभी गुण जो सत्य-समाजी होने के लिये ज़रूरी हैं, आ जाते हैं। साधु सत्य-समाज का नैष्ठिक सदस्य होना चाहिये। पर, अगर समाज-हित की दृष्टि से उचित हो और साधु-संस्था के संचालक उचित समझें तो पाक्षिक सत्य-समाजी भी साधु-संस्था का सदस्य रह सकता है। अर्थात् वेष और कुछ बाहरी चर्या दूसरे सम्प्रदाय की रखने पर भी वह सत्य-समाज की साधु-संस्था में स्थान पा सकता है। पर अन्य सब बातों में उसे सत्य-समाजी होना चाहिये।

(३) **सत्यवादन**— साधु, शुद्ध और शोधक तथ्य बोले; किन्तु प्रमादज, राहस्यिक, निन्दक और पापोत्तेजक तथ्य न बोले। अतथ्य का उपयोग कम से कम करे, अर्थात् बाधक-अतथ्य और तक्षक-भक्षक अतथ्य तो बिलकुल न बोले, अविवेकज-अतथ्य, प्रमादज-अतथ्य भी न होना चाहिये। आरम्भज-अतथ्य का तो उसे प्रायः अवसर ही नहीं है, स्व-रक्षक अतथ्य भी इसके लिये उचित नहीं कहा जा सकता, बाकी अतथ्य का प्रयोग वह कर सकता है। पर ध्यान रखना

चाहिये कि कर सकता है, 'करना चाहिये' ऐसा न समझना चाहिये। पहिले कोशिश करना चाहिये कि अतथ्य के बिना अगर कर्तव्य कार्य पूरा हो जाय तो अच्छा।

साधु-संस्था में आपस में तो अतथ्य से और भी ज्यादा बचना चाहिये और असत्य भाषण तो कदापि न करना चाहिये।

(४) **ईमान**– ईमानदार होना किसी तरह की चोरी न करना बहुत जरूरी गुण है। साधु को धन का नजर-चोर ठग-चोर उद्घाटक-चोर बलात्-चोर और घातक-चोर तो होना ही न चाहिये पर छन्न-चोर भी न होना चाहिये। साधु को इस प्रकार की चोरियों की आवश्यकता भी नहीं होती, पर खान-पान में पक्षपात आदि की सम्भावना रहती है सो उस से बचना चाहिये। छोटी-छोटी चीजों में सफाई रखना और कोई बड़ी चोरी कर डालना चोरी तो है ही, पर दंभ भी है। और बड़ी चोरी न करना किन्तु छोटी-छोटी चोरियाँ करना भी साधुता को लजाना है। साधु को इस बारे में काफी सतर्क रहना चाहिये।

नाम-चोरी, उपकार-चोरी और उपयोग-चोरी भी साधु में न होना चाहिये।

(५) **अहिंसकता**– साधु, भक्षक तक्षक बाधक और अविवेकज घात नहीं करता, प्रमादज-घात से भी काफी बचा रहता है।

हिंसा झूठ चोरी अर्थात् प्राणघात, विश्वास-घात और अर्थघात के बारे में आचार-काण्ड में विस्तार से विवेचन किया गया है वहां के वर्णन के अनुसार साधु को इन पापों से बचना चाहिये।

(६) **शील**– व्यभिचार से दूर रहना शील है। कल्याण-पथ प्रकरण की पाँचवीं श्रेणी के अनुसार साधु शीलवान होना चाहिये। उस का व्यवहार रहन-सहन, बोलचाल आदि ऐसा होना चाहिये, कि अकेली युवती को भी उस से भय न मालूम हो। वह उसे सरलता से ही भाई या पिता के समान समझ सके।

(७) **सद्भोग**– साधु, मांस नहीं खायगा नशा नहीं करेगा, शराब बीड़ी गांजा चरस भंग अफीम आदि का सेवन नहीं करेगा। साथ ही उस में कोई दुर्व्यसन भी न होगा। हर तरह की बुरी आदतों पर उसे विजय पाना चाहिये।

(८) **अनर्जन**– साधु अपने लिये कोई जीविका का कार्य न करेगा। भोजन वस्त्र आदि की आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिये साधु-संस्था के जो नियम होंगे उन के अनुसार कार्य करेगा। अगर कोई कार्य करने से उसे कुछ भेंट मिल जाय तो उस पर साधु-संस्था का अधिकार होगा।

साधु को किसी की नौकरी तो करना ही न चाहिये। इस दृष्टि से वह साधु-संस्था का या उस के संचालक का ही नौकर है। साथ ही इस प्रकार के व्यापार धंधे भी न करना चाहिये जिन से जनता के साथ आर्थिक संघर्ष हो। हां! वह साधु-संस्था के संचालक की मातहती में ऐसे काम कर सकता है जिस में उसे जनता के साथ आर्थिक संघर्ष में न आना पड़े। वह अपने आश्रम आदि में कृषि कर सकता है, चर्खा आदि चला सकता है, और भी किसी तरह के उद्योग मजदूरी आदि कर सकता है। उसे श्रम-प्रतिष्ठा का खयाल रखना चाहिये।

पर वह कुछ भी करे जो कुछ करे साधु-संस्था की अनुमति से करे और उस से कोई लाभ हो तो वह साधु-संस्था का या समाज का समझा जाय। खुद अपने लिये या अपने सहज-कुटुम्बियों या सुहृत-कुटुम्बियों के लिये वह अर्थोपार्जन न करे।

(९) निर्भरता– कल्याण-पथ अध्याय के आठवीं निर्भार श्रेणी के विवेचन में और भगवती के उपांग शीर्षक अध्याय में निरतिग्रह के प्रकरण में इस का विवेचन हुआ है। उस के अनुसार साधु निरतिग्रही होगा। सम्पत्ति रखने की जो छः सूचनाएँ दी गई हैं उन में पहिली चार सूचनाओं के अनुसार वह आवश्यक वस्तुएँ रक्खेगा। और उनको भी वह अपनी न समझेगा। साधु-संस्था की या समाज की समझेगा। और जो कुछ रक्खेगा अपने सेवा कार्य की ज़रूरत के अनुसार रक्खेगा और साधु-संस्था की अनुमति से रक्खेगा।

हां ! साधु होने के पहिले अगर उस के पास कुछ सम्पत्ति हो और वह किसी खास काम के लिये सुरक्षित रखना चाहता हो, या भिक्षा वगैरह न लेना पड़े इसलिये रखना चाहता हो या किसी दिन साधु-संस्था छोड़ना पड़ी तो बिलकुल कंगाल होकर न निकलना पड़े इस विचार से रखना चाहता हो तो वह रख तो सकता है पर साधु-संस्था के संचालक के पास उसे सारी बात स्पष्टता से रख देना चाहिये। और उस की अनुमति से रखना चाहिये। किसी प्रकार का गुप्तधन रखना, या गुप्तरूप में उस से कुटुम्बी आदि का पोषण करना आदि अनुचित है।

जिस की दीक्षा अस्थायी है उसे तो एक तरह से कुछ सम्पत्ति रखना ज़रूरी सा है। सम्भव है उन से साधुता का पालन न हो तो वह निश्चिन्तता से बाहर जा सके। अर्थाभाव से बाहर निकलने का डर और श्रद्धा या शक्ति न रहने से साधुता के विषय में होने वाली अरुचि और प्रतिक्रिया, अनर्थकर हैं। इस से उन का भी पतन है और संस्था तथा समाज की भी हानि है। साधु-संस्था में मनुष्य को निर्भार तो होना चाहिये पर उस का रूप ऐसा न होना चाहिये कि आर्थिक दृष्टि से उस का द्वार बन्द हो जाय। साधु संस्था में रुचि-पूर्वक स्वेच्छा से रहने में ही उस के जीवन की सफलता है।

(१०) दिव्याहार– अतिभोग न करना दिव्याहार है। साधु की वृत्ति कम से कम खर्च करने की और अधिक से अधिक काम करने की रहती है। इसलिये वह हर बात में मितव्ययी होता है। इस के लिये मुख्य दो बातें होना चाहिये एक तो जिह्वा-जय, दूसरी अल्पाहार। बहुमूल्य मिष्ठ भोजन की आदत उस में न होना चाहिये। हां ! स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छे पके हुए स्वच्छ भोजन की आवश्यकता का वह अनुभव करे तो इस में कोई बुराई नहीं है। पर खाने के बारे में उसे अधिक से अधिक सहिष्णु बनने की कोशिश करना चाहिये। दूसरी बात है अल्पाहार। साधारणतः उसे दो बार से अधिक बार न खाना चाहिये सो भी कुछ भूखा रहना चाहिये। और सप्ताह में एक बार का भोजन छोड़ना चाहिये इस से उस का स्वास्थ्य भी अच्छा रहेगा साथ ही समाज पर उस का बोझ भी कम होगा। कम भोजन भी अगर अधिक चबाकर खाया जाय तो इस से बचत भी होती है और शरीर को पोषण भी ठीक मिलता है।

आहार के बारे में जिस प्रकार मितव्ययी और जिह्वाजयी होने की ज़रूरत है उसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में भी वह मितव्ययी होगा। वह कम कपड़ों में काम चलायगा और भी जहां काटकसर हो सकती है करेगा। हां ! मितव्ययिता वास्तविक होना चाहिये सिर्फ़ उस का प्रदर्शन न होना चाहिये।

(११) साधुता-सन्तोष– साधु-संस्था में

आने पर उस में काफ़ी सन्तोष होना जरूरी है अन्यथा एक तो वह संस्था में रह न सकेगा दूसरे अन्य सदस्यों को भी अनुत्साहित असन्तुष्ट और दुखी करेगा। जिसने साधुता में कल्याण के दर्शन नहीं कर पाये वह दुनिया को साधु नहीं बना सकता है और न अच्छी तरह सेवा का कार्य कर सकता है। इसलिये साधु-संस्था में प्रवेश करते समय उसे इस बात का अच्छी तरह हिसाब लगा लेना चाहिये कि वह स्वपर-कल्याण की दृष्टि से लाभ में है कि नहीं।

विषयों की लालसा हो, पुराने विषयों की याद आती हो, साधु-संस्था में उसे कोई ऐसे गौरव या महत्ता का अनुभव न होता हो, जिस से वह विषय-लालसा को दबा सके तो उस का साधु-संस्था में रहना ठीक नहीं है।

साधु-संस्था के अनुशासन को वह बोझ समझता हो, पुराने जीवन की याद से या भविष्य की कल्पनाओं से विनय शिष्टाचार और सेवा में शिथिलता आती हो तो समझना चाहिये कि उसे साधुता में सन्तोष नहीं है और ऐसे आदमी को साधु-संस्था में न रहना चाहिये या शीघ्र से शीघ्र इस असन्तोष को हटाने का प्रयत्न करना चाहिये।

(१२) कर्मठता– साधु को कर्मशील होना चाहिये। कम से कम आठ घंटे उसे ऐसे काम में लगाने की कोशिश करना चाहिये जिसे जने हित का काम कहते हैं। दूसरी बात यह है कि उसे दिन-चर्या व्यवस्थित बना लेना चाहिये और उस के अनुसार काम करना चाहिये। तीसरी बात यह है कि उसे बौद्धिक काम ही न करना चाहिये कुछ शरीर-श्रम भी करना चाहिये। हां! बौद्धिक कार्य का बोझ ज्यादा हो या वृद्धता आदि के कारण शरीर अशक्त हो तो बात दूसरी है पर उसे जानबूझकर अभिमान-वश या आलस्य-वश शरीर-श्रम पर उपेक्षा या घृणा न करना चाहिये।

उत्तर गुण पन्द्रह हैं साधु-संस्था में रहने के लिये ये भी आवश्यक हैं। इन की थोड़ी-बहुत कमी क्षन्तव्य हो सकती है पर इन पर जरा भी उपेक्षा न होना चाहिये। अनेक उत्तर-गुणों की कमी या एक गुण की अतिमात्रा में कमी साधु-संस्था में रहने के अयोग्य बना सकती है।

(१) विनय– तप के प्रकरण में बताये गये सात प्रकार के (आसन, अञ्जलि अनुमोदन, पुरस्करण, प्रशंसा, वैयावृत्य, सम्पर्क-भक्ति) विनय का पात्र के अनुसार पालन करना चाहिये।

(२) सुभाषण– अच्छी तरह बात करना। स्वर में कोमलता का परिचय मिले, प्रेम प्रगट हो, अभिमान आदि न मालूम हो, थोड़े और तुले हुए शब्दों का उपयोग किया जाय, आदि सब सुभाषण के चिन्ह हैं। अगर भाषण के विषय में आदत बिगड़ गई हो तो उसे धीरे धीरे सुधारना चाहिये।

(३) सरलता– छलकपट का न होना सरलता है। साधु को धोखेबाज तो होना ही न चाहिये पर साधारण व्यवहार में भी अधिक से अधिक सरल होना चाहिये। सरलता का यह मतलब नहीं है कि वह गम्भीर न हो या चुगलखोर हो या मनमाना बकवाद करने-वाला हो पर मतलब यह है कि उस के व्यवहार से हृदयों का अद्वैत प्रगट होता हो। लोगों को विश्वास हो कि वह जरूरी बात छिपायगा नहीं, संस्था के भीतर किसी तरह के षड्यन्त्र न करेगा, न ऐसी बातें जानते हुए छिपायगा, साधारण बातचीत में अपना दिल खोलकर रख देगा, शब्द-छल न करेगा आदि। आचार्य या साधु-संस्था के संचा-

लक के सामने तो यह सरलता अत्यन्त आवश्यक है।

(४) शान्ति- क्रोध न होना शान्ति है। यों थोड़ा-बहुत क्रोधावेग कभी कभी हो जाता है पर उस में स्थायिता न होना चाहिये। वह शिष्टता का अतिक्रमण न कर जाय, और बाद का व्यवहार इतना शान्ति-पूर्ण हो कि मानों क्रोध हुआ ही नहीं था। अशान्त मनुष्य न तो ठीक तरह से विचार कर सकता है न कर्तव्य कर सकता है इसलिये हृदय अधिक से अधिक शान्त रखना चाहिये।

(५) अनसूया- दूसरे का पतन हो जाय जिस से मेरा महत्व बढ़े इस प्रकार असूया या ईर्ष्या मन में न रखना अनसूया है। इस प्रकार के भावों से संस्था नष्ट हो जाती है, सहयोग टूट जाता है। इसलिये किसी को गिराने की चेष्टा न करना चाहिये।

(६) आज्ञाकारिता- व्यवस्थित-रूप में काम करने के लिये योग्य अधिकारी की आज्ञा मानना जरूरी है। अगर यह मालूम हो कि अधिकारी की आज्ञा योग्य नहीं है तो उस के विषय में पीछे से आपत्ति करना चाहिये। आज्ञा मिलने के अवसर पर तो उस के पालन करने की कोशिश करना चाहिये। हां, आज्ञा बहुत ही अनुचित हो तब बात दूसरी है। ऐसी हालत में उसी समय खुलासा करा लेना चाहिये। पर आज्ञा पर उपेक्षा कदापि न करना चाहिये।

(७) समय-पालन- समय की पाबन्दी एक बहुत जरूरी गुण है इस से अपने काम तो व्यवस्थित रहते ही हैं साथ ही दूसरों को भी सुविधा रहती है। कोई समय की पाबन्दी करे या न करे पर साधु को तो करना ही चाहिये। समय की पाबन्दी न करने में गौरव समझना या स्वतन्त्रता समझना भूल या मूर्खता है।

(८) अविस्मरण- अपने कर्तव्य का स्मरण रखना भी बहुत जरूरी है। भुलक्कड़ आदमी ईमानदार भी हो तो भी अविश्वसनीय हो जाता है इस से दूसरों को बड़ी परेशानी होती है। वे तुम्हारी आशा में हैं कि तुम अमुक काम करोगे पर तुम भूल ही गये, तो इस से सारी योजना पर पानी फिर जाता है। भूल जाना ज्ञान की कमी का परिणाम नहीं है किन्तु छिपी हुई उपेक्षा या लापर्वाही का परिणाम है। भूल जाना वास्तव में लज्जा की बात है।

यों हरएक आदमी हरएक बात या चीज को सदा याद नहीं रख सकता इस प्रकार भूल जाने से यहां मतलब नहीं है, वह स्वाभाविक है। पर जिस काम की जिम्मेदारी तुम्हारे ऊपर है जिस के लिये तुम वचन-बद्ध हो ऐसी बातें भूलना न चाहिये। लापर्वाही कम कर देने से इस प्रकार भूलने की आदत मिट जाती है।

साधु के लिये अपने दैनिक-कर्तव्य, तथा गुरुजनों की आज्ञा कदापि न भूलना चाहिये।

(९) आत्मनिवेदन- साधु-संस्था सरीखी पवित्र संस्था में रहने-वाले व्यक्ति को आत्म-निवेदन बहुत जरूरी है। गुरु आचार्य जिसे वह अपना संचालक समझे, उस के सामने अपनी मनोव्यथा या मनोविकार प्रगट कर देना आत्म-निवेदन है। इस से उसे शान्ति भी मिलती है उस का इलाज भी होता है, विश्वास और प्रेम भी बढ़ता है।

हरएक आदमी को इस प्रकार आत्म निवेदन के लिये किसी योग्य आधार का चुनाव कर लेना चाहिये। और उस के लिये कोई समय दिन या तिथि का नियम भी बना लेना चाहिये।

(१०) जागरूकता– कर्तव्य में सदा सजग रहना जागरूकता है। दुनिया एक युद्ध-स्थल है इस में सदा सजग रहना पड़ता है थोड़ी-सी भी असावधानी सर्वनाश कर सकती है। साधु के ऊपर जो सेवा का भार है उसे उठाने के लिये सदा जागरूक रहना चाहिये। यह गुण हरएक मनुष्य के लिये ज़रूरी है पर साधु में तो यह होना ही चाहिये। जागरूक व्यक्ति ही अनेक कामों के बोझ को सम्हाल सकता है। साधु कोई मशीन नहीं है कि दिन भर एक सरीखा एक ही काम करता रहे और इधर-उधर न देखे, उसे अपने सारे कार्यों का बोझ सम्हालना पड़ता है और सब में सावधान रहना पड़ता है।

हां! यह हो सकता है कि कभी किसी एक ही काम पर वह नियुक्त कर दिया जाय ऐसी हालत में वह सारी शक्ति उसी काम में लगा देगा। फिर भी वह चौकन्ना रहेगा जिस से दूसरे कामों को भूल न जाय और अपने काम में शिथिलता न आ जाये।

जो जितनी बड़ी जिम्मेदारी लिये हुए है उसे उतना अधिक ही जागरूक रहना ज़रूरी है।

यद्यपि मनुष्य न तो सर्वज्ञ है और न सर्वगत इसलिये उस की जागरूकता सीमित ही रहेगी फिर भी साधु में जन-साधारण की अपेक्षा विशेष जागरूकता होना चाहिये।

(११) सहयोग– साधु-संस्था के सब सदस्यों को मिलकर काम करना चाहिये। वे यह समझें कि वे एक ही सेना के सैनिक हैं। इसलिये एक दूसरे की रक्षा के लिये एक दूसरे के काम में हाथ बटाने के लिये सदा तैयार रहें। "अपनी अपनी ढपली और अपना अपना राग" वाली कहावत चरितार्थ न करें।

यह हो सकता है कि उन में काम का बटवारा कर दिया जाय पर अपने अपने काम के हिस्से को लिये बैठना ठीक नहीं है. वह तो करना ही चाहिये पर यथाशक्य एक दूसरे के काम में हाथ बटाना चाहिये। उन की कौटुम्बिकता काफ़ी गहरी और स्नेह-पूर्ण रहना चाहिये।

(१२) क्षमापणा– मनुष्य कितना भी महान् हो उस में कुछ कुछ कमजोरियाँ रह ही जातीं हैं या कुछ न कुछ भूलें हो ही जाती हैं पर यह बात नहीं है कि भूल हरएक से होती है इसलिये उस का कुछ बुरा असर न होगा। बुराई तो बुराई है वह अपना फल देगी ही, पर उस की एक बड़ी औषध है क्षमापणा। भूल हो जाने पर क्षमा मांग लेने से भूल का असर प्रायः नष्ट हो जाता है और नम्रता के कारण प्रेम बढ़ जाता है। इसलिये भूल होने पर क्षमा मांगने की आदत हो जाना चाहिये,

हां! वह आदत तकियाकलाम न बन जाय। क्षमायाचना ठीक मात्रा में ठीक मौके पर कुछ गम्भीरता के साथ करना चाहिये। 'क्षमा कीजिये क्षमा कीजिये' बोलने की आदत-सी हो जाय, यह सब बोलते समय चेहरे आदि से खेद के अनुभव का कुछ परिचय ही न मिले तो इन शब्दों का मूल्य नष्ट हो जाता है।

(१३) स्वच्छता– हरएक साधु को स्वच्छता की तरफ़ काफ़ी खयाल रखना चाहिये। बहुत-से लोग साधु-जीवन में गंदगी को भूषण समझते हैं तपस्या कहते हैं पर यह भूल है। अति-शृंगार आदि से साधु को विरक्त रहना चाहिये पर स्वच्छता से विरक्त रहने की कोई ज़रूरत नहीं है। बल्कि इस बारे में वह दूसरों के लिये कुछ आदर्श-रूप होना चाहिये। वह शरीर और वस्त्र

आदि स्वच्छ रक्खे, बैठने-उठने की जगह स्वच्छ रक्खे, आने-जाने की जगह को स्वच्छ रखने की कोशिश करे, गांव में स्वच्छता रहे इस की कोशिश करे, उपदेश से समझाने से तथा अपने हाथ की सेवा करके वह स्वच्छता का पाठ पढ़ावे।

अनावश्यक कष्ट सहना न तो तप है न धर्म। संसार को सुखी बनाने के लिये साधु-संस्था है, कष्ट बढ़ाने के लिये नहीं। जो कष्ट किसी महान् सुख के लिये अनिवार्य हैं उस के सहने का कुछ अर्थ है पर गंदगी ऐसा कष्ट नहीं है, जिस से अपना या दूसरों का सुख बढ़े। हां अगर किसी विशेष अवसर पर गंदा रहने की जरूरत पड़ जाय तो वह क्षन्तव्य है। पर उस भी यथाशक्य स्वच्छ रहने की कोशिश करना चाहिये।

(१४) **स्वाध्याय**– साधु को स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिये। प्रार्थना भी एक तरह का स्वाध्याय है वाचन मनन चिन्तन भी एक तरह का स्वाध्याय है। किसी न किसी तरह का स्वाध्याय उसे करना चाहिये। उस का साधारण रूप यह होना चाहिये कि वह प्रतिदिन प्रार्थना करे और कुछ ज्ञान-वर्धक साहित्य पढ़े या सुने।

(१५) **सद्वेष**–साधु को वेष के रखने में तीन बातों का खयाल रखना चाहिये। पहिली तो यह कि वेष में सादगी हो। जिसे देखते ही लोग कल्पना कर सकें कि यह त्यागी मनुष्य है। दूसरी यह कि कम खर्च हो। थोड़े कपड़े में अधिक काम निकालने की तरफ भी उसका ध्यान रहना चाहिये। साधारणतः चादर, बंडी, और धोती यह साधु की पूरी पोशाक है। पर अधिक ठंड के दिनों में या शीतप्रधान देशों में स्वास्थ्य रक्षण की दृष्टि से कुछ और वस्त्र आदि लेना पड़े तो लेना चाहिये। तीसरी बात है साधु-संस्था की सूचकता, अर्थात् वेष से पता लगे कि यह अमुक साधु-संस्था का सदस्य है। पर इस के लिये वेष में अधिक चित्र-विचित्रता न लाना चाहिये। एक-सरीखे सादे वेष के साथ अगर कुछ चिन्ह वगैरह धारण करले तो भी उस से खास साधु-संस्था की सदस्यता का पता लग सकता है। जैसे कपड़े पर कोई खास तरह का निशान है, हाथ की लकड़ी पर कोई खास तरह की ध्वजा है आदि। इन तीन बातों का खयाल रखते हुए साधु को सद्वेष रखना चाहिये। पर खास वेष के बिना साधुता नहीं रह सकती ऐसा मूर्खता-पूर्ण भ्रम कभी न करना चाहिये।

इस प्रकार बारह और पन्द्रह, कुल सत्ताइस गुण साधु के लिये बताये गये, इस का यह मतलब नहीं है कि इतने ही गुणों का खयाल रक्खा जाय। जन-सेवा और आत्म-विकास की दृष्टि से उसे अधिक से अधिक गुणों का संचय करना चाहिये और देशकाल की परिस्थिति के अनुसार साधु-गुणों की संख्या सत्ताईस से अधिक भी की जा सकती है।

४ **प्रवेश**– साधु-संस्था में कैसे लोग प्रवेश करें यह बहुत महत्व की बात है। आलसी भुखमरे मूर्ख असंयमी ऋणग्रस्त विलासी बेजिम्मेदार अल्प-वयस्क आदि लोगों को साधु-संस्था में लेने से साधु-संस्था नष्ट हो जाती है और अगर किसी कारण नष्ट न भी हो तो बेकार और समाज के लिये बोझ बन जाती है इतना ही नहीं, किन्तु अनर्थकर हो जाती है। इसलिये साधु-संस्था में प्रवेश करते समय निम्नलिखित बातों का विचार कर लेना चाहिये।

(क) जो व्यक्ति कौटुम्बिक जिम्मेदारियों से

बँधा है उसे दीक्षा न देना चाहिये। जिस के ऊपर पत्नी के और बाल-बच्चों के पालन-पोषण का भार है वह दीक्षा न ले। उन के पालन-पोषण की उचित-व्यवस्था हो और उस व्यवस्था से पत्नी सन्तुष्ट हो तभी वह साधु दीक्षा ले सकता है।

(ख) जिस ने अपनी पत्नी के साथ दाम्पत्य के कमसे कम बीस वर्ष बिता लिये हों वही पत्नी से साधु-दीक्षा के लिये अनुमति मांग सकता है। हां! पत्नी की उम्र ४५ वर्ष की हो चुकी हो तो यह बीस वर्ष की भी कैद नहीं है पर अनुमति लेना आवश्यक है। पत्नी की अनुमति के बिना पति दीक्षा नहीं ले सकता। यही नियम पत्नी के लिये भी लागू है।

(मतलब यह कि यह देख लेना चाहिये कि किसी के दीक्षा लेने से कुटुम्ब की असहाय अवस्था तो नहीं हो जाती।)

प्रश्न— अगर पति-पत्नी दोनों मिलकर दीक्षा लें तो क्या हानि है? पहिले वानप्रस्थ लोग दाम्पत्य के साथ ही वनवास करते थे और यथाशक्य जन-सेवा करते थे।

उत्तर— दाम्पत्य के साथ जन-सेवा की जा सकती है और साधुता का निर्वाह भी हो सकता है पर दम्पति साधु-संस्था में प्रवेश करें तो इस से साधु-संस्था का कौटुम्बिक जंजाल खूब बढ़ जायगा। फिर भी अगर किसी विशेष दम्पति के साधु-संस्था में आने से जंजाल न बढ़ता हो समाज-सेवा के कार्य में मदद मिलती हो तो ऐसा भी किया जा सकता है, पर उस में निम्नलिखित शर्तों का पालन होना चाहिये।

१— पत्नी की उम्र चालीस और पति की उम्र पैतालीस से कम न हो।

२— निःसन्तान हों अथवा सन्तान समर्थ हो, और वह अपना निर्वाह कर सकती हो अथवा उस के पालन-पोषण की जिम्मेदारी ऐसे व्यक्ति ने उठाली हो जिस से भविष्य में पालन-पोषण की चिन्ता न रहे। साथ ही भविष्य में सन्तान पैदा होने की आशा न हो।

३— आवश्यकता होने पर पति और पत्नी अलग रह सकते हों।

४— साधु-संस्था की कौटुम्बिकता के आगे दाम्पत्य की कौटुम्बिकता गौण हो।

५— दम्पति में सेवा की कोई असाधारण योग्यता हो और वे साधु-संस्था की विशेष जिम्मेदारी उठा सकते हों।

६— दाम्पत्य के कारण साधु-संस्था के गुणों और नियमों में बाधा आने की सम्भावना न हो।

(ग) कुष्ट आदि स्थायी संक्रामकरोग या ऐसे रोग जिस से साधु-संस्था के कर्तव्य पूरा करने में बाधा पहुँचती हो तो साधु-दीक्षा न लेना चाहिये।

(घ) ऋणग्रस्त व्यक्ति जब तक ऋण न चुका दे अथवा ऋण माफ़ न करा ले तब तक दीक्षा नहीं ले सकता। इसी प्रकार दिवालिया व्यक्ति भी दीक्षा का अधिकारी नहीं है।

(ङ) अन्याय अत्याचार आदि करके अगर कोई व्यक्ति राज-दंड से बचने के लिये दीक्षा लेना चाहे तो वह दीक्षा का अधिकारी नहीं है।

(च) पहिले जो मूल-गुण और उत्तर-गुण बनाये गये हैं उन गुणों की पात्रता देखकर ही किसी को दीक्षा लेना चाहिये और देना चाहिये।

(छ) जिस की उम्र तीस वर्ष से कम है वह स्थायी साधु दीक्षा का अधिकारी नहीं है। वह पहिले एक वर्ष के लिये दीक्षा ले फिर तीन तीन वर्ष

के लिये नये सिरे से दीक्षा लेता जाय। जब कम से कम तीस वर्ष की उम्र हो जाय तब स्थायी दीक्षा ले। और जब तक उम्र बीस वर्ष की न हो तब तक अस्थायी दीक्षा भी न ले।

(ज) कम से कम तीस वर्षकी उम्र का व्यक्ति जब पहिली दीक्षा ले तब साधारणतः एक वर्ष के लिये कच्ची (अस्थायी) दीक्षा ले फिर बाद में पक्की (स्थायी) दीक्षा ले। सुपरिचित और विश्वसनीय व्यक्ति के लिये शुरु से ही पक्की दीक्षा दी जा सकती है।

(झ) दीक्षा यथायोग्य जनता की उपस्थिति में होना चाहिये। दीक्षा का कार्यक्रम वैसा ही है जैसा कुटुम्ब अध्याय में श्रेणी-दीक्षा का बताया गया है।

(ञ) जिस की उम्र दीक्षा के योग्य नहीं है वह उम्मेदवार के रूप में साधुओं के साथ रह सकता है। और उपसाधकों में उस की गिनती की जा सकती है। पर सोलह वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति को उम्मेदवार के रूप में भी न रखना चाहिये।

(ट) दीक्षा देने और लेने का अधिकार नर-नारी को एक सरीखा है। यद्यपि सुविधा की दृष्टि से साधु-संघ और साध्वी संघ की व्यवस्था अलग अलग होगी फिर भी आवश्यकतानुसार कोई पुरुष किसी साध्वी के पास दीक्षा ले सकता है और कोई स्त्री किसी योग्य साधु के पास दीक्षा ले सकती है। समस्त साधु-साध्वी संघ के प्रमुख पद पर कोई साध्वी भी हो सकती है और कोई साधु भी। फिर भी साधारण रिवाज यह होगा कि नारी साध्वी के पास दीक्षा ले और नर साधु के पास। जहां दीक्षा देने वाला कोई न हो वहां समाज के सामने दीक्षा ली जा सकती है।

प्रवेश के समय पात्र और अपात्र का विचार अच्छी तरह करना चाहिये। सुपात्र साधु थोड़े और ढीले नियमों से भी मार्ग पर चलते रहते हैं और अपात्र व्यक्ति कठोर से कठोर नियमों के रहने पर भी कुमार्ग में जायगा और दूसरों को ले जायगा। इसलिये साधु-संस्था में सुयोग्य व्यक्तियों को ही लेना चाहिये।

५ **निर्वाह**— हरएक मनुष्य के जीवन में धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का समन्वय होना ज़रूरी है, इसलिये साधु के जीवन में अर्थ का समन्वय होना चाहिये। यह ठीक है कि उस के जीवन में अर्थ की प्रधानता न होगी फिर भी निर्वाह के लिये अर्थ की कुछ न कुछ व्यवस्था ज़रूरी है। यद्यपि साधु लेन-देन का हिसाब नहीं रखता फिर भी इतना हिसाब तो उसे रखना ही चाहिये कि उस का जीवन बोझ तो नहीं बन गया है वह दान की अपेक्षा आदान अधिक तो नहीं कर रहा है। इन सब बातों का ख़याल करते हुए उसे निर्वाह का तरीका अपनाना होगा।

निर्वाह के तरीके में इन दो बातों का ख़याल रखना भी ज़रूरी है, एक तो यह कि निर्वाह के लिये उसे आत्म-गौरव न खोना पड़े, दूसरा यह कि अन्याय से निर्वाह न करना पड़े। जहां लेने की अपेक्षा देने की चेष्टा अधिक है और कम से कम में गुजर करने की भावना है, इन्द्रियों की गुलामी नहीं है वहां अन्याय से उपार्जन करने का तो अवसर ही कहां है। अगर निर्वाह के लिये उसे अन्याय करना पड़े तो उस की साधुता तो व्यर्थ ही है, साथ ही वह साधारण सभ्यजन से भी गया बीता है।

आत्म-गौरव की दृष्टि से उसे निर्वाह की बात में काफ़ी सतर्क रहना है। पहिली बात यह है कि वह किसी की नौकरी न करेगा। नौकरी कितनी भी बड़ी हो उस में न आत्म-गौरव रहता है न स्वतन्त्रता। साथ ही उस का मूल्य भी पैसों से तुल जाता है इसलिये जो पैसों की तौल में उस से भारी उतरते हैं वे अयोग्य होते हुए भी साधु से योग्य समझे जावेंगे। इसलिये साधु को नौकरी तो करना ही न चाहिये।

और किसी तरह का व्यापार-धंदा करना भी ठीक नहीं। क्योंकि उस से तृष्णा और चिन्ता बढ़ती है, और उस का जीवन भी साधारण जनों के समान हो जाता है इस से साधुता के गौरव को धक्का लगता है।

इस का यह मतलब नहीं कि इन कामों के करने से किसी के जीवन में साधुता रह नहीं सकती, साधुता तो जीवन की पवित्रता और निस्वार्थता पर निर्भर है सो वह नौकरी, मजदूरी, व्यापार-धंदा आदि करते हुए भी रह सकती है पर साधु-संस्था की रचना में तो भीतरी रूप के साथ बाहरी रूप का भी ख़याल रखना पड़ता है। अन्यथा साधु-संस्था में इतना कचरा आ जायगा और वह इतनी गौरवहीन हो जायगी कि वह संस्था ही न रह जायगी।

इन सब बातों का ख़याल रखते हुए साधु-संस्था के सदस्य को पांच तरह से अपना निर्वाह करना चाहिये। (१) भिक्षा (२) निमन्त्रण, (३) आगतादान (४) आश्रमार्जन (५) अर्जितभोग।

(१) भिक्षा— साधारण उपाय भिक्षा है। पर भिक्षा इस तरीके से न माँगना चाहिये जिस से दीनता प्रगट हो, या भिक्षा देने-वाले को परेशानी हो, या वह उपेक्षा से दे, दूसरे भिक्षुकों के साथ संघर्ष हो। भिक्षा लेने की निम्नलिखित सूचनाओं का पालन करना चाहिये।

क— भिक्षा लेते समय दीनता का कोई वचन न बोले, न दीनता सूचक आशीर्वाद दे। "भगवान तुम्हारा भला करे, साधु को दोगे तो दस गुना पाओगे, माई जरा साधु का ख़याल कर" आदि बोलना अनुचित है।

जो लोग साधु को दान देते हैं वे साधु का उपकार नहीं करते, किन्तु इस तरीके से वे साधु के द्वारा होने-वाली समाज-सेवा के कार्य में सहायक बनते हैं, इस प्रकार साधु को भिक्षा देना समाज-सेवा का कार्य है साधु के ऊपर दया या उपकार नहीं। यह बात तभी पैदा हो सकती है जब साधु समाज़-सेवक हो। मुफ्तख़ोर व्यक्ति साधु-वेष लेने पर भी दयनीय और दीन हो जायगा। जहां दयनीयता या दीनता है वहां साधुता कैसे रह सकती है।

ख— कोई झुंझलाकर भिक्षा दे तो न लेना चाहिये।

ग— उपेक्षा या तिरस्कार के साथ भिक्षा दे तो न लेना चाहिये।

घ— भिक्षा लेने के लिये किसी के द्वार पर बड़ी देर तक खड़ा न रहना चाहिये। सिर्फ उतनी देर रुका जा सकता है जितनी देर में गृही का ध्यान जा सके।

ङ— जहां भिक्षुकों की भीड़ हो वहां भिक्षा न लेना चाहिये।

च— जब तक कोई आदर स्नेह आदि के साथ न बुलाये तब तक भिक्षा न लेना चाहिये। 'इस तरह प्रणाम करो, इस तरह हाथ जोड़ो' आदि नियम बनाना अनुचित है सिर्फ दाता का भाव देखना चाहिये। भिक्षा देने में उसे

अप्रसन्नता हो तो भिक्षा न लेना चाहिये।

छ– कोई चीज़ अनावश्यक हो तो न ले, पर उस चीज़ का तिरस्कार कर दाता का दिल न दुखाना चाहिये। स्नेह भरे स्वर में अस्वीकार करना चाहिये। अस्वीकारता का कारण बताना अगर ज़रूरी समझे तो वह भी बताया जा सकता है।

ज– साधु भोजन की सामग्री भिक्षा में लेकर अपने स्थान पर भोजन तैयार कर सकता है पर सेवा कार्य के लिये अधिक समय मिल सके इसलिये पका हुआ भोजन लेना अधिक सुविधाजनक है।

झ– अनेक घर से थोड़ा-थोड़ा भोजन ले, पर अगर कोई पूरा भोजन कराने को तैयार हो जाय तो पूरा भोजन उसी के यहां कर ले। पर अगर अपने अन्य सहयोगियों के लिये भिक्षा लेना हो तो किसी के यहां भोजन न करे।

ञ– ज़रूरत से ज्यादः भिक्षा न ले। भिक्षुक को संग्रहशील न होना चाहिये अगर कभी संग्रह करने की ज़रूरत हो तो यह बात प्रगट कर दे।

ट– भिक्षा में मिली हुई वस्तु साधु-संस्था के संचालक को बता दे फिर उस की अनुमति से स्वीकार करे।

ठ– भिक्षा का निमन्त्रण भी स्वीकार किया जा सकता है।

ड– जब कोई पूछे कि आप को किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता है तब वस्त्र वगैरह जो आवश्यक हो वह बता दे फिर भी इस सूचना में उपेक्षा का पुट रहना चाहिये।

इस प्रकार के और भी नियम बनाये जा सकते हैं जिस से साधुता सुरक्षित रहे और गौरव नष्ट न हो।

(२) निमन्त्रण– भिक्षा के सिवाय निमन्त्रण भी निर्वाह का उपाय है निःसन्देह निमन्त्रणों से प्रतिदिन गुजर नहीं हो सकती क्योंकि ऐसे भी दिन आ सकते हैं जब निमन्त्रण न मिले खासकर प्रवास में तो इस की बहुत सम्भावना है, इसलिये निमन्त्रण तो भिक्षा के साथ का एक साधन समझना चाहिये। भिक्षुक को निमन्त्रण स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

हां! इस बात का खयाल रखना चाहिये कि साधु निमन्त्रण वहीं स्वीकार करे जहां बहुत-भीड़ होने की सम्भावना न हो। खासकर जहां साधु या साधु-तुल्य व्यक्तियों का ही निमन्त्रण हो वहीं जाना ठीक है। गौण रूप में कोई दूसरा हो तो भी कोई हर्ज नहीं। लोक-हित की दृष्टि से कभी भीड़ में भी जाना पड़े तो जाना चाहिये फिर भी साधारणतः भीड़ के प्रसंगों से बचना चाहिये।

(३) आगतादान– साधु के निवास स्थान पर अगर कोई भोजन वस्त्र आदि या उस की सामग्री भेंट कर जाय तो उसे स्वीकार करना आगतादान है। साधु कुटीर (एक दो साधुओं के रहने की जगह) या साधु-आश्रम (साधु-संघ के रहने की जगह) में अगर कोई व्यक्ति आकर श्रद्धा भक्ति आदर से कुछ भेंट दे तो वह स्वीकार की जा सकती है। उस भेंट से साधु को या साधु-संघ को अपनी गुजर करना चाहिये। पर अगर कुछ बच रहे तो उसे व्यक्तिगत सम्पत्ति कदापि न बनाना चाहिये। उस पर साधु-संघ या सत्यसमाज का अधिकार रहेगा। पर उस प्रकार की भेंट लेने के लिये याचना न करना चाहिये न दीनता लाना चाहिये।

(४) आश्रमार्जन– यहां आश्रम शब्द का

अर्थ है साधु का स्थायी या मुख्य निवासस्थान। वह तीन तरह का हो सकता है। साधु-कुटीर साधु-आश्रम, सत्याश्रम। यहां अगर कोई जमीन हो तो वहां स्वयं परिश्रम करके या सहयोगियों के परिश्रम से जो उत्पन्न हो वह आश्रमार्जन है। साधु नौकरी या व्यापार-धंदा तो नहीं कर सकता पर कृषि आदि के द्वारा वह थोड़े-बहुत अंश में स्वावलम्बी बन सकता है। वह कृषि से अनाज और रुई उत्पन्न कर ले, चर्खा आदि से कपड़े बना ले इस प्रकार वह गुजर कर ले और बचे हुए समय में समाज-सेवा करे तो यह साधु-जीवन की अच्छी स्थिति कहलायगी। हां! आश्रम को वह अपनी जायदाद न समझे।

सत्याश्रम में तो और भी सुविधा हो सकती है। क्यों कि सत्याश्रम में साधु भी रह सकते हैं अंतःसाधु (साधु-संस्था के सदस्य न होने पर भी साधु के समान जीवन बितानेवाले) भी रह सकते हैं तथा और भी अन्तरंग कार्यकर्ता रह सकते हैं, अनेक तरह की सम्पत्ति भी रह सकती है, साधु ऐसे सत्याश्रमों का अंग बनकर या उन से निकट सम्पर्क रखकर निर्वाह कर सकता है। सत्याश्रम पर उस के निर्वाह की जिम्मेदारी रहेगी। और वह सत्याश्रम या साधु-संस्था के निर्देश के अनुसार सेवा कार्य कर सकेगा।

(५) अर्जित भोग-अगर पहिले सम्पत्ति कमाली है तो साधु बनने पर वह अपने निर्वाह के लिये रक्खी जा सकती है। पर शर्त यह है कि सम्पत्ति का परिमाण और अपने मरने के बाद सम्पत्ति की व्यवस्था का, साधु संघ के, या सत्याश्रम में रहता हो तो उस के संचालक के, पास सन्तोष-प्रद खुलासा हो जाना चाहिये। साधारणतः यह नियम रहेगा कि उस के बाद उस की सम्पत्ति साधु-संघ या सत्याश्रम के उपयोग में आयगी। साधु-संघ या सत्याश्रम की अनुमति से उसने कोई दूसरी व्यवस्था की होगी तो तदनुसार उसका उपयोग किया जायगा।

निर्वाह की ये पांच विधियाँ बताई गईं हैं इन में से एक या अनेक विधियों का अवलम्बन कर साधु को अपना निर्वाह करना चाहिये।

(६) कुटुम्ब- साधु विश्वकुटुम्बी होता है क्योंकि वह विश्व की सेवा के लिये निकलता है फिर भी विश्व के सब प्राणियों के साथ जो उस का प्रेम और सहयोग है उतने से ही उस का काम नहीं चल सकता। कुछ घनिष्ट प्रेम और घनिष्ट सहयोग की जरूरत होती है। इसलिये उसे एक सीमित कुटुम्ब की भी जरूरत होती है।

पहिले नव तरह के कुटुम्ब बताये गये हैं। साधारण गृहस्थ की कौटुम्बिकता इस क्रम से होती है। पहिले सहज-कुटुम्ब फिर इष्टकुटुम्ब फिर साधक-कुटुम्ब। साधारण गृहस्थ का कौटुम्बिक जीवन मुख्यता से सहज-कुटुम्ब के आधार से बीतता है जब कि साधु का क्रम उस से उल्टा होता है।

साधु का मुख्य कुटुम्ब साधक-कुटुम्ब है अर्थात् साधु-संस्था के सदस्य ही उस के वास्तविक कुटुम्बी हैं। हो सकता है कि कोई सहज-कुटुम्बी भी उस का साधक-कुटुम्बी हो पर उस के साथ उस की सहज-कौटुम्बिकता गौण रहेगी। साधक-कुटुम्बी की हैसियत से ही उस का उस के साथ गहरा सम्बन्ध रहेगा।

साधु-संस्था के सदस्य को सहज-कुटुम्ब की जिम्मेदारियों का बोझ सिर से उतार देना चाहिये। अन्यथा उस की शक्ति इसी में इतनी क्षीण हो जायगी कि वह विश्व की सेवा न कर सकेगा।

इसलिये उसे माता-पिता पुत्र-पुत्री बहिन-भाई आदि के पालन-पोषण की, उन को आर्थिक सहायता देने की, विवाह शादी आदि प्रसंगों पर उपस्थित होने की जिम्मेदारियों से मुक्त रहना चाहिये। साधु अवस्था में रहने पर अगर कहीं से किसी तरह कोई अर्थ-प्रगति हो भी जाय तो वह सहज-कुटुम्बियों के लिये न देना चाहिये क्योंकि उस के ऊपर साधु-संस्था का या समाज का अधिकार है।

साधु के कुटुम्ब में गुरु, शिष्य, गुरुभाई आदि ही होते हैं। माता-पिता भाई-भौजाई पुत्र-पुत्री आदि नहीं, अथवा साधक-कुटुम्बियों में ही वह सहज-कुटुम्ब के रिश्ते स्थापित कर लेता है। पुराने सम्बन्धियों के सम्बन्ध गौण हो जाते हैं।

प्रश्न– साधु-संस्था में जो दम्पति प्रवेश करेंगे उन का परस्पर सम्बन्ध कैसा रहेगा?

उत्तर– दम्पति का प्रवेश दो तरह से हो सकता है एक तो वही जो ऊपर वानप्रस्थ दम्पति के रूप में बताया गया है। वैसा प्रवेश तो किसी विशेष दम्पति को ही मिल सकता है। उन का परस्पर सम्बन्ध पति-पत्नी के ढंग का रहने पर भी उन में साधक-कौटुम्बीपन की मुख्यता रहेगी। दूसरे वे जो दाम्पत्य का सम्बन्ध तोड़कर साधु-संस्था में आते हैं। उन में से पत्नी साध्वी-संघ में स्वतन्त्र रूप में जायगी और पति साधु-संघ में स्वतन्त्र रूप में जायगा। उन का परस्पर सम्बन्ध ऐसा ही होगा जैसा अन्य साधु साध्वियों में रह सकता है।

साधु या साध्वी अपने साधु जीवन को सार्थक कर सकें वे समाज सेवा के कार्य में अच्छी तरह जीवन लगा सकें इसलिये यह जरूरी है कि उन के पुराने संकुचित बन्धन नष्ट-प्राय हो जायँ वे समाज सेवा के कार्य में आड़े न आवें इसी दृष्टि से साधु साध्वी को अपनी कौटुम्बिकता का निर्माण करना है। जो कौटुम्बिकता समाज सेवा के कार्य में साधु को अपना कर्तव्य पूरा करने में बाधा नहीं डाल सकती उस कौटुम्बिकता के रहने में कोई हर्ज नहीं है, पर जो हो वह खुले रूप में हो।

७ उपग्रह– साधु की निर्भारता का वर्णन मूल गुणों के प्रकरण में कर दिया गया है तथा आचार कांड में निरतिग्रह का वर्णन है ही, उस के अनुसार साधु निर्भार या निरतिग्रही होता है, पर इस प्रकार की निरतिग्रहता या निर्भारता के पालन के लिये उपग्रह के कुछ नियम बना लिये जाते हैं। जैसे साधु पैसे न रक्खे, धातु न रक्खे आदि। ये सब नियम देशकाल के अनुसार प्रायः ठीक ही होते हैं। जिस साधु संस्था का जो कर्तव्य क्षेत्र होता है उस के अनुसार उसे उपग्रह के नियम बना लेना पड़ते हैं।

सत्य-समाज की साधु-संस्था का कार्य क्षेत्र अति विशाल है, धर्म समाज कुटुम्ब राजनीति स्वास्थ्य स्वच्छता विज्ञान तथा हर तरह की सेवा सहायता इस के कार्य क्षेत्र के भीतर है इसलिये उपग्रह के छोटे छोटे नियम नहीं बताये जा सकते। इतना ही कहा जा सकता है कि हर एक साधु को अपने अपने सेवा क्षेत्र के अनुसार उपग्रह के नियम संचालक या साधु संघ की अनुमति के अनुसार बना लेना पड़ेंगे।

हां! उसे इन बातों का खयाल रखना चाहिये कि उस के पास उपग्रह कम से कम हो जिस से वह सरलता से इधर का उधर जा सके, सामान के लिये दूसरों का मुँह न देखना पड़े। बहुमूल्य सामग्री न हो जिस से उस की रक्षा की चिन्ता सताती रहे, अनावश्यक या नाम मात्र की आवश्यकता की चीजें न हों, अर्थसंग्रह की दृष्टि से उपग्रह की चीजों का संग्रह न हो।

अमुक वस्तु अवश्य रखना या अमुक वस्तु कदापि न रखना इस प्रकार के नियमों के बनाने पर भी प्रतिग्रह की वास्तविक मर्यादा का पालन कठिन ही रहता है अथवा प्रतिग्रह की मर्यादा का पालन तो हो जाता है पर सेवा का कार्य रुक जाता है इसलिये ऊपर जो सामान्य सूचनाएँ दी गई हैं उनको लक्ष्य में रखकर प्रतिग्रह की अपनी अपनी मर्यादा बनालेना चाहिये । या समय समय पर संचालक, या साधु संघ या समाज की अनुमति से करते रहना चाहिये ।

८—**चर्या**—जाना आना खाना पीना आदि कार्योंका ढंग चर्या है । इस विषय में भी विशेष बन्धन नहीं बनाये जासकते ये सब काम आवश्यकता के अनुसार करना चाहिये । साधु जीवन की पवित्रता को सुरक्षित रखते हुए और अपने सेवा कार्य में बाधा न पड़े इस बात का खयाल रखते हुए चर्या बनाना चाहिये । यहाँ साधारण सूचनाएँ दी जाती हैं ।

१— साधारणतः पैदल घूमना चाहिये । दीनता बतलाये विना और संघर्षन हो तो सवारीका भी उपयोग किया जा सकता है । पर सवारीका उपयोग तभी करना चाहिये जब अस्वास्थ्य, थकावट या पहुँचने की जल्दी हो अथवा यात्रा ऐसी हो जहाँ पैदल चलना अशक्य या अत्यन्त कठिन हो ।

२— यथाशक्य ऐसी जगह ठहरना चाहिये जहाँ ठहरने से दूसरों को अड़चन न हो और छोटी छोटी बातों का संघर्ष न हो ।

३— साधारणतः दिन में दोबार ही भोजन लेना चाहिये और रात्रि में पानी या औषध के सिवाय और कुछ न लेना चाहिये । सप्ताह में एक बार उपवास या एकाशन भी करना चाहिये ।

४— स्वास्थ्य और सद्योग की दृष्टि से आवश्यक न हो तो भोजन के बारे में ऐसे नियम न लेना चाहिये जिससे भोजन कराने वालों की परेशानी बढ़े । अमुक खाना या अमुक न खाना इस प्रकार के नियमों की अपेक्षा ये नियम अच्छे हैं कि जो सरलता से मिल सके उसमें से कम से कम तरह की चीजें खाना ।

५— कोई अपराध हो जाय तो उसे छिपाना न चाहिये खासकर आचार्य या योग्य अधिकारी के सामने तो कदापि न छिपाना चाहिये । उसका स्वेच्छा से प्रायश्चित्त करना चाहिये । अनिच्छा से प्रायश्चित्त लिया जायगा तो वह दंड हो जायगा जिससे साधुता को धक्का लगेगा । और अगर अपराध छिपा ही लिया जायगा तब एक तरह की चोरी हो जायगी और इससे इतना धक्का लगेगा कि मूलगुण तक का भंग होगा । इसलिये दिन में किसी नियत समय पर आलोचना-पूर्वक प्रायश्चित्त लेना चाहिये ।

६— परिस्थिति के अनुसार दिनचर्या बना लेना चाहिये जिससे व्यवस्थित रूप में अधिक से अधिक काम हो सके । और काम में अगर कुछ कमी रह जाय तो जल्दी ही उसका पता लगता रहे ।

७— रात्रि में किसी कारण से जागरण हुआ हो या और किसी तरह का अस्वास्थ्य हो तब तो बात दूसरी है अन्यथा दिन में सोने की आदत न होना चाहिये । रात में ही सात से आठ घंटे तक सोलेना चाहिये । हाँ ! किसी देश में किसी ऋतु में रात्रि सात आठ घंटे से अधिक न हो तो ऐसे देशों की बात दूसरी है । देश के जलवायु के अनुसार इस विषय के नियम बना लेना चाहिये । खयाल इस बात का रहे कि जीवन प्रमादी न हो ।

८— साधु को अपनी उम्र और स्वास्थ्य के अनुसार सदा सन्नद्ध रहना चाहिये। आकस्मिक रूप में कहीं चलने की सूचना मिले तो उसे जल्दी चलने को तैयार रहना चाहिये। चलने की तैयारी में ही लम्बा समय लगा देना प्रमाद और विलास का सूचक है। कोई कर्तव्य अधूरा हो और उसके कारण देर लगे तो बात दूसरी है।

९— साधु को अपने काम में स्वावलम्बी रहना चाहिये। अपने बैठने उठने की जगह साफ रखना, अपने कपड़े धोलेना, बर्तन मललेना, अपना सामान ढोलेना आदि सब काम अपने हाथ से कर लेना चाहिये। अगर कभी सहायता लेने की जरूरत हो तो एक साधु दूसरे की सहायता करे ऐसे कामों के लिये नौकर चाकर रखना या गृहस्थों से सहायता लेना ठीक नहीं। कोई खास अवसर हो, कार्य की बहुलता हो बीमारी आदि हो तो इस नियम में थोड़े समय के लिये शिथिलता लाई जा सकती है। साधु-कुटीर या साधु-आश्रम में साधारणतः ऐसे कामों के लिये नौकर न रखना चाहिये। काम के लिये नौकरों के भरोसे रहने से पराधीनता, अव्यवस्था, चिन्ता, आलस्य, और अहंकार तो बढ़ता ही है, साथ ही समाज पर आर्थिक बोझ भी पड़ता है, और जब नौकर अपनी इच्छा नहीं समझते या समझ कर भी मन लगा कर काम नहीं करते इसलिये काम ठीक नहीं होता तब क्रोध बढ़ता है, इन सब बातों से साधु को स्वावलम्बी होना चाहिये। और ऐसे काम करने में उसे लज्जित न होना चाहिये।

१०— साधु को स्वयं-प्रेरित होना चाहिये। ऊपर जो स्वावलम्बन के काम बताये गये हैं तथा और भी काम हो सकते हैं उन सब में बार बार प्रेरणा करना पड़े, आखों के आगे काम पड़ा हो और न दिखे तो यह एक तरह की जड़ता है और प्रमाद भी है। हाँ! किसी नये काम के लिये एक बार सूचना करना पड़े, तो बात दूसरी है पर हर बार सूचना करना पड़े, एक काम को बार बार कहना पड़े, नियमित काम को याद दिलाना पड़े, न करने पर टोकना पड़े तो इस से मनुष्यता की कमी मालूम होती है। और जहाँ मनुष्यता की कमी हो वहाँ साधुता की गुजर मुश्किल ही है!

चर्या के बारे में इन सूचनाओं से दिशा-निर्देश होगा। छोटी मोटी और भी बहुत सी सूचनाओं की जरूरत पड़ सकती है जोकि ध्येय के अनुसार सुव्यवस्था के लिये यथावसर दी जा सकती हैं।

९ वेष— साधु के उत्तर-गुणों में सद्वेष का भी उल्लेख हुआ है। यहां सिर्फ इतना ही बताना है कि उस उत्तर-गुण के अनुसार सत्यसमाज की साधु-संस्था का वेष कैसा हो? इस बारे में यहां कुछ सूचनाएँ दी जाती हैं।

क— वेष में सादगी और मितव्ययिता से काम लेना चाहिये।

ख— वेष, गणवेष (यूनिफार्म ड्रेस) की दृष्टि की मुख्यता से होगा साधुता का अंग मानकर नहीं।

ग— प्रत्येक देश के सत्यसमाज की साधु-संस्था को अपने देश की जलवायु के अनुसार साधु-संस्था का गणवेष नियत करना चाहिये।

घ— साधारणतः साधु का वेष धोती, बंडी, और चादर है। कपड़े का रंग सफेद पीला या भगवाँ रखना चाहिये। सादे ढंग के जूते भी

रक्खे जा सकते हैं। स्वास्थ्य-रक्षा के लिये कोई विशेष वस्त्रादि की ज़रूरत हो तो वह भी रक्खे जा सकते हैं।

ङ– साधु के हाथ में एक ध्वजा दंड हो जिस में सत्यसमाज की ध्वजा हो। पद के अनुसार एक तरह के बिल्ले भी दिये जा सकते हैं।

१० व्यवस्था– जब साधुओं की संस्था बनाई जाती है तब उस को विशाल व्यवस्था की भी ज़रूरत होती है। व्यवस्था के अधिकांश नियम देशकाल के अनुसार ही बनाये जा सकते हैं। यहां इस बारे में कुछ ख़ास ख़ास सूचनाएँ दी जाती हैं।

१– साधु-संघ कितना भी विशाल क्यों न हो जाय उसे परस्पर में घनिष्ट सहयोगी रहना चाहिये। यह हो सकता है कि विशालता के कारण जुदे-जुदे देश प्रान्त आदि के साधु-संघों के आचार्य या कुलगुरु अलग अलग हो जायँ पर उन में ऐसा ही सहयोग होना चाहिये जैसे एक विद्यालय के अध्यापक अलग अलग कक्षाओं को पढ़ाने पर भी आपस में रखते हैं।

२– जब साधु-संघ ज्यादा क्षेत्र में फैल जाय अथवा जब उस की संख्या बहुत बढ़ जाय तब एक साधु-संघ के अनेक साधु-संघ बनाये जा सकते हैं। पर यह काम सुव्यवस्था की दृष्टि से करना चाहिये किसी की पदलालसा को तृप्त करने के लिये नहीं।

३– सब साधु-संघ एक सूत्र में स्वभाव से बँधे रहें तो अच्छा, नहीं तो सब साधु-संघों का एक गुरुराज चुन लेना चाहिये अथवा एक गुरुराज न चुनना हो तो तीन या पांच व्यक्तियों की समिति बना लेना चाहिये। इस समिति में साधु और साध्वी दोनों होना चाहिये। और दोनों संघों की तरफ़ से चुनाव होना चाहिये। चुनाव के उपनियम परिस्थिति के अनुसार बना लेना चाहिये।

४– साध्वी-संघ साधु-संघ के समान ही माने जायँगे। वैयक्तिक योग्यता की बात दूसरी है पर नारीत्व के कारण साध्वी-संघ साधु-संघ से नीचे न माने जायँगे।

५– हरएक संघ में कम से कम दो तरह के और अधिक से अधिक सात तरह के सदस्य रहेंगे। दो तरह के आचार्य और साधक, सात तरह के आचार्य, (गुरुदेव या गुरुराज) सामानिक, गुरु, उपाध्याय, प्रसाधक, साधक, उपसाधक।

६– निवास की दृष्टि से साधु तीन तरह के होंगे (क) आश्रमी (ख) कुटीरी (ग) परिव्राजक ये भेद मुख्यता की दृष्टि से हैं। यों तो आश्रमी और कुटीरी भी भ्रमण करते हैं और परिव्राजक भी आश्रम या कुटीर में आकर रहते हैं। दूसरी बात यह है कि इन भेदों का सम्बन्ध व्यक्तिगत रुचि और योग्यता से है। आश्रमियों के कुटीरियों के और परिव्राजकों के अलग अलग संघ नहीं बनाये जा सकते।

(क) आश्रमी साधु-आश्रमों या सत्याश्रम में रहेंगे। सात में से किसी भी पद का साधु साधुआश्रम या सत्याश्रम में रह सकता है।

(ख) एक कुटीर के साधु संख्या में थोड़े होते हैं और वे किसी भी श्रेणी के हो सकते हैं, पर उन में एकाध उच्च श्रेणी का साधु अवश्य चाहिये। केवल साधक उपसाधकों से कुटीर की व्यवस्था नहीं हो सकती।

कुटीरी साधुओं की ज़रूरत बहुत है। पृथ्वी के हरएक कोने के मानवदलों के बीच एक एक

कुटीर अवश्य बनना चाहिये। इन साधु-कुटीरों के जरिये लोगों को ज्ञान सेवा चिकित्सा सत्संगति सहानुभूति सलाह आदि मिला करगी।

(ग) परिव्राजक साधु को हर एक श्रेणी के हो सकते हैं पर एक परिव्राजक दल में साधक से भी ऊंची श्रेणी का एकाध साधु अवश्य होना चाहिये।

७— किसी जगह साधुओं के दो दलों का अगर समागम हो जाय तो वे हर बात में इस प्रकार मिलकर रहें जैसे एक संघ के सब साधु मिलकर रहते हैं।

व्यवस्था के बारे में ये ख़ास ख़ास सूचनाएँ हैं बाकी व्यवस्था के नियम तो समय समय पर परिस्थिति के अनुसार बनाना पड़ते हैं सो बना लेना चाहिये।

यहां साधु-संस्था की साधारण रूपरेखा दी गई है और दस प्रकरणों में उस का वर्णन कर दिया गया है। परिस्थिति के अनुसार उसके विशेष चित्रण होते रहेंगे।

इस साधु-संस्था में अधिक से अधिक मनुष्य शामिल हों इसकी ज़रूरत है। वे जगत्कल्याण तो करें ही, साथ ही स्वकल्याण भी करें और साधु-जीवन में वे एक महर्द्धिक श्रीमन्त से या शासक से भी अधिक सुखी बनें।

साधु-जीवन में वैषयिक सुख भले ही कम हो पर मानसिक सुख इतना अधिक होना चाहिये कि उसके आगे बड़े बड़े पद और धन-वैभव के दृश्य तुच्छ जान पड़ें।

सच्चा साधु क्यों अधिक सुखी होता है इस के कुछ कारण यहाँ बता दिये जाते हैं।

१— निर्भार होने से उसकी झंझटें, आकुलताएँ कम हो जाती हैं।

२— बाहरी साधनों की कमी उस में हीनता नहीं लाने देती। वह साधुता का अंग होने से गौरव ही बढ़ाती है। जब कि बाहरी जगत में एक बड़े श्रीमान् को भी अपने से बड़े श्रीमान् का वैभव देख कर दीनता का कष्ट होता है।

अपने से अधिक गुणी साधु को देख कर भी साधु में दीनता नहीं आती, बल्कि गुणानुराग और भक्ति पैदा होने से उसे सुख ही मिलता है। जब कि धन-वैभव गुणानुराग या भक्ति का कारण नहीं है।

३— बाहरी जगत में बड़े से बड़े व्यक्ति को झिड़की या अपमान सहना पड़ते हैं और ऐसे लोगों से सहना पड़ते हैं जिन के बारे में उस के मन में भक्ति या प्रेम नहीं है सिर्फ विवशता है। साधु का अगर कोई अपमान कर जाय तो उस की मुसकराहट के कारण उस का गौरव नष्ट नहीं होता। बल्कि उस की यह सहिष्णुता उस का गौरव ही बढ़ाती है। संघ के भीतर अगर उसे गुरु आचार्य आदि की कुछ झिड़की आदि सहन करना पड़ती है तो भी न तो इससे उस का अपमान होता है, न उसके गौरव को धक्का लगता है, न उसे दुःख ही होता है; क्योंकि जिन के बारे में उस के हृदय में श्रद्धा है, जो उस के हितैषी और चिकित्सक हैं, जो उसके माता-पिता या बड़े भाई के समान हैं, उन के आगे उस के मन में इस प्रकार के मानापमान का सवाल ही नहीं उठता। यही कारण है कि वह बाहरी मनुष्यों के समान अपमान तिरस्कार आदि का कष्ट नहीं उठाता।

४— दुनियादारी का कोई ख़ास स्वार्थ न रहने से बड़े बड़े राजा महाराज, शासक तथा श्रीमानों की उसे पर्वाह नहीं होती न भय होता

है। वह उन के सामने एक गौरवशाली व्यक्ति की तरह मुसकराहट के साथ देख सकता है।

५– साधारण गृहस्थ अगर कुटुम्बहीन होता है तो कुटुम्बहीनता का उसे काफी कष्ट होता है, खासकर बीमारी आदि के अवसरों पर तो यह कष्ट काफ़ी बढ़ जाता है। अगर उस का कुटुम्ब बड़ा होता है तो दिन-रात झगड़े और झंझटें उसे इतना परेशान कर देती हैं कि वह कौटुम्बिक-जीवन से ऊब जाता है। साधु-संस्था का सदस्य न तो कुटुम्बहीन होता है, न कौटुम्बिक-जीवन के कष्ट उसे होते हैं। संकटों का बोझ सारे साधु-संघ पर अथवा सारे समाज पर होने से उसे खास रूप में चिन्तित नहीं होना पड़ता। बीमारी आदि में वह सारे संघ से यथाशक्य सेवा पाता है, उसे असहायता का कष्ट नहीं उठाना पड़ता।

६– साधु-संस्था में आने पर मनुष्य का पुनर्जन्म हो जाता है, इस प्रकार किसी भी तरह की अकुलीनता आदि का कलंक उसे नहीं छू पाता। इतना ही नहीं, किन्तु पहिले अगर किसी का जीवन किसी कारण से कलंकित रह चुका हो तो साधुता की शुद्धि के कारण उस कलंक के ऊपर कोई नजर नहीं डालता। इस प्रकार एक बड़ा भारी कष्ट उस के जीवन से दूर हो जाता है।

७–जीविका की कोई विशेष चिन्ता उसे नहीं रहती। और उस के कष्ट से उस में दीनता नहीं आती। क्योंकि साधु के ऊपर ऐसे कष्ट आवें तो इस से उस के गौरव को धक्का नहीं लगता बल्कि इस से उस की तपस्विता ही प्रगट होती है।

८–उस का अधिक से अधिक समय संयमी लोगों की संगति में रहने से उसे बहुत शान्ति, निराकुलता, निर्भयता रहती है।

सुख के ये कारण ऐसे हैं जो दुनियादारी की दृष्टि से भी समझ में आते हैं परन्तु इस के अतिरिक्त उस के आध्यात्मिक सुख भी कम नहीं रहते। वह कर्मयोग का पथिक होने से, कषायों की मन्दता होने से अनेक तरह के कष्ट उस पर असर नहीं डाल पाते। इस प्रकार साधु-जीवन में जगत्कल्याण के साथ अपने लिये भी असीम सुख है। यही कारण है कि पुराने जमाने में अनेक राजा लोग भी राज्य-सुख छोड़कर साधु-जीवन स्वीकार कर लेते थे। दुनिया के ऊपर दया करके ही वे ऐसा करते थे सो बात नहीं है, पर अपने ऊपर दया करके वे ऐसा करते थे। जो लोग साधु-जीवन में सुख के दर्शन नहीं कर सकते उन्हें साधु-जीवन में प्रवेश न करना चाहिये।

प्रश्न– अगर इस प्रकार सुख की लालसा से लोग साधु-जीवन में प्रवेश करने लगें तब तो इतने साधु हो जायँगे कि उनके बोझ से समाज की कमर झुक जायगी।

उत्तर– सारा संसार अगर साधु हो जाय तो भी किसी पर बोझ न होगा। पर जब अकर्मण्य, आलसी और समाज के लिये निरुपयोगी लोग साधु का वेष लेकर मुफ्त की रोटियाँ तोड़ने लगेंगे तब अवश्य वे बोझ हो जायँगे। सच्चे साधुओं से तो समाज को फायदा ही है आध्यात्मिक दृष्टि से भी और आर्थिक दृष्टि से भी। साधु-जीवन की पवित्रता से समाज को आध्यात्मिक लाभ तो होता ही है साथ ही उस की अधिक देने और कम लेने की नीति के कारण आर्थिक-लाभ भी होता है। एक आदमी जो अभी तक साधु नहीं है आख़िर खायगा-पियेगा तो अवश्य ही। साधु न होने पर भी वह किसी न किसी

प्रकार से निर्वाह तो करेगा ही, फर्क इतना ही है कि साधु न होने पर वह अधिक से अधिक लेने की कोशिश करेगा, कम से कम देने की कोशिश करेगा, उस का देना समाज के लिये उपयोगी है या नहीं इस की पर्वाह न करेगा। कदाचित् सट्टा आदि खेलकर वह मुफ्त में ही समाज को लूटेगा, ऐसा व्यक्ति अगर साधु हो जाय तो वह आर्थिक-दृष्टि से समाज के लिये लाभप्रद ही होगा।

जो कोई व्यक्ति साधु संस्था में प्रवेश करे उसे, और साधु संस्था के संचालकों को यह देख लेना चाहिये कि वह ऐसा काम कर सके जिससे समाज को कोई न कोई लाभ हो। केवल उपदेश के लिये ही साधुओं की संख्या न बढ़ाते जाना चाहिये। समाज को जिस बात की जितनी जरूरत है उस की पूर्त्ति के लिये उतने ही साधु उस काम में लगाना चाहिये। उस क्षेत्र में जगह न रहे तो साधुओं को दूसरे किसी समाजोपयोगी काम में लगाना चाहिये। साधु समाज का गुरु बनने के लिये नहीं है—सेवक बनने के लिये है। हां! सेवक का अर्थ दास या गुलाम नहीं है। अपनी विशेष योग्यता से कोई गुरु बन जाय तो हानि नहीं।

मतलब यह कि एक साधारण गृहस्थ की समाज में जो उपयोगिता है, साधु की उपयोगिता उस से कुछ अधिक होना चाहिये तब साधु समाज के ऊपर बोझ न हो पायँगे। हां! इतना काम समाज का है कि वह अपने विवेक से इस बात का विचार करता रहे। समाज में वेषान्धता आ जाय तो निश्चय ही साधु-संस्था में मुफ्तखोर निकम्मे लोग घुस जायँगे। यह अपराध समाज का होगा और इस का कष्ट भी उसे ही उठाना पड़ेगा। साधु-संस्था अगर व्यवस्थित हो, ऊपर जो साधु-संस्था के बारे में दस बातें बताई गई हैं उन का पालन किया जाय और समाज उन के पालन कराने में प्रयत्नशील रहे, तो साधु-संस्था कितनी भी विशाल हो जाय, वह समाज के लिये बोझ न बनेगी।

मानव समाज के सामने असीम कार्य पड़ा है आध्यात्मिक दृष्टि से भी और भौतिक दृष्टि से भी। स्वार्थ की दृष्टि से लेन-देन का हिसाब रखनेवालों से ही वह काम पूरा नहीं हो सकता। उस के लिये साधुओं की जरूरत है। सहज साधु तो इनेगिने ही हो सकते हैं, इसलिये संस्कार साधु बनाना चाहिये और उसके लिये साधु-संस्था की जरूरत है।

पहिले जो सत्यसमाज की साधु-संस्था के ध्येय में बारह कार्य बताये गये हैं, उन की पूर्त्ति के लिये सत्यसमाजी साधु-संस्था को विशाल से विशाल बनाना चाहिये। और उस के लिये सुपात्रों का चुनाव करना चाहिये। साधु-संस्था को हर समय अपनी साधुता को सुरक्षित रखना चाहिये और संसार में साधुता का अधिक से अधिक प्रसार हो, ऐसी कोशिश करना चाहिये।

३ सत्याश्रम

साधु-संस्था के जो उद्देश बताये गये हैं उनकी पूर्त्ति के लिये ही सत्याश्रम भी एक तरह की संस्था है। पर दोनों में कुछ अन्तर है। साधारणतः सत्याश्रम और साधु-संस्था में निम्न-लिखित अन्तर हैं।

१— साधु-संस्था के सदस्यों को निर्वाह में भिक्षा-भोजन की मुख्यता है, सत्याश्रम के सदस्यों को आश्रमार्जन की मुख्यता।

२— साधु-संस्था में परिव्राजकता अधिक है, सत्याश्रम में कम।

३– साधु-संस्था में दाम्पत्य जीवन की गुंजायश कोई खास अपवाद को छोड़कर नहीं है; जब कि सत्याश्रम में आमतौर पर दम्पति रह सकते हैं।

४– साधु-संस्था के पास परिग्रह ख़ास तरह का और सीमित होगा, जब कि सत्याश्रम में हर तरह का और असीम हो सकता है।

५– साधु-संस्था व्यापार वगैरह में भाग नहीं ले सकती, सत्याश्रम ले सकता है।

६– साधु-संस्था के सदस्य साधु ही होते हैं, अपवाद रूप में किसी ख़ास अन्तःसाधु को लिया जा सकता है; जब कि सत्याश्रम के कार्यकर्ता साधु-अन्तःसाधु तथा अन्य श्रेणियों के भी होते हैं।

इन अन्तरों के कारण सत्याश्रम का कार्यक्षेत्र विशाल हो जाता है। साधु-संस्था उच्चता में अधिक है, पर उंची मर्यादा के कारण कुछ कार्य उस से नहीं हो पाते, वहां वह सत्याश्रम से मदद ले सकती है। इस प्रकार सत्याश्रम साधु-संस्था के लिये एक मददगार संस्था है। और सत्याश्रम के कार्यकर्ता साधु-संस्था के उम्मेदवार भी कहे जा सकते हैं।

साधु-संस्था के बारे में जिन दस बातों का विचार किया गया है उन दस बातों का विचार सत्याश्रम के बारे में भी करना है।

१ ध्येय– ध्येय में जो बारह बातें साधु-संस्था के प्रकरण में बताई गई हैं, वे ही सत्याश्रम के बारे में भी समझना चाहिये।

२ कर्तव्य– साधु-संस्था के जो तीन कर्तव्य हैं, वे सत्याश्रम के भी समझना चाहिये। क- प्रचार ख– जीवन-विकास, ग– सेवा।

(क) प्रचार– लोगों को सन्मार्ग पर लाना और सन्मार्ग पर आये हुए लोगों का संगठन करना प्रचार है। इस के लिये सत्याश्रम के सदस्य जगह जगह जाकर उपदेश देंगे, प्रभातफेरियाँ निकालेंगे, भजन-कीर्तन करेंगे, पुस्तकों और समाचार-पत्रों का प्रकाशन करेंगे, उन की अधिक से अधिक बिक्री करेंगे या भेंट देंगे, लेख कविता आदि की रचना करेंगे, पत्र-व्यवहार करेंगे, लोगों के झगड़े निबटायेंगे, संगठित कार्यक्रम की योजना रक्खेंगे, शिक्षण विभाग खोलेंगे, वाचनालय की व्यवस्था करेंगे सभा आदि की योजना करेंगे, आदि प्रचारोपयोगी अनेक काम करेंगे।

(ख) जीवन-विकास– जीवन-विकास का मतलब यह है कि मनुष्य का जीवन संयम, ज्ञान, शक्ति और कला में समुन्नत बने। सत्याश्रम के सदस्य को अधिक से अधिक सदाचारी ईमानदार तो बनना ही चाहिये, साथ ही उसे अपने ज्ञान में वृद्धि करते रहना चाहिये। ज्ञान-प्राप्ति के लिये और कुछ वह न कर सके तो स्वाध्याय या चर्चा में तो भाग ले ही सकता है। वह अधिक से अधिक काम कर सके इस के लिये शक्ति, और थोड़ी शक्ति में अधिक और अच्छा काम कर सके इसलिये कला में भी वृद्धि करना चाहिये। एक काम साधारण आदमी करता है, वही काम सत्याश्रम का सदस्य करे तो उस में अवश्य ही चतुरता-- मितव्ययिता और सरसता का समन्वय--दिखाई देना चाहिये। इस प्रकार जीवन-विकास सर्वांगीण होना चाहिये।

(ग) सेवा– सेवा के काम गिनाना कठिन है। हर तरह की सेवा जो विश्व-हित के अनुकूल हो, सत्याश्रम के सदस्यों के कर्तव्य में शामिल है। शिक्षण, चिकित्सा, परिचर्या, गाँव की सफाई आदि, दुःख में शामिल होना, आदि बीसों तरह के सेवा-कार्य सत्याश्रम का सदस्य करता रहे। छोटे से

छोटा कहलानेवाले कामसे लगाकर बड़े से बड़े कहलानेवाला काम सत्याश्रम का सदस्य करता है। आवश्यकता होने पर वह सड़क पर झाडू भी लगायगा और आवश्यकता होने पर वह बड़ी से बड़ी सभाओं में प्रवचन भी करेगा और जनता के दिये हुए ऊंचे से ऊंचा पद भी स्वीकार करेगा।

२– गुण– सत्याश्रम के सदस्य के गुण भी मूलगुण और उत्तरगुण रूप में दो तरह के हैं। मूलगुण ग्यारह हैं। १– सेवाज्ञान, २– सत्य-समाजीपन, ३– शील, ४– ईमानदारी, ५– सद्भोग, ६– कर्मठता, ७– आत्मीयता, ८– संतोष, ९–गौणार्थता, १०–अनुशासन, ११–शिष्टाचार।

उत्तरगुण भी ग्यारह हैं। १– सर्व-कार्य में तत्परता, २– समय पालन, ३– अविस्मरण, ४– जागरूकता, ५– सहयोग, ६– स्वच्छता, ७– दिव्याहार, ८– मितव्ययिता, ९–व्यवस्थितता, १०– नरनारी-समभाव, ११–स्वावलम्बन।

(१) सेवाज्ञान– सत्याश्रम में किसी न किसी सेवा के लिये ही प्रवेश किया जाना चाहिये और उस सेवा की जानकारी उसे होना चाहिये। जिन कामों को लोग छोटा से छोटा और सरल से सरल समझते हैं, उन में भी कला या सतर्कता की जरूरत है। जब तक सेवा-ज्ञान न हो तब तक वह उम्मेदवार ही समझा जाना चाहिये।

(२) सत्यसमाजीपन– कम से कम सत्य-समाज का अनुमोदक तो होना ही चाहिये। साथ ही सत्याश्रम के कार्यक्रमों में जैसे सर्व-धर्म-समभाव, जाति-समभाव, सहभोज, आदि में व्यावहारिक रूप में भाग लेनेवाला होना चाहिये।

(३) शील– व्यभिचार से बिलकुल दूर रहना चाहिये। आवश्यकता होने पर विवाहित जीवन व्यतीत करो, पर व्यभिचार की गंध से भी दूर रहो। ऐसी उच्छृंखलता का परिचय न दो, न ऐसी चेष्टा करो, जिस से तुम्हारी कामुकता का परिचय मिलता हो।

(४) ईमानदारी– धन-सम्पत्ति आदि के बारे में पूरा ईमानदार रहना चाहिये। इस विषय में कुछ सूचनाएँ यहां दी जाती हैं—

क– आश्रम की तरफ़ से कोई पैसे की जिम्मेदारी डाली जाय तो उस का बिलकुल साफ़ और पूरा पूरा हिसाब देना चाहिये।

ख– आपस में एक दूसरे की वस्तु का उपयोग बिना पूछे या छिपाकर कदापि न करना चाहिये। इस तरह एक दूसरे के तेल, घी, साबुन आदि का उपयोग करना पूरी चोरी है, यह बुरी आदत छोड़ना चाहिये।

ग– किसी भी तरह की विश्वासघातकता और वंचकता से दूर रहना चाहिये।

घ– आश्रम में लगे हुए झाड़ों के फल-फूल आदि योग्य अधिकारी से बिना पूछे न लेना चाहिये, न उन का दुरुपयोग करना चाहिये।

ङ– आश्रम में किसी की चीज़ रह गई हो तो वह कितनी ही कम या ज्यादा कीमती क्यों न हो, उसे सत्याश्रम के कुलगुरु या उचित अधिकारी के पास पहुँचा देना चाहिये। आश्रम में भूली हुई चीज़ अवश्य मिल जायगी—ऐसा विश्वास जनता के दिल में जम जाय, इस प्रकार का अचौर्य व्रत आश्रमवासियों को पालन करना चाहिये।

च– अगर कोई चीज़ खरीद करने के लिये भेजा जाय तो अधिक पैसे न बताना चाहिये।

छ– योग्य अधिकारी से बिना पूछे आश्रम की चीज किसी को दान या भेंट में न दो और

अपने किसी स्वार्थवश ऐसा करना तो और भी अनुचित है।

और भी ऐसी छोटी-बड़ी बातें हो सकती हैं, जिन का खयाल ईमानदारी की दृष्टि से करना चाहिये। साथ ही इस बात का भी खयाल रखना चाहिये कि धन की तरह यश नाम आदि में भी ईमानदारी कलंकित न हो।

(५) सद्भोग– मांस मद्य तथा और भी नशीली चीजों का उसे त्याग करना चाहिये।

(६) कर्मठता– जीवन के आर्थिक संग्राम में मनुष्य को कर्मठ होने के लिये विवश हो जाना पड़ता है। क्योंकि अगर वह वहाँ आलसी बनेगा तो भूखों मरने की नौबत आ जायगी। वैभव आदि की लालसा के कारण से भी आदमी कर्मठ बन जाता है, पर सत्याश्रम में इस प्रकार की आर्थिक उत्तेजना के कारण नहीं रहते या नाममात्र के रहते हैं। साधारण निर्वाह की जिम्मेदारी आश्रम ले ही लेता है, ऐसी हालत में यह सोचना कि 'काम कम करें या ज्यादः, मिलना तो उतना ही है इसलिये कम से कम काम क्यों न किया जाय' बड़ी भारी क्षुद्रता है। ऐसा व्यक्ति सत्याश्रम के योग्य नहीं है।

जिसे कर्म में आनन्द आता हो, आलस्य को जो मौत समझता हो वही आदमी सत्याश्रम के योग्य है। वह आलस्य की पूजा के लिये जरा जरा-सी बातों का बहाना न करेगा। जरा जरा सी बीमारियों के निमित्त से अकर्मण्यता का परिचय न देगा। आश्रम में आने के पहिले बीमारी आदि में या उनके बाद वह जितना कर्मठ रहता था उस से कुछ अधिक कर्मठ रहने की चेष्टा करेगा। वह इस बात का सदा खयाल रक्खेगा कि आर्थिक विनिमय की दृष्टि से मैं आश्रम के लिये बोझ न हो जाऊं। मतलब यह कि आलस्य की पूजा की दृष्टि से मनुष्य को सत्याश्रमों में शामिल न होना चाहिये।

प्रत्येक को कम से कम आश्रम को आठ घंटा सेवा अवश्य देना चाहिये। इस के सिवाय प्रार्थना, स्वाध्याय, सफाई तथा शारीरिक कार्य करना चाहिये। आकस्मिक सेवा आ जाय तो यथाशक्ति उस से मुँह न मोड़ना चाहिये। आश्रम में कोई छुट्टी का दिन हो तो उस दिन विशेष रूप में सफाई आदि करना चाहिये, या जिस विशेष कार्य के लिये छुट्टी हो उस विशेष कार्य में समय लगाना चाहिये।

मतलब यह कि इस बात का खयाल रक्खो कि जितना तुम ने आश्रम से लिया है उस से अधिक दिया है या नहीं? हो सकता है कि तुम ने किसी दिन अधिक दिया हो, पर इस से अधिक देना न समझा जायगा। आज तक के कार्य के देने-लेने का टोटल मिलाओ, फिर देखना चाहिये कि 'अधिक दिया या नहीं? अधिक दिया हो तो उसे जीवन की सार्थकता समझो, और कम दिया हो तो उस का प्रायश्चित्त करो– क्षतिपूर्ति करो।

कर्मठ मनुष्य कर्म से दुबला नहीं होता (अतिश्रम की बात दूसरी है), कर्मठता से वह जन-हित तो करता ही है, साथ ही अपनी उपयोगिता बढ़ाकर एक तरह का मानसिक आनन्द तथा आत्मगौरव का अनुभव करता है। आलसी आदमी यह आनन्द नहीं पाता, इज्जत भी उस की कम होती है। मन ही मन लोग उसे तुच्छ दृष्टि से देखते हैं।

(७) आत्मीयता– आत्मीयता का मतलब है संस्था को अपना घर समझना। वह समुन्नत बने, निर्दोष बने, विख्यात बने, व्यवस्थित बने

ऐसी कोशिश करना । जो यह सोचते हों कि अपने को क्या करना, अपनी तो गुजर होना चाहिये—वे सत्याश्रम के सदस्य होने के लायक नहीं हैं।

सत्याश्रमी को समझना चाहिये कि संस्था की एक पैसे की हानि—उसकी हानि है, संस्था की निन्दा—उसकी निन्दा है।

पर आत्मीयता का यह मतलब नहीं है कि मर्यादा भुला दी जाय, मर्यादा से बाहर अपने अधिकार की घोषणा की जाय, बात बात में हर-एक के साथ बराबरी का दावा किया जाय, अपने लिये अधिक से अधिक खर्च करने की कोशिश की जाय, अनुशासनहीनता और बेजुम्मेदारी आ जाय।

इन सब दोषों से बचते हुये आश्रम के शुभेच्छुक बनकर रहना चाहिये। उसकी भलाई बुराई पर पराये की तरह उपेक्षा न करना चाहिये।

जब आत्मीयता का भाव आ जाता है तब हरएक चीज़ हिफाजत से रखने की, अच्छी तरह उपयोग करने की, कोई चीज़ इधर-उधर पड़ी हो तो ठिकाने से रख देने की, कम से कम खर्च करने की, छोटे-बड़े हर तरह के काम अपने हाथ से कर लेने की वृत्ति पैदा हो जाती है।

सत्याश्रमी ऐसी कोई बात बाहर न करेगा, जिससे सत्याश्रम की या उसके संचालकों की निन्दा हो। अगर विरोध या मतभेद की बात होगी तो वह पहिले संचालकों से इसकी चर्चा करेगा और फिर स्पष्ट रूप में समाज के सामने रक्खेगा।

(८) सन्तोष— यद्यपि सत्याश्रम में धन-वैभव नहीं होता, न विलासिता की गुंजायश है, साथ ही अनुशासन के बन्धन भी काफी हैं पर ये सब बातें अगर किसी को असन्तुष्ट करती हैं तो उसे सत्याश्रम में न रहना चाहिये। सत्याश्रम सुखी जीवन बिताने के लिये है—दुखी जीवन बिताने के लिये नहीं। हां! वह सुख अधिकांश में आध्यात्मिक है। पर बाहरी दृष्टि से भी सन्तोष का ध्यान रखना चाहिये। हो सकता है कि भोजन में सादगी हो, पर अगर अतीत और वर्तमान के उन करोड़ों मनुष्यों पर नज़र डाल ली जाय जिन्हें रूखा-सूखा और खराब से खराब भोजन भी भर-पेट नहीं मिलता, तो असीम सन्तोष होगा। जीविका के लिये किस प्रकार दिन-रात चिन्तित रहना पड़ता है, क़िस प्रकार गुणहीन और अपने से भी तुच्छ लोगों की या ऐसे लोगों की जो हितैषी नहीं हैं झिड़कियाँ खाना पड़ती हैं, इत्यादि विचार करने से भी आर्थिक सन्तोष पैदा हो सकता है।

दुनिया में गरीबी, दीनता और बेइज्जती का कारण होती है, पर आश्रम-प्रविष्टों के लिये तो यह मस्त-फ़कीरी का चिन्ह है। पर है तभी, जब तृष्णा मर गई हो, जीवन में सादगी आ गई हो। इस प्रकार का सन्तोष आश्रम-प्रविष्ट में होना ही चाहिये।

अनुशासन भी असन्तोष का कारण हो सकता है। सो अगर यह मालूम हो कि जिस के अनुशासन में रहना है उस की हितैषिता में सन्देह है, उस के विषय में मन में विनय-भक्ति नहीं है तब आश्रम में न रहना चाहिये। अगर विनय-भक्ति हो तो अनुशासन में रहने में गौरव-हानि न समझना चाहिये। माता-पिता या गुरु आदि की झिड़कियाँ खाने में भी जैसे मनुष्य का गौरव नष्ट नहीं होता, उसी प्रकार सत्याश्रम में भी नहीं होता। अगर कौटुम्बिकता का यह रूप जीवन में न हो तो सत्याश्रम में न रहना चाहिये।

अधिकार यश-पूजा आदि की महत्वाकांक्षा के कारण भी असन्तोष हो सकता है, इस विषय

की लुटारू मनोवृत्ति न हो तो असन्तोष का कारण सम्भवतः न रह सकेगा । ये चीजें आतुरता से नहीं मिलतीं, बल्कि मिलती हुईं दूर भाग जाती हैं । हां ! इस विषय में काफी अन्याय हो रहा हो तो शान्ति के साथ अपना विरोध प्रगट करना चाहिये और विरोध न मिटे तो सत्याश्रम छोड़ देने को तैयार रहना चाहिये ।

हां ! यह बात भी ध्यान में रक्खी जा सकती है कि अधिकार आदि के न मिलने पर भी सच्चे सेवक की कीमत होती है, उस का वास्तविक गौरव बढ़ता ही है । और अन्त में यश भी उसी का साथ देता है ।

खैर ! असन्तोष के कारण बहुत-से हो सकते हैं, पर सत्याश्रमी को चाहिये कि वह देख ले कि वह उन कारणों पर विजय पा सका है या नहीं ? अपनी मनोवृत्ति को परिस्थिति के अनुकूल बना सका है या नहीं ? अगर बना सका हो तो उसे सत्याश्रम में रहना चाहिये । सन्तोष न हो तो रहना व्यर्थ है ।

(९) **गौणार्थता**– जीवन-निर्वाह के लिये अर्थ की आवश्यकता तो होती है, पर सत्याश्रमी के लिये अर्थ की मुख्यता न होना चाहिये । वह न तो अर्थ-संग्रह की दृष्टि से, न विलास की दृष्टि से अपनी आमदनी बढ़ाना चाहेगा–वह तो साधारण निर्वाह के लिये ही लेगा । साधारण निर्वाह के लिये भी उसने जो मर्यादा बांध ली होगी; उसी में अपनी गुजर करेगा । मतलब यह कि वह आर्थिक कारणों से संस्था को न छोड़ेगा । और अपने रहन-सहन का तरीका ऐसा रक्खेगा, कि उसे उधार न लेना पड़े या और भी किसी अनैतिक ढंग से अर्थ-प्राप्ति न करना पड़े ।

(१०) **अनुशासन**– सत्याश्रम एक कुटुम्ब है पर सहज-कुटुम्ब नहीं–साधक-कुटुम्ब है, एक संस्था है, इसलिये उस में अनुशासन की बड़ी जरूरत है । हां !- इस में अनुशासक और अनुशासित दोनों को विवेक से काम लेना चाहिये । अनुशासक अधिकार-प्रदर्शन के लिये ही अनुशासक न बने, उसकी मुख्य नीति यथाशक्य सरलता से सुव्यवस्था कायम रखना होना चाहिये । किसी खास प्रसंग को छोड़कर बोलचाल के शब्दों में और स्वर में नर्मी होना चाहिये ।

पर अनुशासित को अनुशासक की इन बातों पर विशेष ध्यान न देना चाहिये । भूल किसी भी स्वर में और कैसे भी शब्दों में बताई गई हो, उसे स्वीकार करना और सुधारना चाहिये ।

पहिली बात तो यह है कि जो लिखित या आलिखित साधारण नियम हों, उन्हें स्वयं पालन करना चाहिये । बिना कहे ही कर्तव्य-पालन करने में जो शोभा है वह नष्ट न होना चाहिये ।

दूसरी बात यह है कि जो सूचना एक बार दी गई है उसे भूलना न चाहिये । एक ही या एक तरह की सूचना बार-बार देना पड़े तो इस में अनुशासक में झुंझलाहट क्रोध आदि आना स्वाभाविक है और इस से दोनों के चित्त में क्षोभ पैदा होता है, सम्बन्ध या व्यवहार बिगड़ जाता है ।

तीसरी बात यह है कि अगर अनुशासक में झुंझलाहट आदि दिखाई दे, पर उस की सूचना उचित हो तो झुंझलाहट आदि पर ध्यान न देकर उस की सूचना पर ही ध्यान देना चाहिये । बात यह है कि मनुष्य का सहज अहंकार सूचनाओं से क्षुब्ध होता है; वे कितनी ही नर्मियत से दी जायँ–उन्हें सुनकर मुँह फीका पड़ ही जाता

है और ऐसी क्षुब्ध अवस्था में सूचना देनेवाले के शब्दों और स्वर में छिद्रान्वेषण करने को जी चाहता है, इसलिये यथाशक्य झुंझलाहट आदि पर ध्यान न देना चाहिये, सिर्फ सूचना पर ही ध्यान देना चाहिये।

अगर इस प्रकार की उदारता और नम्रता से काम न लिया जायगा तो न तो व्यवस्था कायम रह सकेगी–न परस्पर सहयोग। इससे संस्था का, साथ ही अपना भी अहित होगा।

(११) शिष्टाचार– साधक-कुटुम्ब में सहज-कुटुम्ब की अपेक्षा अधिक शिष्टाचार की ज़रूरत है। यह प्रेम को कायम रखने के लिये तो ज़रूरी है ही, साथ ही सुव्यवस्था के लिये भी ज़रूरी है। इस से सहयोग भी बढ़ता है। विनय के प्रकरण में पहिले बहुत-कुछ कहा गया है। यहां कुछ ख़ास ख़ास सूचनाएँ दी जाती हैं —

क– उठने-बैठने में एक दूसरे की सुविधा का ख़याल रक्खो।

ख– विशिष्ट व्यक्ति का विशिष्ट आसन खाली रक्खो।

ग– बातचीत में उपेक्षा न दिखलाओ।

घ– सम्माननीय व्यक्ति के सामने किसी दूसरे पर भी क्रोध आदि प्रगट न करो।

ङ– दिन में प्रथम मिलन के समय 'जयसत्य' 'प्रणाम' आदि कहकर आदर प्रगट करो।

च– नियत कर्तव्य के सिवाय गुरुजन अगर कोई शरीर-श्रम का कार्य कर रहे हों तो आगे बढ़कर खुद अपने हाथ से कर दो।

छ– गुरुजनों की और यथाशक्य दूसरों की सुविधा का ख़याल पहिले से ही रक्खो।

मूलगुण ग्यारह हैं, इनमें से एक की भी कमी सत्याश्रम में रहने के अयोग्य बना सकती है। उत्तर-गुण तेरह हैं। इन की कमी मूलगुणों की अपेक्षा अधिक क्षम्य हैं, पर कमी की बहुलता या मात्रा से अधिक होना अक्षम्य हो सकता है। और जब कोई उत्तर-गुण की कमी मूल-गुण की नाशक हो जाती है तब वह मूल-गुण की कमी की तरह अक्षम्य हो जाती है।

(१) सर्व-कार्य-तत्परता– इस का मतलब यह है कि हरएक काम करने को तैयार रहो। जिस काम को करने की शक्ति या योग्यता नहीं है उस की बात दूसरी है, पर अरुचि या अभिमानवश कोई कार्य करने से इनकार न करो। यही सर्व-कार्य-तत्परता है।

(२) समय-पालन– समय की पाबन्दी का पूरा ख़याल रक्खो। टाइम-टेबुल के अनुसार कार्य तो करो ही, साथ ही जब कहीं आओ-जाओ तब जितने समय की कहकर गये हो उतने समय में अवश्य आ जाओ। हां, कोई आकस्मिक या महत्वपूर्ण कारण आ जाय तो बात दूसरी है, पर नाममात्र की आकस्मिकता और नाममात्र की महत्वपूर्णता को अपवाद मत बनाओ। जिस समय जहां हाजिर होना है–उस समय वहां हाजिर अवश्य हो जाओ। समय की पाबन्दी न करने से बहुत कम काम हो पाता है, सब काम अधूरे रह जाते हैं, इस के साथ दूसरे की परेशानी काफ़ी बढ़ जाती है।

(३) अविस्मरण– जो कर्तव्य तुम्हें सौंपा गया है, अथवा न सौंपा जाने पर भी जो कर्तव्य आवश्यक है–वह भूल न जाओ। भूलने की आदत भी एक बुरी आदत है। दूसरे तुम्हारे भरोसे हैं और तुम भूलकर निश्चिन्त हो, इस से कभी कभी बहुत बड़ी हानि हो जाती है; इसलिये याद रखने की पूरी कोशिश करो। यों तो मनुष्य

कभी कभी भूल ही जाता है, पर ऐसा अपवाद भूलना एक बात है और भूलने की आदत-सी हो जाना दूसरी । यह आदत न होना चाहिये । और एक बार भूलने पर उसका काफी पश्चात्ताप होना चाहिये ।

(४) **जागरूकता**— आश्रम की भलाई की दृष्टि से अपनी नजर चारों तरफ रक्खो, और सदा तैयार रहो—यही जगरूकता है ।

(५) **सहयोग**— एक दूसरे के काम में मदद करो । बीमारी आदि में एक दूसरे की सेवा करो । अगर कभी किसी के ऊपर कामका बोझ अधिक आ गया है तो यथाशक्य उसमें हाथ बटाओ । यह कहकर छुट्टी न पा जाओ कि 'इस काम से हमें क्या मतलब ?' मिलकर काम करो । यही सहयोग है ।

(६) **स्वच्छता**— स्वच्छता अपने हित के लिये और दूसरों के हित के लिये भी जरूरी है । अस्वच्छता से अपने और पराये स्वास्थ्य का और सुविधा का नाश होता है । धर्म के नाम पर भी गंदगी ठीक नहीं ।

पहिली बात यह है कि अपना शरीर स्वच्छ रक्खो ! प्रतिदिन स्नान करो, अच्छी तरह मुँह साफ करो ! स्नान करने का अर्थ शरीर पर पानी डाल लेना नहीं है; किन्तु शरीर का मैल निकाल डालना और उसके छिद्रों को साफ कर लेना है । थोड़े पानी से भी अच्छा स्नान हो सकता है और बहुत पानी बहाना भी व्यर्थ जा सकता है । मुख्यता सफाई की है पानी ढालने के रिवाज की पूर्ति की नहीं । शीत कटिबन्ध के देशों में या जब जहाँ अधिक ठंड पड़ती हो वहाँ प्रतिदिन शरीर पर पानी ढालने की क्रिया पूरी न भी की जाय, फिर भी शरीर स्वच्छ रखना चाहिये । जिससे शरीर से दुर्गन्ध निकलती न मालूम पड़े और स्वास्थ्य को भी धक्का न लगे ।

दूसरी सफाई कपड़ों की है । कपड़े चमकते हुए हों बिलकुल सफेद हों—इसकी जरूरत नहीं है, जरूरत इस बात की है कि उन में से दुर्गन्ध न आती हो, वे कृमिहीन हों । इसके लिये कपड़ों को कभी कभी गरम पानी में उबाल लेना चाहिये जिससे उनमें से पसीने आदि की गन्ध न आवे । मजदूरी आदि काम करने से मिट्टी-धूल लग जाये तो कोई बात नहीं, पर मलहीन होना चाहिये । कपड़ों को ढंग से रखना आदि भी कपड़ों की सफाई के लिये जरूरी है । इधर उधर कपड़े फेंकते रहने से भी कपड़े मलिन हो जाते हैं । इससे प्रमाद का पता लगता है, जो कि अनुचित है ।

तीसरी सफाई जगह की है जिस कमरे में तुम रहते हो—वह कमरा प्रति दिन साफ होना चाहिये और बीच बीच में विशेष सफाई भी होना चाहिये, जिससे मकड़ी के जाल आदि न रहने पावें ।

इसके सिवाय हरएक चीज, हरएक जगह स्वच्छ रखना चाहिये । कोई दिन सफाई के लिये नियत कर लेना चाहिये, जिससे आश्रम की सब जगह स्वच्छ रक्खी जा सकें ।

मतलब यह कि स्वच्छता मानवता का चिन्ह है । उसका पूरा खयाल रखना चाहिये गन्दगी को तपस्या न समझना चाहिये ।

(७) **दिव्याहार**— सत्याश्रमी को साधारणतः निरतिभोगी होना चाहिये । खानपान आदि में ऐसा संयमी होना चाहिये जिससे स्वास्थ्य न बिगड़े आलस्य न बढ़े । खानपान आदि की मात्रा का निर्णय मनुष्य खुद ही कर सकता है पर इस में वह भूलता भी काफी है जब दो-चार बार

अच्छी तरह बीमार पड़ता है तब कहीं वह समझ पाता है और नहीं भी समझ पाता । इस विषय की सूचना दी जाय तो वह जरा अशिष्ट भी मालूम होती है, इसलिये सत्याश्रमी को खुद ही इस बारे में समझ लेना चाहिये ।

बीमारियों के यद्यपि और भी अनेक कारण हो सकते हैं पर अस्सी फी सदी कारण खानपान का असंयम है, पर इसे बहुत कम लोग समझते हैं और बड़ी मुश्किल से समझते हैं लेकिन जितनी जल्दी यह बात समझ में आजाय उतना ही अच्छा है । अन्न भले ही दूसरे का हो पर पेट अपना है । अगर दूसरे के अन्न पर दया न भी की जाय तो भी अपने पेट पर या अपने जीवन पर तो दया करना ही चाहिये । मितमात्रा में सादा भोजन करने से समाज को तो लाभ पहुँचाया ही जा सकता है, अपनी साधुता में वृद्धि तो की ही जा सकती है, साथ ही अपने स्वास्थ्य की भी रक्षा होती है ।

आहार की ही बात नहीं है पर वस्त्र तथा अन्य सभी उपयोगी चीजों में मितमात्रा और सादगी की आदत होना चाहिये ।

(८) **मितव्ययिता**– मितव्ययिता का अर्थ है अपनी आमदनी के भीतर खर्च करना, जिससे खर्च करने के लिय उधार न लेना पड़े । सत्याश्रमी को तो मितव्ययी होना और भी जरूरी है । उस की आमदनी तो काफी कम होगी और कम होना चाहिये, उस के निर्वाह के लिये समाज के ऊपर जितना कम बोझ पड़े उतना ही अच्छा, ऐसी हालत में अगर वह मितव्ययी न होगा तो उसे या तो उधार लेना पड़ेगा या बेईमानी से अर्थ-प्राप्ति करना पड़ेगी । उधार लेकर वह चुकायगा कहाँ से ? आगे चलकर या तो उसे ऋण चुकाने के लिये भी बेईमानी करना पड़ेगी, या वचन-भंग करना पड़ेगा, जिस का व्यावहारिक रूप बेईमानी के समान ही होगा, अथवा ऐसी काट-कसर करना पड़ेगी जिस से उस का जीवन काफी कष्ट-पूर्ण हो जायगा ।

संस्था के बारे में तो मितव्ययिता और भी जरूरी है । अपने वैयक्तिक मामले में कोई भले ही उलखर्च हो पर संस्था के बारे में तो उसे काफी मितव्ययी होना चाहिये । एक भी पाई या एक भी दाना या एक भी चिन्दी व्यर्थ न जाय–इस का पूरा खयाल रखना चाहिये । थाली में जूँठा छोड़ने की आदत तो उस में होगी ही नहीं, इसी प्रकार की और भी मितव्ययिताओं का वह खयाल रक्खेगा ।

(९) **व्यवस्थितता**–हरएक काम और हरएक चीज की ऐसी व्यवस्था रखना जिस से थोड़े समय में बहुत काम हो जाय और समय की, शक्ति की, धन की बर्बादी न हो, यही व्यवस्था है । इस विषय की कुछ सूचनाएँ ये हैं । इसी ढंग की अन्य सूचनाएँ भी समझ लेना चाहिये ।

(क) काम का हिस्साबाट इस तरीके से करो जिससे समय पर सारा काम हो जाय और काम में किसी तरह की गड़बड़ी न हो । सामूहिक जिम्मेदारी के कामों में ऐसा न होना चाहिये कि मौके पर एक दूसरे पर दोषारोपण होने लगे और काम पड़ा ही रहे ।

(ख) हरएक चीज यथाशक्य निश्चित स्थान पर रक्खो, जिससे जरूरत पड़ने पर उसे यहां वहां ढूंढ़ते फिरना न पड़े । एक जगह से चीज उठाई, काम करके काम की जगह छोड़ दी या दूसरी जगह रख दी, ऐसी आदत न होना चाहिये । जो चीज जहाँ से उठाई वहीं पर सम्हालकर रख देना चाहिये ।

(ग) साधारणतः टाइम-टेबल के अनुसार काम करो, जिससे तुम्हारे सारे काम पूरे हो जायँ। किसी कारण से कभी दूसरा काम अधिक करना पड़े तो भले ही करो पर प्रमाद के कारण काम में अव्यवस्था न होना चाहिये।

(घ) यथाशक्य वस्तुओं को ऐसा सम्हालकर रक्खो कि उठाते-रखते या जाते-आते उन्हें धक्का न लगे।

(१०) **नरनारी समभाव**—यद्यपि यह गुण सत्यसमाजी-पन में शामिल है, फिर भी इस पर विशेष ध्यान खींचने की जरूरत होने से अलग बताया गया है। इसके अनुसार शिष्टाचार में नर और नारी का एक-सा खयाल रखना चाहिये। उनके पद और योग्यता के अनुसार विनय-सेवा आदि करना चाहिये। नारी होने के कारण किसी की अवहेलना न करना चाहिये, बल्कि शरीर-श्रम के कार्यों में नारी को कुछ अधिक सुविधा देना चाहिये। सिर्फ नारी होने के कारण किसी को किसी पद के अयोग्य न समझना चाहिये।

नर-नारी के बीच की जो मर्यादाएँ हैं उन का ध्यान रखना तो जरूरी है, पर नरत्व के अभिमान के कारण गुण की, पद की, योग्यता की अवहेलना न होना चाहिये। पुरुष की तो मैं अमुक सेवा कर सकता हूं, पर नारी की नहीं, इस प्रकार का पक्षपात अनुचित है।

(११) **स्वावलम्बन**—हरएक काम में यथाशक्य स्वावलम्बी होना चाहिये। इसलिये जहाँ तक हो सके अपने काम में नौकरों का उपयोग न करना चाहिये। हां! जिस खास काम के लिये या जिस खास व्यक्ति के लिये नौकर नियत हो उस का उस में उपयोग तो होगा ही, पर नौकर है इसलिये हरएक अपने साधारण कामों का बोझ उस पर डालने लगे तो उस की सेवकता नष्ट होगी।

किसी खास व्यक्ति या व्यक्तियों को छोड़कर हरएक को अपना कमरा साफ करना, अपने कपड़े धो लेना, स्नानादि के लिये पानी ले लेना, अपनी थाली आदि मल लेना जरूरी है।

साधारणतः होना तो यह चाहिये कि आश्रम में नौकर रहे ही नहीं, छोटे से बड़े हरएक काम का बोझ आश्रम के सदस्यों को उठा लेना चाहिये। फिर भी अगर नौकर की जरूरत हो ही, तो भले ही रहे पर उस से अपने स्वावलम्बन को धक्का न लगाना चाहिये।

[४] **प्रवेश**— सत्याश्रम में काम करने-वाले व्यक्तियों की आठ श्रेणियाँ होती हैं उन में से कौन व्यक्ति किस श्रेणी में रहकर काम करना चाहता है उस के अनुसार प्रवेश के समय उस की योग्यता देखना चाहिये। वे आठ श्रेणियाँ ये हैं— (१) अन्तःसाधु, (२) साधु, (३) उपासक, (४) गौणार्थ, (५) पूजक, (६) सुखार्थ, (७) अरक्त, (८) अच्छाय।

(१) **अन्तःसाधु**— जो साधु के गुण सदाचार त्याग आदि रखते हैं, परन्तु वेष तथा अन्य बाहिरी व्यवस्थाओं का पालन नहीं करते—वे अन्तःसाधु हैं। सत्याश्रम में साधु की अपेक्षा अन्तःसाधु की अधिक उपयोगिता है। क्योंकि कभी कभी साधु की बाह्य मर्यादाएँ सत्याश्रम के किसी कार्य में बाधक हो सकती हैं पर अन्तःसाधु के लिये वे बाधाएँ नहीं आ सकतीं।

(२) **साधु**— साधु का स्वरूप पहिले बताया गया है। उस का मुख्य स्थान तो साधु-आश्रम या साधु-कुटीर में है पर आवश्यकता और सुविधा की दृष्टि से वह एक कार्यकर्ता के रूप में सत्याश्रम

में भी रह सकता है। हाँ ! वह अपने ऊपर उन जिम्मेदारियों को न लेगा जो साधु-संस्था की मर्यादा में बाधक होंगी।

साधारणतः सत्याश्रम का कुलगुरु अन्तः-साधु होना चाहिये, पर साधु भी कुलगुरु के पद पर रह सकता है। पर, ऐसी अवस्था में साधुता की मर्यादा के बाहर के काम करने के लिये एक उप-कुलगुरु भी रखना होगा। कुलगुरु पद के लिये कोई योग्य साधु या अन्तःसाधु न मिले तो उपासक या गौणार्थ को इस पद पर रख सकते हैं।

(३) **उपासक**— जो साधु या अन्तःसाधु तो नहीं है परन्तु जिस में सत्याश्रमी के अन्य गुण मौजूद हैं वह सत्याश्रम की सेवा के लिये जीवन दे वहां रहकर सेवा करे, हो सके तो सत्याश्रम को आर्थिक सहायता भी दे, न दे सके तो अपनी गुजर अपने धन से कर ले अथवा नाम-मात्र के लिये ले वह उपासक है।

(४) **गौणार्थ**— जो अपने और अपने कुटुम्ब के निर्वाह के लिये आश्रम से कुछ निश्चित रकम, या निर्वाह के साधन तो लेता है पर वह रकम उस की बाजारू योग्यता से कम ही है अथवा अधिक तो नहीं है और इस में जो सन्तुष्ट है, आर्थिक उन्नति की जिसे लालसा नहीं है, और आर्थिक कारणों से संस्था छोड़ने का जिस का बिचार नहीं है वह गौणार्थ है।

(५) **पूजक**— जो सत्याश्रम के भीतर रहकर सत्याश्रम की सेवा नहीं करते किन्तु बाहर रहकर तनमन धन से सहायता करते हैं वे पूजक हैं। यों इनकी उपयोगिता गौणार्थ आदि से भी अधिक हो सकती है पर सत्याश्रमी के जो मूलगुण उत्तर-गुण बताये गये हैं उनकी पूरी जिम्मेदारी उन पर नहीं है। ये सत्याश्रम की प्रबन्धकारिणी के सदस्य, उस के पदाधिकारी आदि हो सकते हैं। पठनपाठन में सहायक तथा अन्य विभागों के संचालक भी हो सकते हैं पर कुलगुरु नहीं।

(६) **मुख्यार्थ**— जो आश्रम में अपनी आर्थिक आवश्यकता की पूर्त्ति की मुख्यता से रहते हैं पर आश्रम के ध्येय और कार्यद्धति में पूरा अनुराग रखते हैं भक्ति या अनुरक्ति-पूर्वक काम करते हैं वे मुख्यार्थ हैं। आर्थिक मुख्यता के कारण इन में स्थायिता नहीं है पर काम दिल से करते हैं और हर बात में भीरत से सहयोग करते हैं।

(७) **अरक्त**— जो आर्थिक मुख्यता से रहते हैं पर जिन को आश्रम के ध्येय आदि में कोई अनुराग नहीं। हां ! शिष्टाचार के नाते उत्सव आदि में शामिल हो जाते हैं, इस प्रकार शिष्टा-चार निभाते हैं पर अनुराग नहीं रखते।

(८) **अच्छाय**— जो आर्थिक मुख्यता से रहते हैं पर आश्रम के ध्येय आदि में जिन्हें भक्ति अनुराग कुछ नहीं है। उत्सव आदि में शिष्टाचार के नाते भी शामिल होने की पर्वाह नहीं करते एक ग्राहक और दूकानदार के समान ही जिन का आश्रम से आर्थिक सम्बन्ध है इस प्रकार जिन पर आश्रम के ध्येय की छाया भी नहीं पड़ती वे अच्छाय हैं।

इनमें से पहिली चार श्रेणियों के व्यक्ति ही सत्याश्रमी कहे जा सकते हैं और उन्हीं के प्रवेश के बारे में विशेष विचार करना चाहिये। प्रवेश की कुछ मुख्य बातें ये हैं—

क— मूलगुण और उत्तरगुणों की पात्रता।

ख— कुटुम्ब के बोझ की कमी।

ग— जीवन को सत्याश्रम में बिताने का निश्चय।

घ— कम से कम अठाहर वर्ष की उम्र।

ङ-ऋण चुकाने की जिम्मेदारी न हो।

च-योग्य सेवा करने की योग्यता और मनोवृत्ति।

जब तक ये बातें न हों या कुछ कम हों तब तक उसे उम्मेदवार समझना चाहिये। साधारणत: हर एक व्यक्ति को एक वर्ष तक उम्मेदवार के रूप में रहना चाहिये, बाद में अगर ठीक मालूम हो तो उसे सत्याश्रम में प्रवेश करना चाहिये, नहीं तो कुछ समय तक और भी उम्मेदवार के रूप में रहना चाहिये।

पूजक के प्रवेश की आवश्यकता नहीं हैं। हाँ! उन्हें अगर कोई काम सौंपा जाय या पदाधिकारी बनाया जाय तो उसके अनुरूप योग्यता और सदाचार देखना चाहिये।

मुख्यार्थ अत्क और अच्छाय तो नौकर हैं, उनके जीवन से बहुत कम मतलब रहता है। हाँ! उन में कर्मठता सदाचार ईमानदारी आदि तो देखना ही चाहिये।

५-निर्वाह-आश्रम में, या आश्रम के द्वारा बताई गई सेवा के उपलक्ष में आश्रम के द्वारा दी गई भेंट या सुविधाओं स निर्वाह करना चाहिये। यों सुविधा हो ता पूर्व संचित धन से या आश्रम की सेवा में बाधा न पहुँचे इस प्रकार की कोई सदाजीविका से भी निर्वाह किया जा सकता है।

६ कुटुम्ब-सत्याश्रमी को सहज कुटुम्ब के बन्धनों को कुछ ढीला रखना चाहिये। और आश्रम पर अपने विशाल कुटुम्ब की जिम्मेदारी न डालना चाहिये।

७-उपग्रह-उपग्रह ऐसा न होना चाहिये, जिसकी व्यवस्था सत्याश्रम के आवश्यक कर्तव्य में बाधा डाले।

८-चर्या-साधारणत: रात्रि भोजन न करना चाहिये। पानी औषध तथा कभी फलाहार करने की जरूरत हो तो किया जा सकता है।

किसी विशेष कारण के सिवाय दिन में न सोना चाहिये।

स्वयंप्रेरित होना चाहिये। बार बार कहने पर ही काम हो तो इससे मनुष्यता की कमी मालूम होती है।

रहन सहन में सादगी और स्वावलम्बन का परिचय मिलना चाहिये।

अभ्यास के लिये कुछ शारीरिक तप करते रहना चाहिये। सप्ताह में एक दिन एक समय का भोजन छोड़ना, कभी कभी किसी खास रस का त्याग करना आदि उचित है।

यथाशक्य धीमे स्वर में बात करो। चलने फिरने उठाने रखने द्वार खोलने आदि में भी यथाशक्य निःशब्दता का खयाल रक्खो। कभी मन क्षुब्ध हो जाय, तो भी यथाशक्य वचन पर अंकुश रक्खो। हाँ! जहाँ उच्च स्वर से बोलने की या जोरदार शब्द कहने की जरूरत है वहाँ वैसा ही करना चाहिये।

९-वेष-वेष सादा, स्वच्छ और मितव्ययिता का सूचक होना चाहिये। अगर किसी अवसर के लिये कोई गणवेष या गणचिन्ह नियत किया जाय, तो उसका पालन करना चाहिये।

१०-व्यवस्था-संस्था अपने ध्येय के अनुसार अच्छी तरह काम कर सके इस तरह की व्यवस्था कर लेना चाहिये। हाँ! यहाँ कुछ सूचनाएँ दी जाती हैं जो व्यवस्था के काम में उपयोगी होंगी।

क-संस्था की एक प्रबन्धकारिणी कमेटी रहे। पर भीतरी व्यवस्था में कुलगुरु की महत्ता रहे।

ख-अधिकारियों को चाहिये कि अधिकार

का जोर दिखाने में जल्दबाजी न करें। पर अधिकृतों को चाहिये कि अधिकारियों को अधिकार का जोर दिखाने की परिस्थिति में न आने दें। सारा काम इस तरह से हो कि मानों कोई अधिकारी है ही नहीं, सब लोग विवेक से व्यवस्थित काम कर रहे हैं।

ग–अपने अधिकार की मर्यादा न भूलो। योग्य अधिकारी से पूछ कर ही काम करो। उस की अवहेलना न करो नहीं तो अव्यवस्था होगी और मनमुटाव भी होगा।

घ–सहिष्णुता अच्छी बात है, पर किसी असन्तोष को मन में रख कर संस्था का वातावरण न बिगाड़ो और न काम बिगाड़ो। असन्तोष योग्य अधिकारी के पास एकान्त में रख दो। अगर समझो कि वह दूर हो सकता है, तो दिल से दूर करो, न हो तो संस्था छोड़ दो।

ङ–सब आश्रमवासियों की रसोई एक जगह हो यह कई दृष्टियों से ठीक है। पर विशेष दम्पति को छोड़ कर बाकी दम्पतियों की रसोई अलग रहे तो इसमें बहुत से असन्तोष दूर रह सकते हैं।

च–खास व्यक्तियों को छोड कर सब को नियत रकम हाथ खर्च के लिये मिलना चाहिये। जिनकी रसोई अलग है, उन को सब खर्च के लिये नियत रकम मिलना चाहिये। इस बारे में अनियतता रहने से एक तरफ बर्बादी होती है, दूसरी तरफ असन्तोष और असुविधा रहती है। कोई विशेष व्यक्ति की बात दूसरी है।

छ–यद्यपि आश्रम वासी सब कुटुम्बी हैं, फिर भी साल में काम पर अनुपस्थित रहने की कुछ नियत मर्यादा होना चाहिये। भले ही अवसर को देख कर उसका शिथिलता से उपयोग किया जाय।

ज–नियमों के सिर्फ बाहरी रूप का ही पालन न करो, उनकी आत्मा को देखो और आत्मा को धक्का न लगे इस तरह पालन करो।

झ–कभी कभी छोटी छोटी बातों पर भी ध्यान देना पड़ता है, और कभी कभी बड़ी बड़ी बातों पर भी उपेक्षा दिखानी पड़ती है, इस विवेक को न भूलो।

ञ–सहयोगी कार्यकर्ता के बारे में कान के कच्चे न रहो।

ट–पक्षपात न दिखाओ। सदा न्याय का ध्यान रक्खो।

ठ–परस्पर दलबन्दी से बचे रहो।

व्यवस्था के बारे में और भी सूचनाएँ समझ लेना चाहिये और परिस्थिति के अनुसार नियम बना लेना चाहिये। सत्याश्रम के बारे में जो बातें यहाँ कही गई हैं, वे अन्य संस्थाओं के बारे में भी यथासम्भव समझ लेना चाहिये।

विविध संस्थाएँ

धर्म संस्था साधु संस्था और सत्याश्रम इन तीन संस्थाओं के बारे में जो कुछ कहा गया है उसके आधार पर अन्य अनेक संस्थाओं के विषय में काफी समझा जा सकता है। संस्थाओं के प्रकार सीमित नहीं हैं, इसलिये उन सब का उल्लेख यहाँ नहीं किया जा सकता। हाँ! कुछ सामान्य बातें कही जा सकती हैं जो संस्थाओं में होना चाहिये।

१–लेन देन का हिसाब गौण करके (अर्थात् लागत से काम लेकर) जनता की सेवा।

२–अमुक अंशमें जनता का स्वेच्छा-सहयोग।

३–संस्था की सम्पत्ति पर व्यक्ति विशेष की मालिकी न होना।

४–कुछ निःस्वार्थ कार्यकर्ताओं या प्रबन्धकों का सहयोग।

प्रत्येक संस्था में ये बातें तो होना ही चाहिये, फिर हर एक संस्था को अपने विशेष कार्यक्षेत्र की दृष्टि से कुछ विशेष बातों का खयाल रखना चाहिये। कुछ संस्थाओं के बारे में यहाँ कुछ सूचनाएँ दी जाती हैं।

१–औषधालय–(क) औषधालय में वैतनिक हो या अवैतनिक, किन्तु ईमानदार चिकित्सक की खास जरूरत है।

(ख) रोगियों के साथ झुंझलाकर न बोलना चाहिये।

(ग) चिकित्सक वैद्य हो डाक्टर हो हकीम हो, होमियोपैथिक हो, क्षारचिकित्सक (बायोकेमिक) हो, जलचिकित्सक, सूर्यचिकित्सक या और भी किसी तरह का प्राकृतिक चिकित्सक हो, उसे अपनी चिकित्सा के विषय में बहुत से बहुत विशेषज्ञता का ही दावा करना चाहिये, पर हर हालत में अपनी ही चिकित्सा का ऐसा पक्षपाती न होना चाहिये कि सफलता न मिलने पर भी दूसरी चिकित्सा की सलाह न दे सके।

(घ) चिकित्सक को रोगी के अनुभव से भी लाभ उठाना चाहिये। योग्य चिकित्सा के साथ रोगी को तसल्ली देना जरूरी है।

(ङ) औषधालय में घूसखोर या इनाम के नाम पर रोगियों को परेशान करनेवाले कर्मचारी न होना चाहिये।

(च) यथाशक्य रोगियों के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये जिस से उन्हें मालूम हो कि उनके ऊपर उपेक्षा नहीं की गई है।

(छ) रोग की चिकित्सा करना ही जरूरी नहीं है किन्तु रोग कैसे पैदा हुआ या कैसे पैदा होता है आदि आदि बताना भी जरूरी है, जिस से रोगी रोगों से बचे रहने की कोशिश करे।

(ज) चिकित्सा यथाशक्य कम से कम खर्च की होना चाहिये।

(झ) अगर चिकित्सक को रोग के बारे में अर्थात् उसके निदान या इलाज के बारे में पूरी जानकारी न हो या समझ में न आवे तो रोगी के अभिभावुकों से यह बात कह देना चाहिये। ऐसा न हो चिकित्सक के भरोसे रह कर वे दूसरी चिकित्सा न करावें और रोग उग्र रूप धारण कर ले या प्राण ही लेले।

(ञ) रोगी को झूठी तसल्ली न देना चाहिये। क्योंकि इससे अन्त में उसके मन को इकदम बहुत बड़ा धक्का लगता है, साथ ही झूठी तसल्ली के कारण वह अपने इच्छानुसार चिकित्सा तथा अन्य कार्य नहीं कर पाता। अगर रोगी से वास्तविक स्थिति छिपाने की जरूरत हो तो उस के अभिभावुकों में से किसी दृढ़ हृदय अभिभावक को अवश्य उसकी सूचना दे देना चाहिये।

(ट) यथाशक्य ऐसी चिकित्सा से बचना चाहिये जो एक रोग को शान्त कर दूसरा रोग पैदा करती हो। रोग को दबाने की अपेक्षा उसे निकालने की ही कोशिश करना चाहिये। हाँ! प्राणान्तक संकट या असह्य कष्ट की बात दूसरी है।

(ठ) गरीब जनता, और जनसेवा के कार्य में जीवन अर्पण करने वाले व्यक्तियों को छोड़ कर बाकी लोगों से औषध का कुछ न कुछ मूल्य अवश्य लेना चाहिये।

२–विद्यालय–(क) साधारणतः विद्यालय ऐसे होना चाहिये जो मनुष्य का नैतिक विकास करने और सभ्यता सिखाने के सिवाय आर्थिक दृष्टि से भी जीवन को योग्य बनावें।

(ख) केवल लिखना पढ़ना या कोई भाषा सिखा देना विद्या नहीं है, ये तो विद्या के माध्यम हैं।

(ग) जहां तक हो मातृभाषा को ही माध्यम बनाना चाहिये, अथवा ऐसी भाषा को माध्यम बनाना चाहिये जो मातृभाषा का कुछ सुधरा हुआ रूप हो, और जो मातृभाषा के क्षेत्र से कुछ अधिक स्थानों में फैला हो, अथवा जो आम तौर पर बोलचाल की भाषा हो। कालमोह के कारण मातृभाषाओं को, या पराधीनता के कारण विदेशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना ठीक नहीं।

(घ) वे विद्यालय मानव समाज के लिये अभिशाप हैं, जो साम्प्रदायिक और जातीय कट्टरता को उत्तेजन देकर मनुष्य मनुष्य में द्वेष और असहयोग का भाव पैदा करते हैं।

(ङ) विद्यालय के कार्यकर्ताओं और पाठकों का सदाचारी होना जरूरी है।

(च) विद्यार्थियों में कर्मठता, स्वावलम्बन, श्रम-प्रतिष्ठा, और नम्रता लाना जरूरी है। और सदाचार को विद्या से कम महत्त्व न देना चाहिये।

(छ) विद्यार्थी की रुचि के अनुसार शिक्षण देना उचित है। प्रारम्भिक शिक्षण के बाद उसे रुचिकर विषय की तरफ झुकाना चाहिये, जिस से वह सरलता से अपना अधिक से अधिक विकास कर सके।

(ज) ऐसा शिक्षण न देना चाहिये जिस से मनुष्य बेकार बने।

(झ) अपने जीवन या समाज की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए शिक्षण के विषयों का चुनाव करना चाहिये।

३–धर्मशाला–(क) बिना भाड़े या नाममात्र के भाड़े से यात्रियों को ठहरने को जगह मिलना चाहिये।

(ख) यात्रियों के साथ सद्व्यवहार करना चाहिये, और उनके सामान आदि की रक्षा का पूरा प्रबन्ध होना चाहिये।

(ग) धर्मशाला गुंडों का अड्डा न हो।

(घ) शौच का और खास कर पेशाब करने का स्थान अवश्य होना चाहिये।

(ङ) सफाई का काफी खयाल रखना चाहिये।

(च) नौकरों में इनाम वगैरह मांगने की वृत्ति न होना चाहिये।

(छ) उपर्युक्त नियमों के पालन में यात्रियों को भी मदद करना चाहिये। धर्मशाला का कोई सामान चुरा लेना, खराब कर जाना आदि ऐसा पाप है जिस का प्रत्यक्ष दुष्फल सारे समाज को भोगना पड़ता है। इसलिये साधारण चोरियों से इस चोरी का पाप कई गुणा है।

४–पुस्तकालय–(क) हर गांव में छोटा बड़ा पुस्तकालय अवश्य होना चाहिये।

(ख) पुस्तकालय में मनोरंजक साहित्य के साथ ऐसा भी साहित्य होना चाहिये जो आवश्यक ज्ञान वृद्धि के लिये उपयोगी हो।

(ग) सामयिक पत्र पत्रिकाएँ भी अवश्य आना चाहिये।

(घ) पाठकों को पुस्तकालय के बारे में अधिक से अधिक ईमानदार होना चाहिये। पुस्तक या पत्र चुरा लेना, उनका कोई अंश काट लेना, पन्ना फाड़ लेना, चित्र उड़ा देना आदि ऐसा पाप है जो माफ नहीं किया जा सकता। हरएक आदमी को इससे अवश्य बचना चाहिये।

५–व्यायाम शाला–(क) शरीर की तंदुरुस्ती स्फूर्ति तथा आत्मरक्षा की कला सीखने के

लिये व्यायामशाला उपयोगी संस्था है।

(ख) स्त्रियों के लिये भी व्यायामशाला होना चाहिये। हाँ! वे पुरुषों की व्यायामशाला से अलग हों।

(ग) व्यायामशालाओं को साम्प्रदायिक या जातीय दलबन्दी के केन्द्र बनाना उचित नहीं।

(घ) गरीब से गरीब आदमी भी व्यायामशालाओं में भाग लेसके, ऐसी व्यवस्था होना चाहिये।

६-सदावर्त-(क) सदावर्त की व्यवस्था ऐसे समाज-सेवियों के लिये होना चाहिये जो समाज सेवा के लिये भ्रमण करते हैं। अकाल वगैरह के अवसर पर साधारण लोगों के लिये भी इसकी आवश्यकता है।

(ख) जो-आलसी आदमी भीख मांगना अपना धंधा बना लेते हैं वे चाहे साधु का वेष ले लेते हों, चाहे अपंग आदि का, उन्हें सदावर्त का उपयोग न करने देना चाहिये। भिखारियों की संख्या बढ़ाना—देश को दुराचारियों या मुर्दों से भर देना है।

(ग) सदावर्त में नीरस भोजन भले ही मिले, पर अस्वास्थ्यकर भोजन कदापि न होना चाहिये।

६-छात्रालय-(क) शिक्षण की सुविधा, नम्रता, स्वावलम्बन और व्यावहारिक ज्ञान की विशेषता के लिये विद्यार्थियों को घर की अपेक्षा छात्रालय विशेष लाभप्रद होते हैं।

(ख) छात्रालयों में घर की अपेक्षा बुराइयाँ भी जल्दी पैदा होती हैं, इसलिये छात्रालय के संचालकों को इन को रोकने के लिये विशेष सतर्क रहना चाहिये।

(ग) विद्यार्थी विलासी न बने, और दिनचर्या के अनुसार काम करे, इस का पूरा ख्याल रखना चाहिये।

(घ) खानपान सादगी का ख़याल रखना चाहिये।

(ङ) विद्यार्थियों को न तो इतना ढीला छोड़ना चाहिये कि वे उच्छृंखल और बेज़िम्मेदार हो जायँ और न इतना कसना चाहिये कि उन में प्रतिक्रिया होने लगे—और छात्रालय का बन्धन दूर होते ही वे विरुद्ध दिशा में दौड़ने लगें।

(च) छात्रालय में आने पर विद्यार्थी को काफी मितव्ययी होना चाहिये। ऐसा न हो कि उनका खर्च उठाने के कारण माता-पिता दिनरात चिन्ता से सूखने लगें।

छात्रालय बालकों का हो या बालिकाओं का दोनों के बारे में उपर्युक्त सूचनाएँ परिस्थिति के अनुसार लगा लेना चाहिये।

८-विधवाश्रम-(क) विधवाओं का रक्षण और पालन कुटुम्बों में ही होना चाहिये और विवाह योग्य विधवाओं के पुनर्विवाह की व्यवस्था कुटुम्बों की तरफ से होना चाहिये जिस से विधवाश्रमों की आवश्यकता न हो; परन्तु अगर समाज की अवस्था पतित होने के कारण उस में ये सुविधाएँ न हों तो विधवाश्रम उपयोगी संस्था है।

(ख) विधवाओं को शिक्षित सुसंस्कृत और जीवन निर्वाह के योग्य बनाने की पूरी कोशिश करना चाहिये और विवाहेच्छुक विधवाओं के विवाह की पवित्र योजना करना चाहिये। ऐसा न हो कि विधवाश्रम विधवाओं के खरीदने बेचने की दूकान बन जायँ। ऐसी अवस्था में विधवाश्रम पापाश्रम बन जायगा।

९–महिलाश्रम–(क) इस में कुमारी, विधवा और विवाहित तीनों का समावेश होता है। विधवाओं के बारे में तो विधवाश्रमवाली सूचनाएँ ही ठीक हैं। कुमारियों के लिये यह ध्यान में रखना चाहिये कि भविष्य के वैवाहिक जीवन के योग्य उनका शिक्षण हो। केवल किताबी शिक्षण न होना चाहिये। आवश्यक गृहकार्य-कुशलता और स्वावम्बन जरूरी है। विवाहित स्त्रियाँ अपवाद रूप में ही महिलाश्रम में आती हैं। उनके बारे में देखना चाहिये कि वे जिस कुटुम्ब से आती हैं उस कुटुम्ब के योग्य बनने में उन में क्या कमी है, उसी कमी को हटाने का विशेष उद्योग होना चाहिये।

(ख) महिलाओं को आत्मरक्षा के योग्य शारीरिक शिक्षण और उसके अनुकूल मनोवृत्ति का शिक्षण अवश्य मिलना चाहिये।

(ग) बच्चों के पालन पोषण तथा चिकित्सा का शिक्षण भी अवश्य मिलना चाहिये।

(घ) साहित्य, समाज-शास्त्र, राजनीति शास्त्र आदि के साथ किसी ललितकला का शिक्षण भी उपयोगी है।

(ङ) जिस समाज में नारी विशेष रूप में दलित हो–वह पर्दा प्रथा तथा अन्य कुरूढ़ियों का शिकार हो–उस में नारी शिक्षण में इन कुरूढ़ियों का हटाना, उचित रीति से और उचित मात्रा में नरनारी समभाव पैदा करना बहुत जरूरी है।

(च) अपने आर्थिक मूल्य को पहिचान सके, अपने अर्थ की रक्षा कर सके, बैंक आदि से खुद सम्बन्ध रख सके, ये सब बातें भी नारी को सिखा देना चाहिये।

१०–उद्योग-शाला–(क) मरे हुए उद्योगों को जनहित की दृष्टि से जिलाना, या नये उद्योगों को खड़ा करनेके लिये संस्था खड़ी कराना जरूरी है।

(ख) अगर विदेशी लोगों की अनुचित प्रतियोगिता के कारण देश उद्योग-हीन बनकर गरीब हो रहा हो तो उन उद्योगों को खड़ा करने के लिये घाटा सहना भी उचित है। यह काम उद्योग-शाला को लेना चाहिये।

(ग) उद्योग-शाला का लक्ष्य दूसरे देशों पर औद्योगिक आक्रमण नहीं, किन्तु अपने देश के उचित उद्योगों की रक्षा करना होना चाहिये।

(घ) जीविकाहीन लोगों को जीविका से लगा देना, जीविका के लिये साधन जुटा देना भी उद्योग-शाला का काम है।

(ङ) हां! इस बात का खयाल रखना चाहिये कि सहायता पाने वाले लोगों में बेईमानी न आ जाय।

(च) उद्योग के नाम पर किसी को पाप-जीविका में न लगाना चाहिये।

११–ग्रंथ-प्रकाशन–(क) अच्छे अच्छे ग्रंथों का प्रकाशन कराके उन को यथाशक्य अल्प मूल्य में वितरित करना भी एक लोकोपयोगी काम है।

(ख) प्राचीनता के नाम पर या साम्प्रदायिक व्यामोह के कारण निकम्मा साहित्य प्रकाशन करना समाज की शक्ति, सम्पत्ति और समय का अपव्यय करना है।

(ग) साहित्य प्रकाशन ऐसा होना चाहिये जो अनेक दृष्टियों से नवयुग के लिये भी उपयोगी हो।

(घ) सिर्फ नाम के प्रसार के लिये निकम्मा साहित्य तैयार करना और उसे प्रकाशित करना भी शक्ति, सम्पत्ति और समय का अपव्यय है।

(ङ) साहित्य का प्रचार करना भी प्रकाशन के समान पुण्य-कार्य है।

(च) ग्रंथ-प्रकाशन जिन की जीविका है, वे भी अगर नीति और ईमानदारी से यह काम करें और जनहित के आगे जनरुचि और अपने स्वार्थ को गौण रक्खें तो वे भी पुण्यात्मा है।

(छ) जनहित की मुख्यता से मासिक साप्ताहिक आदि पत्रों का प्रकाशित करना भी एक पुण्यकार्य है।

१२ सेवक-दल- (क) हर गांव में इस संस्था की जरूरत है।

(ख) आग लगने आदि में मदद करना, गांव के ऊपर आये हुए किसी भी संकट में सहायता करना, मेलों-उत्सवों आदि का प्रबन्ध करना, गांव में सफाई आदि रखना, संकट-ग्रस्त लोगों को ढूँढना और उन की मदद करना, इत्यादि सैकड़ों काम सेवक-दल के द्वारा हो सकते हैं।

गुंडों से सज्जनों की रक्षा करना, नारियों की इज्जत की रक्षा करना भी सेवक-दल के मुख्य कार्य हैं।

(ग) सेवक-दल में निस्वार्थ और उत्साही व्यक्तियों को ही शामिल होना चाहिये।

(घ) सेवकों को सैनिकों की तरह आज्ञाकारी होना चाहिये।

१३ संग्रहालय-(क) ज्ञानिवृद्धि के लिये जड़ और चेतन पदार्थों के संग्रहालय भी जरूरी संस्था हैं। संग्रहालयों से विचारों की संकुचितता दूर होती है और कभी कभी जीवन-विकास का रास्ता भी दिख पड़ता है।

(ख) प्राचीनकाल के उपयोगी पदार्थ, जुदे-जुदे देशों के विचित्र और विशेष पदार्थ तथा जीव-जन्तुओं का संग्रह संग्रहालयों में होना चाहिये।

(ग) चीजों का परिचय ऐसी भाषा में होना चाहिये जिसे सब समझ सकें। अर्थात् जो उस स्थान की लोक-भाषा या राष्ट्रभाषा हो।

(घ) चीजों को सिलसिले से रखना चाहिये और उनकी रक्षा का प्रबन्ध भी अच्छा होना चाहिये, साथ ही उनका परिचय भी यथाशक्य विस्तृत देना चाहिये।

१४-अनाथालय-[क] कुटुम्ब-हीन बच्चे मारे मारे न फिरें, इसके लिये अनाथालयों की जरूरत हैं।

[ख] दो चार अनाथ बच्चों को रख कर उनके बहाने भीख मांग कर अपनी जीविका करना समाज के साथ विश्वासघात है।

[ग] अनाथ बच्चों को ले जाकर भीख मांगने की कला सिखा देना और उनका विकास रोक देना—अपने स्वार्थ के लिये एक प्रकार से उन बच्चों की हत्या करना है।

[घ] अनाथ बच्चों में दीनता न आने पाये इसका खयाल रखना चाहिये।

[ङ] अनाथालयों का काम किसी प्रकार बच्चों को जिन्दा रखना नहीं है, किन्तु उन में आदमियत पैदा करना है।

१५-मिलन-मन्दिर-[क] लोकहित की दृष्टि से, परस्पर परिचय के लिये, तथा निर्दोष क्रीड़ा के लिये नागरिकों के इकट्ठे होने का स्थान मिलन-मन्दिर है।

[ख] मिलन-मन्दिरों में जूआ, शराब, वेश्या-नृत्य आदि कुकार्य न होना चाहिये।

[ग] ऐसे खेल भी न होना चाहिये या ऐसे तरीके से न होना चाहिये, जिससे दुश्मनी या विरोध जड़ जमा ले।

१६-पशुशाला-[क] कृषि आदि में उपयोगी पशुओं की नस्ल सुधारने के लिये, उन्हें

स्वस्थ रखने के लिये पशुशाला भी एक जरूरी संस्था है।

[ख] पशुशाला में मुख्य दृष्टि आर्थिक होना चाहिये। दूसरी दृष्टि जीव दया की होना चाहिये। पर साम्प्रदायिक दृष्टि न होना चाहिये।

१७ भाषाप्रचारक-(क) राष्ट्रभाषा प्रचार के लिये राष्ट्र के भीतर और विश्वभाषा प्रचार के लिये विश्वभर में प्रयत्न करने के लिये भाषा-प्रचारक सम्मेलन आदि संस्थाएँ भी जरूरी हैं।

(ख) इन का लक्ष्य अपनी भाषा दूसरों पर लादना नहीं, किन्तु मनुष्य-मात्र में सहयोग बढ़ाने का होना चाहिये।

[ग] भाषा सुधार के काम भी इन भाषा प्रचारक संस्थाओं के जिम्मे किये जा सकते हैं। या भाषा-सुधार के लिये इसी ढंग की कोई संस्था बनाई जा सकती है।

[घ] लिपि-सुधार या सुधरी लिपि का प्रसार का काम भी, यह या ऐसी ही किसी संस्था को करना चाहिये।

१८ मुक्ति-मंडल (क) कोई देश या जाति या वर्ग दासता के चंगुल में फसा हो तो उसे मुक्त करने के लिये मुक्ति-मण्डल या ऐसे ही किसी नाम-वाली संस्थाओं की जरूरत है।

[ख] ये मंडल राजनीति में प्रत्यक्ष भाग ले सकते हैं, अपने ध्येय की पूर्ति के लिये युद्धादि भी कर सकते हैं। पर पक्ष न्यायपूर्ण होना चाहिये।

[ग] हर तरह के अन्याय अत्याचार के प्रतिरोध के लिये भी ये मंडल काम कर सकते हैं।

[घ] प्रचलित कानूनों की मर्यादा में रहकर अथवा कानून-भंग करके दमन सहकर या सर्वतोमुखी विद्रोह करके भी यह काम करना चाहिये। ये सब बातें परिस्थिति और शक्ति के अनुसार निर्णय करने की हैं। न्यायोचित बल-प्रयोग, और वह भी दूसरा उपाय न रहने पर, अधर्म नहीं है, फिर भी वह अंतिम उपाय के रूप में होना चाहिये।

[ङ] मुक्ति-मंडलों का ध्येय पीड़ितों की हैवानियत और पीड़कों की शैतानियत हटाकर दोनों में मनुष्यता का प्रचार करना है।

[च] अपने ध्येय के अनुरूप कार्य करने वाली अनेक तरह की संस्थाओं से भीतरी सहयोग रखना चाहिये। ऐसा न हो कि नीतिभेद के कारण पीड़ितों की शक्ति असंगठित होकर नष्ट-भ्रष्ट हो जाय और पीड़क इन्हीं मतभेदों के कारण पनपते रहें या सुरक्षित रहें।

[छ] मुक्ति-मंडलों को प्रलोभनों से बचना चाहिये। हो सकता है कि पीड़क लोग तुम्हारी पूरी रोटी छीनने के लिये उसका एकाध टुकड़ा देकर तुम्हें बहलायें। इस प्रकार प्रलोभन के कारण तुम्हारा मुक्ति कार्य ही रुक जाय।

[ज] हां! अगर दिये गये प्रलोभनों को पचाने की तुम्हारे दल में ताकत हो तो उन को आगे बढ़ने की सीढ़ी के रूप में स्वीकार कर लो पर उनके लेने के लिये ऐसे निःस्वार्थ व्यक्ति चुनो जो उनका जरा भी लाभ न उठावें और उन प्रलोभनों में न फस जावें।

[झ] मुक्तिमण्डलों में हरएक व्यक्ति का मूल्य उसकी सेवा के अनुसार करना चाहिये। और सफलता के बटवारे में त्याग सेवा आदि गुणों का विशेष ध्यान रखना चाहिये। हाँ! कोई जिम्मेदारी सौंपने में ईमानदारी और योग्यता का भी उचित विचार करना चाहिये।

(ञ) मुक्तिमण्डलों का संगठन अत्यन्त विश्वसनीय और अनुशासन-पूर्ण व्यक्तियों द्वारा होना चाहिये।

(ट) मुक्तिमण्डल के कार्यकर्ताओं में साधुता और सैनिकता का अच्छा समन्वय होना चाहिये। हां! यह भी आवश्यक है कि अपनी अपनी योग्यता के अनुसार सब लोग काम करें।

(ठ) मुक्तिमण्डलों के कार्यकर्ताओं में किसी तरह का जातीय पक्षपात न होना चाहिये। उनका ध्येय मनुष्यता की विजय हो। शक्ति या आवश्यकता के अनुसार कार्य क्षेत्र उनका छोटा हो तो भले ही रहे, पर उनकी दृष्टि विशाल से विशाल हो।

संस्थाएँ और भी अनेक तरह की होती हैं। यहां तो दिशासूचन के लिये कुछ का थोड़े में उल्लेख किया गया है। संगठित रूप में जनसेवा और आत्महित का काम करने के लिये संस्थाओं की बड़ी जरूरत है।

व्यवहार-काण्ड (पांचवाँ अध्याय

राज्य

राज्य भी एक संस्था है। पर संस्था से इस में विशेषता यह है कि अमुक भूभाग के भीतर रहनेवाले मनुष्यों को अमुक अंश में राज्य को सहयोग देना ही पड़ता है या उसकी मर्यादाएँ मानना ही पड़ती है। इस तरह की विवशता एक तरह से जरूरी है।

राज्यसंस्था का ज्यों ज्यों विकास होता जाता है त्यों त्यों उसका क्षेत्र भी बढ़ता जाता है, और उसका रूप भी बदलता जाता है। शुरु शुरु में राज्यसंस्था, पंचायत के ढंग की एक छोटी सी चीज थी जिस में एक मुखिया चुन लिया जाता था। वह मुखिया रक्षा न्याय आदि का कार्य अच्छी तरह से कर सके इसलिये प्रजा की तरफ से कुछ चन्दा दिया जाने लगा जिसे कर या टैक्स आदि कहते हैं। इसके द्वारा वह प्रजा की सेवा के लिये साधन जुटाता था। धीरे धीरे शासकों में विकार आने लगा और वे सेवक के बदले मालिक बन गये, इससे राज्यसंस्था एक भयंकर बोझ बन गई। संस्था का ध्येय नष्ट-प्राय हो गया। इसको उपयोगी बनाये रखने के लिये यह जरूरी है कि शासक ठीक हों। इसलिये यहां कुछ ऐसी सूचनाएँ दी जाती है जिन का ध्यान रखने से शासक सुशासक बन सकता है।

शासकों को सूचनाएँ—

१—जो शासक यह समझते हैं कि उन्हें ईश्वरकी तरफसे शासनका अधिकार मिला है उन्हें समझना चाहिये कि उनकी नियुक्ति ईश्वरकी तरफ से नहीं किन्तु जनता की तरफ से है। उनके हाथ में जो अधिकार हैं वे जनता के द्वारा दिये गये अधिकार हैं। इसलिये जनता अगर उन्हें छीन ले या कम करदे तो यह अनधिकार चेष्टा न कहलायगी।

(यों तो ईश्वरवाद के अनुसार सभी कुछ ईश्वर का दिया हुआ है पर यहां यह देखना है कि राज्य के अधिकारों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध किस से है। ईश्वर अगर किसी व्यक्ति को राजा या शासक बनाना चाहेगा तो वह प्रजा में उस व्यक्ति के प्रति आकर्षण पैदा करेगा। इसलिये किसी राजा या शासक को यह न कहना चाहिये कि ये अधिकार के बारेमें प्रजा को कुछ करना धरना न चाहिये)

२—'वीरभोग्या वसुन्धरा' अर्थात् पृथ्वी वीरों से भोग्य है इस कहावत में किसी जमाने में तथ्य भले ही रहा हो पर इसमें सत्य न तो था न है। क्योंकि पृथ्वी अर्थात जनता भोग की चीज नहीं है सेवा की चीज है। राजा या शासक बनने ध्येय जनता का भोग करना नहीं किन्तु सेवा करना है। वह सेवा बहादुर से इतनी नहीं होती

जितनी निस्वार्थ ज्ञानी व्यक्ति से। इसलिये न तो शासकता का सम्बन्ध वीरता से मानना चाहिये न जनता को भोग्य समझना चाहिये।

३—बड़े से बड़े शासक के हाथ में बड़े से बड़े अधिकार हो सकते हैं पर इससे वह यह न समझे कि वह बड़ा से बड़ा जनसेवक भी है। बड़े से बड़े ज्ञानी तपस्वी गुणी जनसेवक ऐसे हो सकते हैं जो शासन सूत्र हाथ में नहीं लेते उन का सन्मान रखना शासक का कर्तव्य है। राज्य-कर्मचारी होने से ही कोई दूसरे अधिकारहीन गुणियों से महान नहीं हो जाता। बल्कि राज्य-कर्मचारी होने से उसे सेवा का प्रतिफल काफी मिल जाता है इसलिये दूसरे गुणियों की अपेक्षा उसकी सेवकता का मूल्य कम होजाता है।

४—राज्य की सम्पत्ति जनता की सम्पत्ति है। शासन व्यवस्था राज्यतन्त्र अधिनायक तन्त्र आदि किसी भी तरह की क्यों न हो उस पर किसी शासक का अधिकार नहीं है। प्रजाहित की दृष्टि से ही वह उसे खर्च कर सकता है अपने स्वार्थ की दृष्टि से नहीं। अपने लिये तो अपनी योग्यता और सेवा के अनुसार वेतन की तरह परिमित रकम ही उसे लेना चाहिये।

५—शासक के लिये भूपति (पृथ्वी का मालिक) आदि शब्द जो किसी किसी भाषा में प्रचलित हो गये हैं बिलकुल गलत हैं और इस बात की निशानी है कि किसी जमाने में शासक लोगों ने प्रजा के अधिकार हड़पकर उनपर अपनी मालिकी की छाप लगा ली थी. इसलिये ऐसे शब्दों का बहिष्कार करना चाहिये। हां! भूप (पृथ्वी का रक्षक) भूपाल (पृथ्वी का पालक) आदि शब्द कुछ नरम हैं इसलिये ये किसी तरह रह सकते हैं।

६—प्रजाहित की दृष्टि से ही दंडादि व्यवस्था होना चाहिये। अपने व्यक्तिगत द्वेष आदि के कारण नहीं।

७—शासक को अपनी भाषा वेषभूषा आदि प्रजा के ऊपर न लादना चाहिये। बल्कि इनके जरिये प्रजा में मिलना चाहिये।

८—प्रजा के भीतर जितने धर्म और जातियों के लोग हों उनके बारे में शासक को समभावी होना चाहिये। जिससे हरएक वर्ग का आदमी समझ सके कि यह हमारा है पराया नहीं है।

९—शासक का विदेशी होना उचित नहीं हां! यह बात दूसरी है कि कोई इसी देश का वाशिन्दा बन जाय और इसे ही अपनी मातृ-भूमि समझने लगे। अथवा अनेक देश बराबरी के नाते से सम्मिलित हो जाँय और शासक उन्हीं में से किसी एक देश का नागरिक हो। मतलब यह कि शासक ऐसा न हो जिसे प्रजा दैशिक दृष्टि से पराया समझे। और न शासक की नीति ऐसी होना चाहिये कि जिस से एक देश का शोषण और एक का पोषण हो।

१०—शासक को कोई ऐसा काम नहीं करना चाहिये जो राज्य के कानून के विरुद्ध हो। अगर कानून बनाने का अधिकार भी शासक को प्राप्त हो तो उसे ऐसा कानून न बनाना चाहिये जिस में प्रजाहित पर उपेक्षा हो और शासक का स्वार्थ सधता हो।

११—अपने विरुद्ध प्रजा की आवाज को दबाने के लिये शासक को सत्ता का उपयोग न करना चाहिये। अपने पक्ष का समर्थन उसे न्यायोचित वक्तव्यों से ही करना चाहिये।

१२—शील, ईमानदारी, दयालुता, निःपक्षता कर्मठता, सतर्कता आदि गुण उसमें जनसाधारण से कुछ विशेषमात्रा में होना चाहिये।

विविध तन्त्र —

राज्य का संचालन कई तरह से होता है। पर उसके मुख्य तीन भाग हैं। १ राजतंत्र, २ अधिनायक तंत्र, ३ प्रजातंत्र।

१ राजतंत्र में शासन का सूत्र एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में होता है जो वंश परम्परा से या वंश परम्परा के लिये राज्य का सर्वोच्च अधिकारी माना जाता है। भलाई बुराई न्याय अन्याय की सारी जिम्मेदारी इसके हाथ में होती है।

२–अधिनायक तंत्र में राज्य एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में होता है जो जीवन भर के लिये या अनिश्चित समय के लिये मुख्य शासक बन गया है, और जिसके हाथ में सब से अधिक अधिकार हैं। एक तरह से यह राजा की तरह होता है अन्तर इतना ही है कि राजा वंश परम्परा के लिये होता है जब कि यह जीवन भर के लिये या जबतक अपनी ताकत से या योग्यता से अपना पद रख सके तब तक के लिये होता है।

३–प्रजातन्त्र में शासन सूत्र जनता के द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में रहता है। साधारणतः उपर्युक्त दोनों तन्त्रों की अपेक्षा प्रजातन्त्र अच्छा समझा जाता है, वास्तव में वह है भी अच्छा। लेकिन तन्त्र को जितना महत्त्व है व्यक्तियों को उससे कम महत्त्व नहीं है। व्यक्ति या समाज में अगर ईमानदारी न हो तो प्रजातन्त्र भी निष्फल जाता है।

असल बात तो यह है कि तीनों ही तंत्र अपने अपने समय में उपयोगी हो सकते हैं और तीनों ही तन्त्रों में ऐसे कीटाणु आ सकते हैं जो राज्य के ध्येय को नष्ट कर दें। यहां तीनों तन्त्रों के अच्छे और बुरे रूप बता दिये जाते हैं।

राजतन्त्र—राजतन्त्र में सुभीता यह है कि शासन की धारा बड़े आराम से चलती है जनता को तो अपने काम से ही फुर्सत नहीं होती तो राज्य के झगड़ों में सिर मारने को समय कहां से लाय ? वह शासन व्यवस्था एक राजा के ऊपर छोड़ कर निश्चिन्त हो जाती है, और राजा को भी अपने पद की स्थायिता के कारण प्रेम हो जाता है, और कभी कभी तो महात्मा रामचन्द्र सरीखे राजा दिखाई देने लगते हैं जो प्रजा के हित के लिये अपने वैयक्तिक अधिकार वैयक्तिक सुविधाओं का भी बलिदान कर देते हैं। ऐसे राजतंत्र के आगे ऊंचे से ऊंचे प्रजातंत्र भी फीके पड़ जाते हैं।

पर राजतन्त्र का यह अच्छा रूप स्थायी नहीं होता। जन्म के ही कारण प्राप्त हुए अधिकारों के मद में राजा लोग अपने को भूल जाते हैं ज्यादातर वे विलासी बन जाते हैं। प्रजा की कमाई अपने विलास के लिये स्वाहा करने लग जाते हैं। राज्य की आमदनी का अपने को मालिक समझने लग जाते हैं। प्रजा के किसी भी व्यक्ति का महत्त्व उनके आगे नहीं रहता। कानून की वे परवाह नहीं करते। मन चाहा कानून बनाते हैं। और जिस चाह के साथ जैसा चाहे व्यवहार करते हैं। इसलिये राजतंत्र अन्त में अच्छी चीज नहीं रहता। किसी खास प्रसंग और किसी खास व्यक्ति की बात दूसरी है साधारणतः राज्यतन्त्र की आवश्यकता दुनिया को अब नहीं है।

दूसरा है अधिनायक तंत्र इस की भी उपयोगिता है। खास कर ऐसे मौके पर जब कि प्रजा असंगठित और निर्बल हो। छोटे छोटे दल आपसी तू तू मैं मैं के कारण प्रजा की शक्ति

और सम्पत्ति बर्बाद कर रहे हों प्रजा विदेशियों के पैरों तले कुचली जा रही हो ऐसी हालत में कोई योग्य व्यक्ति प्रजा में जीवन संचार कर उसे बलवान, स्वतन्त्र और सुखी बनावे और इसके लिये वह अधिनायक बन जावे तो कोई बुरा नहीं है।

कभी कभी अधिनायकतन्त्र राजतन्त्र की पोशाक भी पहिने रहता है। राजा तो होता है पर वह सिर्फ शोभा के लिये। शासन सूत्र का संचालक उसी का महामंत्री आदि कहलाने वाला बन जाता है पर वास्तव में वह होता है अधिनायक ही।

कहीं कहीं पर शासक का चुनाव जीवनभर के लिये होता है और उसके मरने के बाद फिर दूसरा शासक प्रजा की तरफ से चुन लिया जाता है। जैसा कि इस्लाम के प्रारम्भ में खलीफाओं का चुनाव होता था। यह भी एक तरह का अधिनायक तंत्र ही है।

राजतन्त्र से यह अधिनायक तंत्र कुछ ठीक कहा जा सकता है। फिर भी इस तंत्र का बहुत दिन तक चलना कठिन है, क्योंकि कुछ अधिनायकों के बाद अधिनायक तंत्र राजतन्त्र बनने की तरफ झुकने लगता है और इससे बड़ी अशान्ति और मारकाट होती है।

जो अधिनायक जीवन भर के लिये चुने नहीं जाते किन्तु अपने संगठन बल के कारण अनिश्चित समय के लिये अधिनायक बन बैठते हैं उनके शासन में खराबी की बहुत संभावना है, क्योंकि ऐसे लोग अपने विरोधियों को बहुत निर्दयता पूर्वक कुचलने की कोशिश करते हैं। इसलिये आमतौर पर ऐसा अधिनायक तंत्र अच्छा नहीं होता। हां! कभी कभी ऐसा अवसर अवश्य आता है कि जब देश के पुनरुद्धार के लिये ऐसे अधिनायकों की जरूरत होती है।

तीसरा तंत्र है प्रजातंत्र। साधारणतः यह दोनों तंत्रों से अच्छा है। पर प्रजातन्त्र के लिये प्रजा का विकसित होना जरूरी है। और चुनाव का ढंग भी ऐसा होना जरूरी है जिससे योग्य सेवक चुने जा सकें। प्रजातन्त्र में निम्न लिखित बुराइयाँ आने की सम्भावना रहती है।

१-योग्य और सच्चे सेवक इसलिये प्रतिनिधित्व के लिये खड़े नहीं होते कि उन्हें बेशर्मी से आत्मश्लाघा करना पड़ती है।

२-चुनाव में खर्च बहुत होता है। अगर चुना जाकर कोई आदमी सचमुच सेवा करना चाहता है तो उसके ऊपर चुनाव के खर्च का बोझ पड़ना अनुचित है। इस बोझ के कारण भी सच्चे सेवक चुनाव में खड़े नहीं होते।

३-जब मतदाताओं की मनोवृत्ति ऐसी होती है कि जो उन्हें मत देने के लिये मनाने आये, गाड़ी आदि में ले जाय, वहां खाने पीने आदि का प्रबन्ध करे, उसी को वे मत देंगे तो पैसेवाले लोग त्यागी और सेवकों पर विजय पा जाते हैं। फिर जनसेवा भी पैसेवालों का एक धंदा बन जाता है, तब शासन में प्रजा की आवाज नहीं, पैसेवालों की आवाज ही सुनाई पड़ने लगती है। प्रजातंत्र नष्ट हो जाता है।

४-पैसा देकर मत (वोट) खरीदने का भी रिवाज चल पड़ता है। अगर प्रजा का बहुत बड़ा भाग मत के बारे में ईमानदार न हो तो पैसेवाले लोग ही मत खरीद कर अपने को चुनवा लेते हैं इस प्रकार भी प्रजातंत्र की हत्या हो जाती है।

५—चुने हुए लोगों को हजारों रुपयों की भेंट देकर भी उन्हें खरीद लिया जाता है। इसलिये जनता के प्रतिनिधि कोई भी बने पर असली शासक वे श्रीमान ही बन जाते हैं जिनने थैलियों के बल पर उन प्रतिनिधियों को खरीद लिया है।

६-जब प्रजा का बहुभाग अशिक्षित रहता है, तब स्वार्थी प्रतिनिधियों के दूत उन्हें बहकाकर मनचाहा मत दिला देते हैं। सच्चे सेवक तो ऐसे दूत (केनवासर) खड़े कर नहीं सकते या उचित नहीं समझते, तब शासन स्वार्थियों के हाथ में पहुँच जाता है।

इस प्रकार प्रजातंत्र के निष्प्राण होने या दूषित होने के बहुत से, कारण हैं इन कारणों को दूर करना चाहिये। इस बारे में निम्न लिखित सूचनाएँ उपयोगी हो सकती हैं।

१—चुनाव के लिये कोई अपनी तरफ से खड़ा न हो किन्तु सौ पचास या एक निश्चित संख्या में मतदाता जिसे अपनी तरफ से खड़ा करना चाहें उसे खड़ा कर दें। और अमुक समय के भीतर अगर उसकी तरफ से कोई विरुद्ध न हो तो उसे चुनने के लिये खड़ा समझा जाय।

२—प्रतिनिधित्व के लिये खड़ा किया जाने वाला व्यक्ति अपनी नीति की घोषणा कर दे और कितना सहयोग दे सकता है इतना बता दे। निन्दा आदि करनेवाला अपने को चुनवाने के लिये घर घर जानेवाला, तात्कालिक उदारता का प्रदर्शन देनेवाला, चुनाव के लिये खूब पैसे बहाने वाला व्यक्ति स्वार्थी समझा जाय। जनता को चाहिये कि उसे न चुने।

३-जब तक आर्थिक विषमता है तब तक प्रजातंत्र अच्छी तरह पनप नहीं सकता। अगर किसी मतदाता को अपने मत के लिये दस पांच रुपये मिल जाते हैं तो वह इसी में सन्तोष करता है कि चलो 'जो कुछ मिला वही बहुत है कोई भी शासक हो अपने को क्या ?' गरीबी उसे इस प्रकार लालच में डाल ही देती है। इसका अमोघ उपाय यही है कि प्रजा के जीवन में इतनी आर्थिक विषमता न रहे कि कोई आदमी तो प्रतिनिधित्व के लिये हजारों लाखों खर्च करके मतदाताओं के मत खरीद सके, और कोई इतना गरीब हो कि जीवन निर्वाह के लिये वह अपना मत भी बेंच दे।

बात यह है कि आर्थिक विषमता जब अधिक परिमाण में होती है तब प्रजातंत्र की रक्षा इतनी कठिन हो जाती है कि उसे असम्भव तक कह सकते हैं। धनिक वर्ग न केवल मतदाताओं के मत पैसों में खरीद लेते हैं किन्तु वे प्रचार के सब साधन खरीद कर जनता को भ्रम में डाल सकते हैं। उदाहरणार्थ वे समाचार पत्रों के मालिक या संचालक बनकर उनके द्वारा अपना या अपनी स्वार्थमय नीति का आन्दोलन कराते हैं। अथवा समाचार पत्रों को विज्ञापन देकर या सहायता देकर वे यही काम कराते हैं।

इसी प्रकार लेखकों कवियों और कलाकारों को नौकर रखकर या उन्हें आर्थिक सहायता देकर वे उन्हें खरीद डालते हैं और उनसे अपना प्रचार कराते हैं, सिनेमा गृहों को अंकुश में रख कर भी वे यही काम कराते हैं, यहां तक कि धार्मिक या सामाजिक संस्थाओं को स्थापित कर या दान देकर उन पर अपनी नीति का प्रभाव डालते हैं, इस प्रकार प्रचार के सब साधन उनके हाथों में पहुँच जाते हैं और जनता को ठग कर प्रजातंत्र के प्राण निकाल लेते हैं। इससे प्रजातंत्र के स्थान पर धनिकों का अधिनायक

तंत्र स्थापित हो जाता हैं। यद्यपि कुछ धनिक उदार और निःस्वार्थ भी होते हैं फिर भी हजारों में एकाध के ऐसा होने से प्रजातंत्र की हत्या रुक नहीं पाती। इसलिये प्रजातंत्र को शुद्ध रूप में जीवित रखने के लिये आर्थिक विषमता का नष्ट होना या काफी कम परिमाण में होना जरूरी है।

४–किसी अपवाद को छोड़कर साधारणतः यह नियमसा बना लेना चाहिये कि धनवानों को या उनके आश्रितों को शासन कार्य के लिये न चुना जाय। विद्वत्ता और सेवावृत्ति को ही इस कार्य के लिये महत्त्व दिया जाय।

५–जनता को इतनी मात्रा में सुशिक्षित होना जरूरी है कि वह शासन सम्बन्धी भलाई बुराई को काफी मात्रा में समझ सकें और ईमानदार निष्पक्ष और निस्वार्थ व्यक्तियों को चुन सके।

इस प्रकार के और भी समयोचित उपाय ढूंढना चाहिये जिससे प्रजातंत्र की प्रजातंत्रता सुरक्षित रह सके।

प्रजातंत्राभास–जो तंत्र प्रजातंत्र सरीखा माळूम होता है किन्तु विधान की दृष्टि से पूर्ण प्रजातंत्र होता नहीं है उसे प्रजातंत्राभास कहते हैं। पहिला प्रजातंत्राभास वह है जिस में मतदान का अधिकार बहुत सीमित और पक्षपातपूर्ण है। जैसे अमुक जाति के या अमुक सम्प्रदाय के लोगों को ही मत देने का अधिकार होना, या इतने पैसे वाले को मतदान का अधिकार होना आदि। अगर ब्राह्मण ही मतदाता (वोटर) हों, या क्षत्रिय ही मतदाता हों या गोरे ही मतदाता हों तो यह प्रजातंत्राभास कहलायगा। प्रजातंत्र में आवश्यक है कि उस देश के हरएक नागरिक को मतदान का अधिकार होना चाहिये।

प्रश्न–मतदान का अधिकार होने पर भी अगर किसी में मतदान की योग्यता न हो अथवा किसी बुराई के कारण किसी का मतदान का अधिकार छीनना हो तो क्या ऐसा करने से कोई प्रजातंत्र प्रजातन्त्राभास कहलायगा।

उत्तर–नहीं। नाबालिगों, चोरी बदमाशी आदि में सजा पाये हुए व्यक्तियों, समाज की सेवा न करके भीख मांगकर पेट भरनेवाले व्यक्तियों को अगर मताधिकार न दिया जाय तो इसमें प्रजातंत्र की हानि नहीं है। जाति, धर्म (विचार आदि) सम्पत्ति आदि के कारण मताधिकार छीनने से प्रजातंत्राभास होता है।

प्रश्न–अगर पुरुषों को मताधिकार हो और स्त्रियों को मताधिकार न हो तो ऐसे तंत्र को प्रजातंत्राभास कहेंगे कि नहीं?

उत्तर–यह भी एक तरह का प्रजातन्त्राभास है। फिर भी उपर्युक्त प्रजातन्त्राभास सरीखा नहीं है। जिस समय राज्य की इकाई व्यक्ति नहीं कुटुम्ब माना जाता है और कुटुम्ब का मुखिया पुरुष माना जाता है (क्योंकि पुरुष का कार्य-क्षेत्र बाहर निश्चित किया गया है) ऐसी हालत में पुरुष को ही मताधिकार क्षन्तव्य होता है। फिर भी है यह प्रजातन्त्राभास ही। आवश्यकता इस बात की है कि नर और नारी दोनों को मताधिकार हो। नारी को मताधिकार न होना तो अब अक्षन्तव्य है।

दूसरा प्रजातंत्राभास वह है जिसमें प्रजातंत्र की नकल तो है पर वास्तविक सत्ता दूसरों के हाथ में है। जैसे एक देश दूसरे देश को गुलाम बनाकर उस देश के आदमियों को भुलाने या उनमें फूट डालने के लिये प्रजातंत्र का ढोंग करे, धारासभा आदि बना दे पर उसके मत का

मूल्य न हो, असली सत्ता किसी दूसरे के हाथ में हो, जिसकी आज्ञा के आगे धारासभा की कुछ न चले तो वह प्रजातंत्राभास कहलायगा। ऐसा प्रजातन्त्राभास राजतन्त्र और अधिनायक तंत्र के समान है और अगर वह विदेशी या विजातीय हो तब तो और भी बुरा है।

प्रश्न–अगर प्रजातन्त्र का रूप भी हो और राजा भी हो तो उसे कौनसा तंत्र कहा जायगा?

उत्तर–जिसके हाथ में सर्वोच्च सत्ता हो उसी के अनुसार उस तंत्र का नाम होगा। राजा अगर धारासभा के नियन्त्रण में है तो वह प्रजातंत्र ही है और राजा अगर धारासभा को खुद ही चुन लेता है या प्रजा के द्वारा चुनी हुई धारासभा की बात मानने को वह विवश नहीं है तो वह राजतन्त्र ही है।

प्रजातंत्र का निर्णय उसके ऊपरी रूप से नहीं किन्तु उसके भीतरी बल से करना चाहिये। सच्चा प्रजातन्त्र शासन ही दुनिया के लिये सुखंकर हो सकता है। यद्यपि कभी कभी राजतन्त्र और अधिनायक तंत्र भी अच्छे हो सकते हैं पर वह सब अपवाद या आपद्धर्म समझना चाहिये। निर्दोष प्रजातंत्र की स्थापना करना ही उचित है। इसमें न साम्राज्यवाद रह सकता है न पूंजीवाद।

सरकार के कार्य—

हर तरह की सेवा करना सरकार का कर्तव्य है। यथासम्भव कम से कम अंकुश और अधिक से अधिक जनहित सरकार की नीति होना चाहिये। जो सरकार जितनी उच्च होगी उसकी सेवा का क्षेत्र उतना ही विशाल होगा। वह एक भी ऐसा अंकुश न लगायगी जो जनहित के लिये जरूरी न हो। उसके कर्मचारी ईमानदार नम्र और सेवाभावी होंगे। जिन से प्रजा को हर कार्य में सच्चा सहयोग मिला करेगा।

सरकार के कार्य असीम हैं। जैसे अर्थ विभाग, रक्षा, (सेना पुलिस) न्याय, लेन-देन की व्यवस्था, यातायात, बाजारों की व्यवस्था, सिक्का आदि अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय, डांक, शिक्षा, अन्वेषण (विविध) संस्कृति–रक्षा, उद्योग, स्वास्थ्य, चिकित्सा, बैंक, बीमा, जनगणना आदि। यहां सब के नाम देने की जरूरत नहीं है किन्तु कुछ विशेष मुद्दों पर सूचनाएँ दी जाती है।

अर्थ विभाग—

जिस देश में जितनी प्राकृतिक सम्पत्ति होती है उस पर उस देश निवासियों का समान अधिकार है। पर उतने से ही आज के मनुष्य का काम नहीं चल सकता, अब तो मनुष्य ने अपनी बुद्धि और परिश्रम से उसकी उपयोगिता को कई गुणा कर लिया है। और पारस्परिक सहयोग से भी समाज के सुख की भारी वृद्धि की गई है। जहां प्रकृति सिर्फ घास पैदा करती थी वहां मनुष्य प्रयत्न पूर्वक अनाज रुई शाकभाजी आदि पैदा करता है। जो खनिज पदार्थ जमीन में योंही पड़े थे उनसे मकान बर्तन आदि बनाकर उनकी उपयोगिता अधिक से अधिक बढ़ा दी है। इसी प्रकार दूसरों की सुश्रूषाकर उन्हें सिखापढ़ाकर या जरूरी सलाह देकर मनुष्य ने मनुष्य को काफी बढ़ाया है। इस प्रकार मनुष्य की सम्पत्ति सिर्फ प्राकृतिक नहीं है किन्तु अब उसमें बुद्धि और श्रम का बहुत बड़ा भाग है, यही कारण है कि अर्थविभाजन में इस बात का काफी विचार करना पड़ता है कि मनुष्य ने अपने श्रम और गुण से मानव समाज का कितना सुख बढ़ाया।

आदर्श स्थिति तो यह है कि मानव समाज एक कुटुम्ब की तरह हो। सब लोग अपनी शक्ति के अनुसार काम करें और एक दूसरे की सुविधा का खयाल रखते हुए आवश्यकतानुसार खर्च करें, पर यह स्वप्न दूर है। इस व्यवस्था के पहिले मनुष्यमात्र का आध्यात्मिक विकास काफी मात्रा में होना चाहिये। जब तक वह नहीं हुआ है तब तक हरएक मनुष्य को उसकी सेवा के अनुसार मूल्य मिलना चाहिये। और उसमें भी हरएक मनुष्य का कम से कम मूल्य इतना अवश्य होना चाहिये कि वह भरपेट भोजन, रहने को सुरक्षित जगह और आवश्यक कपड़े पा सके।

किसी भी सरकार के लिये यह शर्म की बात है कि प्रजा में बहुत से आदमी भरपेट भोजन न पा सकते हों, ज्ञानी और जनसेवक कंगाल हों और बहुत से चालक लोग जनसेवा न करते हुए भी या नाममात्र की जनसेवा करते हुए लखपति करोड़पति हों। अर्थ-विभाजन की यह अन्धेरशाही जाना चाहिये।

अर्थविभाग की दूसरी अन्धेरशाही है नर-नारी-विषयक। इसमें सन्देह नहीं कि अर्थोपार्जन के क्षेत्र में सामूहिक रूप में नारियाँ नरों की अपेक्षा कुछ पीछे ही रहेंगी क्योंकि गर्भधारण और सन्तान-पालन की जिम्मेदारी उनपर पड़ी हुई है इस काम में उनकी शक्ति काफी क्षीण हो जाती है इसलिये वे अर्थोपार्जन में कुछ पीछे रह जाती हैं। पर अगर नारियों के ऊपर गर्भधारण आदि की यह जिम्मेदारी न होती तो क्या समाज जीवित रहता? अर्थोपार्जन में जो कमी नारी के द्वारा होती है उसकी पूर्ति क्या इस सहज सेवा से नहीं हो जाती? सच पूछा जाय तो कुछ अधिक ही हो जाती है। तब उनके आर्थिक अधिकार पुरुषों के बराबर क्यों न होना चाहिये। हरएक सरकार का यह फर्ज है कि वह इस विषमता को दूर करे। कुटुम्ब अध्याय में अर्थविभाग के प्रकरण में नारी को जो हिस्सा दिया गया है उससे कुछ न्याय तो होता है फिर भी सरकार का काम यह है कि नारी के हाथ में अर्थोपार्जन का सूत्र भी काफी मात्रा में पहुँचे।

पर जब तक समाज के अर्थोपार्जन के अधिकांशसूत्र व्यक्तियों के हाथ में हैं तब तक नारी को पूरी तरह आर्थिक न्याय नहीं मिल सकता। और भी अर्थोपार्जन की अनुचित विषमता नष्ट नहीं हो सकती। इस विषय में ऐसे नियम बनाना तो कठिन है जिससे योग्य अर्थ-विभाजन होता रहे, इसके लिये समय समय पर उचित विधान बनाते रहना चाहिये, फिर भी यहाँ कुछ सूचनाएँ दी जाती हैं।

१–बड़े बड़े उद्योग सार्वजनिक हों। जैसे कपड़े की मिलें, लोहे या मशीन आदि के कारखाने, कागज की मिलें, रेल, तार, पोष्ट, जहाज, ट्राम, बीमा कम्पनियाँ, बैंक, सिक्का, खदान आदि। ऐसे विशाल उद्योग व्यक्तियों अथवा व्यक्तियों से बनी हुई कम्पनियों के हाथ में न दिये जायँ।

२–छोटे छोटे कारखाने व्यक्तिगत भले रहें पर उन में आर्थिक दृष्टि से ऐसे हिस्सेदार न बनायें जायँ जो उस में काम न करते हों। शेयर लेने की प्रथा बन्द कर दी जाय।

३–सार्वजनिक बैंकों को ही व्याज लेने का अधिकार रहे, बाकी लेनदेन में व्याज की प्रथा उठा दी जाय। आवश्यकतानुसार लोगों को बैंकों से रुपया मिल सकें ऐसी योजना हो।

आपसी देन लेन में व्याज की प्रथा यद्यपि बन्द होना चाहिये फिर भी अगर इससे जनता

की कठिनाइयाँ बढ़ें तो नाममात्र का व्याज रक्खा जा सकता है जैसे अधिक से अधिक सौ रुपये पर दो आने माह। पर हर हालत में ऋण चुकाना अनिवार्य हो। मुद्दत निकल जाने से ऋण न डूबे, सरकार ऋण वसूल कराने की पूरी जिम्मेदारी ले, कोई आदमी दिवालिया घोषित कर के ऋणमुक्त न हो सके। आपसी लेन देन भी सरकार की मार्फत कराने का प्रयत्न किया जाय। मतलब यह कि व्याज के नाम पर चलने वाले पूंजीवाद को रोकने की पूरी कोशिश की जाय और इस बात का भी खयाल रक्खा जाय कि लेन देन की कठिनाइयाँ न बढ़ें।

४–जमीन की मालिकी किसी एक व्यक्ति के पास इतनी न होना चाहिये जिसे वह भाड़े आदि पर देने लगे। खेती की जमीन जब भाड़े पर दी जाती है तब भाड़े पर लेनेवाला उसे अच्छी तरह तैयार नहीं करता। इस तरह जमीन निःसत्त्व हो जाती है। इसलिये एक आदमी या कुटुम्ब के पास उतनी ही जमीन रहना चाहिये जितने में वह स्थायीरूप में खेती आदि कर सके।

५–हर एक विभाग में मजदूरी की कम से कम दर निश्चित होना चाहिये जिससे कम कोई न दे सके। इसी तरह जहाँ जहाँ सम्भव हो वहाँ वहाँ मजदूरी की अधिक से अधिक दर भी निश्चित होना चाहिये जिससे कोई किसी की खास जरूरत का लाभ उठाकर मजदूरी के नाम पर लूट न सके।

६–कोई भी आदमी बेकार न रहना चाहिये। हर आदमी को अधिकार है कि वह सरकार के अर्थविभाग से काम मांग सके। और सरकार को यथाशक्य उनकी योग्यता और राष्ट्र की आवश्यकता का खयाल रखते हुए उसे काम देना चाहिये। उसके लिये नये नये काम निकालना चाहिये। पैसा न हो तो कर बढ़ाकर या कुछ समय के लिये नोट आदि निकालकर भी बेकारों को काम देना चाहिये। ऐसा समय नहीं आ सकता कि काम न रहे। और अगर आ भी जाय तो दूसरे मजदूरों का समय कम करके बेकार मजदूरों को काम की गुंजाइश करना चाहिये।

७–वैयक्तिक सम्पत्ति की और कौटुम्बिक सम्पत्ति की मर्यादा बांध दी जाय जिससे अधिक सम्पत्ति किसी के पास न रह सके। मर्यादा देश काल के अनुरूप बनाना चाहिये। साथ ही उस में पढ़ने की पुस्तकें आदि का समावेश न करना चाहिये।

८–सन्तान-प्रसव के समय हर एक नारी की सुव्यवस्था सार्वजनिक कोष या सरकार की तरफ से होना चाहिये।

९–योग्यता की समानता होने पर पुरुष और स्त्री के वेतन में अन्तर न होना चाहिये। सन्तान-प्रसव के समय मिलने वाले अवकाश का पूरा वेतन उन्हें मिलना चाहिये।

१०–सन्तान के बालिग होनेपर हरएक माता को अपने भरणपोषण के लिये सन्तान की आर्थिक परिस्थिति के अनुसार उससे कुछ न कुछ लेने का अधिकार होना चाहिये। परिस्थिति के अनुसार ही उसकी व्यवस्था का निश्चय होना चाहिये।

११–नफा पर यथाशक्य नियन्त्रण होना चाहिये।

१२–सट्टा जूआ लाटरी, घुड़दौड़ आदि की शर्तें कानूनन बन्द होना चाहिये। हां! किसी गुण को उत्तेजन देने के लिये इनामी प्रतियोगिता में कोई बुराई नहीं है।

१३-अर्थविभाजन की दृष्टि से अर्थोपार्जन के द्वारों पर जितना सरकारी नियन्त्रण जरूरी हो उतना रखना चाहिये और जितने उद्योगों को हाथ में लेने की जरूरत हो उतने लेना चाहिये फिर भी इतना ध्यान सदैव रखना चाहिये कि जीविका के क्षेत्र में व्यक्ति जितना स्वतन्त्र रह सके उतना ही अच्छा। स्वतन्त्रता से कोई मनुष्य कितना भी काम करे वह उसमें उतना नहीं थकता जितना नौकरी का काम उससे आधा करने पर भी थक जाता है। इसलिये आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति अधिक से अधिक जितना स्वतन्त्र रह सके उतना ही अच्छा। हां! पूंजीवाद पनपने न पाये, अपनी योग्यता उपयोगिता और श्रम से बहुत अधिक मूल्य कोई न लेले इसका खयाल रखना चाहिये।

अर्थ-विभाजन की यह सारी व्यवस्था सरकारी तो हो, पर सरकार का यह विभाग बिलकुल स्वतन्त्र होना चाहिये। साधारण शासन व्यवस्था से इसका सम्बन्ध न होना चाहिये। इस विभाग के चुनाव, नियम-कानून, पुलिस-न्यायालय, आदि बिलकुल अलग होना चाहिये, जिससे साधारण शासकों का इसपर असर न पड़े। अगर ऐसा न किया जायगा तो शासक लोग जनता के पेटों के मालिक बन जायँगे। और शासकदलों की अस्थिरता के अनुसार इनमें भी अस्थिरता आ-आयगी।

न्याय—

१—न्याय विभाग का काम एक दूसरे पर होनेवाले अन्याय अत्याचार को रोकना, मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकारों की रक्षा करना और समाज की सुख-शान्ति के लिये आवश्यक सहयोग और सुव्यवस्था को कायम रखना है।

२—न्याय का निर्णय करने के लिये कानून बनाना तो जरूरी है पर इस बात का खयाल रखना चाहिये कि कानून न्याय में बाधक न बन जाय। जहां न्याय और कानून में विरोध हो वहां न्याय को ही मुख्यता देना चाहिये।

३—यह हो सकता है कि साधारण न्यायाधिकारी न्याय के नाम पर कानून की अवहेलना कर जाय और पक्षपातवश न्याय की जगह अन्याय कर जाय, इसलिये यह आवश्यक है कि जब न्याय के लिये कानून की अवहेलना करना हो तब नीचे का न्यायाधिकारी अपनी सम्मति के साथ अपने से उच्च न्यायालय के पास मामला भेज दे। वादी या प्रतिवादी अपील करें, इसकी बाट न देखी जाय।

४—कानून के शब्दों का नहीं किन्तु उस के आशय और ध्येय का विचार करना चाहिये। अगर कानून के शब्दों से कोई अन्याय होने की सम्भावना हो तो वह प्रश्न वादी या प्रतिवादी पर खर्च का बोझ डाले बिना कानून के शब्दों में सुधार कर सकनेवाली या उसका ठीक खुलासा कर सकनेवाली सत्ता तक जाना चाहिये।

५—न्याय-विभाग बिलकुल स्वतन्त्र होना चाहिये। शासन और न्याय की सत्ता एक ही व्यक्ति के हाथ में न आना चाहिये अन्यथा शासन की गड़बड़ियाँ न सुधरेंगी। शासक उच्छृंखल हो जायँगे।

६—कानून जाननेवाले और यथाशक्य विविध विषयों की विद्वत्ता रखनेवाले योग्य और अनुभवी विद्वानों को न्याय का अधिकारी नियुक्त करना चाहिये।

७—न्यायाधिकारी के चुनाव में सदाचार आदि गुण तो देखना ही चाहिये पर साथ ही

उसमें निःपक्षता विशेषरूप में देखना चाहिये। और जब वह न्यायाधिकारी चुना जाय तब उससे निष्पक्ष न्याय करने की शपथ लेना चाहिये। और उस में इस बात पर विशेष जोर देना चाहिये कि मेल मुरौवत या स्वार्थवश वह न्याय का पक्ष न दबायगा।

८–छोटे न्यायाधिकारियों के कार्य की जाँच ऊपर के न्यायाधिकारियों के जरिये होते रहना चाहिये। और उन्हें इस बात का खयाल रखना चाहिये कि छोटे न्यायाधिकारी के न्याय में भूल तो नहीं हुई है। अगर भूल हुई हो तो उसमें यह देखना चाहिये कि भूल जानबूझ कर तो नहीं की गई है किसी कारण से न्याय को दबाया गया हो तो छोटे न्यायाधिकारी से जवाब तलब किया जाना चाहिये और अगर वह अपराधी मालूम हो तो इस मामले को और भी ऊपर के न्यायाधिकारी के पास पहुंचाना चाहिये और उसे वेतन कम करने, पद से नीचे करने, या न्यायविभाग से बिलकुल अलग कर देने का दंड मिलना चाहिये। अगर उसकी भूल अजानकारी नासमझी आदि से हुई हो तो उसे चेतावनी देना चाहिये और ऐसी भूलें बार बार हों तो अयोग्य समझकर उसे न्यायविभाग से अलग कर देना चाहिये। निःसन्देह ये सब काम काफी उच्च न्यायाधिकारी या न्याय समिति के जरिये होना चाहिये।

९–छोटे न्यायाधिकारियों से न्याय देने में जो भूलें हों उनके सुधारने का लाभ उसे जल्दी से जल्दी मिलना चाहिये जो उस न्यायाधिकारी की भूल का शिकार हुआ है।

१०–न्याय जल्दी से जल्दी मिलना चाहिये। ऐसा न हो कि न्याय लेनेवाले पेशियों पर हाजिर होते होते थक जायँ। इसके सिवाय न्यायालय में लोगों के बैठने उठने की, वे कुछ पूछना चाहें तो पूछताछ कार्यालय की सुविधा भी होना चाहिये।

११–साधारण कार्य के लिये छोटे छोटे ऐसे न्यायालय बनाना चाहिये जिसमें प्रजा में से चुने हुए सदाचारी निःपक्ष और बुद्धिमान व्यक्ति सद्-सद्विवेक बुद्धि के आधार पर न्याय करें। हां! इनकी अपील आदि की व्यवस्था भी अन्य न्यायालयों के समान होना चाहिये।

१२–न्याय का सारा कार्य उस भाषा में होना चाहिये जो उस प्रान्त की जनता आम तौर पर समझ सके।

१३–वादी प्रतिवादी अपने पक्ष के समर्थन के लिये वकील रख सकते हैं। पर न्याय का ढंग ऐसा होना चाहिये कि आम तौर पर वकील की आवश्यकता ही न हो। न्यायाधिकारी खुद सत्य को खोजने की पूरी कोशिश करे।

१४–गवाह न मिलने से कोई न्याय रुक जाय, या झूठे गवाहों के कारण कोई न्याय दब जाय तो इसकी सूचना न्यायविभाग की पुलिस को दी जाय। जो चुपचाप सत्य को खोज निकालने की कोशिश करें। इस विभाग में ऐसे ही आदमी लेना चाहिये जिनकी प्रामाणिकता काफी अधिक हो।

१५–दीवानी और फौजदारी दोनों ही तरह के मामलों में न्याय मिलने का तरीका ऐसा होना चाहिये कि एक साधारण आदमी भी न्याय से वंचित न रह जाय। उसकी गरीबी न्याय पाने में बाधक न हो जाय।

१६–न्यायाधिकारियों को इस बात का पूरा

ख्याल रखना चाहिये कि न्यायविभाग के कर्मचारी रिश्वत तो नहीं लेते हैं। और जनता के प्रति अपने दायित्व को पूरा करते हैं या नहीं? जिस न्यायाधिकारी के न्यायालय में रिश्वत ली जाती हो उसे भी कुछ अंशों में दोषी समझा जाय। उसको और उससे ऊपर के अधिकारियों को इस बात की खोज करते रहना चाहिये कि रिश्वत किस तरह ली जाती है, किस बहाने ली जाती है, रिश्वत न मिलने पर कर्मचारी किस तरह जनता को तंग करते हैं? इन बातों का पता लगाकर उसे जनता को रिश्वत के बोझ से बचाना चाहिये।

१७-न्यायालय में न्यायाधिकारी का सन्मान रहना चाहिये पर इसका यह मतलब नहीं है कि उसके इजलास में आने के कारण बड़े से बड़े आदमी की इज्जत उससे कम है। यथासम्भव सम्मान सभी का सुरक्षित रहना चाहिये। वादी प्रतिवादी या गवाह को असम्मान-जनक शब्दों में पुकारना या उन्हें अनावश्यक या अनुचित शिष्टाचार के लिये विवश करना ठीक नहीं। हाँ! न्यायाधिकारी पर दोषारोपण करना टीक नहीं, उससे सलाह के तौरपर और उसके सम्मान के मुताबिक ही कुछ कहना चाहिये।

१८-न्यायालय में दिये गये न्याय की सार्वजनिक आलोचना हो तो उसपर उस न्यायाधिकारी को या उससे ऊपर के न्यायाधिकारी को विचार करना चाहिये। अगर आलोचना में द्वेषवश कुछ कहा गया हो तो उसका विरोध करना चाहिये, कदाचित् आलोचकों को दंड भी दिया जा सकता है, पर पूरा विचार करने के बाद। अगर आलोचना शुद्ध बुद्धि से और तर्कपूर्ण हो तो उसपर विचार करके आवश्यक सुधार करना चाहिये। न्यायाधिकारी के सन्मान के लिये न्याय की सार्वजनिक व्यक्तिगत आलोचनाओं को रोकना ठीक नहीं। यह ध्यान में रखना चाहिये कि जनता सब से बड़ा न्यायालय है।

१९-न्यायालय में अपराधी के रूप में जो उपस्थित हो उसके बारे में यह देखना चाहिये कि अपराध करने में क्या उसका कोई दुस्वार्थ था? और था तो कितना बड़ा था? उससे दूसरों का क्या अहित हुआ या क्या अहित हो सकता था? अगर उसका कोई दुःस्वार्थ न हो और सिर्फ कानून के कुछ शब्दों का भंग हुआ हो और उसका कारण प्रामाणिक अजानकारी हो तो ऐसी परिस्थितियों में उसे निरपराधी ही समझना चाहिये।

२०-बहुत से लोग कानून की अजानकारी के नाम पर अपराध करके भी बचने की कोशिश कर सकते हैं इसलिये कानून की अजानकारी के बहाने कोई दंड से न बचना चाहिये, फिर भी सरकार कानून की जानकारी कराने के लिये काफी प्रयत्न करे। झूठ बोलना, चोरी करना, मारना-पीटना, हत्या करना, बन्धन में डालना, गालीगलौज देना आदि तो ऐसे अपराध हैं जिनके बारे में अजानकारी का बहाना सुना नहीं जा सकता, पर बाकी व्यवस्था सम्बन्धी बातों में अजानकारी के कारण दंड न देना चाहिये या नाममात्र को देना चाहिये। हां! यह जानने की कोशिश करना चाहिये कि अजानकारी बहाना तो नहीं है।

कानून—

१-प्रजा के प्रतिनिधियों के द्वारा बनाई गई धारासभा ही कानून पास कर सकती है।

२--धारासभा को खूब सोच-विचार के बाद और कानूनी अधिकारियों से सलाह लेकर कानून पास करना चाहिये।

३--समाचार-पत्रों तथा अन्य उपायों से कानून की रूप-रेखा जनता में वितरित करना चाहिये। और जनता की या विद्वानों की सलाह पर विचार कर धारासभा के सदस्य और धारा-शास्त्री विचार करें तब कानून पास करें।

४--कौन कानून किस हालत में न्याय के विरुद्ध जाता है इस विषय की सूचनाएँ जनता द्वारा प्राप्त करने के लिये एक विभाग ही होना चाहिये। और जब भी मालूम हो कि कानून अमुक अंशों में न्याय के विरुद्ध जा रहा है तभी उसमें संशोधन की कोशिश करना चाहिये।

५--धारासभा बुलाने का अवसर न हो तो प्रजा के द्वारा नियुक्त योग्य अधिकारी अपने विशेषाधिकार से अस्थायी कानून बना सकता है। उनका अमल तो तुरन्त किया जायगा, पर जब तक धारासभा उसे पास न कर दे तबतक वह स्थायी कानून न माना जायगा। और अस्थायी कानून द्वारा किये गये फैसलों की अपील जब की जायगी तब उनका निर्णय स्थायी कानून के अनुसार किया जायगा। अर्थात् अपील का निर्णय अस्थायी कानून के स्थायी रूप में आजाने पर किया जायगा।

६--इस कानून के बनाने का ध्येय क्या है और किस तरह यह प्रजा की सुख-शान्ति में सहायक होगा--इसका विवरण भी कानून के साथ होना चाहिये, जिससे कभी कानून के शब्द न्याय बाधक हों या उनका अर्थ अनिश्चित हो तो इसका निर्णय किया जा सके।

पुलिस--

१--नागरिकों की रक्षा के लिये पुलिस का विभाग एक जरूरी विभाग है।

२--पुलिस का काम--सच्चे अपराधियों को पकड़ना, पहरा देना, भीड़भाड़ में व्यवस्था करना, पथिकों को पता ठिकाना राह आदि बताना, और जानमाल आदि की रक्षा करना है।

३--पुलिस के आदमी को ईमानदार, शील-वान् और बहादुर विशेषरूप में होना चाहिये।

४--पुलिस का आदमी जनता का प्रत्यक्ष सेवक है इसलिये उसे काफी नम्र होना चाहिये। और हर समय नागरिकों की सेवा को तैयार रहना चाहिये।

५--नागरिकों को धौंस बतानेवाला, अकड़-कर बात करनेवाला, गाली आदि देनेवाला, मार-पीट करनेवाला, लांच रिश्वत लेनेवाला पुलिस कर्मचारी जनता की सेवा के अयोग्य है। इसके लिये उसे सख्त सजा मिलना चाहिये और स्थानपरिवर्तन कर देना चाहिये। (अपराधी को खोजने के लिये यदि कड़ी कार्रवाई करना पड़ती हो तो उसमें भी सभ्यता और ईमानदारी की रक्षा होना चाहिये)

६--पुलिस का रहन-सहन और व्यवहार ऐसा होना चाहिये कि अपराधियों को छोड़कर बाकी लोगों को उसे देखकर सुरक्षा और सहायता की आशा हो।

सेना--

१--सेना विभाग राज्य का या मानव जाति का अभिशाप है। उस दिन मनुष्य जाति सचमुच मनुष्य जाति कहलाने लायक होगी जिस दिन उसके किसी राज्य में सेना विभाग न होगा।

प्रजाजनों की रक्षा के लिये पुलिस विभाग काफी है, सेना विभाग तो दो राज्यों की या राष्ट्रों की आपसी लड़ाई के लिये हुआ करता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर शासन करने के लिये भी सेना का उपयोग करता है, पर यह सब जंगलीपन है। आवश्यकता इस बात की है कि न तो एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रपर शासन करे, और न दो राज्य आपसी झगड़ों का निर्णय सेना के द्वारा करें। झगड़ों का निर्णय राष्ट्रों की पंचायत के ढंग से होना चाहिये।

२–पर जबतक मनुष्य जाति का यह जंगलीपन नहीं गया है, समस्त राष्ट्रों का एक मानव राष्ट्र संघ नहीं बना है तब तक सेना विभाग रहेगा ही, फिर भी इस बात का खयाल रखना चाहिये कि स्थायी सैनिक कम से कम हों। नागरिकों को ही सैनिक शिक्षण दिया जाय और आवश्यकतावश वे राष्ट्र रक्षा के काम में आवें।

३–अगर सैनिक कार्य करने के कारण नागरिकों की मृत्यु हो जाय तो उनकी कौटुम्बिक जिम्मेदारी सरकार को उठाना चाहिये।

४–सैनिक को बहादुर योद्धा होना चाहिये न कि बेशर्म गुंडा। उसका व्यवहार नागरिकों के साथ खासकर स्त्रियों के साथ बहुत ही सज्जनता का होना चाहिये।

५-'हम तो मरनेवाले हैं हमें किसी की क्या पर्वाह'—इस प्रकार दुर्भावना से बहुत से सैनिक बेजिम्मेदार, असभ्य और अन्यायी हो सकते हैं, उनकी इस दुर्वृत्ति पर पूरा अंकुश रखना चाहिये।

६–इस बात का खयाल रखना चाहिये कि सैनिक, बस्तियों में आकर या प्रवास आदि में नागरिकों की उचित सुविधाओं और अधिकारों में बाधा तो नहीं डालते।

७–सैनिक में देशभक्ति अटूट होना चाहिये। वह मृत्यु से निर्भय होना चाहिये तथा उसका विश्वास होना चाहिये कि वह सत्य के लिये--न्याय के लिये—लड़ रहा है।

शिक्षण—

१– सरकार को ऐसी व्यवस्था करना चाहिये जिससे हरएक प्रजातन्त्र लिखना-पढ़ना जानता हो।

२– हरएक बच्चे को शिक्षण अनिवार्य होना चाहिये। और जो बच्चे शिक्षण न ले सकते हों उनके कारणों की खोज करना चाहिये। अगर कौटुम्बिक संकट के कारण बच्चे शिक्षण न ले सकते हों तो उन्हें दंड के भय से शिक्षण में लगाना ठीक नहीं, उनके कौटुम्बिक संकट को देखकर व्यवस्था करना चाहिये। हो सकता है कि किसी वृद्धा रुग्णा या अन्धी मां के एक ही सन्तान हो और उसी की सेवा से उसकी गुजर होती हो तो ऐसे अपवादों पर सहानुभूति से विचार करना चाहिये। ऐसे बच्चों के लिये मुहल्ले-मुहल्ले में रात्रि-शाला खोलना, या उसके असहाय कुटुम्बी की सहायता करना, ऐसे बच्चों के लिये शिक्षण का क्रम थोड़ा थोड़ा रखना आदि जो हो सके वह करना चाहिये।

३– शिक्षण सस्ता से सस्ता होना चाहिये। वह निःशुल्क या नाममात्र के शुल्क से होना चाहिये। हां! जो लड़के अनुत्तीर्ण हों अकारण ही गैरहाजिर रहते हों उनसे शुल्क कुछ अधिक लिया जा सकता है।

४– उच्च से उच्च शिक्षण लोक-भाषा में होना चाहिये। हां! वहां के लोगों की सलाह से राष्ट्र-भाषा या विश्व-भाषा उच्च शिक्षण का

माध्यम बनाई जा सकती है।

५– शिक्षण से विचारकता, सदाचार, कर्मठता और जीविकोपयोगी ज्ञान मिले, इसका पूरा ध्यान रखना चाहिये।

६– शिक्षण में विद्यार्थी की रुचिका भी पूरा ध्यान रखना चाहिये।

७– शिक्षकों का, विद्वान होने के साथ सदाचारी ईमानदार होना जरूरी है।

८– शिक्षण प्रणाली, शिक्षण के विषय और पाठ्य पुस्तकों के चुनाव में रूढ़िप्रियता ठीक नहीं। देशकालानुसार उनमें परिवर्तन होना चाहिये।

स्वास्थ्य और स्वच्छता—

१–जनता के स्वास्थ्य के लिये जगह जगह सरकारी अस्पतालों या औषधालयों का होना जरूरी है। पर वे होना चाहिये उपयोगी।

(संस्थाओं के प्रकरण में औषधालय शीर्षक से जो सूचनाएँ दी गई हैं उनका पालन होना चाहिये)

२ नगर आदि में स्वच्छता रखना जरूरी है।

३ इस बात की तरफ ध्यान रखना चाहिये। कि नागरिक अनावश्यक गंदगी न फैलायें। इसके लिये उपदेश, आदेश आदि की पूरी व्यवस्था करना चाहिये।

४–जहां लोग स्वच्छता के नियमों का पालन न करें, दूसरा नागरिक सूचना दे तो उस से लड़ बैठें वहां उस विभाग के कर्मचारियों को चाहिये कि वे खुद स्वच्छता रखने के लिये जोर दें।

५–अस्वच्छता के विरोध में जोरदार लोकमत तैयार करना, स्वच्छता के संस्कार डालना, तथा फिर भी जो अस्वच्छता हो जाय उसे दूर करना सरकार का काम है।

६–लोगों को अस्वच्छता के लिये विवश होना पड़े ऐसी परिस्थिति न रहना चाहिये। जैसे मानलो बाजार में दूर तक पेशाब करने को जगह नहीं है तब यह निश्चित है कि दूकानदार और राहगीर आसपास गंदगी करेंगे। इन सब बातों का खयाल सरकार को रखना चाहिये।

यातायात—

१–गांव गांव तक पक्की सड़कें बनवाना, रेल, जहाज, नौका, हवाई जहाज, मोटर, ट्राम आदि के जरिये प्राणियों के आने-जाने और सामान के लाने ले जाने की सुव्यवस्था करना, पोस्ट, तार, टेलीफोन, रेडियो आदि से खबरें और विचार भेजना ये सब सरकार के काम हैं।

२–जनता की ये सेवाएँ एक व्यवसायी की तरह नम्रता से करना चाहिये। यातायात के कर्मचारियों का व्यवहार यात्रियों के साथ नम्रता का होना चाहिये।

३–यात्रियों के बैठने, उनके सामान को सुरक्षित रखने और पहुँचाने, जान माल की रक्षा करने लम्बीयात्रा में रास्ते में विश्राम करने और सोने, खान पान की व्यवस्था करने, और व्यर्थ ही उनका समय नष्ट न होने की जिम्मेदारी यातायात के कर्मचारियों पर है।

४–लांच रिश्वत न ले सकें, यात्रियों की विवशता के कारण उन्हें कोई ठग न सके आदि का भी पूरा ध्यान रखना चाहिये तथा भूलचूक से जो संकट आ पड़ा हो उसमें यात्री को यथाशक्य अधिक से अधिक सहायता पहुँचाना चाहिये।

५–जगह जगह पर ऐसे कार्यालय होना चाहिये जहां यात्री यात्राके सम्बन्धमें पूछताछ कर सके। अगर ऐसे कार्यालय न हों तो यातायात

के अन्य कर्मचारियों को इस काम में मदद करना चाहिये।

६-सामान सुरक्षित पहुँचाना चाहिये। चोरी आदि तो होना ही न चाहिये, साथ ही सामान टूटाफूटा चपटा आदि भी न होना चाहिये। मजदूर लोग किस तरह सामान उतारते हैं और किस तरह चढ़ाते हैं—इसकी पूरी देखरेख रहना चाहिये। उठाकर फेंकने की आदत कदापि न होना चाहिये। इस विषय में जनता की शिकायतों पर पूरा ध्यान देना चाहिये।

७-सरकारी यातायात एक तरह से असल होता है, उसकी प्रतिस्पर्धा में दूसरा नहीं होता, इससे लांच-रिश्वत और कर्मचारियों की अकड़बाजी बढ़ जाती है, ये पाप प्रवेश न करने पायें इसका पूरा खयाल रखना चाहिये।

८-यातायात के नियम और व्यवस्थाओं के बारे में जनता से सलाह लेना चाहिये और उन पर उचित विचार करके ऐसी व्यवस्था करना चाहिये जिससे यात्रियों को नुकसान या तकलीफ न हो और व्यवस्था भी रहे।

उद्योग वृद्धि—

१-प्रजाजनों के लिये जरूरी प्रत्येक उद्योग की वृद्धि करना भी सरकार का काम है।

२-जो उद्योग विदेशी प्रतियोगिता के कारण ठहर न सकता हो—उसे आर्थिक मदद देकर खड़ा करना चाहिये। अथवा विदेश से आनेवाले उस माल पर आयात कर लगाना चाहिये।

३-विदेशी लोग यहां के उद्योगों में पूंजी लगाकर यहां से व्याज या नफा के रूप में सम्पत्ति हरण तो नहीं कर ले जाते, इस बात का ध्यान रखना चाहिये।

४-उद्योग वृद्धि या रक्षण या उत्पादन का अर्थ दूसरे देशों के साथ द्वेष या असहयोग नहीं है और न होना चाहिये। इसका अर्थ अन्तर्राष्ट्रीय शोषण को बन्द करने का है। आवश्यक माल का आयात निर्यात होना ही चाहिये।

विविध सेवाएँ—

सरकार की सेवाओं की गिन्ती करना अशक्य है। देश-देश और युग-युग के अनुसार वे घटती बढ़ती रहती हैं। जो सरकार जनता की इच्छा के अनुसार बनी हुई है उसे प्रजा की अनुमति से हर प्रकार की सेवा में हाथ बटाना चाहिये। ऊपर कुछ खास खास सेवाएँ बताई गई हैं। इस ढंग के और भी सैकड़ों काम हो सकते हैं। जैसे—वैज्ञानिक खोजों के लिये प्रयोगशालाएँ चलाना, पुरातत्त्व अन्वेषण, विवाह आदि को रजिस्टर करना, लोगों की स्थावर मिलकियत या प्रेस आदि बड़ी बड़ी मिलकियतों का लेखा रखना, मुर्दुमशुमारी आदि हर तरह की जानकारी के विवरण प्रकाशित करना, चिड़ियाघर अजायबघर आदि स्थापित करना, इत्यादि।

स्थानीय सरकारें—

नगर-पालिका, जिला व्यवस्थापक (म्युन्युसपल, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड) आदि अर्ध सरकारी संस्थाएँ, तथा ग्राम पंचायतें आदि भी स्थापित करना चाहिये। जनता के द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा इनका संचालन कराना चाहिये। एक तरह से ये स्थानीय सरकारें हैं। हां! इनका कार्यक्षेत्र परिमित है और इनके ऊपर सरकार का अंकुश है।

इनके जरिये नगर की सफाई आदि की व्यवस्था, शिक्षण, गांव भर में सड़कें, प्रकाश,

वाचनालय, हलके पलले दीवानी फौजदारी मामलों का निबटारा, आदि बहुत से काम कराये जा सकते हैं। हर काम में जनता का अधिक से अधिक सहयोग लिया जाना चाहिये।

सरकारी कर्मचारी—

१—सरकारी कर्मचारी को जातिपांति की वासनाओं से मुक्त होना चाहिये। जाति की दृष्टि से उसे पूरा राष्ट्रीय व्यक्ति होना चाहिये।

२—या तो वह किसी भी धर्मसंस्था का सदस्य न हो, अथवा ऐसी धर्मसंस्था का सदस्य हो जो सब धर्मों आदर करती हो।

(सरकारी कर्मचारी सार्वजनिक सेवक हैं, इसलिये उन्हें ऐसा होना चाहिये जिससे सभी जाति या सम्प्रदाय के लोग उन्हें अपना समझ सकें। इसके लिये सरकारी कर्मचारी को सभी धर्मों और समाजों के उत्सवों में यथाशक्य भाग लेना या सहानुभूति प्रगट करना जरूरी है। सरकारी कर्मचारी जब किसी खास जाति या सम्प्रदाय से विशेष सम्बन्ध रखते हैं तब प्रजा में इस तरह के झगड़े पैदा होने लगते हैं कि हमारी जाति के इतने ही आदमी क्यों और दूसरी जाति के अधिक क्यों ? प्रत्येक देश की जनतामें जातिभेद और धर्मभेद न रहे ऐसा प्रयत्न होना चाहिये और यह दूसरी जातिवालों को मिटाकर या धर्मों का दमन करके नहीं, किन्तु सर्व-जाति-सम्मिश्रण और सर्व-धर्म-समन्वय के द्वारा। कम से कम सरकारी कर्मचारियों को इस बारे में आगे बढ़ना चाहिये।)

३— सरकारी कर्मचारी जनता के सेवक हैं और इसके बदले में वे काफी वेतन पाते हैं, इसलिये उन्हें इस बात की आशा न रखना चाहिये कि उनके पद के कारण लोग उन्हें सलाम करेंगे। और पद के निमित्त से उसे सलाम प्रणाम आदि किया भी न जाना चाहिये। हाँ, जिनकी दृष्टि में वे अधिक गुणी हों वे स्वेच्छा से उन्हें सलाम आदि करें तो कोई हानि नहीं। सरकारी अधिकारी 'अधिकारी' होने के कारण हरएक नागरिक से ऊँचा है—यह भ्रम किसी को न रखना चाहिये, भले ही वह अधिकारी राजा हो, सम्राट् हो, नवाब हो, गवर्नर हो, न्यायाधीश हो, अधिनायक हो, प्रीमियर हो या सेनाध्यक्ष हो। नागरिक का पद इन पदों से नीचा नहीं है। बल्कि ये पदाधिकारी तो नागरिकों के द्वारा नियुक्त किये गये उनके सेवक हैं। इसलिये इजलास में, दर्बार में या कार्यालय में जाकर सलाम करना या उठकर खड़े होना आदि रिवाज न होना चाहिये।

प्रश्न—अधिकारियों को प्रणाम आदि उस सत्ता को प्रणाम क्यों न समझा जाय जिसे जनता ने स्थापित किया है और जिसका सम्मान करना हरएक नागरिक का कर्तव्य है।

उत्तर—उस सत्ता का सन्मान करने का अर्थ है उसकी नीति के अनुसार चलना, उसके सामने विद्रोह न करना, सो यह कर्तव्य जैसे नागरिकों का है वैसे ही उन अधिकारियों का भी है। वह सत्ता जैसे नागरिकों के लिये सम्माननीय है उसी प्रकार उस सत्ता को चलानेवाले उन नौकरों के लिये भी सम्माननीय है, तब नागरिक उन नौकरों को क्यों सलाम करें ? नागरिक और नौकर मिलकर उस सत्ता को ही सलाम करें। भले ही उस सत्ता के प्रतीक के रूप में कोई झंडा-निशान-चित्र-मूर्त्ति आदि कुछ भी रख लिया जाय। किसी व्यक्ति को उसका प्रतीक बनाने से उस सत्ता का अपमान होने लगता है; क्योंकि वह व्यक्ति अपने को उस सत्ता का मालिक समझ-

ने लगता है। राज्य का प्रतीक राजा को बनाने से राजा राज्य का और प्रजा का मालिक बन गया। इससे व्यक्तियों में झूठा घमंड आया, और वे प्रजा की सत्ता को हड़प बैठे। इसलिये नौकर को नौकर ही रहने देना चाहिये और उसे इस बात का भान होता रहे इसलिये उसे सलाम आदि का सन्मान भी न देना चाहिये।

प्रश्न–इस तरह तो शिष्टाचार का नाश ही हो जायगा। कोई बड़े से बड़े गुणी उपकारी समाज-सेवक को भी नमस्कार न करेगा।

उत्तर–गुणी परोपकारी आदि की हैसियत से किसी को प्रणाम आदि करने की मनाई नहीं है। बल्कि जो समाज-सेवक हैं उनका तो विशेष आदर करना चाहिये। पर सरकारी-कर्मचारी या अधिकारी इस श्रेणी में नहीं आते; क्योंकि वे आर्थिक रूप में इसका काफी बदला लेते हैं।

प्रश्न–इस दृष्टि से तो कोई विद्यार्थी भी अध्यापक को प्रणाम न करेगा?

उत्तर–यह ठीक है कि दूसरे सरकारी कर्मचारियों की तरह अध्यापक भी नागरिकों के द्वारा नियुक्त किया गया है, पर इससे यही कहा जा सकता है कि सरकारी आदमी समझकर किसी अध्यापक को कोई नागरिक सलाम न करे। पर विद्यार्थी नागरिक नहीं है वह तो अध्यापकों के द्वारा सुनागरिक बनाया जा रहा है। दूसरी बात यह है कि आमतौर पर विद्यार्थी की योग्यता और उम्र अध्यापक से कम होती है इसलिये विद्यार्थी को अध्यापक आदि का विनय करना आवश्यक है।

बात यह है कि शिष्टाचार के अन्य नियमों में न तो इतनी विकृति होती है और न ऐसी विवशता जिससे उसे रोका जाय, इसलिये उन्हें तो चलने देना चाहिये। जैसे—अल्पवयस्क बड़ी उम्रवाले का, अल्पज्ञानी महाज्ञानियों का, छोटा कर्मचारी अपने से बड़े कर्मचारी या अफसर का, विद्यार्थी अध्यापक का, सन्तान मां-बाप आदि का, जनता निस्वार्थ जनसेवकों का विनय करे। पर सरकारी-कर्मचारी न तो निःस्वार्थ जनसेवक हैं, न हर एक नागरिक से गुणों में अधिक; इसलिये उन्हें सलाम आदि न करना चाहिये। उन्हें सलाम करने में एक बुराई यह भी है कि इससे वे अपने को राज्यसत्ता के चालक नहीं, मालिक समझने लगते हैं इसलिये सत्ता के साथ विश्वासघात होता है, इसलिये भी उन्हें सलाम आदि न करना चाहिये। सरकारी कर्मचारी अगर सलाम आदि कराने के लिये किसी को विवश करें तो उनका यह प्रयत्न रिश्वत लेना कहा जायगा।

४–सरकारी कर्मचारी को इनाम के नाम पर भी रिश्वत न लेना चाहिये, और न ऐसी परिस्थिति पैदा करना चाहिये जिससे किसी को रिश्वत देने के लिये विवश होना पड़े। जैसे—उचित कर्तव्य न करना, या उसमें जानबूझकर इतनी देर लगाना कि दूसरा आदमी घबरा जाय अथवा डराना धमकाना या अपमान वगैरह करना, ये सब परिस्थितियाँ रिश्वत लेने की प्रस्तावना के समान हैं। सरकारी कर्मचारी को इन बातों से बचना चाहिये।

५–उसकी नियुक्ति नागरिकों की सेवा के लिये हुई है इसलिये उसे नागरिकों के प्रति सेवाभावी और विनीत होना चाहिये, घमंडी और बिगड़ेदिल नहीं।

६–सरकारी कर्मचारी अपने कार्यक्षेत्र में या पद के द्वारा मिलनेवाले प्रभाव-क्षेत्र में कोई

व्यापार नहीं कर सकता और न वहां चुनाव में भाग ले सकता है।

नागरिकता के अधिकार—

१–नागरिकों की इच्छा के विरुद्ध कोई भी नियन्त्रण उनपर नहीं लगाया जा सकता।

२–कोई भी कानून या आज्ञा न्याय के या जनहित के अनुकूल है कि नहीं, इस विषय का खुलासा मांगने का अधिकार हरएक नागरिक को है।

३–सरकार या सरकारी कर्मचारियों की आलोचना करने, उसे भला-बुरा कहने, अपना सुझाव रखने का नागरिक को पूर्ण अधिकार है।

४–अपने अधिकार की जगह में उसे व्याख्यान देने या और किसी तरह की चर्चा करने का उसे पूर्ण अधिकार है। हाँ, उस में झूठी निन्दा आदि की जाय तो न्यायालय के द्वारा इसका विचार किया जा सकता है, पर बोलने आदि की स्वतन्त्रता का अपहरण नहीं किया जा सकता।

५–बोलने की स्वतन्त्रता के समान उसे समाचार पत्र निकालने, पुस्तक प्रकाशित करने आदि की भी पूरी स्वतन्त्रता है।

६–जानकारी की दृष्टि से सभा आदि की सूचना देना उचित है, पर इन बातों की जानकारी प्राप्त करना सरकारी कर्मचारी का कर्तव्य है। इसके कारण से किसी नागरिक को अपराधी नहीं ठहराया जा सकता। हां, जानबूझकर इन बातों को छिपाये तो थोड़ा अपराधी कहा जा सकता है।

७–हस्तलिखित साहित्य के प्रसार पर अंकुश नहीं लगाया जा सकता, और छपे हुए पर तभी लगाया जा सकता है जब न्यायालय से उसका प्रसार हानिकर घोषित किया जाय। पर ऐसा साहित्य जब्त ही किया जा सकता है, उसके रखने से किसी को अपराधी नहीं माना जा सकता।

८–देश के भीतर आने-जाने की उसे पूर्ण स्वतन्त्रता है।

९–नागरिक अपने अधिकार का उपयोग दूसरे नागरिक के अधिकारों को सुरक्षित रखते हुए ही कर सकता है।

१०–बहु-सम्मति से उसे सरकार को बनाने बिगाड़ने का पूर्ण अधिकार है।

विचार विभाग—

शासनप्रणाली में कहाँ क्या सुधार होने की जरूरत है; राज्य के किन नियमों का ठीक ठीक पालन नहीं होता और क्यों नहीं होता, किन किन का दुरुपयोग होता है, क्यों या कैसे होता है, वह कैसे रोका जा सकता है, इस तरह शासकों को सलाह देने के लिये एक विचार-विभाग की जरूरत है जहाँ लोग लिखकर या बोलकर अपने विचार भेजें और योग्यव्यक्ति उन पर विचार करें। हरएक प्रान्त से इस बारे में एक पत्र भी निकलना चाहिये, जिस में इस प्रकार की चर्चा रहे और जिन चर्चाओं का समाधान किया जा सकता है उनका समाधान भी रहे।

आय—

सरकार की आमदनी के स्रोत सैकड़ों हैं, या हो सकते हैं, वे सब गिनाये नहीं जा सकते। यहाँ सिर्फ खास खास का उल्लेख और उनके बारे में सूचनाएँ दी जाती हैं।

१–जमीन के ऊपर कर।

२–सरकार के हाथ में जो उद्योग हों उन

से होनेवाली आमदनी।

३–ब्याज और भाड़ा तथा बैंकों का मिहनताना।

४–सम्पत्ति कर। राज्य के द्वारा नियत की हुई सम्पत्ति से या आमदनी से अधिक होने पर उससे मिलनेवाला हिस्सा। (इस कर की वसूली का ऐसा तरीका होना चाहिये कि जिससे नागरिकों को हिसाब आदि देने की विशेष परेशानी न हो। हिसाब की गलती को अपराध न समझा, जाय भूल ही समझा जाय।)

५--विलास के साधनों पर लगा हुआ कर। शराब आदि विलास के जो साधन अनैतिक हैं उन्हें तो इकदम बन्द ही करना चाहिये, या भारी कर लगाना चाहिये। फिर भी कर लेने का तरीका ऐसा न हो जिससे नागरिकों के घरेलू जीवन में हस्तक्षेप करना पड़े। सिनेमा आदि के खेलों के टिकिटों पर कर लगाने के ढंग से कर वसूल करना चाहिये। इसके लिये मुसाफिरों की पेटियाँ खोलना, उनके पाकिट देखना, घर की तलाशी लेना, आदि उचित नहीं। क्योंकि इससे नागरिकों की परेशानी बढ़ती है और उनके गौरव को धक्का लगता है।

६--मिहनताना। कचहरी आदि के कागजों पर टिकिट लगवाना, शिक्षण में फीस लेना, आदि एक तरह का मिहनताना है। इससे खर्च तो नहीं निकलता, फिर भी कुछ सहायता होती है।

७--आयात निर्यात कर। यह कर राष्ट्र के बाहर आने-जानेवाली चीजों पर लगाना चाहिये, राष्ट्र के भीतर एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त, एक जिले से दूसरे जिले आदि में नहीं लगाना चाहिये। क्योंकि इससे राष्ट्रीयता भंग होती है और यात्रियों के आने-जाने का कष्ट बढ़ता है।

८--मुद्रा। धातुओं के जो सिक्के बनाये जाते हैं उनका लागत मूल्य मुद्रा के मूल्य से कुछ कम ही होता है। जितना कम, उतनी आमदनी कहलाई।

नोट या हुंडी को आमदनी में न गिनना चाहिये। यह एक तरह का ऋण है जो जनता से बिना ब्याज के लिया गया है। इनका परिणाम अधिक न होना चाहिये। साधारणतः उतने के ही नोट निकालना चाहिये जितने की सम्पत्ति सरकार ने सुरक्षित रक्खी हो।

९--दान। जनसेवा के लिये जो लोग चंदा देना चाहें उनसे चन्दा लिया जाय और इसके उपलक्ष में उन्हें प्रमाणपत्र या उपाधिपत्र दिया जाय।

इस प्रकार आय के और भी स्रोत हो सकते हैं। पर वे प्रजानुमोदित होना चाहिये और उन में नीति का भंग या दूसरे देशों का शोषण न होना चाहिये।

राष्ट्र निर्माण—

१--जितनी प्रजा मिलजुलकर रहना चाहे और एक राष्ट्रीयता का अनुभव करे उस सबका एक राष्ट्र होता है।

भाषा और भौगोलिक सीमाओं का अब राष्ट्रीय दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है क्योंकि एक राष्ट्रभाषा के चुनाव से भाषा का सवाल हल हो जाता है और यातायात के सुधरे हुए साधनों से भौगोलिक सीमाएँ बाधा नहीं डालती।

२--एक राष्ट्र के शासन का सर्वोच्च केन्द्र एक ही होना चाहिये, और वह उसी राष्ट्र के भीतर होना चाहिये।

३–छोटे छोटे राष्ट्र बनाना ठीक नहीं। छोटे छोटे राष्ट्रों को मिलकर एक महाराष्ट्र बना

लेना चाहिये। और उन छोटे राष्ट्रों को उस महाराष्ट्र का प्रान्त बन जाना चाहिये।

४—राष्ट्र के भीतर जो प्रान्त बनाये जायँ वे भाषा के अनुसार बनाये जायँ। अगर सारे राष्ट्र की एक भाषा हो तो प्रान्तों में भाषा के विचार की जरूरत ही नहीं है सिर्फ शासन प्रबंध की सुविधा का विचार करना चाहिये। अगर अनेक भाषाएँ हों तो भाषा का विचार करना चाहिये। जो भाषा इतने विस्तीर्ण क्षेत्र में फैली हो कि उतने क्षेत्र का प्रान्त बनाना प्रबन्ध की दृष्टि से ठीक न हो तो उसके अधिक प्रान्त बनाये जा सकते हैं। इसी प्रकार जो भाषा इतने थोड़े क्षेत्र में फैली हो कि उसका प्रान्त न बन सकता हो तो उसका उपप्रान्त बनाना चाहिये और अनेक उपप्रान्तों का एक प्रान्त बनाना चाहिये।

५—उपप्रान्त के उच्च केन्द्र तक सारा काम उपप्रान्तीय भाषा में और प्रान्त के उच्च केन्द्र तक प्रान्तीय भाषा में होगा। हां! जिन कार्यों का सम्बन्ध राष्ट्रीय केन्द्र तक होगा वे राष्ट्रीय भाषा में होंगे। यों वैकल्पिक रूप में राष्ट्रीय-भाषा सब जगह चलेगी।

६—एक प्रान्त का आदमी दूसरे प्रान्त में बेरोकटोक बस सकता है।

७—एक प्रान्त का माल दूसरे प्रान्त में जाने पर किसी तरह का प्रतिबन्ध या कर न होना चाहिये।

८—प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकारों के आय व्यय का हिसाब यद्यपि अलग अलग रहेगा और उनकी आमदनी के जरिये भी बटे रहेंगे फिर भी आवश्यकतानुसार एक दूसरे को मदद करेंगे। सेना आदि का खर्च सब प्रान्त मिलकर उठायँगे।

९—हर एक प्रान्त में एक उच्च न्यायालय होगा। जिसके न्यायाधीशों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार की तरफ से होगी। निःसन्देह, इसमें प्रान्तीय सरकारों से भी सलाह ली जायगी। पर वे न्यायालय प्रान्तीय सरकारों के अधीन न होंगे। इसका सुफल यह होगा कि न्याय विभाग स्वतन्त्रता से अपना काम कर सकेगा।

१०—प्रान्तीय न्यायाधीशों को छोड़कर प्रांतीय विषयों के सब कर्मचारियों की नियुक्ति प्रान्तीय सरकार करेगी। हां! न्याय विभाग के कर्मचारियों की नियुक्ति प्रान्तीय न्यायालय की सम्मति के अनुसार होगी।

११—सब प्रान्तीय न्यायालयों के ऊपर एक राष्ट्रीय सर्वोच्च न्यायालय होगा। जिसके न्यायाधीशों का चुनाव इस ढंग से किया जायगा जिस से वे केन्द्रीय सरकार के मातहत न समझे जायँ। न्याय विभाग की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहे। इसके लिये परिस्थिति के अनुसार तरीका निकाल लेना चाहिये। साधारणतः निम्न लिखित प्रतिनिधि मिलकर राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का चुनाव करें।

सब प्रान्तों के प्रान्तीय न्यायालयों के प्रधान न्यायाधीश, सब प्रान्तों की सरकारों के प्रान्ताध्यक्ष, और प्रान्ताध्यक्षों की संख्या के बराबर केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि। जैसे अगर किसी राष्ट्र में पांच प्रान्त हों तो पांच प्रधान न्यायाधीश, पांच प्रान्ताध्यक्ष, और पांच केन्द्रीय सरकार के प्रतिनिधि इस प्रकार पन्द्रह आदमी मिलकर केन्द्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का बहुमत से चुनाव करेंगे।

अल्पमत समस्या—

एक राष्ट्र के भीतर अल्पमत बहुमत का सवाल न रहना चाहिये। धर्म तो वैयक्तिक चीज रहे और समाज सारे राष्ट्र का एक हो। अगर इतना न हो सके तो इतना होना चाहिये कि राजनैतिक मामलों में धर्म और समाज का भेद-भाव न उठाया जाय। और मिलजुल कर शासन कार्य किया जाय। पर अगर अल्पमत को विश्वास न हो तो उसके सन्तोष के लिये कुछ समझौते कर लेना चाहिये।

समझौते का पहिला रूप तो यह है कि धारासभा आदि में अल्पमतवालों के प्रतिनिधियों की संख्या नियत कर दी जाय। और निर्वाचन सामान्य हो। निर्वाचन के अन्त में अगर यह मालूम हो कि अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि नियत संख्या से कुछ कम आये हैं तो जितने कम आये हों उतने प्रतिनिधि धारासभा के प्रतिनिधि और चुनलें। इस प्रकार अल्पसंख्यकों की नियत संख्या पूरी कर दी जाय। हां! इससे अनुपात अवश्य कम आयेगा पर उसकी चिन्ता न करना चाहिये।

दूसरा रूप यह है कि अल्प संख्यकों के प्रतिनिधि हर एक क्षेत्र में नियत कर दिये जायँ और सब का सम्मिलित निर्वाचन हो।

पृथक प्रतिनिधित्व कर देने पर भी सम्मिलित निर्वाचन से अगर सन्तोष न होता हो तो कुछ समय के लिये आंशिक पृथक निर्वाचन की पद्धति काम में लाना चाहिये। उसमें इन बातों का ध्यान रखना चाहिये।

१–अपने अनुपात से अधिक किसी को प्रतिनिधित्व न रहेगा।

२–वह अनुपात सौ में अस्सी प्रतिनिधियों के साथ लगाया जायगा, बाकी वीस प्रतिनिधि सामान्य निर्वाचन के लिये रहेंगे।

३–दस दस या कुछ निश्चित वर्षों के बाद सामान्य निर्वाचन के प्रतिनिधियों की संख्या दस प्रतिशत बढ़ती जायगी और जातीय निर्वाचन की घटती जायगी। इस प्रकार कुछ वर्षों में पूर्ण सामान्य निर्वाचन प्रचलित हो जायगा। इस नियम को एक उदाहरण से यों समझना होगा।

मानलो किसी प्रान्त की धारासभा में सौ बैठकें हैं ५० मुसलमानों की ३० हिन्दुओं की १५ सिक्खों की, ५ बाकी कौमों की। इन १०० बैठकों में से २० बैठकें सामान्य निर्वाचन के लिये रहेंगी। इन २० के लिये हर कौम का आदमी खड़ा रह सकेगा और हर कौम का आदमी मत दे सकेगा। बाकी अस्सी बैठकें उक्त अनुपात से बट जायँगी इस प्रकार कुल बैठकों का हिसाब निम्न लिखित हो जायगा।

नाम	जन संख्या	बैठकें
मुसलमान	५०	४०
हिन्दू	३०	२४
सिक्ख	१५	१२
फुटकर	५	४
साधारण बैठकें	×	२०
	१००	१००

समझौते के इन तीन मार्गों में से पहिला मार्ग उत्तम है, दूसरा मार्ग मध्यम है तीसरा मार्ग जघन्य है। मार्ग कोई भी अपनाया जाय पर सब से बढ़िया मार्ग मानवता का है। अल्प-संख्यक लोग अगर अपने हिस्से से ज्यादः बैठकें लेलें तो भी बहुसंख्यक बहुसंख्यक ही रहेंगे। अविश्वास से द्वेष ही बढ़ेगा और परस्पर विनाश होगा। इसलिये सब से अच्छी बात यह है कि राष्ट्रीयता

और मानवता को उत्तेजन दिया जाय और मिल-जुल कर सब काम किये जायँ।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध—

राष्ट्र शासन की सुविधा के लिये बनाये गये विभाग हैं वास्तव में सारी मनुष्य जाति को मिलकर रहना है और सब का एक विशाल कुटुम्ब बनाना है। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध ऐसे होना चाहिये जिससे एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शोषण न करे, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर शासन न करे, सब में परस्पर सहयोग रहे।

राष्ट्र-संघ—

१—राष्ट्रीय झगड़ों को दूर रखने और मनुष्यमात्र में सहयोग बढ़ाने के लिये जरूरी है कि एक राष्ट्रसंघ की स्थापना की जाय। इस संघ में सब राष्ट्रों का सहयोग हो। हां! जो राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर शासन करते हों उन्हें उस राष्ट्र-संघ में तब तक न लिया जाय जब तक वे इस पाप का त्याग न कर दें।

२—राष्ट्रसंघ में सभी सरकारों के प्रतिनिधि हों और प्रतिनिधियों की संख्या राष्ट्रों की जन-संख्या के अनुसार रक्खी जाय।

३—राष्ट्रसंघ के कार्यकर्ता ऐसे व्यक्ति चुने जायँ जिनमें किसी भी तरह का राष्ट्रीय पक्षपात न रह गया हो। राष्ट्रसंघ के कार्यकर्ता बनने के बाद वे किसी भी राष्ट्र के नागरिक न रह जायँगे।

४—राष्ट्रसंघ एक विशाल और सुसज्जित सेना रक्खेगा जो विविध राष्ट्रों में बिखरी रहेगी। यही सेना सब राष्ट्रों के भीतर शान्ति रक्षा करेगी, कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर बलात्कार करेगा तो उसका दमन करेगी। इस सेना से काम न चलेगा तो राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्र आवश्यकतावश जन और धन से मदद करेंगे।

५—समुद्र के ऊपर सब राष्ट्रों का समान अधिकार होगा। किनारे से कुछ मील तक का समुद्र ही राष्ट्रों के अधिकार में रह सकेगा। समुद्री मार्गों के स्टेशनों पर राष्ट्रसंघ का अधि-कार होगा और वहां सभी राष्ट्रों के जहाज समा-नाधिकार से शरण ले सकेंगे। स्वेज नहर सरीखे सकरे जलमार्ग भी राष्ट्रसंघ के नियन्त्रण में होंगे।

६—राष्ट्रसंघ का न्यायालय होगा, जो विविध राष्ट्रों की सरकारों से सम्बन्ध रखने वाले सब झगड़ों को निबटायगा।

७—सिक्कों को ढालने का अधिकार भी राष्ट्र संघ को होगा। टकसालें हर एक राष्ट्र में रहेंगी पर वे राष्ट्रसंघ के नियन्त्रण में होंगी। राष्ट्रसंघ सोने और चांदी के सिक्के ढाल दिया करेगा और कुछ मजदूरी ले लेगा। सारे संसार का एक-सा ही सिक्का होगा। जुदे जुदे राष्ट्रों के जुदे जुदे ढंग के सिक्के न होंगे। इससे विनि-मय की दरों के झगड़े न रह जायँगे। हां! छोटे छोटे सिक्के राष्ट्रीय सरकारें ढालेंगी।

८—राष्ट्रसंघ के पास एक अन्तर्राष्ट्रीय बैंक होगा, जिसका मुख्य काम हर एक राष्ट्र के आयात निर्यात का समन्वय करना होगा। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को सामान के बदले में सामान देगा, सोना चान्दी या उसके सिक्के नहीं। हां! किसी राष्ट्र के पास सोना चांदी अधिक हो और वह स्वेच्छा से किसी चीज के बदले में सोना चान्दी देना चाहे तो दे सकेगा। अन्यथा हर एक सामान का मूल्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा में राष्ट्रसंघ के बैंक में लिखा रहेगा। और उसी आधार से एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से लेनदेन करेगा। झगड़ा होने पर राष्ट्रसंघ निबटायगा कि यह ऋण कैसे वसूल किया जाय।

९-तेल के स्रोतों, सोने चान्दी की खदानों पर राष्ट्रसंघ का नियन्त्रण होगा और वही इन्हें जनसंख्या के अनुसार हिस्से कर देगा।

१०-हर एक देश की मर्दुमशुमारी करने का काम भी राष्ट्रसंघ का होगा। इससे राष्ट्रसंघ में अपना प्रतिनिधित्व बढ़ाने के लिये राष्ट्रीय सरकारें मर्दुमशुमारी में गड़बड़ी न कर सकेंगी।

११-आष्ट्रेलिया आफ्रिका आदि ऐसे भूखंड जहां जनसंख्या बहुत कम है, वहां बसने के लिये हर एक देश के नागरिकों को अधिकार होगा। और ऐसे देशों पर राष्ट्रसंघ की देखरेख रहेगी।

१२-राष्ट्रसंघ एक अन्तर्राष्ट्रीय भाषा का निर्माण करेगा और आष्ट्रेलिया आदि राष्ट्रसंघ नियन्त्रित भूखंडों में उसी का प्रचार होगा। दो राष्ट्रों के बीच की भाषा भी वही होगी।

१३-राष्ट्रसंघ की अनुमति से कोई भी आदमी किसी भी देश में जाकर बस सकेगा। पर इस बारे में राष्ट्रसंघ उस देश की सरकार से पूछ लेगा और उस सरकार को कोई आपत्ति होगी तो उस पर विचार कर लेगा। साथ ही बसनेवाले से निम्नलिखित शर्तें करा लेगा।

क-वहां की भाषा को अपनाना होगा।

ख-उस देश के निवासियों के साथ रोटी-बेटी व्यवहार करके सामाजिक एकता स्थापित कर लेना होगी।

ग-अपनी जुदी संस्कृति का दावा न करना होगा और न किसी तरह के विशेषाधिकार की या पृथक् प्रतिनिधित्व या पृथक् निर्वाचन की मांग करना होगी।

घ-बाहर से आकर बसे हुए लोगों के साथ मिलकर ऐसा कोई दल या गुट्ट न बनाना होगा जो उस देश के निवासियों पर आक्रमणात्मक हो सके।

ङ-प्रवासोचित सम्पत्ति को छोड़कर अपनी अधिकतर सम्पत्ति उसी देश में रखना होगी जिस देश में बसना है।

इस प्रकार राष्ट्रसंघ बनाकर और उसके लिये बताई गई उपर्युक्त नीति पर चलकर मनुष्य मात्र में सुखशान्ति बढ़ाई जा सकती है। राज्य मनुष्य जाति की सुखशान्ति और सर्वतोमुखी समुन्नति के लिये है। शासक प्रजा के ऊपर बोझ हो जायँ, भयंकर हो जाँय एक देश के शासक दूसरे देश के शासकों से लड़ें और इस जंगलीपन में प्रजा के धन-जन की सुखशान्ति की बर्बादी करें, यह राज्य संस्था का भयंकर दुरुपयोग है। इसे दूर करना चाहिये।

मनुष्य के सामने अभी एक से एक बढ़कर कार्य पड़े हैं, वे कार्य आध्यात्मिक भी हैं और भौतिक भी, उन्हें पूरा करने में सैकड़ों हजारों वर्ष लग जायँगे, राज्य को चाहिये कि वह उन्हें पूरा करने में शक्ति लगाये। परस्पर संहार में राज्य की शक्ति का बर्बाद होना मनुष्यता को तिलाञ्जलि देना है।

जनता ने अपनी सेवा के लिये राज्य और सरकार का निर्माण किया है, इसलिये उन्हें जनता की सुखशान्ति के लिये ही पूरा प्रयत्न करना है। और यह तभी सम्भव है जब मनुष्य मात्र की सुख स्वतन्त्रता का ध्यान रखते हुए ईमानदारी से काम किया जाय। इस दृष्टि से राज्यसंस्था में काफी परिवर्तन और क्रान्ति की आवश्यकता है।

व्यवहार-काण्ड (छट्ठा अध्याय)

नया-संसार

प्रास्ताविक—

मानव-जाति के लिये दिये गये सत्येश्वर के जो सन्देश पिछले अध्यायों में लिखे गये हैं उन का पूरी तरह अनुकरण किया जाय तो यह संसार एक नया संसार—सुखमय संसार—बन सकता है। मनुष्य का जितना भौतिक विकास हुआ है उतना आध्यात्मिक विकास नहीं हुआ, इसलिये भौतिक सामग्री ईर्ष्या और शोषण का निमित्त बन गई है। इसलिये दोनों के विकास और समन्वय की आवश्यकता है। इस दृष्टि से मानव संसार की चार अवस्थाएँ कही जा सकती हैं।

१—पाशविक अवस्था अथवा हैवानी अवस्था जब कि मनुष्य में न तो संयम है न वैज्ञानिकता।

२—आसुरी या शैतानी अवस्था, जब कि मनुष्य में संयम तो नहीं है, पर वैज्ञानिकता है। वह प्रकृति की साधना करके समृद्ध हो गया है पर उसकी समृद्धि उसी के सिर पर सवार होकर उसे खा रही है, मनुष्य मनुष्य का नाश कर रहा है।

३—मानुषी अवस्था—जबकि मनुष्य वैज्ञानिक नहीं है, पर संयमी है। आध्यात्मिक कष्ट उसके कम हैं, पर भौतिक कष्ट अधिक हैं।

४—दैवी अवस्था, जबकि मनुष्य संयमी भी है और वैज्ञानिक भी है। उसने आध्यात्मिक दुःखों पर और भौतिक दुःखों पर विजय पाई है। वह अहिंसा या विश्वप्रेम का साधक है और प्रकृति का भी साधक है, इस प्रकार वह सत्येश्वर का साधक है।

मानव समाज को इस दैवी अवस्था में ले जाना ही इस मानव-धर्म-शास्त्र और सत्यसमाज के संगठन का ध्येय है। इस प्रकार का दिव्य मानव समाज ही सत्यसमाज कहा जा सकता है और तभी यह संसार नया-संसार कहलायगा।

जब यह संसार नया संसार बन जायगा तब उसकी कैसी काया पलट हो जायगी, उसके वैयक्तिक सामाजिक और राजनैतिक जीवन में अर्थात् आध्यात्मिक जीवन में और भौतिक जीवन में कितना परिवर्तन होगा, कैसी क्रान्ति होगी, इसके दृश्य दिव्य दृष्टि से आज भी देखे जा सकते हैं। इस संसार का मनुष्य अगर अकस्मात् उस नये संसार में पहुंच जाय, वह उस में भ्रमण करे तो कैसे दृश्य देखेगा, उस समय कैसी घटनाएँ जीवन में दिखाई देंगी, यही दिखाना इस अध्याय का विषय है।

इस अध्याय में भविष्य के उस यात्री की डायरी दी जाती है जो विश्व-भ्रमण कर रहा है और नया-संसार देख रहा है।

(१) रेलगाड़ी की यात्रा

रेलगाड़ी में सवार होते ही यात्रियों ने मेरा स्वागत किया और मेरा सामान रखवाने में मदद की, मानों कोई मित्र मुझे मिल गये हों। बैठने को जगह तो उनने दे ही दी। पर उनसे बात करने के पहिले मैंने यह जरूरी समझा कि कुली को पैसे दे दिये जायँ और दो दुअन्नियाँ निकाल कर मैंने उसे दीं। पहिले तो वह हँसा और पीछे एक दुअन्नी वापिस करते हुए उसने कहा—साहब, दो आने ज्याद: हैं वापिस लीजिये।

मैंने कहा—रहने भी दो, सामान भी तो कुछ ज्याद: है।

उसने कहा—आप की इस कृपा के लिये धन्यवाद, पर न तो मेरा मन मुझे भिखारी बनने की सलाह देता है और न समाज ही इस चीज को सहन करता है।

यह कहकर उसने दुअन्नी मेरे हाथ में थमा दीं और हँसता हुआ चला गया।

मैं क्षणभर उसकी तरफ देखता रह गया। नये संसार के एक कुली में भी निःस्पृहता, आत्म गौरव, ईमानदारी और सुभाषा का कितना सुन्दर समन्वय था!

गाड़ी में बैठते ही मेरे अपरिचित मित्रों ने मुझसे परिचय कर लिया, उन्हें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि मैं पुरानी दुनिया से नई दुनिया देखने आया हूं। पुरानी दुनिया की बातें सुनकर उन्हें आश्चर्य होने लगा। वे कल्पना भी न कर सकते थे कि आदमी इतना पतित कैसे हो सकता है!

गपशप करते हुए रात के नव बज गये। इस समय गाड़ी एक स्टेशन पर खड़ी थी कि इतने में एक भोंपू बजा। साथियों ने सोने की तैयारी कर दी। रेल की बेंचें सवादो फुट चौड़ी थीं और हर एक आदमी को दो फुट लम्बी जगह बैठने को मिलती थी। आदमी पूरे आराम से बैठ सकता था। एक बेंच पर कुल तीन आदमी बैठते थे। ऐसे डब्बे मैंने कभी कभी पुराने संसार में भी देखे थे। वे फौजी घायलों के लिये बनाये जाते थे। इन डब्बों का नमूना भी वैसा ही था। हाँ, बेंच जरा चौड़ी थी। रात में एक के ऊपर एक तीन बेंचें बना दी जाती थीं और दिन में एक बेंच पर बैठे हुए तीन यात्री रात्रि में एक के ऊपर एक बेंचों पर सो जाते थे। हर एक को छः फुट लम्बी और करीब सवादो फुट चौड़ी जगह मिल जाती थी। इस प्रकार छः छः आदमियों के बैठने या सोने लायक कमरों की श्रेणी डब्बे के इस किनारे से उस किनारे तक बनी हुई थी और बगल में रास्ता था। मैंने देखा कि बीच के कुछ कमरे खाली पड़े थे। यात्रियों की यह आदत थी कि जब तक दूसरे यात्रियों के पास जगह खाली होती तब तक वे नये कमरे में न जाते थे। ऐसे कमरे एक कुटुम्ब के लोगों या दम्पतियों के लिये रहते थे। डब्बों की इस नई बनावट को देखकर तो मुझे प्रसन्नता हुई ही, पर यात्रियोंके इस व्यवहार से ही मैंने समझा कि यह नया-संसार है।

एक बात से मुझे और प्रसन्नता हुई कि डब्बे में कोई बीड़ी आदि नहीं पी रहा था। मैंने जब यात्रियों से इस बात की चर्चा की तो बहुत से यात्री तो इस बात का मतलब ही न समझे कि बीड़ी पीने का क्या अर्थ है। हां! एक यात्री ने कहा कि—हां! पुराने जमाने में लोग बीड़ी चिलम हुक्का सिगरेट आदि पीते थे, तमाखू में आग लगाकर उसका विषैला धुआँ मुँह में खींचते थे और नाक और मुँह से बाहर निकाल

देते थे। जिससे हवा बहुत गंदी और विषैली हो जाती थी, उनका कलेजा भी खराब होता था। सभी को बहुत तकलीफ होती थी। पर क्या असभ्य और जंगली आदमी थे वे, जानकर आश्चर्य होता है! पर अब ऐसा असभ्य और जंगली कोई नहीं रह गया है।

बीड़ी आदि के बारे में उनकी ऐसी जानकारी देखकर साथी यात्रियों को बड़ी प्रसन्नता हुई। मालूम हुआ कि वे भाई एक विद्यापीठ में इतिहास के प्राध्यापक हैं, इसलिये उन्हें इतनी जानकारी है नहीं तो सर्वसाधारण इस बारे में कुछ नहीं जानते।

इस गाड़ी में मुझे रात्रिभर यात्रा करना थी इसलिये मैं सबसे ऊपर की बेंचपर सोया था। मैं डटकर सोया। जब नींद खुली तब मालूम हुआ कि सूर्य की किरणें डब्बे को इधर-उधर चमका रही हैं। मेरे साथी यात्री रात में उतर गये थे और उनकी जगह दूसरे यात्री आ चुके थे। उनने मुझे जगता देखकर पूछा—कहिये! नींद तो खूब आई? मैंने कहा—जी हां।

पर मुझे सबसे पहिली चिन्ता हुई सामान की। ऐसा न हुआ हो कि शाम के यात्री रात में मेरा सामान लेकर चलते बने हों। मैं तुरंत नीचे आया। देखा सामान ज्यों का त्यों है। तब मन ही मन कहा—आखिर यह नया संसार है।

आखिर वह स्टेशन आया जहां मुझे गाड़ी बदलना थी। करीब तीन घंटे यहां ठहरना था। देखा कि प्लेट-फार्मों की काया-पलट ही हो गई है। प्लेट-फार्मों के दोनों छेड़ों पर साफ-सुथरे शौचागार और बन्द स्नानागार बने थे। मैंने नहाया-धोया, और भोजन किया। सारे प्लेट-फार्म पर छप्पर था। और टेबुलों और बेंचों की कतारें लगीं हुई थीं। कहीं पर लोग तास खेल रहे थे, कहीं पर समाचार-पत्र पढ़ रहे थे। प्लेट-फार्म पर एक वाचनालय भी था। उसमें छोटी-छोटी कहानियों की पुस्तकें, मासिक-पत्र, दैनिक आदि पत्र सबके पढ़ने का इन्तजाम था। स्नानादि के बाद दो घंटे का समय यों ही निकल गया। पुराने संसार में यात्रा एक संकट या संकटों का समूह था, पर नये-संसार की यात्रा में घर और यात्रा में विशेष अन्तर न था।

(२) मित्र के घर

मेरे मित्र ने मुझे एक पत्र लिखकर अपने घर का पूरा पता दे दिया था। वही पता मैंने तांगेवाले को दिया और उसके आधार पर उसने मुझे मेरे मित्र के घर पहुँचा दिया।

कुछ मिनिटों में ही मित्र ने उनकी पत्नी ने और उनके तीनों बच्चों ने मुझे घर के आदमी की तरह अपना लिया। मित्रजी ने थोड़े में परिचय दे दिया—ये मेरी प्रमित्राजी हैं नाम है, सुशीलादेवी, ये हम दोनों के बच्चे हैं नाम है विमलकुमार, कमलाबाई, और सुरेश। सबने मुझे वन्दे-किया। मैंने सबको वन्दे किया। बच्चों का मैं काका बन गया।

सबसे पहिले मुझे घर दिखाया गया। घर के आगे और सड़क के किनारे की छपरी में तो हम लोग खड़े ही थे। इसके बाद का बड़ा-सा कमरा बैठक-खाना था। उसके बगल में एक छोटा-सा कमरा और था, जिसमें मेरा सामान रख दिया गया था। शायद यह अतिथिगृह था। इसके भीतर दो पलंग दो टेबुलें और चार कुर्सियाँ रक्खी हुई थीं। इस के पीछे रसोई-घर था और एक छपरी थी। बाद में छोटा-सा आँगन और आंगन के बाद एक तरफ संडास और दूसरे

तरफ स्नानागार तथा दोनों को जोड़ने वाली एक छपरी थी। मकान दुमंजिला था। अतिथि-गृह के ऊपर के कमरे में दम्पति का शयनागार था, और बैठक-खाने के ऊपर का कमरा बच्चों का शयनागार। हरएक बच्चे को एक पलंग, एक टेबुल और कुर्सी मिली हुई थी। दम्पति के शयनागार के बगल में एक कमरा और था, जिसमें कुछ सामान था और बच्चों के कमरों के बगल में गच्ची थी। यह एक मध्यम श्रेणी के कुटम्ब का घर था। पूछने पर मालूम हुआ कि कुटुम्बी लोगों को प्रायः इसी रूप में सब जगह मकान मिलते हैं। देश-भर में पक्के मकान बन गये हैं। अब किसी को कच्चे और छोटे मकानों में नहीं रहना पड़ता।

मैंने मन ही मन कहा-नये संसार की बलिहारी। हम लोग ऊपर का मकान देख ही रहे थे कि श्रीमतीजी ने मेरे मित्र से कहा—प्रमित्रजी, देखो तो कोई नीचे बुला रहा है। अब मुझे मालूम हुआ कि यहां पर पति-पत्नी एक दूसरे को **प्रमित्र** और **प्रमित्रा** कहते हैं। मुझे ये शब्द खूब रुचे। सचमुच पति-पत्नी एक दूसरे के प्रमित्र-उत्कृष्ट मित्र हैं। खैर! हम लोग नीचे उतरे। मालूम हुआ वही तांगेवाला आया है। मेरी एक छोटी-सी पोटली तांगे में रह गई थी—वही लौटाने आया है।

उसने कहा-माफ कीजिये साहब! आप की पोटली तांगे में रह गई थी।

मैंने कहा-इसमें माफ करने की क्या बात है? यह तो मेरा अपराध था कि मैंने अपना सामान पूरी तरह नहीं देखा।

तांगेवाला—नहीं साहब, जब कोई यात्री किसी के घर या अपने ही घर आता है तब यह स्वाभाविक है कि वह घरवालों से मिलने-जुलने में लग जाय और कुछ सामान भूल जाय। यह तो तांगेवाले का ही काम है कि वह यात्री का सामान एक एक करके उतार दे। पर इस पोटली पर मेरी नजर ही न पड़ी।

मैं—फिर भी तुमने काफी कष्ट उठाया।

तांगेवाला—पर इसमें गल्ती मेरी थी इसलिये किसी से क्या कहूँ?

मैंने पोटली ले ली और इनाम में आठ आने देने लगा।

तांगेवाला-माफ कीजिये! आप मेरा ईमान न तौलिये।

वह बिना अठन्नी लिये चला गया।

मेरे मित्र ने मुसकराते हुए कहा—आप याद रखिये कि आप नये संसार में हैं।

उनकी प्रमित्रा जी हँसने लगी।

स्नान वगैरह से तो मैं निबट ही गया था, इसलिये देवीजी के आदेश के अनुसार मैं भोजनशाला में गया। भोजनशाला में बिजली का चूल्हा था। भोजन कौन बनाता है,—आदि चर्चा छिड़ने पर पता लगा कि—घर में भोजन नहीं बनता। पास के सार्वजनिक भोजनगृह से रोटी-दाल-भात-शाक आदि सब सामान बनकर आ जाता है, और घर में बिजली की पेटी में रख दिया जाता है जिससे वह हलका गर्म बना रहता है। घर के चूल्हे पर तो सिर्फ सुबह दूध आदि पेय पदार्थ ही गरम किये जाते हैं, अथवा सार्वजनिक भोजनगृह से आये हुए पदार्थ का कोई विशेष अग्निसंस्कार करना हो तो वह किया जाता है, अथवा कभी शौक से कोई नई चीज बनाना हो तो वह बना ली जाती है। हां! सप्ताह में एक दिन सार्वजनिक भोजनगृह की भी छुट्टी रहती है, उस दिन सब लोग घर ही भोजन पकाते

हैं। इस प्रबन्ध से स्त्रियों के सिर पर घरू काम नहीं के बराबर रह गया है। वे भी अर्थोपार्जन करती हैं।

मैंने पूछा—घर पकाने में और भोजनगृह से पकी-पकाई लाने में कुछ अन्तर तो पड़ता होगा।

बोले—हाँ! पड़ता तो है, पर बहुत कम। घर रसोई बनाने में एक आदमी के पांच घन्टे निकल जाते हैं, पकी-पकाई लाने में मुश्किल से एक घन्टे की मजदूरी देना पड़ती है। इस तरह फायदा ही रहता है। इससे नारी अर्थोपार्जन के काम में लग सकती है और आर्थिक-दासता से मुक्त रहती है। आर्थिक-दासता सब दासताओं की जननी है।

मैंने कहा—अवश्य ही इस उपाय से नारी प्रत्यक्ष रूप में दासता से मुक्त रहती है, पर जब नारी अर्थोपार्जन में पुरुष के समकक्ष नहीं रह सकती तब अप्रत्यक्ष रूप में उसमें दासता आती ही है। सन्तान प्रसव और पालन के कारण वह पुरुषों की होड़ नहीं कर सकती।

मित्र—नहीं कर सकती, पर यह उसका अपराध नहीं है, समाज सेवा है, इसलिये इसका आर्थिक-भार समाज या कुटुम्ब को उठाना चाहिये। नये संसार में हरएक नारी को सन्तान प्रसव के समय दो माह की सवेतन छुट्टी मिलती है। काम पर जाते समय धात्रीसदन में उसके बच्चों के संरक्षण की जिम्मेदारी ली जाती है।

मैं—तब ऐसी हालत में स्त्रियों को कौन काम पर रखता होगा?

मित्र—सरकार। सरकार के हाथ में अब बहुत काम हैं, उन कामों पर पहिले स्त्रियों को रक्खा जाता है फिर पुरुषों को। इसलिये सरकारी कामों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या दूनी है। वेतन उन्हें पुरुषों के बराबर ही दिया जाता है। घरू दूकानों पर भी स्त्रियाँ काम करने के लिये रक्खी जाती हैं, इस बारे में कुछ तो सरकारी नियम हैं जिनका पालन करना पड़ता है, पर सरकारी नियम से भी बढ़कर आदमी की आदमियत है, इससे अब स्त्रियों को आर्थिक-दासता में नहीं रहना पड़ता।

मैं—घर का खर्च किसके जिम्मे रहता है?

मित्र—दोनों के। दोनों ही अपनी अपनी आमदनी के अनुसार घर के खर्च में हाथ बटाते हैं और बचत बैंकों में रखते हैं।

मैं—घर का काम कौन करता है?

मित्र—घरू काम अब थोड़ा है, वह प्रमित्र और प्रमित्रा मिलकर कर लेते हैं। काम ही क्या है--साफ-सफाई और परोसना वगैरह। ज्यादातर पुरुष साफ-सफाई का काम करते हैं और परोसने वगैरह का काम नारियाँ।

मैं—और बर्तन मलने का काम?

मित्र—बर्तन मलने का काम ही कितना है! बिजली से गरम पानी हो जाता है, वह एक हौज में छोड़ दिया जाता है, उसमें बर्तन डाल दिये और बर्तन साफ करने का सोड़ा डाल दिया, बस! बर्तन साफ हो गये। पर सच बात तो यह है कि घरू काम ज्यादः हो या कम, दोनों मिलकर कर लेते हैं, बड़े बच्चे भी इसमें हाथ बटाते हैं। काम न करनेवाला आदमी नीचा समझा जाता है और काम करनेवाला ऊँचा, इसलिये सब लोग होड़ लगाकर अधिक से अधिक काम करने की कोशिश करते हैं। एक तरह से घर में काम ही दिखाई नहीं देता। घर की मरम्मत वगैरह भी हम लोग कर लेते हैं।

मैं—पर घर तो ये सरकारी हैं। क्या आप इन का भाड़ा देते हैं?

मित्र—नहीं, घर पर एक तरह से हमारी ही मालिकी हैं। जब तक हम न छोड़ना चाहें तब तक घर हमारे पास ही रहेगा। अगर हमें किसी कारण से दूसरे शहर में बसना हो तो हम यह घर सरकार के सुपुर्द कर देंगे और इसी कीमत का दूसरा मकान उस शहर में सरकार से ले लेंगे। फर्नीचर वगैरह भी हम इसी तरह बदल सकते हैं। इस प्रकार मकानों की अदला-बदली होती रहती है। इस ढंग से हमें घर की मालिकी का भी सुभीता है और घर छोड़ने का भी सुभीता।

मैं—इसमें सन्देह नहीं कि यह एक बड़ी सुन्दर व्यवस्था है, फिर भी इसमें एक परेशानी तो है ही कि आप जैसी संगति में मकान चाहते होंगे वैसा न मिल पाता होगा। सरकार जो मकान देना चाहती होगी वही मिलता होगा। कल्पना करो, सरकार ने ऐसी जगह मकान दिया जहां चारों तरफ मांस-भक्षी लोग बसे हुए हैं तब आपकी परेशानी बढ़ सकती है। असभ्य लोगों के बीच में रहना भी आपको पसन्द न आयगा।

मित्र—भाई! अब इस संसार में सभ्य-असभ्य का भेद या कोई जातिभेद नहीं है। अब सभी सभ्य हैं, सभी उच्च हैं। और मांस तो कोई खाता ही नहीं। इसलिये कहीं भी रहो, सब जगह सत्संगति है; फिर भी अगर कोई मकान अपने को पसन्द न हो तो बदल सकते हैं। सब जगह मकान खाली होते रहते हैं और नये भी बनते रहते हैं।

———

(३) नगर की सैर

छुट्टी का दिन था। आज मेरे मित्र ने मुझे शहर घुमाने का कार्यक्रम बनाया। उनकी प्रमित्रा जी भी साथ हो गईं और बच्चे भी। कितना साफ-सुथरा शहर था! मैंने गौर से देखा कि कोई आदमी सड़क पर इधर-उधर कचरा नहीं डाल रहा था। कोई इधर-उधर थूँकता भी नहीं था, जब कि पुरानी दुनिया के लोग तो रेल में भी थूँकते थे और रोकने पर लड़ने को तैयार हो जाते थे। खैर!

घूमते घूमते हम लोग अजायबघर पहुँचे। अच्छा संग्रह था। लोग पुरानी दुनिया के राजा महाराजा सम्राटों के चित्रों को बड़े गौर से देख रहे थे और उनका मजाक उड़ा रहे थे। पुरानी दुनिया के सरकारी अफसर भी बड़ी अद्भुत सूरत में चित्रित किये गये थे। चित्रों के नीचे उनके कारनामों का बड़ा वर्णन था, जिसे पढ़कर लोग आश्चर्य से कह रहे थे कि आदमी भी कैसा शैतान हो सकता था!

वहां से हम लोग चिड़ियाघर पहुँचे। वह भी पशु-पक्षियों का अच्छा संग्रह था। वहां मैंने शूकर को देखकर कहा—यह तो बहुत साधारण जानवर है, यह यहां क्यों रक्खा गया है?

मित्र—ये पुरानी दुनिया के अवशेष हैं, जानकारी के लिये किसी तरह सुरक्षित रक्खे गये हैं।

मैं—तो क्या ये जानवर बाहर नहीं रहे?

मित्र—न जंगलों में जंगली जानवर हैं, न हरिण हैं न शूकर न सांप। यहां तक कि मच्छरों आदि का भी नाश कर दिया गया है।

मैं—तब तो बड़ा हत्याकांड हुआ होगा?

मित्र—हां! मच्छरों सांपों आदि का तो हत्या-

कांड ही हुआ, चूहों का भी बहुत अंशों में यही हुआ, शेर आदि की भी कुछ कुछ ऐसी ही दशा हुई, पर हरिण शूकर आदि का नाश बिना मारे ही किया गया।

मैं–क्या उन्हें बीमार बनाकर या भूखा रखकर मारा गया?

मित्र–नहीं। न उन्हें बीमार किया गया, न भूखा रक्खा गया, बल्कि उन्हें निर्वंश किया गया।

मैं–मैं अब भी नहीं समझा।

मित्रने हँसकर कहा-जगह जगह नरद्वीप और मादाद्वीप बनाये गये थे। नरद्वीप में नर ही नर रक्खे जाते थे और मादाद्वीप में मादा ही मादाएँ। फल यह होता था कि वे सन्ततिहीन हो जाते थे। आज अब वे सिर्फ चिड़ियाघरों में रह गये हैं। अब न खाद्य-सामग्री बर्बाद होती है, न आने-जाने में मनुष्य के सिर पर कोई उपद्रव बरसता है। पहिले जंगली जानवरों और चूहों आदि से करोड़ों मन अनाज बर्बाद हो जाता था। और सांपों तथा मच्छर आदि से लाखों आदमी मर जाते थे।

मैं–पुराने संसार में जब मौत के इतने उपाय थे तब तो आदमी इतने बढ़ते जाते थे, अब इस नये संसार में क्या होता होगा? अब तो बालमृत्यु भी न होती होगी, अकाल भी न पड़ते होंगे युद्ध भी न होते होंगे।

मित्र–जी हां! यह सब नहीं होता। फिर भी जनसंख्या नहीं बढ़ रही है या नाममात्र को बढ़ रही है। हर एक आदमी सन्तति नियमन की पूरी पाबन्दी करता है, तीन से अधिक संतान पैदा करने का रिवाज नहीं है। सन्तति नियमन के अनेक निर्दोष उपाय निकल गये हैं।

मैं—फिर भी लोग यह बात कैसे पसन्द करते होंगे कि अपना कुटुम्ब या अपना समाज कम किया जाय?

मित्र—देखिये! अब इस प्रकार विभाजक कौटुम्बिकता का कहीं पता नहीं है, न अपना अपना अलग समाज है। अब तो मनुष्यमात्र का एक समाज है। पुराने संसार में एक जाति दूसरी जाति पर सवार होना चाहती थी, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र का शोषण करना चाहता था, और लड़कर मरने के लिये अधिक से अधिक बच्चे पैदा करना चाहता था। अब यह शैतानियत इस संसार में कहीं नहीं है। मानव समाज के प्रति अपना कर्तव्य समझकर स्त्रियाँ अधिक से अधिक तीन बच्चे पैदा कर देती हैं, इसके बाद सन्तति नियमन के उपाय काम में लाये जाते हैं। हां! अगर भूलचूक से चौथा बच्चा पैदा हो जाय तो घर का एक बच्चा किसी दूसरे कुटुम्ब में गोद दे दिया जाता है।

मैं—जिनके सन्तान न होती होगी उन्हीं को बच्चे गोद दिये जाते होंगे। सन्तानवाली स्त्रियाँ क्यों गोद लेती होंगी?

मित्र–जिनके तीन से कम बच्चे रहते हैं वे भी गोद लेती हैं, क्योंकि किसी तरह तीन बच्चे हो जाने पर स्त्रियाँ सन्तान प्रसव के दायित्व से मुक्त हो जाती हैं।

मैं–क्या इस प्रकार गोद लिये गये बच्चे माँ का प्यार पाते होंगे?

मित्र–पाते हैं! इस विषय में मैं आप से यही कहना चाहता हूं कि यह नया संसार है। यहां मनुष्यमात्र को एक कुटुम्ब मान लिया गया है।

इतने में सुशीला देवी ने कहा-- आप शायद

नारियों में इतनी उदारता की कल्पना भी नहीं कर पाते ?

मैंने कहा—कल्पना ही कर पाता हूं।

सुशीला—पर नये संसार में आप ऊंची से ऊंची कल्पना को घर घर प्रत्यक्ष रूप में देखेंगे।

मैंने कहा—यही देखने तो आया हूं।

बातें करते करते हम लोग चिड़ियाघर के बाहरी फाटक पर आगये थे। मित्रजी ने सुशीलादेवी से कहा--प्रमित्राजी, अब किधर चला जाय?

सुशीलादेवी ने कहा—आज तो अब घर ही चलें। अब धीरे धीरे इन्हें सुबह-शाम सैर करा दी जायगी।

हम लोग ट्राम में बैठकर घर पहुँचे।

दरवाजा खोलते ही एक पत्र पड़ा हुआ मिला। वह मित्रजी के नाम पर था। उसमें लिखा था—

श्री प्रसन्नकुमार जी,

वन्दे !

दो बार आपको टेलीफोन किया गया, पर कोई उत्तर न आया। इससे माळूम हुआ कि आप बाहर गये हैं, इसलिये यह पत्र भेजा है। आप घर आते ही टेलीफोन पर मुझसे बात करने की कृपा करें। आपका सेवक—

दयाराम

(पुलिस प्रधान)

पुलिस के पत्र की बात जानते ही मेरे होश उड़ गये। मैंने समझा आई कोई आफत। पुलिस की बला आखिर यहां भी है। हां! इतना ही है कि नये-संसार में पुलिस के लोग काफी नम्रता से पेश आते हैं।

मित्र ने टेलीफोन उठाकर बात की—'हां.... हां हां! ठहरे हैं........मुझे तो नहीं माळूम, पूछता हूं।'।

मेरे मित्र ने मुझसे पूछा—आपका क्या कुछ गुमा है ?

मैंने पहिले तो कहा—नहीं। फिर पाकिट देखा तो माळूम हुआ कि पाकिट से छः-सात सौ रुपये के नोट गायब हैं। जिस बटुए में वे रक्खे थे, वह भी नहीं है। मैंने घबराकर कहा—अरे! मेरा बटुआ गुम गया है, उसमें तो छः-सात सौ के नोट थे।

मित्र—माळूम होता है कि घर से निकलते ही वह कहीं गुम गया।

मैंने रंजीदी आवाज में कहा—यही संभव है।

मित्र ने टेलीफोन उठाया और कहा—देखिये, मैंने मित्र से पूछ लिया है, उनका बटुआ गुमा है उसमें करीब छः-सात सौ रुपये के नोट थे, उनका परिचय-पत्र था और उनके नाम पर भेजा हुआ मेरा भी एक पत्र था। उसी पत्र से आप को मेरा पता लगा होगा........तीन घंटे से आ कर पड़ा है! कोई राहगीर दे गया था। ठीक है तीन घंटे तक आपको उसकी रखवारी करना पड़ी इसका मुझे खेद है........कोई बात नहीं। खैर! आप भेज दीजिये।

मैंने देखा कि पुलिस-प्रधान बड़ी नम्रता से हँस-हँसकर बात कर रहा था। टेलीफोन के पट पर उसका चित्र दिखाई दे रहा था। किसी तरह का अहसान जताने का भाव उसके चिहरे पर नहीं था।

अब मित्र की जगह मैं टेलीफोन पर आ गया। मैंने पुलिस से कहा—आपकी इस कृपा के लिये धन्यवाद।

पुलिस-प्रधान—मैं तो आप लोगों का नौकर हूं, वेतन पाता हूं, तब नौकरी बजा दी तो इसमें धन्यवाद का क्या काम हो गया, अगर आप अपने

नौकरों को धन्यवाद देंगे तो उन्हें क्या देंगे जो आपका बटुआ पुलिस चौकी पर दे गये थे ?

मैं जरा लज्जित हुआ, और कहा–उन श्रीमान् का तो मुझे दर्शन ही नहीं हो पाया ।

पुलिस-प्रधान ने हँसकर कहा–उन्हें आप की तरफ से मैंने धन्यवाद दे दिया है ।

मैंने कहा–तो उन्हें दिया हुआ धन्यवाद तो मुझसे ले लीजिये, इतना ऋण तो चुकाने दीजिये ।

पुलिस-प्रधान हँसने लगा, कहा— आदाब !

मैंने कहा–आदाब !

थोड़ी देर में पुलिस का एक सिपाही आया, वह बटुआ दे गया ।

मैंने कहा–इनाम का देनलेन तो आपके इस नये संसार में नहीं है, फिर भी अगर कोई व्यक्ति सरकार की किसी विशेष सेवा से खुश होकर कुछ देना चाहे तो इसका कुछ उपाय है या नहीं ?

पुलिस–इनाम का देनलेन तो है पर हम लोग सिर्फ सरकार की तरफ से मिला हुआ इनाम ले सकते हैं । हां ! आप कुछ देना चाहें तो चौकी पर धर्मादा-पेटी है, उसमें कुछ डाल सकते हैं ।

मैं–तो क्या आप ये दस रुपये उस पेटी में डालने की कृपा करेंगे ?

पुलिस–मैं आपकी पोटली सिर पर रखकर ले जा सकता हूं, पर इसके लिये तो क्षमा ही कीजिये !

इतना कहकर और आदाब बजाकर वह चला गया ।

मैं उसकी तरफ देखता रह गया । मन ही मन कहा—कहाँ पुराने संसार की कृतघ्न, ठग लुटारू, घमंडी और अकड़बाज पुलिस, और कहां नये संसार के ये देवदूत !

(४) न्यायालय के दर्शन

मित्रजी से मैंने कहा–आज तो मैं न्यायालय की तरफ जाऊँगा । पर, मैं आप लोगों को विशेष कष्ट नहीं देना चाहता, इसलिये आप मुझे समझा दीजिये जिससे मैं अकेला ही न्यायालय के दर्शन कर आऊँ ।

मित्र ने कहा—इसके लिये समझाने की कोई जरूरत नहीं है, आप ट्राम में बैठ जाइये और पूछते जाइये, आपको कोई कष्ट न होगा ।

मैंने सोचा–चलो, इस बारे में भी नये-संसार का अनुभव किया जाय । मैं भोजन करके ट्राम में बैठ गया और ट्राम के कर्मचारी ने मुझे सब ठीक ठीक बता दिया । मैं कचहरी पहुँच गया ।

कचहरी के फाटक पर एक बड़ा-सा कार्यालय था । वहाँ सारी कचहरी के बारे में जानकारी हासिल की जाती थी । कौन हाकिम किस नम्बर के कमरे में बैठा है ? उसका क्या पद अधिकार और कार्य है ? उसके इजलास में कौन कौन से मुकद्दमे हैं ? वे मुकद्दमे किस क्रम से लिये जायँगे ? और करीब उनका समय क्या होगा, आदि सब बातों का वहीं पता लग जाता था । शहर के बहुत से लोग टेलीफोन के जरिये अपने मुकद्दमे के लिये जाने का क्रम और समय पूछ लेते थे । इस प्रकार लोग समय पर आते थे और समय पर जाते थे । किसी का अधिक समय बर्बाद न होता था ।

उसी कार्यालय से इस बात का पता भी लग जाता था कि कचहरी में आकर किस ढंग से क्या कार्य किया जाना चाहिये । कोई अर्जी देना हो, कोई अपील दायर करना हो तो कार्यालय के

कर्मचारी उसे सब कुछ बता देते थे। और न तो वे इसके लिये इनाम लेते थे, न किसी का काम टालते थे। जो आदमी कभी कचहरी न आया हो और जिसे कचहरी का बिलकुल अनुभव न हो वह भी कचहरी में आकर बिना किसी परेशानी से अपना काम कर जायगा, उसे सब जानकारी कचहरी की ओर से दी जायगी। और इसके लिये उसे पैसा खर्च न करना पड़ेगा।

यहीं पूछने से पता लगा कि यहां न्याय की बिक्री नहीं होती। पैसा न होने पर भी हर-एक मनुष्य न्यायप्राप्त कर सकता है। वकीलों की कोई खास जरूरत नहीं होती। सद्सद्विवेक बुद्धि से जो बात न्यायोचित मालूम होती है—कचहरी में भी वही न्यायरूप सिद्ध होती है। कानून के अक्षर न्याय में बाधक नहीं होते, बल्कि जब कानून न्याय में बाधक मालूम होता है तब वह जांच के लिये प्रान्तीय न्यायालय में भेज दिया जाता है। जब न्याय दिया जाता है तब इस बात की कोशिश की जाती है कि दोनों पक्ष उसके औचित्य को समझें। न्याय-विभाग और शासन-विभाग बिलकुल अलग अलग है। शासकों का कोई असर न्याय-विभाग पर नहीं होता।

कार्यालय से जब मैं भीतर की ओर बढ़ा तो देखा कि वहां वादी—प्रतिवादियों के ठहरने के लिये अच्छे विश्राम-गृह बने हुए हैं, जहां पीने के लिये पानी और पढ़ने के लिये पुस्तकों और समाचार-पत्रों का अच्छा इन्तजाम है। जिसके मुकद्दमे का नम्बर आता है वह यहीं से बुला लिया जाता है। इस समय किस इजलास में किस नम्बर का मुकद्दमा चल रहा है—इसकी सूचना भी यहीं लगी रहती है। जब कोई बुलाया जाता है तब उसका नाम काफी आदर से श्रीमान्-जी आदि लगाकर लिया जाता है। मैंने देखा कि ऐसे स्थान कई जगह बने हुए हैं। पास में खान-पान की सामग्री की कुछ दूकानें भी हैं। जब कोई वादी प्रतिवादी या गवाह कचहरी के अहाते में आता है, तब वह इजहास के कर्मचारी के पास अपनी हाजिरी डलवा देता है। अनुपस्थित होने के कारण किसी का मुकद्दमा खारिज नहीं किया जाता। अगर कारण ठीक न हो तो कुछ हर्जाना लिया जाता है। लांच-रिश्वत का तो कहीं पता ही नहीं है।

लोगों से पूछताछ करने से जो मुझे जानकारी मिल रही थी—वह कम आश्चर्यजनक नहीं थी, पर ज्यों ज्यों मैं आगे बढ़ता जाता था त्यों त्यों मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं था। बाहर घूमघामकर आखिर मैं जिला साहब के इजलास में चला गया। साहब ग्यारह बजे आते थे और अभी ग्यारह बजने में पांच मिनिट बाकी थे।

पुराने संसार में न्यायाधीशों के लिये ऊँची वेदी पर कुर्सी रक्खी जाती थी, पर यहां यह बात नहीं थी। हाकिम की कुर्सी साधारण जमीन पर थी और उनकी टेबुल के सामने बहुत-सी कुर्सियाँ पड़ी हुई थीं जिन पर वकील-वादी-प्रतिवादी आदि बैठते थे। जब मैं पहुंचा तब एक भाई बैठे हुए थे। मैं भी वहीं एक कुर्सी पर बैठ गया।

ज्यों ही हाकिम आये कि उनके सन्मान में मैं उठ खड़ा हुआ और सलाम की। हाकिम ने क्षणभर मेरी तरफ गौर से देखा, फिर कहा—क्या आपको मुझसे कोई गैर-कानूनी या अन्याय-पूर्ण लाभ उठाना है?

हाकिम का यह प्रश्न सुनते ही मैं घबरा गया। बड़ी मुश्किल से और सूखे गले से मैंने कहा—जी नहीं!

हाकिम–फिर आपने मुझे रिश्वत क्यों दी ?

मैं चकित होकर बोला—साहब, मैंने तो आपको एक भी पैसा नहीं दिया।

हाकिम–जी हां, आपने एक पैसा तो नहीं दिया है, पर मुहरों की थैली तो दी है।

मैं क्षणभर चुप रहा, फिर आश्चर्य से कहा–साहब, माफ कीजिये ! मैं आपकी बातों का अर्थ नहीं समझ पा रहा हूं।

हाकिम खिलखिलाकर हँस पड़े, फिर बोले–भाई साहब, आप यह तो मानते हैं कि जब कोई आदमी खा-पीकर सन्तुष्ट हो जाता है तब अपने पैसे से नाम और इज्जत बढ़ाना चाहता है।

मैंने कहा–जी हां !

हाकिम–तब मेरे आने पर खड़े होकर और मुझे सलाम करके आपने वह इज्जत मुझे क्यों दे दी, जो हजारों रुपये खर्च करके भी मैं नहीं पा सकता था ?

मैं–जनसेवकों का विनय करने में तो कोई हानि नहीं है, बल्कि यह तो शिष्टाचार है।

हाकिम–तो आप मुझे जनसेवक समझते हैं ! क्या आप समझते हैं कि मैं यह जनसेवा मुफ्त में करता हूं ? क्या इसके लिये वेतन नहीं लेता ? यदि ऐसी तुच्छ सेवा को बेचनेवाला 'जनसेवक' कहलायगा तो निःस्वार्थ जनसेवक को आप क्या कहियेगा ?

मैं—खैर ! निःस्वार्थ जनसेवक समझकर न सही, पर एक विद्वान समझकर ही आपका विनय कर लिया जाय तो क्या हर्ज है ?

हाकिम–पर क्या आपको मालूम नहीं कि इस नगर में ऐसे एक से एक विद्वान पड़े हैं जिन के चरणों में बैठकर मैं वर्षों सीख सकता हूं। क्या आप उन्हें प्रणाम कर आये ?

मैं–जी नहीं, पर आपको सलाम करना वास्तव में आपको सलाम करना नहीं है, किन्तु उस कुर्सी को सलाम करना है जो न्याय की सत्ता का प्रतिनिधित्व करती है।

हाकिम–तब तो आपके समान मुझे भी उस कुर्सी को सलाम करना चाहिये। पर, आपने देखा ही होगा कि आते समय मैंने उस कुर्सी को सलाम नहीं किया, तब आपको क्या आवश्यकता मालूम हुई कि आप उस कुर्सी को सलाम करें ? और कुर्सी को ही सलाम करना था तो मेरे आने के पहिले कुर्सी यहां पड़ी ही थी आप उसे सलाम कर लेते, मेरे आने पर ही आपको सलाम करने की क्या जरूरत पड़ी।—यह कहकर हाकिम हँसने लगे।

अब मैं निरुत्तर था, पर सोच रहा था कि ऐसी निरुत्तरता पर मनों हाजिर-जबाबी न्यौछावर की जा सकती है। क्षणभर चुप रहकर मैंने कहा—साहब ! मैं पुराने संसार का प्राणी हूं, जिस संसार में मनुष्य के आकार में ज्यादःतर हैवान या शैतान ही रहते हैं। नये संसार में आकर मैं पद पद पर भूल रहा हूं। मैं एक यात्री की हैसियत से इस दुनिया में घूमने आया हूं।

हाकिम-ओह ! माफ कीजिये ! मुझे मालूम नहीं था कि आप नई दुनिया में यात्रा के लिये आये हैं। मैंने भूल से आपको यहीं का नागरिक समझा था। अब आप यहां पधार जाइये !

यह कहकर हाकिम ने मुझे अपने पास बुलाया और अपने पास की कुर्सी पर बिठाकर कहा—अब आप आराम से यहां बैठिये और यहाँ की कार्य-पद्धति देखिये !

मैं वहां शाम तक बैठा और सब कार्य देखता रहा। क्षणभर को मैं यह कल्पना न कर

कल्पना भी न कर सका कि मैं जिलेभर के हाकिम के इजलास में बैठा हूं।

एक मामला आया, माल्लूम हुआ प्रतिवादी हाजिर है, वादी ने सिर्फ चिट्ठी भेज दी है और विशेष बातचीत करने के लिये अपने टेलीफोन का नम्बर भेज दिया है। इसी आधार पर मामले का फैसला हो गया।

एक मामले में वादी-प्रतिवादी दोनों गैर-हाजिर हैं और पत्रों के आधार पर कार्य हो गया है।

कुछ भाइयों ने टेलीफोन से पूछा कि जो नया कानून बना है उसका ठीक ठीक रूप समझाइये। हाकिम का काफी समय इसी तरह के समाधान में गया।

कुछ समय छोटे छोटे हाकिमों को सलाह देने में गया। मैंने देखा कि ऐसे मौकों पर जनता के पक्ष पर ही जोर दिया जाता और पुलिस को दबाया जाता है, और उन्हें यह चेतावनी दी जाती है कि तुम लोग यह भूल न जाना कि तुम जनता के सेवक हो। जहां वादी प्रतिवादी प्रजा पक्ष के होते थे—वहां तो किसी के साथ पक्षपात न होता था; किन्तु जहां सरकारी पक्ष या प्रजा-पक्ष में मतभेद होता था—वहां प्रजा की तरफ थोड़ा पक्षपात रहता था। और हाकिम मुसकराकर सरकारी पक्ष से कह देते थे कि आखिर तुम लोग प्रजा की सेवा के लिये हो।

एक सरकारी वकील, जिन में एकाध कण पुरानी दुनिया का रह गया था, हाकिम से बोले—भाई साहब, इस कानून को निकले तीन महीने हो गये, फिर भी इसका पालन प्रतिवादी ने नहीं किया है और सरकारी-पक्ष अगर एक दिन की भी देर कर दे तो चारों तरफ से उसपर दुलत्तियाँ पड़ने लगती हैं।

बात सुनते ही हाकिम का चेहरा कुछ गम्भीर हो गया। ग्लानि से क्षणभर के लिये उन की नाक सिकुड़ गई। फिर भी उनने अपने क्रोध पर अंकुश लगाते हुए कहा—देखो भाई, मालिक अगर कोई गलती करे तो नौकर उसे नम्रता से सलाह ही दे सकता है, पर अगर नौकर गलती करे तो मालिक उसे कठोर दंड दे सकता है—निकाल बाहर कर सकता है। प्रजा 'मालिक' है, सरकार 'नौकर' है। हरएक सरकारी कर्मचारी को प्रजा की तरफ से वेतन मिलता है, जब कि प्रजा को सरकार से रोटियाँ नहीं मिलतीं। इस बात की याद सरकारी कर्मचारी को याद रखना चाहिये।

सरकारी वकील का मुँह जरा-सा रह गया। उसने कहा—मैंने तो व्यवस्था की दृष्टि से यह बात कही थी, फिर भी मैं भूल स्वीकार करता हूं।

हाकिम ने जरा तेजी से कहा—'फिर भी' लगाकर भूल स्वीकार नहीं की जाती भाई! सरकार को यह बात पूरी तरह ध्यान में रखना चाहिये कि उसके कर्मचारियों को जनता पर हुकूमत नहीं करना है, किन्तु उसकी नौकरी करना है। जो अधिकार उनके हाथों में दिये गये हैं—वे अपने बड़प्पन या स्वार्थ की रक्षा के लिये नहीं है, किन्तु जनता को आराम पहुंचाने के लिये हैं। प्रजा के लिये जो व्यवस्थाएँ बनायी जाती हैं उन्हें घर घर पहुंचाना सरकार का फर्ज है। फिर भी किसी से भूल हो तो देखना चाहिये कि उससे जनता का क्या नुकसान हुआ है? जनता का अगर कुछ नुकसान न हुआ हो या न हो सकने की सम्भावना हो तो सिर्फ इसीलिये किसी को अपराधी नहीं ठहराया जा सकता कि उससे सरकारी कर्मचारी की परेशानी बढ़ी है।

सरकारी कर्मचारियों की सुविधा के लिये जनता की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं डाली जा सकती। 'कानून न्याय के लिये है और न्याय जनता की सुख-शान्ति के लिये है'—इस महामन्त्र को आप कभी न भूलें। इस महामन्त्र के आधार पर कोई भी व्यक्ति आपकी व्यवस्थाओं और कानूनों के औचित्य के बारे में मांग कर सकता है और आप औचित्य सिद्ध न कर सकें तो उसे अस्वीकार भी कर सकता है। सरकारी नौकरों की परेशानी बचाने के लिये जनता बाध्य नहीं है पर, जनता को परेशानी से बचाना सरकारी नौकरों का कर्तव्य है। आप मेरा मतलब समझ रहे हैं न ?

सरकारी वकील—जी हां ! समझ रहा हूं और सच्चे दिल से अपनी गलती महसूस कर रहा हूं। और मुझसे यह गलती क्यों हुई, उसका कारण भी आपको बता देना चाहता हूं।

हाकिम—जब आपको गलती समझ में आ गई तब कारण बताने की कोई जरूरत नहीं है।

सरकारी वकील—जी नहीं, कारण कुछ सुनाने लायक है।

हाकिम—तो सुनाइये !

सरकारी वकील—बात यह है कि मैं पुरानी दुनिया के इतिहास का अध्ययन किया करता हूं। पेशे के कारण मेरा अध्ययन कानूनी विभाग का होता है। कल मैं संग्रहालय में पुरानी दुनिया की कचहरियों के कुछ रिकार्ड पढ़ गया। उन से मुझे मालूम हुआ कि वहां सरकार के सौ खून माफ थे पर प्रजाजन की मामूली गलती उसे कुचल देती थी। सरकार वहां मालिक थी और प्रजा दासी। न जाने कैसे उसी पाप की कुछ बूंदें मेरे दिमाग में घुस गईं और यही कारण है कि आज मैं प्रजा का अपमान करनेवाली बात कह गया।

हाकिम ने मुसकराकर कहा—ओह ! पुरानी दुनिया के साहित्य में बड़ा असर है। आज तो अपने यहां पुरानी दुनिया के एक मेहमान बैठे हुए हैं। मैं समझता हूं वे आपके वक्तव्य का समर्थन करेंगे ?

यह कहकर हाकिम ने मेरे मुंह की ओर देखा। मैंने कहा—जी हां ! पुरानी दुनिया को पूरा नरक समझिये ! वहां शैतानों का ही बोलबाला है।

हाकिम—क्या वहां सरकार नहीं है ?

मैं—है, पर न होने से बदतर। सरकार का छोटा से छोटा अफसर प्रजा के बड़े से बड़े आदमी से भी अपने को अधिक शक्तिशाली समझता है। लाँच-रिश्वत का बाजार गर्म है। छोटे से छोटे राज्यकर्मचारी के हाथ में इतनी सत्ता और सुविधा है कि वह बड़े बड़े प्रजा-सेवकों को कुचल सकता है। उनकी आलोचना की कि, प्रजाजन मारा गया। देश-रक्षा के नाम पर वह जेल में वर्षों सड़ाया जायगा, वह बोल नहीं सकता, लिख नहीं सकता। छापाखानेवाले के सिर पर नंगी तलवार लटकती रहती है। पहिले तो कानून ही ऐसे गजब के हैं कि उनमें कोई भी आदमी बात की बात में फँसाया जा सकता है, भले ही वह अपराधी न हो। अगर कानून की मार से कोई बच भी जाय तो बड़े बड़े अफसर विशेष हुक्म निकालकर जिस चाहे को जेल भेज सकते हैं, उन्हीं के बनाये गये न्यायालयों तक में उनका विचार न किया जायगा। पुरानी दुनिया की अंधेरशाही और प्रजा के कष्टों का आप से क्या बयान करूं ? आपके यहां का

अच्छा से अच्छा कल्पक कवि अगर नरक की भयंकर से भी भयंकर कल्पना करे तो पुरानी दुनिया के समान न कर पायगा ।

मेरी बात से क्षणभर को तो हाकिम मुसकराये, किन्तु तुरन्त ही उनके चेहरे पर शोक और घृणा नाचने लगे । अन्त में जरा गम्भीर मुद्रा से कहा—मनुष्य कैसी हैवानियत और शैतानियत की अवस्थाओं में से गुजर चुका है, यह जानकर आज आश्चर्य होता है ! इसके बाद हाकिम ने मुंशी से कहा—अब इसके आगे कौनसा मुकद्दमा है ?

मुंशी ने कहा—विज्ञापन वाला । इस बारे में वादी और दोनों प्रतिवादियों के पत्र आये हैं । वादी का कहना है कि मैंने प्रतिवादी का विज्ञापन पढ़कर दवा मँगाई, पर उसका उपयोग करके मुझे मालूम हुआ कि विज्ञापन की भाषा अतिशयोक्तिपूर्ण है और वह पाठक के मन में भ्रम पैदा करती है । पहिले प्रतिवादी का कहना है कि 'थोड़ी बहुत अतिशयोक्ति विज्ञापन में रहती ही है फिर भी न्यायालय जैसी सलाह देगा उस का पालन किया जायगा' । दूसरे प्रतिवादी का कहना है कि 'पत्रों में झूठे या अतिशयोक्तिपूर्ण विज्ञापन कभी आते नहीं हैं, इसलिये मैंने जांच पड़ताल नहीं की और धोखे से विज्ञापन छप गया । अब आगे पीछे के लिये न्यायालय जैसी सलाह देगा उसके अनुसार कार्य किया जायगा' ।

हाकिम ने कहा—ठीक है, पहिले प्रतिवादी को सूचना भेज दो कि 'आप अपना यह विज्ञापन किसी पत्र में न छपाइये और एक महीने तक उसका विरोधी विज्ञापन छपाइये, जिससे वे लोग दवा वापिस कर सकें, जिनको दवा से असन्तोष रहा है' । दूसरे प्रतिवादी को सूचना भेज दो कि 'उक्त विज्ञापन का खण्डन एक माह तक उनके पत्र में छापा जाय' ।

इसके बाद हाकिम ने मेरी ओर मुँह करके कहा—आप के यहां अतिशयोक्तिपूर्ण विज्ञापनों पर नियन्त्रण करने के लिये क्या किया जाता है ?

मैंने कहा—हमारे यहां ? हमारे यहां की न पूछिये । अतिशयोक्तिपूर्ण विज्ञापन देना तो एक अच्छी से अच्छी और प्रशंसनीय कला समझी जाती है, पर झूठे से झूठे विज्ञापन देना भी कला में शुमार है । कानून तो इसमें कोई बाधा डालता ही नहीं । पत्र के संचालक खुल्लमखुल्ला इस वृत्ति को पोषण देते हैं, यहां तक कि अगर विज्ञापन के रेट से अधिक दाम दिये जायँ तो संचालक लोग सम्पादकीय टिप्पणी के रूप में भी विज्ञापन निकाल दिया करते हैं, भले ही वे विज्ञापन झूठे और अतिशयोक्तिपूर्ण हों ।

मेरा अन्तिम वाक्य सुनते ही हाकिम चौंक पड़े और बोले—क्या आप आशा करते हैं कि हम लोग आपकी इस असंभव बात पर विश्वास करें ?

मैंने कहा—जी हां ! मैं पहिले ही कह चुका हूं कि आप लोग पुरानी दुनिया के नरक की कल्पना भी नहीं कर सकते ।

हाकिम—पुरानी दुनिया को समझने के बारे में हम लोगों ने मिहनत तो काफी की है । और उस के लिये एक संग्रहालय भी बना रक्खा है, फिर भी ऐसी कल्पना करना कठिन ही था । समाचारपत्रों के पतन की ऐसी कल्पना हम लोग नहीं कर सकते । खैर !

इसके बाद जो मुकद्दमा आया उसका विषय यह था कि एक यात्री रेलगाड़ी से उतर कर सार्वजनिक भोजनालय में आया । उस समय

रात्रि के दस बज गये थे। उसने भोजन मांगा पर मैनेजर ने कहा—अब तो दस बज गये हैं। यात्री ने कहा—गाड़ी लेट हो गई थी इसलिये मैं इतनी देर से आया। पर मैनेजर ने भोजन न दिया। यात्री भूखा ही सो गया।

हाकिम ने मैनेजर से कहा—माना कि दस बजे भोजनालय का काम बंद कर दिया जाता है, पर यह भूलना न चाहिये कि आपकी नियुक्ति जनता कि सेवा के लिये हुई है, और सेवा मनुष्यता को तिलांजलि देकर नहीं की जा सकती ? जरा खयाल तो करो कि जब शहर के सब लोग बालबच्चों के साथ आराम से सोते होंगे तब एक यात्री आकाश के तारे गिनगिनकर या घड़ी के काँटे देख-देखकर रात गुजार रहा होगा। और इसमें उसका अपराध सिर्फ इतना है कि वह हमारे निर्दय और लापर्वाह शहर में यात्री बनकर आया है। क्या इस प्रकार आपने अपनी लापर्वाही से सारे शहर को लजाया नहीं है ? ओह ! यह कितने शर्म की बात है कि हमारे शहर में एक यात्री को पूरी रात भूखे रहकर निकालना पड़ती है !

मैनेजर ने सिर नीचा कर लिया, उसकी आंखें भर आईं और उसने यात्री से माफी माँगते हुए हाकिम से कहा—मुझे अपनी लापर्वाही पर सख्त अफसोस है, आप जो उचित समझें इसका प्रायश्चित मुझे बता दीजिये।

हाकिम—प्रायश्चित्त तो यात्री महोदय ही बता सकते हैं।

यात्री—अब इस घटना के बारे में मेरे मन में कोई खेद नहीं है, इसलिये मैनेजरजी को क्षमा किया जाय।

मैनेजर—इस क्षमा के लिये मैं यात्री महोदय को धन्यवाद देता हूं ! फिर भी मुझे अपराध का ऋण तो चुकाना ही चाहिये, आत्मरक्षा की दृष्टि से भी यह जरूरी है।

हाकिम—कैसी आत्मरक्षा ?

मैनेजर—आज सबेरे के कई पत्रों में इस दुर्घटना की चर्चा है, बड़े बड़े शीर्षक दिये गये हैं – 'भोजनालय के मैनेजर की निर्दयता, यात्री रात्रि भर भूखा, शहर का घोर अपमान'। मेरे लिये शहर में मुंह दिखाना भी कठिन हो गया है। अब बिना प्रायश्चित किये मैं मुंह कैसे दिखा सकूंगा ?

हाकिम—अच्छा तो आप प्रायश्चित के रूप में तीन दिन तक शाम का भोजन बंद रखिये। अथवा आप अपनी इच्छा के अनुसार जैसा उचित समझें—प्रायश्चित ले लीजिये।

मैनेजर—तीन दिन काफी न होंगे, मैं पंद्रह दिन तक शाम का भोजन बन्द रक्खूंगा।

शाम का समय हो गया था। इसलिये कचहरी का काम समाप्त हुआ। और मैं घर की तरफ लौटा। रास्ते भर आंसुओं को रोकने की चेष्टा करता रहा। कौन जाने ये आंसू पुरानी दुनिया की याद से होनेवाली वेदना के थे, या नई दुनिया के दर्शन से होनेवाले हर्ष के।

५ कुटुम्ब जन्मोत्सव में

सबेरे मैं सोकर उठा ही था कि सुशीला-देवी ने आकर कहा—'मित्रजी। आज तो अपना निमन्त्रण है अपने एक मित्र के घर कुटुम्ब-जन्मोत्सव होनेवाला है। आप को वहां चलने में कोई इतराज तो नहीं है ? लीजिये ! यह आप के नाम का निमन्त्रण पत्र है।' यह कहकर उनने

पत्र टेबुल पर रख दिया। मैंने बिना पढ़े ही स्वीकारता देदी।

उत्सव में शामिल होने के लिये जब हम लोग गाड़ी में बैठे तब मैंने सुशीलादेवी से कहा—इस उत्सव का कुछ मतलब तो समझाइये।

सुशीलादेवी ने कहा—जब तीसरी सन्तान विवाह के बाद एक वर्ष माता-पिता के पास घर रह लेती है तब उस पुत्र-पुत्रा, पुत्री-पुत्रे का घर अलग बसाने के लिये उन्हें उत्सव-पूर्वक बिदाई दी जाती है, इसे ही कुटुम्ब जन्मोत्सव कहते हैं।

मैं—आपके इस पुत्र-पुत्रा और पुत्री-पुत्रे का मतलब तो मैं नहीं समझा।

सुशीला देवी—पुत्र की प्रमित्रा को पुत्रा कहते हैं और पुत्री के प्रमित्र को पुत्रे। पुत्र के माता-पिता के घर में पुत्र पुत्रा का जोड़ा है और पुत्री के माता-पिता के घर में पुत्री-पुत्रे का जोड़ा। आज जिस घर में अपन चल रहे हैं उसमें पुत्र-पुत्रा का जोड़ा बिदा किया जायगा।

मैं—क्या तीसरी सन्तान का ही कुटुम्ब जन्मोत्सव किया जाता है? पहिली दूसरी का नहीं?

सुशीला—नहीं, पहिली सन्तान तो विवाह के बाद जीवन भर माता पिता के पास ही रहती है और दूसरी सन्तान को अपने साथी के घर जाना पड़ता है। इस प्रकार दो सन्तानों का तो कुटुम्ब-जन्मोत्सव होने का अवसर ही नहीं है। किसी किसी घर में तीसरी का अवसर आता है।

मैं—पर अगर पहिली सन्तान लड़की हो और दूसरी सन्तान लड़का, तो क्या लड़की घर में रहेगी और लड़का दूसरे के घर जायगा?

सुशीला—क्यों न जायगा? लड़की या लड़का होने से कौटुम्बिक सम्बन्धों में या उत्तराधिकारित्व आदि में कोई बाधा नहीं आती।

मैं—पर मान लीजिये—वर भी अपने माता-पिता की पहिली सन्तान है और वधू भी अपने मातापिता की पहिली सन्तान है। तो कौन किस के यहां जायगा?

सुशीला—ऐसे समक्रमिक सम्बन्ध प्रायः नहीं किये जाते। अगर कुछ कारणों से ऐसे सम्बन्ध हो ही जायँ तो जिसकी उम्र ज्यादः हो उसके यहां उसके दूसरे साथी को जाना पड़ता है। अथवा अपनी अपनी सुविधा के अनुसार दोनों पक्ष तय कर लेते हैं। यह तो मैंने आप से साधारण नीति कही, आवश्यकतानुसार इसके अपवाद बनते रहते हैं। कुटुम्बों में विशेष आर्थिक विषमता न होने से और अर्थोपार्जन के सूत्र नारी के हाथ में भी होने से इस बारे में कोई झगड़ा नहीं होता।

इतने में वह घर आ गया जहां हमें जाना था। हम लोग गये। मेरा भी काफी आदर किया गया। उत्सव देखकर काफी प्रसन्नता हुई। मकान यह भी वैसा ही था जैसा मेरे मित्र का था। हां, एक कमरा ऐसा था जिसमें कुछ मशीनें रक्खी हुई थीं। मैंने सुशीलादेवी से पूछा—घर में ये मशीनें क्यों हैं?

उनने कहा— हम लोग इस बात की कोशिश करते हैं कि कारखानों में जाकर लोगों को काम न करना पड़े, इसलिये ऐसी मशीनें बनाई गईं हैं जो घर में रहती हैं और कुटुम्बी लोग फुर्सत से उन्हें चलाकर माल तैयार करते हैं। इतना अवश्य है कि कारखाने में जाकर आदमी को ६॥ घण्टे काम करना पड़ता है जबकि घर में ७॥ घण्टे काम करना पड़ता है। पर घर में लगातार काम नहीं करना पड़ता, इसलिये लोग घर में काम करना पसंद करते हैं। देश के बड़े

बड़े उद्योग इसी तरह घर घर में बटे हुए हैं। इसके अन्त में माल बटोरकर बड़े कारखानों में पहुँचा दिया जाता है। वहां छोटे छोटे हिस्सों को मिला-कर बड़ी चीज तैयार कर ली जाती है। कार-खानों के भीतर जाकर बहुत कम आदमियों को काम करना पड़ता है।

मैं—आप लोगों ने यंत्रवाद के विषयों को पूरी तरह हर लिया है!

सुशीला—हां, कोशिश तो ऐसी ही की है।

मैं—चलिए, तो अब घर चला जाय?

सुशीला—घर तो आज कुछ काम नहीं है। कहिये तो शहर ही आपको घुमा दूँ!

मैं—नेकी और पूछ-पूछ!

हम सब मिलकर हवाई-जहाज के स्टेशन पर पहुँचे। खूब विशाल मैदान था। हवाई-जहाज काफी विचित्र थे। वे आसमान में जहां चाहे खड़े रह जाते थे, और तीर की तरह सीधे उतरते और चढ़ते थे। रेल के डब्बों के समान उनमें सुविधा हो गई थी। बैठने आदि की जगह ऐसी बना दी गई थी कि उनमें बाहर की हवा का प्रभाव न पड़ता था। वे समशीतोष्ण ही रहते थे। इस बात में भी वे रेल के डब्बों के समान ही थे।

मैंने सुशीलादेवी से कहा—मेरी इच्छा है कि आसमान में जाऊँ और किसी स्थिर वायुयान में बैठने का अनुभव लूँ!

सुशीलादेवी ने वहां के एक मैनेजर से मेरा परिचय कराया और मेरी इच्छा जाहिर की। उसने तुरंत ही बड़ी नम्रता के साथ मेरी इच्छा पूर्ण कर दी। आसमान में जब मैंने चारों तरफ नजर दौड़ाई तब मुझे दूर पर एक मैदान दिखाई दिया। मैंने सुशीलादेवी से पूछा—वह कौनसा मैदान है?

सुशीलादेवी ने कहा—वह अन्तर्ग्रहीय है। वह मंगल आदि ग्रहों से आनेवाले यानों का स्टेशन है।

मेरे ताज्जुब का ठिकाना न रहा! मैंने कहा—दूसरे ग्रहों से संबंध कैसे स्थापित हुआ?

सुशीला—पहिले तो बातचीत हुई, फिर आने-जाने की शुरुवात हो गई।

मेरा आश्चर्य और भी बढ़ गया! मैंने कहा—उनके संकेतों और भाषाओं को आखिर आप लोगों ने समझा कैसे होगा?

सुशीला—इसका श्रेय मंगल ग्रह-वालों को ही देना होगा। शुरू शुरू में मंगलग्रह से ही एक राकेट पृथ्वी पर गिरा था जिस में एक फिल्म रक्खी थी। जब उस फिल्म को पर्दे पर दिखाया गया तब उस में पहिले तो हरएक अक्षर की आवाज और उसकी आकृति दिखाई दी। फिर हरएक शब्द की आवाज और लिखावट के साथ उस शब्द की क्रिया या वह चीज दिखाई दी। इस प्रकार यहां के लोगों ने वहां की लिपि और भाषा का ज्ञान किया। इसके बाद और भी राकेट गिरे, उनमें मंगल की भाषा में वहां की सब बातें लिखीं थीं। कुछ दिन बाद यहां से भी सन्देश जाने लगे और आज इस बात में काफी तरक्की हो गई है।

मैंने कहा—नई दुनिया अर्थात् देवों की दुनिया। यहां विज्ञान और संयम चरमसीमा पर पहुँचे हैं। मैं यह सोच ही रहा था कि कुछ दूरी पर हवाई जहाजों से आदमी कूदते हुए दिखाई दिये। मैंने पूछा—यह क्या हो रहा है।

सुशीला देवी ने कहा—कुछ लड़के लड़कियाँ आसमान से कूदने का अभ्यास कर रहे हैं।

अन्त में हम लोग वायुयान से उतरे और घर आ गये।

(६) दिनचर्या

शाम को हम लोग भोजन करने बैठे थे। मैंने मित्रजी से कहा—मेरे आने से आप लोगों को कष्ट तो काफी हुआ है यहां तक कि आपकी दिनचर्या भी बदल गई।

मित्र बोले—दिनचर्या में थोड़ा-बहुत फर्क हो जाय तो भी हमें कष्ट नहीं होता, नींद में कमी न रहना चाहिये। सो आप जानते ही हैं कि हम लोग नियमानुसार साढ़े-नव बजे शयनागार में चले जाते हैं और छः बजे निकलते हैं।

मैं—क्या नई दुनिया में नींद के समय का भी नियम बना हुआ है।

मित्र—अवश्य ! दस से छः।

मैं—क्या सभी लोग दस बजे अवश्य सो जाते हैं ?

मित्र—साधारण नियम तो यही है फिर भी दिनचर्या के अनुसार उसमें कुछ परिवर्तन होता है। जीविका की दृष्टि से पाँच तरह की दिनचर्या बनती है या यों कहना चाहिये कि जनता का बहुत बड़ा भाग दिनचर्या की दृष्टि से पांच भागों में बटा हुआ है।

मैं—आपका घर किस विभाग में है ?

मित्र—मध्यान्ह विभाग में। हम लोग सुबह छः बजे उठते हैं। साढ़े सात बजे तक शौच, मुखमार्जन, सफाई, व्यायाम और दुग्धपान से निवृत्त हो जाते हैं। साढ़े-सात से साढ़े-आठ तक रेडियो सुनते हैं या समाचार-पत्र पढ़ते हैं। साढ़े-आठ से नव तक स्नान, नव से दस तक भोजनादि। दस से साढ़े-दस तक मनोरंजक साहित्य पढ़ना, चिट्ठीपत्री करना या और इच्छानुसार कार्य। साढ़े-दस बजे निकलकर ग्यारह बजे काम पर हाजिर हो जाना और साढ़े-पांच तक काम करना। वहां से आकर सात बजे तक भोजन। नव-साढ़े-नव बजे तक घूमना, गपशप, रेडियो, मिलना-जुलना, कोई खेल खेलना या इच्छानुसार कोई कार्य करना। साढ़े-नव बजे शयनागार में चले जाते हैं और साढ़े-दस बजे सो जाते हैं। अगर सिनेमा आदि जाना हुआ तो साढ़े सात बजे से दस तक सिनेमा देखते हैं। छुट्टी के दिन दिन-चर्या कुछ बदल जाती है।

मैं-दिनचर्या तो बहुत सुन्दर है। पुरानी दुनिया के साम्राज्यवादी और पूंजीवादी बड़े बड़े श्रीमानों को भी ऐसी निश्चिन्तता और ऐसा आराम मुश्किल है। अगर वे अपने पाप छोड़कर नई दुनिया के निर्माण में लग जायँ तो वे पूंजीवादी आज की अपेक्षा काफी सुखी रहें और सारी दुनिया को तो स्वर्ग ही मिल जाय। खैर ! अब यह बतलाइये कि दूसरे विभागों की दिनचर्या कैसी रहती है ?

मित्र—दूसरे भी इसी प्रकार सुविधानुसार बना लेते हैं। जो लोग घर में ही काम करते हैं उनकी दिनचर्या भी ऐसी ही रहती है। वे लोग प्रायः दस से छः तक काम करते हैं और बीच में आधा घंटा विश्राम करते हैं। हां ! कार-खाने तेरह घंटे काम करते हैं—नव बजे सबेरे से दस बजे रात तक। सबेरे काम पर जानेवाले जल्दी सो जाते हैं और पांच या साढ़े चार बजे उठकर साढ़े-आठ बजे घर से निकलकर काम पर हाजिर हो जाते हैं। और साढ़े तीन बजे छुट्टी पा जाते हैं। ऐसे लोगों के लिये सिनेमा आदि के खेल साढ़े चार बजे शुरु होकर सात बजे समाप्त हो जाते हैं। जो लोग शाम को काम करते हैं वे सबेरे देर से भोजन करते हैं और शाम का भोजन रात को करते हैं। देर से सोते

हैं और देर से उठते हैं। पाँचवा दल उन लोगों का है जिनका समय बदलता रहता है जैसे रेल के कर्मचारी आदि। भोजन-शाला आदि में काम करने-वालों की दिनचर्या भी कुछ बदली रहती है फिर भी जीविका का कार्य साढ़े-सात घंटे से ज्यादः किसी को नहीं करना पड़ता। वह भी घर में, बाहर सिर्फ साढ़े-छः घंटा।

मैंने कहा—नई दुनिया में लोग इतने आराम से रहते हैं फिर भी उनने इतना वैभव इकट्ठा किया है; जबकि पुरानी दुनिया में लोग दिन-रात काम में जुटे रहते हैं, पर न तो भरपेट भोजन पाते हैं – न रहने के लायक जगह।

मित्र—अपने अपने स्वार्थ पर संकुचित दृष्टि, अहंकार, और इनसे पैदा होनेवाली मूर्खता से ऐसा ही होता है।

मैंने कहा—ठीक कहा आपने।

(७) साधु-दर्शन

सुबह जल्दी नींद खुल जानेपर भी मैं बिस्तर पर पड़ा हुआ था, क्योंकि छः बजने पर ही मित्र वगैरह शयनागार से निकलते थे; किन्तु बाहर मुझे सुशीलादेवी की आवाज सुनाई दी, ऐसा मालूम हुआ कि उठकर वे किसी काम में लग गई हैं। मैं भी उठा और कमरे के बाहर आ गया। उनने मुझे देखकर कहा—अच्छा! आप खुद ही जाग गये। दस मिनिट बाद मैं आपको जगाने-वाली ही थी। आज साधुजी के दर्शन को जाना है।

मैंने चौंककर कहा—साधुजी! क्या साधुओं से भी नये संसार का पिंड नहीं छूट पाया है!

सुशीलादेवी ने हँसकर कहा—तब तो कल आप इस बात पर भी आश्चर्य करेंगे कि नये संसार वालों का पिंड मां-बाप से भी नहीं छूट पाया है!

मैंने कहा—पुराने संसार में तो साधुओं के बोझ के मारे जनता कराह रही है। अंधश्रद्धा, लूटखसौट, छलकपट और हरामखोरी उनमें कूट-कूटकर भरी है, फूट और दलबन्दी में भी उनका बहुत-सा स्थान है। उनकी तुलना क्या मां-बाप से की जा सकती है?

सुशीला देवी– पर नये संसार में साधु का वही स्थान है जो घर में मां का होता है।

मैं– तब तो आपकी बड़ी कृपा होगी कि मुझे ऐसे साधु के दर्शन करा देंगी!

सुशीला—हां, उसी के लिये तो आज जल्दी उठी हूँ!

उस दिन हम लोग शारीरिक-कृत्यों से निबटकर छः बजे घर से निकल दिये और थोड़ा ही देर में साधु-मंदिर पहुँच गये। साधु-मंदिर मेरे मित्र के मकान से कुछ ही बड़ा था। मकान में प्रवेश करते ही एक महिला के दर्शन हुए। उन ने दूर से ही देखकर कहा– सुशीला बेटी! तुम तो अब की बार बहुत दिनों में आई, कुशल तो है?

"आप के चरणों की कृपा से कुशल है माता जी" यह कहकर सुशीला देवी ने घुटने से भी नीचे तक लटकने वाले अपने लहराते हुए बालों को हाथ में लेकर और घुटने टेककर माता जी के चरण पोंछे और दोनों पैरों का चुम्बन लिया।

मैं तो शिष्टाचार का यह रूप देखकर दंग ही रह गया। जिस जगत में लोग न्यायाधीश और प्रान्त नायक आदि को भी सलाम नहीं करते उस जगत में विनय के इस रूप की तो

मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था। सुशीला देवी के बाद मित्र जी ने भी माता जी के चरणों पर सिर रगड़ कर चुम्बन लिया, बच्चों ने भी यही किया। अब मुझसे भी न रहा गया मैंने भी मित्र का अनुकरण किया।

सुशीला देवी ने पूछा—पिताजी कहां हैं?

माता जी—आते ही हैं स्नान आदि कर रहे हैं।

सुशीला देवी—अभी कोई दूसरे लोग तो आये नहीं माता जी?

माता जी—नहीं बेटी, आज तो तू ही सब से पहिले आ गई है।

'तो ऊपर जाती हूं' यह कहकर सुशीला देवी ऊपर चली गईं। और मेरे मित्र झाड़ू लेकर नीचे का कमरा साफ करने लगे। इतने में कुछ दूसरे लोग आगये उनने भी माता जी का ऐसा ही विनय किया और वे लोग भी झाड़ने-बुहारने की सेवा करने लगे। एक भाई ने मेरे मित्र के हाथ से झाड़ू छीन लिया और बोले— भाई जी, थोड़ा पुण्य मुझे भी लूटने दो। साफ-सफाई हो ही पाई थी कि साधु जी आगये। सुशीला देवी भी ऊपर साफसफाई करके नीचे आगईं। सब ने साधु जी को उसी तरह प्रणाम किया जिस तरह साध्वी जी को किया था। और लोग तो चले गये पर हम लोग साधु साध्वी जी के आगे बैठ गये।

साधुजी ने कहा—अब की बार तो तुम लोग बहुत दिन में आये।

सुशीलादेवी कुछ कहें, इसके पहिले ही मैंने कहा—मैं सुशीला जी के यहां मिहमान हूं मेरी व्यवस्था करने में और शहर घुमाने में ही इनका बहुत-सा समय निकल जाता है। इस प्रकार मैं ही आप सरीखे साधु महात्माओं के दर्शनों में अन्तराय बन गया हूं।

साधु जी ने हँसते हुए कहा—साधु के दर्शन की अपेक्षा साधुता का पाना तो और भी अच्छा है।

मैंने पूछा—इसमें साधुता का पाना क्या हुआ?

साधुजी—दूसरों की सेवा करना ही तो साधुता का सार है। तुम्हारी व्यवस्था करके इस कुटुम्ब ने यही तो किया है।

इतने में मित्र ने कहा—पर इन्हें तो साधुओं से बड़ी चिढ़ है।

साधु जी कुछ कहें, इसके पहिले ही मैंने कहा—पुरानी दुनिया में साधु कहलाने वाले अधिकांश लोग जैसे होते हैं उनसे घृणा ही की जा सकती है। और नई दुनिया के साधु के बारे में तो मैं आज से पहिले कुछ जानता ही न था।

साधुजी—पुरानी दुनिया में साधु जिस उद्देश को लेकर बनाये गये थे उसी उद्देश को लेकर नई दुनिया में साधु बनाये गये हैं। पर बात यह हुई कि जनता की लापर्वाही रूढ़िपूजा पूंजीशाही आदि से साधुवेषियों की भरमार हो गई और साधु-वेष एक व्यवसाय बन गया, इस लिये तुम सरीखे विचारकों की दृष्टि में उससे घृणा होना स्वाभाविक है, पर नई दुनिया में यह बात नहीं है। यहां कोई आदमी स्वेच्छा से साधु नहीं कहला सकता। यहां तो सारे राष्ट्र की या बड़े प्रान्त की धारासभा किसी को साधुरूप में स्वीकार करे, वही साधु कहला सकता है।

हमारी ये बातें हो ही रही थीं कि एक देवी ने आकर कहा—गुरुजी, बाहर प्रान्तीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश खड़े हैं और आप से मिलना चाहते हैं।

साधुजी ने कहा—इन मिहमानजी से बातचीत हो जाय फिर उन्हें भीतर आने के लिये कह देना।

मैंने कहा—मेरी तो कोई खास बातचीत नहीं है मैं तो सिर्फ आपके दर्शन के लिये आया था, सो हो गया। बाकी बातें तो मैं अपने मित्र दंपति से जान लूंगा आप न्यायाधीश महोदय को बुलायें।

न्यायाधीश आकर मेरी बगल में बैठ गये। वे न्याय के मामले में कोई गहरी सलाह लेने आये थे। ऐसे अवसर पर मेरा उपस्थित रहना शायद ठीक न होता इसलिये मैंने उन्हें प्रणाम किया और खड़ा हो गया, मेरे मित्र भी खड़े हो गये और प्रणाम करके सब ने बिदा ली।

रास्ते में मैंने मित्र से कहा—ऐसे विद्वान त्यागी और वत्सल साधुओं की तो सब जगह और सब समय जरूरत रहेगी। प्रान्तीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तक जिनसे सलाह लेने आते हैं उनकी विद्वत्ता का क्या कहना! और फिर ऐसी सादगी। पर मित्रजी, इन साधुजी के बारे में कुछ विशेष तो बतलाइये।

मित्र—साधुजी धर्मशास्त्र समाजशास्त्र इतिहास दर्शन कानून अर्थशास्त्र तथा शासन-पद्धति के प्रकांड विद्वान हैं। पच्चीस वर्ष की उम्र में ही आप विश्वविद्यालय में प्राध्यापक नियत हुए थे। दस वर्ष बाद आप विश्वविद्यालय के कुलगुरु हो गये। और पन्द्रह वर्ष तक आप इसी पद पर काम करते रहे। हम लोगों की अपेक्षा आप को छः गुना वेतन मिलता था। लेकिन पचास वर्ष की उम्र में आपने साधु दीक्षा ले ली। अब आप सिर्फ इतना ही लेते हैं जितना मुझे मिलता है। और बीस-पच्चीस वर्ष में जो पुस्तकें तथा और सम्पत्ति आपके पास इकट्ठी हो गई थी वह भी आप ने समाज को अर्पित कर दी है। अब आपका काम लिखना पढ़ना, लोगों को सलाह देना और हर तरह लोगों के काम आना है। प्रान्तनायक या राष्ट्र-नायक से लेकर साधारण मजदूर तक के लिये आपका द्वार खुला है। माता जी भी उसी विश्वविद्यालय में प्राध्यापिका थीं, आप भी अपने प्रमित्रजी के साथ साध्वी हो गईं। इन दोनों का जनता पर बड़ा प्रभाव है।

मैं—पर इनके छोटे मोटे काम के लिये कोई सेवक है कि नहीं?

आवश्यकता पर नियत सेवक मिल सकता है पर इनने स्वीकार नहीं किया। ये अपना काम खुद ही कर लेते हैं अथवा सुबह शाम दुपहर को जो लोग मिलने के लिये आते हैं वे सेवा कर देते हैं। देखा नहीं आपने, सुशीलादेवी माताजी से पूछकर तुरन्त ऊपर चली गईं थीं और ऊपर के कमरे साफ कर आईं थीं और नीचे हम लोगों ने सफाई कर दी थी। प्रतिदिन ऐसे सेवक आते ही रहते हैं जो स्वेच्छा से सेवा कर जाते हैं।

मैं—पर आप लोग भेंट-पूजा कुछ नहीं ले जाते?

मित्र—नहीं, वे भेंट-पूजा स्वीकार नहीं करते। वे कम से कम खर्च करते हैं और वह तो उन्हें सरकार से मिल ही जाता है। बल्कि उनकी मितव्ययिता के कारण कुछ बच ही जाता है जो कभी कभी हम लोगों को प्रसाद-रूप में मिल जाता है।

मैं—क्या साधुजी घर के बाहर कभी नहीं निकलते?

मित्र—हर दिन निकलते हैं। सुबह या शाम कभी कभी घूमने को निकलते हैं। किसी के यहां कोई मर जाय या विशेष बीमार हो जाय

तो उसके यहां जाते हैं, पन्द्रह दिन में एकाध बार सिनेमा देखने भी चले जाते हैं। हाँ! फिर भी बहुत कम निकलते हैं।

मैं—आपके घर कभी आये या नहीं?

मित्र—दो बार आये हैं। एक बार मेरी बीमारी में बिना बुलाये आये थे। एक बार सुशीलादेवी के सत्याग्रह से पराजित होकर भोजन करने आये थे।

मैंने जरा हँसकर पूछा—कैसा सत्याग्रह?

मित्र—एकबार हम लोगों में खूब मनोमालिन्य हो गया.........।

इतना कहकर मित्रजी रुक गये और सुशीला देवी की तरफ देखकर बोले—कहिये प्रमित्राजी, यह बात कह दी जाय न? अथवा यह बात आप ही सुनाइये!

सुशीला—आप ही सुनाइये, इसमें संकोच की क्या बात है? अथवा लाइये, मैं ही सुना देती हूं। देखिये मित्रजी! जब हम लोगों की शादी हुई तब कुछ दिन तक मुझे ऐसा मालूम होता था कि हम दोनों बैठे बैठे गप्पें मारा करें और हम ऐसा ही किया करते थे। एक दिन प्रमित्रजी बाहर गये और उनके कोई मित्र मिल गये, उसमें इन्हें एक घंटे की देर हो गई इसलिये इनके आते ही मैं बहुत नाराज हुई। इनको लगा कि यह तो बड़ी पराधीनता कहलाई इससे ये भी रुष्ट हो गये। इस पर मेरा खेद और बढ़ा कि ये मेरे प्रेम की भी कद्र नहीं करते। रातभर यह मनोमालिन्य बना रहा। और सबेरे उठकर मैं साधुजी के यहां चलने लगी। इनने पूछा और ये भी मेरे साथ हो लिये। माताजी और साधुजी के सामने मैंने यह शिकायत रख दी।

साधुजी ने हँसकर पहिले तो मेरे गाल पर एक मीठी चपत जमाई, फिर कहा—सुशी, तू प्रेम का और मोह का अन्तर नहीं समझती! मोह स्वार्थी है, प्रेम परार्थी। तू मोह को प्रेम समझ रही है।

मैंने कहा—गुरुदेव, क्या मैं अपने प्रमित्रजी से प्रेम नहीं करती?

गुरुदेव—नहीं, वह मोह है। प्रेम होता तो तू आते ही अपने प्रमित्र पर क्रोध न करती बल्कि चिन्ता के साथ देर होने का कारण पूछती, और अकस्मात् मिलने की बात का पता लगते ही तू क्रोध को भूलकर उस मित्र की चर्चा में रस लेती। जिस बात से तेरा प्रमित्र खुश था या नाखुश नहीं था उस बात से तू भी खुश होती या नाखुश न होती। यह प्रेम का रूप है। पर मोह में तो सिर्फ अपनी आसक्ति-जन्य प्यास बुझाने की चिन्ता होती है—प्रेमपात्र की रुचि-अरुचि स्वतन्त्रता का खयाल नहीं होता।

गुरुदेव की बात सुनकर पहिले तो मैं ठंडी हो गई, फिर मुझे अपनी गलती महसूस होने लगी। इतने में माता जी ने कहा—

सुशीला बेटी, जीवन एक कला है। ज्याद: स्याही पोतने से ही अच्छा चित्र नहीं बनता, स्याही पोतने में विवेक की जरूरत है। प्रेम का प्रदर्शन भी विवेक के साथ करना चाहिये। यहां तक नौबत न आने देना चाहिये कि प्रेम से पराधीनता का अनुभव होकर विरागता की प्रतिक्रिया होने लगे।

अब मैं सोलह आना अपनी गलती समझ रही थी। मैं कुछ कहना ही चाहती थी कि इतने में प्रमित्रजी ने कहा—गुरुदेव, आपकी दिव्यदृष्टि में इस मामले में सुशीलादेवी की भूल होगी पर सुशीलादेवी की भावना को न समझ कर मैंने भी बड़ी गलती की है। सचमुच मुझ

से प्रेम की अवहेलना का पाप हुआ है ।

गुरुदेव ने हँसते हुए कहा-चलो, अब अपनी भूल समझ जाओ--इससे तुम दोनों के पाप धुल जायँगे।

इस खुशी के उपलक्ष्य में मैंने गुरुदेव से कहा-गुरुदेव, आज आपको और माताजी को हमारे घर चलना होगा और वहीं भोजन करना होगा ।

गुरुदेव ने हँसकर इनकार कर दिया और मैंने सत्याग्रह ठान दिया । मैं वहीं जमीन पर पालथी मारकर बैठ गई । गुरुदेव और माताजी ने मुझे बहुत समझाया, पर मैंने तबतक उत्तर भी न दिया जब तक उनने घर आना मंजूर न किया। करीब आध घंटे में बाल-हठ की विजय हुई ।

सुशीलादेवी की बातें सुनकर मैंने गहरी साँस ली । फिर कहा —वात्सल्य और भक्ति भी आनन्द के बड़े सुन्दर रूप हैं। मैं सोचता था नये संसार में शायद इनको जगह न होगी, पर देखता हूं इनका भी आनन्द यहां उछल रहा है । और ऐसे साधुओं को धन्य है जो इतने विशाल ज्ञान के भंडार होने पर भी साधारण लोगों के जीवन की समस्याओं को सुलझाने में इतना ध्यान देते हैं । पुराने संसार में साधु लोग प्रायः वे ही होते हैं जो मूर्खता और दंभ के अवतार हैं । अगर कुछ पढ़े-लिखे विद्वान भी हुए तो इसी अकड़ में रहते हैं कि हमें किसी से क्या मतलब ? जिस दुनिया को उनकी सेवा की जरूरत है--उसी से उन्हें कोई मतलब नहीं, और जिस कल्पित ईश्वर आदि को उनकी सेवा की जरूरत नहीं-उसी की सेवा का दम भरते हैं । ऐसे मुफ्तखोर कृतघ्न और लापर्वाह लोग ही पुराने संसार में बड़े साधु कहलाते हैं !

मित्र-पर नये संसार में तो साधु नीचे से ऊपर तक सब जगह समाज-सेवा में लगे रहते हैं और वे नये संसार के आधार स्तम्भ हैं । नई दुनिया में आप आध्यात्मिकता और भौतिकता का जो विकास देख रहे हैं वह सब ऐसे ही साधुओं की बदौलत । बड़े बड़े आविष्कार ऐसे ही साधुओं ने किये हैं, प्रयोगों में प्राण तक दिये हैं । आज शासक लोग प्रजा के पूरे सेवक हैं इसमें बहुत बड़ा हिस्सा इन साधुओं का है । लोगों को ईमानदार बनाने में इनका बड़ा हाथ है । चुनाव का सारा प्रबन्ध इन्हीं के हाथ में रहता है । अधिकार इनके हाथ में कुछ नहीं है, पर सरकार और जनता में इनके शब्दों का मूल्य अधिक से अधिक है । ज्ञान, निष्पृहयता और सेवा ही इनका बड़ा से बड़ा धन और अधिकार है ।

मैं—इनके रहते रहते न तो समाज में कोई गड़बड़ी हो सकती है, न शासक लोग सत्ता को हथयाकर उच्छृंखल या मालिक बन सकते हैं । आज आप लोगों की कृपा से सच्चे साधु के दर्शन कर बड़ी प्रसन्नता हुई ।

(८) अस्पताल

भोजनादि से निबटकर थोड़ी देर विश्राम कर लेने के बाद सुशीलादेवी ने कहा-आज तो छुट्टी है इसलिये आज हम लोग आपके साथ घूमने चल सकेंगे ।

मैंने कहा-इससे बढ़कर कृपा क्या होगी । हालांकि एक से एक बढ़कर कृपा आप मुझपर कर ही रही हैं । सबेरे आपने साधुजी के दर्शन करा ही दिये ।

सुशीला-सबेरे तो हम लोग अपने कार्यक्रम में आपको खींच ले गये थे इसमें कोई कृपा

वह तो नया संसार बनने के बहुत पहिले ही बेकार सा हो गया था। राम बहुत भले आदमी थे। प्रजा के सच्चे सेवक और त्यागी थे। फिर भी कुछ अंशों में उन्हें प्रजा के सेवक होने के साथ ब्राह्मणों के गुलाम तक बनना पड़ा था। इसलिये वे एक तपस्वी शूद्र की गर्दन काटने गये, दिग्विजयी सम्राट् बनने के लिये यज्ञ किया। आज तो यह सब पैशाचिकता समझी जायगी पर पुरानी दुनिया में भी यह बात समय-बाह्य हो चुकी थी। कृष्ण का खांडव दाह आदि कोई तारीफ की बात नहीं है। इन में संकुचित जातीयता की बू आती है। आज का युग तो इसे अणुभर भी सह नहीं सकता। मुहम्मद बहुत सज्जन थे त्यागी थे, उनने एक पुरुष को चार स्त्री रखने का जो विधान बनाया था वह पुराने विधानों की अपेक्षा बहुत अच्छा था। पर आज के लिये तो वह महापाप है। आज का युग इस बात को कैसे सहन करेगा कि 'खुदा ने स्त्री को पुरुष से हलके दर्जे का बनाया' बुद्ध और महावीर का यह विधान भी कैसे मानेगा कि सौ वर्ष की दीक्षित आर्या को भी आज के दीक्षित साधु की वन्दना करना चाहिये। भाई साहब, एक नहीं सब धर्म अपने जमाने के लिये भले थे पर कुछ शताब्दियों में ही वे बेकार होगये। सत्यसमाज ने तो सिर्फ इसीलिये सब का आदर किया था कि एक धर्म वाला जो अपने धर्म को सब से अच्छा और दूसरे धर्म को बहुत खराब समझता था यह मूढ़ता या शैतानियत चली जाय। और सब धर्मों को समान समझने पर उनके विरोधों को देखकर समन्वय करने में विवेक जग पड़े और इस प्रकार लोग समझ जायँ कि धर्म तो सामयिक क्रान्तियाँ हैं। फिर भी वे समाज की पूर्ण क्रान्तियाँ नहीं है।

मैं—धर्मों ने तो ऐहिक और पारलौकिक सभी तरह की क्रान्ति की है फिर उसे आप पूर्ण क्रान्ति क्यों नहीं मानते?

मैनेजर हँसे फिर बोले—इसका उत्तर कुछ तो मैं दे चुका हूं। पुराने धर्म अगर सर्वांगिण क्रान्ति होते तो वे बहुपत्नीत्व के समर्थक या उस पर पूर्ण उपेक्षा करनेवाले न होते, उन में सम्राटों और राजाओं की तारीफ न होती न साम्राज्यवाद को उत्तेजन और पूंजीवाद का समर्थन होता। किसी राजा की आयुध शाला में बड़ा चक्र आया इसलिये उसे छः खंड विजय करना ही चाहिये, सम्राटों को छियानवे आठ हजार, चौंसठ हजार, सोलह हजार या हजार रानियाँ होना ही चाहिये, उसे दिग्विजय के लिये घोड़ा घुमाना ही चाहिये, धर्मकार्य के लिये अमुक तरह का पशुवध करना ही चाहिये, अमुक तरह के अन्धविश्वास रखना ही चाहिये, साम्राज्यवादियों और पूंजीवादियों के अत्याचार दैव के नाम पर चुपचाप सह लेना चाहिये, ये सब बातें सर्वांगीण क्रान्ति के चिन्ह नहीं है। हां! मैं मानता हूं कि मनुष्य धीरे धीरे विकसित हुआ है, धर्मों ने अपने युग के आदमी को आगे बढ़ाया है पर उन धर्मों से चिपटे रहना ठीक नहीं। नाव से नदी पार कर लेना ठीक है पर नदी पार करने के बाद नाव को सिर पर लादे फिरना मूर्खता है। धर्मों ने अपने जमाने में काम कर लिया अब उनका बोझ नहीं उठाया जा सकता।

मैं—पर आगे दूसरी नदी मिल सकती है समुद्र मिल सकता है वहां भी हमें नाव से काम लेना पड़ता है।

मैनेजर–अवश्य। पर वहां पर दूसरी नाव होगी या जहाज होगा। अनेक नदियों के लिये किसी एक नाव से चिपटना ठीक नहीं। जब तक जहां तक जो नाव काम दे तब तक उस नाव से काम लो, बाद में दूसरी पकडो जब उसकी जरूरत न रहे तब उसे भी छोड़ दो।

मैं—क्या इसी सिद्धान्त पर सत्यसमाजियों ने धर्मालय उठा दिये?

मैनेजर–धर्मालय ही नहीं सत्यसमाज भी उठा दिया। सत्यसमाज का जब ध्येय सिद्ध हो गया तब सत्यसमाज की क्या जरूरत रही? आज का मनुष्य पूर्ण विवेकी है, धर्म के झगड़े नहीं हैं जातिपांति का भेद बिलकुल नष्ट होगया है संयम समाज के रग रग में समा गया है राज्य एक सामाजिक संस्था के रूप में सौम्य और सजग हो गया है मनुष्य कष्ट-सहिष्णु वीर और मृत्युजयी हो गया है, अपरिग्रह या निरतिग्रह अब व्यक्तिगत ही नहीं सामूहिक भी हो गया है, संस्कार से मनुष्य विश्वप्रेमी संयमी आदि बन रहा है अब धर्म की, धर्मस्थान की, पूजा प्रार्थना की क्या जरूरत है और किसी अलग समाज की भी क्या जरूरत है? अब तो मानव समाज ही सत्यसमाज है।

मैं—मनुष्य बुद्धि का ही पिंड नहीं है उसके पास हृदय भी है हृदय में सद्भावना जगाने के लिये मूर्ति चित्र आदि काफी उपयोगी हैं कम से कम इस दृष्टि से तो विचार करना चाहिये।

मैनेजर–इसका पूरा खयाल किया जाता है। आज के सिनेमा आदि यही काम करते हैं। वे धर्मस्थान का पूरा काम करते हैं। इसके सिवाय बागों में चौराहों पर इतिहास प्रसिद्ध जन-सेवकों की मूर्तियाँ भी रहती हैं। हां! यह बात जरूर है कि जिनके उपदेश या जिनका जीवन आज के लिये भी पथप्रदर्शक है या आज की परिस्थिति पैदा करने में कारण है उन्हीं के स्मारक इस प्रकार रक्खे जाते हैं। उन पुराने महात्माओं के जो पुराने जमाने में ही पथप्रदर्शक कहे जा सकते थे–स्मारक इस प्रकार नहीं रक्खे जाते। उनके स्मारक धर्म-संग्रहालय या ऐतिहासिक-संग्रहालय आदि में ही देखने को मिलेंगे।

मैं निरुत्तर तो हो ही गया साथ ही सन्तुष्ट भी, फिर भी जिज्ञासु की तरह पूछा–आज के मानव का धर्म क्या है?

मैनेजर—सत्य। मनुष्य आज सत्य का उपासक है उसी की उपासना या साधना करके वह विज्ञान और संयम की सेवा और सहयोग के मार्ग में इतना बढ़ गया है और बढ़ता जा रहा है।

मैं—पर वह सत्य है क्या?

मैनेजर–आनन्द और आनन्द का पथ। संसार का हरएक मनुष्य और इसके बाद हरएक प्राणी आनन्दमय हो, चित् का हरएक अंश आनन्द के ही पथ पर हो प्रत्येक सत्, चित और आनन्द के लिये उपयोगी हो यही सत्य है। सत् का सार चित् है और चित् का सार आनन्द है यही सच्चिदानन्द संक्षेप में सत्य कहा जाता है। संसार का हर एक प्राणी अधिक से अधिक सच्चिदानन्द का धाम हो यही सत्यधर्म आज के मानव का धर्म है।

मैं–सचमुच आप के संसार में पुराने जमाने का कोई धर्म मजहब सम्प्रदाय आदि नहीं है फिर भी इसके पहिले इतना धर्म इस पृथ्वीपर कभी नहीं रहा। आपका यह नया संसार जिन्दा धर्मालय है।

मैनेजर मुसकराने लगे, मैंने बिदा ली।

(१०) शिक्षण संस्था

दूसरे दिन मैं बच्चों के साथ ही स्कूल चला गया। यद्यपि छोटे-छोटे स्कूल शहर में अन्यत्र भी थे फिर भी यह स्कूल विश्वविद्यालय के पास था। ये सब शिक्षण-संस्थाएँ शहर के बिलकुल बीच में थीं। शहर के बीच की जमीन कितनी कीमती होती है यह मैं जानता था पर ऐसी कीमती जमीन शिक्षण-संस्था के लिये खर्च करना और इतना बड़ा अहाता घेरना मुझे आश्चर्य-जनक ही मालूम हुआ।

एक पाठक जी से जब मैं इस बात का जिक्र किया तब वे हँसने लगे। बोले—शहर के बीच की जमीन कीमती क्यों होगी?

मैं—आखिर वह बाजार के मौके की जगह है।

पाठक—आप तो बिलकुल पुरानी दुनिया सरीखी बातें करते हैं। पुरानी दुनिया में जरूर दूकानदार लोग अपनी छोटी सी दूकान के लिये बाहर की जमीन की अपेक्षा हजार गुणी कीमत दिया करते थे। ग्राहकों को वे शिकार के पक्षी समझते थे, कहां जाल बिछाने से ज्यादः पक्षी फँसते हैं इस हिसाब से दूकान रूपी जाल की जगह के लिये अधिक से अधिक दाम दिया करते थे पर नई दुनिया में इसकी कोई जरूरत नहीं। दूकाने सार्वजनिक हैं वे कहीं भी रहें उन पर उतनी ही विक्री होगी। शहर में सब जगह एक सी सफाई तथा सब चीजों की सुलभता है इस लिये सभी जगहों की कीमत एक सी है। शिक्षण संस्थाओं को बीच में बनाने से कोई हानि नहीं है। शिक्षण संस्थाओं का सभी नागरिकों से पूरा सम्बन्ध रहता है इसलिये बीच में ही बनाना ठीक है। पुस्तकालय, व्याख्यान-भवन आदि भी यहीं हैं तथा बच्चों को आने में सुभीता है। नई दुनिया में साधारणतः शहरों को बसाने का क्रम यही है कि बीच में मुख्य मुख्य शिक्षण संस्थाएँ आदि। उससे लगे हुए चारों तरफ न्यायालय संग्रहालय, पुलिस थाना, पोस्ट, अस्पताल आदि। इसके बाद चारों तरफ बस्ती बाजार आदि। फिर कारखाने आदि। कारखानों के बाद भी थोड़ी थोड़ी बस्ती। चारों दिशाओं में चार औद्योगिक केन्द्र होते हैं।

इतना कहकर पाठक महोदय चौंक पड़े। बोले—अरे! मैं तो आपको शहर की रचना बताने लगा जब कि आप शिक्षण संस्था देखने आये हैं।

मैंने कहा—यह तो आपकी अयाचित कृपा है।

पाठक—फिर भी आप को शिक्षण शाला ही दिखाना चाहिये। तो चलिये! यह कहकर वे एक ऐसी जगह ले गये जहां बच्चे खेल रहे थे और बीच में दो तीन महिलाएँ उन्हें खिला रही थीं। थोड़ी देर में मुझे मालूम हुआ कि यही बच्चों की कक्षा है। कहानियों और गप्पों में ही बच्चों को शिक्षा दी जा रही है। किस तरह उन्हें प्रेम का शिष्टता का कर्मठता का अपने से छोटों के लिये और अपने से बड़ों के लिये त्याग का पाठ पढ़ाया जाता है यह देखकर मैं दंग रह गया। एक तो नई दुनिया की लिपि इतनी सरल और वैज्ञानिक है कि छोटे छोटे बच्चे भी दो चार दिन में सरलता से सीख जाते हैं, बड़ी उम्र के समझदार व्यक्ति के लिये तो दस पांच मिनिट ही काफी है फिर सिखाने की पद्धति इतनी अच्छी थी कि खेल खेल में ही बच्चे सीख जाते थे।

दूसरी बात यह देखी कि पुस्तकों का उपयोग बहुत कम किया जाता था। इतिहास तो

कहानियों में सिखा दिया जाता था। पर उन में सम्राटों और राजाओं के गीत नहीं भरे थे उन्हें तो एक तरह के ड.कू पढ़ाया जाता था।

विज्ञान का शिक्षण तो प्रयोगमय था ही किन्तु भूगोल का शिक्षण भी ऐसा प्रयोगमय था कि देखकर आश्चर्य होता था। मैं जब सौर भवन में गया तब दंग रह गया। भवन के बीच में विशाल गोला था जो अधर में लटक रहा था और भीतर बिजली के कारण इकदम तेजोमय था। कहा गया कि यह सूर्य है। फिर उसके चारों तरफ सूर्य के ग्रह और ग्रहों के उपग्रह प्रदक्षिणा दे रहे थे। इसे देखते ही खगोल की बहुत सी बातें मालूम हो जाती थीं सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण आदि सब मालूम हो जाते थे। दूसरे विश्वभवन में आकाश मंडल बनाया गया था उसमें सप्तर्षि ध्रुव तथा और भी बहुत से तारे ग्रह आदि बनाये गये थे। पृथ्वी भवन में सोलह फुट व्यास का पृथ्वी-गोला एक तरफ को झुका हुआ अपनी कील पर घूम रहा था। उसे अच्छी तरह देखने के लिये गेलरी बनी हुई थी। यहीं मैंने वह दूर-बीन भी देखी जिस में मंगल आदि ग्रह पचास लाख गुणे बड़े दिखते थे। साथ ही मुझसे यह भी कहा गया कि इससे भी अच्छी दूरबीनें बन चुकी हैं। अब ऐसी दूरबीनें बन जायगी जिस में मंगलग्रह के प्राणी बिलकुल साफ दिखने लगेंगे।

कृषि का शिक्षण भी खूब व्यावहारिक था। विद्यार्थी खूब प्रसन्नता से ट्रेक्टर चला रहे थे।

मालूम हुआ कि सोलह वर्ष की उम्र तक हर एक लड़के लड़की को अनिवार्य शिक्षण लेना पड़ता है। साहित्य इतिहास भूगोल अर्थ-शास्त्र विज्ञान कृषि यन्त्र गणित एकाध कोई ललितकला, पाकशास्त्र, शस्त्रसंचालन का ज्ञान इतनी उम्र तक काफी अच्छी तरह हो जाता है। इसके बाद वह कहीं काम पर लगा दिया जाता है और जिस तरह के काम पर लगाया जाता है उस विषय के अभ्यास के लिये दो घंटे शिक्षण और लेना पड़ता है। १८ वर्ष की उम्र में वह पूरी तरह किसी काम में लगा दिया जाता है। किन्तु जो विद्यार्थी सोलह वर्ष की उम्र का शिक्षण समाप्त करते समय विशेष होश्यार समझा जाता है उसे आगे शिक्षण के लिये चार वर्ष या छः वर्ष का प्रबन्ध सरकार की तरफ से किया जाता है फिर विशेष काम में लगाया जाता है मैंने देखा कि पुरानी दुनिया के बड़े बड़े विद्वान की अपेक्षा नये दुनिया के सामान्य नागरिक की जानकारी विचारकता शिष्टता अधिक रहती है। अपढ़ तो अब कोई है ही नहीं पर नाममात्र का शिक्षित भी कोई नहीं है। विद्वानों के ज्ञानभंडार की तो बात ही क्या है।

मैंने पूछा—कितनी भाषाओं का शिक्षण दिया जाता है?

पाठक—एक भाषा। अब तो संसार भर की एक भाषा और एक लिपि है। और उसी का शिक्षण दिया जाता है। हां पुरानी भाषाओं का तथा भाषा के विकास का विशेष अध्ययन भी कोई कोई करते हैं, विश्वविद्यालय में इसका एक विभाग है। वहां संस्कृत लेटिन हिब्रु प्राकृत हिन्दी अरबी फारसी चीनी जापानी बंगाली गुज-राती मराठी उड़िया कनड़ी तामिल तेलगु मल-यालिम स्पेनिश फ्रेंच जर्मन रूसी आदि दर्जनों भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का प्रबन्ध है। क्या विचित्र भाषाएँ हैं वे, जितने नियम उससे ज्यादः अपवाद। एक एक भाषा को सीखने में

दस दस बारह बारह वर्ष लग जाते थे और लोग अपनी अपनी भाषा का घमंड करते थे, अपनी बेहूदी भाषा ही दुनिया भर में चलाना चाहते थे। वैज्ञानिक आविष्कार तो एक से एक बढ़कर करते थे पर मनुष्य मनुष्य की बोली समझ सके इसके लिये मनुष्यमात्र की एक सरल सुन्दर भाषा नहीं बना सकते थे। खैर! अब यह बेवकूफी कहीं नहीं है। हां! पुराने बेवकूफों की बेवकूफी पढ़ने के लिये इतिहास में एक लिपि भाषा विभाग खोल दिया गया है।

मैं—पर लोगों ने अपनी अपनी भाषा छोड़ी कैसे होगी?

पाठक—बड़ी खुशी से। कठिन भाषाओं और कठिन लिपियों की जगह संसार व्यापी एक सरल भाषा और सरललिपि कौन न अपनायगा? जन्म से तो मनुष्य भाषा लिपि का ज्ञाता नहीं होता, उसे सिखाना पड़ता है। तब जिस दिन से सब देशों के मनुष्यों ने एक सरल भाषा और लिपि बनाकर बच्चों को सिखाना शुरु किया उसी दिन से मनुष्य की एक भाषा होगई जो सभी के लिये अपनी थी। आज की मानव भाषा इतनी सरल है कि कोई भी आदमी महीने दो महीने में सीख सकता है।

मैं—पर पुरानी दुनिया में अपनी अपनी भाषा का मोह छुड़ाना बहुत मुशकिल है।

पाठक—बेवकूफों की दुनिया की बात जुदी है। वहां सभी अपनी भाषा दूसरों पर लादना चाहते हैं परन्तु मिलकर एक नियमबद्ध सरल भाषा बना नहीं सकते। मनुष्य कैसी कैसी मूर्खताओं में से गुजर चुका है इसकी याद आते ही रोंगट खड़े हो जाते हैं।

मैंने देखा कि नई दुनिया में कोई निकम्मा बोझ बालकों पर नहीं डाला जाता। वहां थोड़े से परिश्रम में अधिक से अधिक ज्ञान दिया जाता है।

(११) मातम

अभी साड़ेचार ही बजे थे कि बाहर किसी ने द्वार खटखटाया ऊपर से सुशीलादेवी ने कहा—कौन? गिरीश?

गिरीश—हां चाची, बड़ी ददीजी की तबियत बहुत खराब है।

सुशीला—अच्छा आती हूं।

यह कहकर सुशीला देवी नीचे आने लगीं, तब तक मैं भी चटपटाकर उठ खड़ा हुआ और बाहर निकलकर द्वार खोला। सुशीला देवी गिरीश के साथ चलने लगीं और मित्र जी से कहा—प्रमित्र जी, आप भी थोड़ी देर में आजाइये तब तक मैं चलती हूं।

मैंने कहा—क्या आपके साथ मैं भी चल सकता हूं।

सुशीला—चल तो सकते हैं पर आप क्यों कष्ट करते हैं?

मैं—तब मैं चलता हूं।

यह कहकर मैं भी साथ हो गया। मकान पड़ोस ही में था। दादी जी एक स्वच्छ शय्या-पर लेटी थी उनकी आँखें बन्द थीं! एक डाक्टर और एक दाई बैठे थे साथ ही कुटुम्बी भी निर्निमेष दृष्टि से दादी जी के चेहरे की तरफ देखते हुए बैठे थे। हम लोग भी बैठ गये। सुशीलाजी ने पूछा—डाक्टर, कैसी तबियत है?

डाक्टर—मरणगीत का समय है।

सुशीला जी का चेहरा क्षण भर को फीका पड़ गया। फिर उनने सुरीले कंठ से कुछ मन्द और करुण स्वर में गाना शुरु किया—

अब हम जाते हैं घर हो गया पुराना।

दूसरा गीत था—

विदा दो सभी खिलाड़ी आज।

तीसरा गीत था—

रुक न सको तो आओ।

गीत की एक एक कड़ी ही याद रही पर बड़े ही करुण और बोधप्रद थे वे गीत। दादी जी बोल तो कुछ न सकती थीं पर ऐसा मालूम होता था कि गीत वे सुन रही हैं और उनका असर उनपर पड़ रहा है। क्योंकि बीच बीच में उनके चेहरे पर हलकी हलकी मुस्कराहट दिख पड़ी थी।

थोड़ी देर में दादी जी की नाड़ी बन्द होगई। डाक्टर ने कहा—दादी जी ने विदा ले ली।

गीत रुक गया। लोगों की आँखों में आंसू आगये। पर सुशीला जी ने हिम्मत करके दादी के नाती से कहा—भाई आप रोते हैं?

उनने आंसू पोंछते हुए कहा—नहीं बहिन।

इतने में नर्सने टेलीफोन उठाकर सब जगह खबर कर दी। पहिली खबर पुलिस चौकी पर की गई दूसरी कारखाने में।

थोड़ी देर में पुलिस आगई। पुलिस के आदमियों ने आते ही दादी के शव को सलाम किया। इसके बाद एक के बाद एक लोग दर्शनों को आने लगे, और सलाम करके, कुटुम्बियों से सहानुभूति प्रगट करके जाने लगे। शव के ऊपर सुगन्धित जल छिड़का गया सुगंधित ऊदबत्तियाँ जलाई गईं। इतने में मित्र जी आगये। कुटुम्बियों ने कहा—सुशीला बहिन, तब तक तुम घर हो आओ। मित्र जी वहीं बैठ गये और मैं सुशीला जी के साथ घर आगया।

पूछने पर मालूम हुआ—दादी जी की उम्र सिर्फ १०७ वर्ष की थी, श्मशान यात्रा शाम को चार बजे होगी। कुटुम्बियों को तीन दिन की छुट्टी मिलेगी। खास खास पड़ौसियों को भी एक दिन की छुट्टी मिलेगी। श्मशान में एक दो आदमी जायँगे, घर का कोई न जायगा। सरकारी आदमी खास मोटर में सन्मान के साथ शव को ले जायँगे।

मैंने पूछा शव जलाया जाता है या गाड़ा जाता है।

सुशीला—यह हर एक जगह की स्थिति पर निर्भर है ज्यादःतर शव जलाये जाते हैं। बिजली से शव जला दिया जाता है।

मैं क्या गाड़ने का भी रिवाज है।

सुशीला—ऐसी बातों का रिवाज से कोई सम्बन्ध नहीं। अगर कहीं बेकार जगह हो तो वहां शव गाड़े जाते हैं। पर खास खास जंगलों के सिवाय मुर्दे गाड़े नहीं जाते।

हम लोग शौच आदि से निवृत्त होकर फिर वहीं पहुंचे। दर्शनार्थी लोगों का तांता लगा हुआ था। थोड़ी देर बाद साधु जी आये। सब लोगों ने उन्हें प्रणाम किया उनने सब को उपदेश दिया कुटुम्बियों को समझाया और चले गये। उनके जाने पर सुशीला ने कुटुम्बियों को भोजन कराया।

चार बजे फिर पुलिस के साथ सरकारी लारी आई। उस पर काले झंडे थे। बीच में सन्मान के साथ शव रख दिया गया। लोगों ने फूल चढ़ाये। पड़ौसियों में से एक स्त्री और एक पुरुष शव के पास बैठ गये। बाकी पुलिस और सरकारी कर्मचारी थे।

मैंने सुशीलाजी से चुपचाप पूछा—क्या कुटुम्बी एक भी न जायगा?

सुशीलाजी ने कहा—पुलिस क्या कुटुंबी

नहीं है ? पड़ौसी क्या कुटुम्बी नहीं हैं ? सरकारी कर्मचारी क्या कुटुंबी नहीं हैं ?

मैं—फिर भी घरवालों की भावना का तो खयाल रखना चाहिये।

सुशीला—खयाल रक्खा जाता है इसीलिये उन्हें स्मशान नहीं जाने दिया जाता। एक तो उनके सिर पर जबर्दस्त शोक है फिर उनपर शव संस्कार का बोझ डालना एक तरह की सामाजिक निर्दयता होगी। समाज का काम तो यह है कि कुटुम्बियों को सब तरफ से निश्चिन्त रक्खे और उन्हें तसल्ली दे। उन्हें भोजनादि कराये उनके स्वास्थ्य की सम्हाल रक्खे।

इसके बाद मैंने देखा कि दादी के कुटुम्बियों को दूसरे दिन सुशीला देवी ने अपने घर भोजन कराया। इसके बाद और भी दो दिन विभिन्न घरों में उनका निमन्त्रण हुआ।

इन दिनों सुशीला जी ज्यादः काम में रहीं बचत का अधिक समय दादी जी के कुटुम्बियों की सेवा में बीतता था मैं भी घूमने नहीं गया। पर बातों बातों में जानने को बहुत मिला।

मालूम हुआ कि घर में मौतें कम ही होती हैं क्योंकि ११० वर्ष की उम्र होने पर लोग वृद्ध नगर चले जाते हैं। अपनी जायदाद का एक चतुर्थांश कुटुम्बियों में बाट जाते हैं और तीन चतुर्थांश वृद्ध नगर के कोष में दे दिया जाता है वृद्ध नगर उनका जीवनभर पालन करता है। दादी जी १०७ वर्ष की उम्र में ही चली गईं इसलिये वे वृद्धनगर न जा सकीं। स्थावर संपत्ति तो बटवारे का विषय नहीं है जंगम सम्पत्ति जो बैंक में जमा है उसका तीन चतुर्थांश वृद्ध नगर चला जायगा और एक चतुर्थांश कुटुम्बियों में बट जायगा, कुटुम्ब के हर एक व्यक्ति को बराबर बराबर मिल जायगा।

मैं—अगर दादी जी की संपत्ति बैंक में न होती तो ?

सुशीला—दस बीस रुपयों के सिवाय कोई आदमी अपनी संपत्ति घर में नहीं रखता। अगर रक्खे भी तो भी हरएक को अपना हिसाब रखना पड़ता है। किसी भी समय पता लग सकता है कि किस आदमी की कितनी संपत्ति है ? दस पांच रुपयें की गड़बड़ी अगर भूल से हो जाय तो उस पर ध्यान नहीं दिया जाता।

मैं—क्या वृद्ध नगर का खर्च वृद्धों की इसी तीन चौथाई संपत्ति से चलता है।

सुशीला—नहीं। यह तो नाममात्र की है। सच तो यह है कि दोचारसौ रुपये से ज्यादः लोगों के पास कुछ बचता नहीं है। हरएक आदमी के वेतन में एक पंचमांश काटकर वृद्ध-नगर के लिये रख लिया जाता है तीन पंचमांश घरू खर्च में समाप्त हो जाता है एक पंचमांश में से कुछ देनलेन, यात्रा और बचत होती है। कलकी चिन्ता न होने से कोई बचत की चिन्ता नहीं करता।

(१२) कालगणना और छुट्टियाँ

सबेरे दूध पीते समय मैंने सुशीला देवी से कहा—देवीजी, एकबार यहां के गांवों को और वृद्धनगर को देखना है पर चाहता हूं आप लोग भी साथ रहें।

सुशीलाजी ने कहा—देखिये अब यात्रा सप्ताह आने वाला है उसी छुट्टी में हम आपके साथ चलेंगे।

मैं—क्या उन दिनों आपको सात दिन की छुट्टी मिलेगी।

सुशीला—हां ! सोमवार से शनिवार तक

छुट्टी रहती है आगे पीछे के दो रविवार भी मिल जाते हैं।

मैं-देखता हूं पुरानी दुनिया के ईसाइयों की एक चीज यहां मौजूद हैं और वह है रविवार की छुट्टी।

सुशीला-नहीं। रविवार की छुट्टी इस कारण नहीं है। बात यह है कि हम लोग सारे जगत् में रहते हैं इसलिये सूर्यवार को प्रधानदिन मानकर छुट्टी रखते हैं। दूसरे वार जो ग्रह या उपग्रह के नाम पर उनसे सूर्यवार को कुछ अधिक महत्त्व दिया जाता है।

मैंने कहा—आपका कारण बहुत ठीक है। तो वह सप्ताह किस तारीख को शुरु होगा?

सुशीला—इक्कीस तारीख को।

मैं— इक्कीस? उस दिन वार कौन सा होगा?

सुशीला देवी और मित्र जी हँसने लगे, यहां तक कि बच्चे भी खिलखिला पड़े। फिर एक बच्चे ने कहा-२१ ता. को रविवार ही हुआ करता है इसमें पूछने की क्या बात है?

मैंने आश्चर्य से कहा-यह कैसी बात?

तब मित्रजी ने समझाया कि यहां महीना २८ दिन का होता है और १-८-१५-२२ को सोमवार होता हैं २-९-१६-२३ ता. को मंगलवार इसी प्रकार अन्य वार।

मैं-तब तीनसौ पैंसठ दिन के वर्ष का हिसाब कैसे बैठता होगा।

मित्र-वर्ष में १३ माह होते हैं। और वर्ष अन्त में एक शून्य दिन होता है उस दिन न कोई वार माना जाता है न माह। उसे शून्य दिन कहते हैं। और चौथे वर्ष जब कि वर्ष ३६६ दिन का होता है तब दो शून्य दिन माने जाते हैं। चिट्ठीपत्री उन दिनों लोग शून्यदिन १ या शून्यदिन २ लिखते हैं। और इसके साथ सिर्फ संवत्।

मैं-संवत् तो नये संसार का चलता होगा, जब से नया संसार बना।

मित्र—हम लोग इतिहास संवत् चलाते हैं। आज कल १२११० संवत् है पुराने ईस्वी सन् से दस हजार अधिक। व्यक्तियों के नाम के संवत् चलाना हम लोग पसन्द नहीं करते। इसलिये पुराने संवत् सब मिटा डाले। और वे थे भी इतने अल्पसंख्यक कि ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख करना कठिन होता था। अमुक सन् या संवत् से इतने वर्ष पहिले आदि इस प्रकार उल्लेख करना पड़ता था।

मैं-जब आप लोग व्यक्तियों के नाम के सन् संवत् नहीं मानते तब उनके स्मरण दिन भी न मानते होंगे। न उनके दिनों की छुट्टी मनाते होंगे।

मित्र-हम लोग महात्माओं के स्मरण दिवस तो मानते हैं और उनके लिये तेरह दिन रक्खे गये हैं। पांच दिन ऐसे लोगों के लिये जिनका महत्त्व और सेवा संसार व्यापी है। और चार दिन अपने राष्ट्र के महात्माओं के लिये, तीन दिन अपने प्रान्त के महात्माओं के लिये एक दिन अपने नगर के महात्मा के लिये।

मैं-क्या इससे ज्यादः महात्मा नहीं हो सकते?

मित्र-हो सकते हैं और होते हैं। पर हरएक का स्मरण करने के लिये समय की सीमा है। कोई दस पांच वर्ष तक, कोई सौ पचास वर्ष तक। पहिले का समय पूरा हुआ कि उनके स्थानपर दूसरे का स्मृति दिवस आ गया।

मैं-पर प्रकृति का यह नियमतो है नहीं कि पहिले के स्मृति दिवस का समय जब पूरा हो तभी दूसरा महात्मा हो। उसके पहिले पीछे भी हो सकता है।

मित्र-अवश्य ! ऐसे अवसर पर दो के लिये एक दिन नियत कर दिया जाता है। बात यह है कि असीम काल के लिये हम किसी का स्मरण दिवस नियत नहीं करना चाहते। जब तक उनके जीवन से जनता को उद्बोधन मिले तभी तक उसका स्मरण दिवस मनाना ठीक है बाद में सिर्फ इतिहास की पोथियों में और संग्रहालय में उसका नाम रहेगा। किसी एक पुराने व्यक्ति से चिपट जाने से समाज का विकास रुकता है और उसके स्थानपर दूसरे व्यक्ति को स्थापन न करने से वर्तमान का अपमान होता है और जनता के दिल पर ऐसी बुरी छाप बैठती है कि अब हम में पुराने महात्माओं सरीखे महात्मा पैदा करने की शक्ति नहीं रही। यह दीनता बहुत बुरी बात है। इसलिये हम लोग व्यक्तियों के नाम के त्यौहार बदलते रहते हैं।

मैं-पुराने भी चालू रहें और नये भी कायम होते रहें तो क्या नुकसान है ?

मित्र—यह खूब रही। हमारे सब पुरखे भी जिन्दे रहें और नये बच्चे भी पैदा होते रहें तो क्या घर में या धरती पर जगह भी बचेगी ? यही हाल त्यौहारों का है। साल में ३६५ दिन हैं, और महात्माओं की गिनती ३६५ से ज्यादः, तब मुर्दों के नाम जपने के सिवाय हमें कोई दिन अपने लिये भी बचेगा ? पुराने निष्प्राण त्यौहारों का अतीत संस्कार किये बिना हम नये जिन्दे त्यौहार नहीं बना सकते।

मैं—तो आपके यहां सिर्फ १२ त्यौहार होते हैं।

मित्र-नहीं ! हरएक रविवार एक छोटासा त्यौहार ही है। तेरह महात्माओं के स्मरण दिन। वर्ष के प्रारम्भ में एक दिन नये संसार का स्मरण दिन, और वर्ष के अंत का शून्यदिन। नगर पंचायत चुनाव के दो दिन, जिला पंचायत चुनाव के दो दिन, प्रान्त पंचायत चुनाव के दो दिन। राष्ट्र पंचायत चुनाव के दो दिन, विश्व पंचायत चुनाव के दो दिन। इसमें नगर चुनाव प्रतिवर्ष, जिला चुनाव, दो वर्ष में, और बाकी चुनाव चार वर्ष में होते हैं। ये भी त्यौहार के दिन समझे जाते हैं इसके सिवाय यात्रा सप्ताह या वसन्तोत्सव की छुट्टी रहती है। वर्षा के सिवाय प्रत्येक पूर्णिमा की रात्रि में लोग कुछ अधिक जगते हैं इसलिये उसके दूसरे दिन लोग देर से काम पर जाते हैं इस प्रकार आधे दिन की छुटी वह हो जाती है। इसके सिवाय हरएक व्यक्ति को पन्द्रह दिन की छुटी और मिलती है जिसे वह इच्छानुसार ले सकता है।

मैं-जो लोग कारखानों में या शिक्षण संस्था आदि में काम करते हैं उन्हें ये छुट्टियाँ मिलती हैं पर सार्वजनिक भोजनालय, रेल, दूकानों आदि में काम करने वालों को ये छुट्टियाँ कैसे मिलती होंगी ?

मित्र-हर एक विभाग में अतिरिक्त कार्यकर्ता होते हैं वे बारी बारी से दूसरों के स्थान पर काम करते हैं इस प्रकार इन लोगों को भी कम कम से उतनी छुट्टियाँ मिल जाती हैं जितनी दूसरों को मिलती हैं। इस प्रकार जनता का कोई खास काम रुकता नहीं है और छुट्टी भी सब को मिल जाती है।

"बहुत सुन्दर व्यवस्था है" यह कहकर मैंने सुशीला देवी से कहा-यात्रा सप्ताह की तो मैं बड़ी आतुरता से बाट देख रहा हूं। पर आज क्या देखूं यह तो बताइये।

सुशीला-आज आप 'हैवानी शैतानी' देख आइये।

मैंने आश्चर्य से कहा-यह क्या आफत है?

सुशीला देवी ने हँसकर कहा-यह है पुरानी दुनिया।

मैं-नई दुनिया में पुरानी दुनिया।

सुशीला-आप देख तो आइये।

(१३)-हैवानी शैतानी

'हैवानी शैतानी' एक संग्रहालय था जिस में पुरानी दुनिया के नमूने रक्खे गये थे और पुरानी दुनिया के हैवान और शैतान लोगों के जीवन और कार्यों का चित्रण किया गया था। मेरे साथ और भी लोग थे जिन में किशोर अधिक थे। हमारे समूह के लिये एक पथ-प्रदर्शक भाई मिल गये थे जिनने सब बातें समझाकर बतला दीं।

घुसते ही हमें टैंक, तोप, बम बरसाते हुए जहाज, विषैली गेस, मशीनगन आदि के नमूने दिखाई दिये और देखा कि नगर नष्ट होगये हैं, आग की लपटें उठ रही है, लांशें आसमान में उड़ रही हैं उनके टुकड़े टुकड़े हो गये हैं।

प्रदर्शक ने कहा-देखिये, एक मनुष्य ऐसा शैतान था, उसने बुद्धि तो पाली थी पर उसका उपयोग एक दूसरे के नाश में करता था।

यह देखिये एक तरफ अन्न का भंडार भरा पड़ा है और दूसरी तरफ भूख से आदमी तड़प रहे हैं, एक तरफ कपड़े की गोदामों में कपड़े भरे पड़े है मिल मालिक मन्दी से चिन्तित हैं दूसरी तरफ हजारों आदमी चिथड़े पहिने घूम रहे हैं।

देखिये सड़कें नहीं हैं, मकान नहीं है पर उनके बनाने का सामान पृथ्वी में भरा पड़ा है दूसरी तरफ काम करने वाले बेकार फिर रहे हैं दुनिया नरक बनी हुई है।

देखिये एक तरफ लोग खूब खाखाकर बीमार पड़ रहे हैं दूसरी तरफ लाखों आदमी भूखों मर रहे हैं।

एक दर्शक ने पूछा-पर ऐसा होता क्यों था? जब काम पड़ा था और काम करनेवाले भी थे तब वे काम क्यों नहीं करते थे।

प्रदर्शक-इसलिये कि उन्हें काम का बदला देने वाला कोई न था। समाज की सारी संपत्ति मुट्ठी भर लोगों के हाथ में थी और उन्हें कोई चिन्ता न थी।

दर्शक-क्या आदमी ऐसा हो सकता है?

प्रदर्शक-अब नहीं हो सकता पर पहिले ऐसा ही होता था। यह किसी खास आदमी का अपराध नहीं था किन्तु प्रणाली का अपराध था।

देखिये! जनता ने सरकारें बनाई पर हर जगह की सरकार दूसरी सरकारों से लड़ने में सारी शक्ति खर्च करती थी एक दूसरे पर चढ़ाई करना एक दूसरे के देश को रौंदना सरकारों का मुख्य काम था इसके लिये सरकारें प्रजा को खूब चूसती थीं और उसका खून बहाती थीं और जो सच्ची बात कहने आता उसका गला काट डालती थीं फांसी पर लटकाती थीं जेल में यातनाएँ देती थीं।

देखिये एक देश के आदमी दूसरे देश के आदमियों पर सवार होते हैं। पुराने जमाने में

जो जितना बड़ा हत्यारा लुटारू होता था वह उतना बड़ा समझा जाता था।

देखिये यह सम्राट है, इसने बहुत से देशों को लूट डाला है और अपने नौकरों से लुटवाता है इसलिये लोग उसकी पूजा करते हैं, ऐसे ही हैवान थे उस जमाने के लोग। बड़े से बड़े अत्याचारियों और हरामखोरों को वे देवता समझते थे।

देखिये ये राजा महाराजा नवाब हैं, प्रजा की कमाई चौपट कर जाते हैं। इनकी बड़ी से बड़ी सेवा यह है कि ये बताते हैं कि आदमी अधिक से अधिक कितना विलासी हो सकता है और दूसरों की कमाई किस बेरहमी से उड़ा सकता है और हड़प सकता है। ये लोग यह नहीं समझते कि ये प्रजा के सेवक हैं किन्तु यह समझते है कि प्रजा इनकी सेवक हैं। जब इनसे पूछा जाता है कि तुम्हें किसने मालिक बनाया तब ये कहते हैं ईश्वर ने, जिसने यह जगत् बनाया। आश्चर्य यह है कि सभी अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि कहते हैं और एक दूसरे को कुचलना चाहते हैं। इन में कोई भी ईश्वर से नहीं डरता सिर्फ ईश्वर की ओट में दुनिया को ठगता है।

देखिये कुछ भले आदमियों ने राजा को मिटा दिया है और चुनाव करके शासन करते हैं। पर देखिये पैसेवाले लोग समाचार पत्रों को खरीद लेते हैं उनके संचालकों को लांच रिश्वत देते हैं, लांच रिश्वत देकर वोटरों को लुभाकर, झूठी बातों में भुलाकर अपने को या अपने चट्टों बट्टों को चुनवा लेते हैं अथवा सरकारों को लांच रिश्वत देकर अपनी इच्छा पर नचवाते हैं जनता हैवान है ये शैतान हैं।

देखिये! लोग कितने मूर्ख हैं एकसा आकार होकर भी जुदी जुदी जातियाँ बना रक्खी हैं और एक दूसरे को नीचा दिखाने की कुचलने की चेष्टा करते हैं और कहीं कहीं के लोग तो इतने बेवकूफ हैं कि एक दूसरे के हाथ का पानी भी नहीं पीते खाना भी नहीं खाते साथ बैठकर भी नहीं खाते।

बड़े बड़े आविष्कार करते हैं पर सब की बोली एक नहीं कर पाते। अपनी अपनी रद्दी बोलियों और लिपियों से चिपटे हुए हैं। मिलते जुलते हैं पर एक दूसरे का मुँह ताकते रहते हैं। एक दूसरे की भाषा नहीं समझ पाते। इतनी अक्ल नहीं कि आदमी की भाषा बनाकर वही सब सीखलें। देखिये, पच्चीस आदमी खड़े हैं पर एक दूसरे का मुँह ताकते हैं आदमी होकर भी आदमी की भाषा नहीं जानते।

देखिये ये मजहब के वकील, जिन्हें महन्त, पंडित, मुल्ला, पोप, बिशप, पादरी आदि कहते थे, दुनिया को सिखा रहे हैं कि सब भगवान की माया है अपने किये क्या हो सकता है। अत्याचारी राजाओं जमींदारों पूंजीपतियों को ईश्वर के कृपापात्र कह रहे हैं उनकी स्तुति कर रहे हैं मजहब के नाम पर जनता को पागल और बुजदिल बना रहे हैं। साधुओं के नाम से लाखों मुफ्तखोर यही धंधा करते हैं, भोली जनता में मजहबी घमंड पैदा करते हैं। इस लोक के अत्याचार और दुर्दशा भूलने का, उसपर उपेक्षा करने का उपदेश देते हैं और खुद नगद नारायण के भक्त हैं या नाम और पूजा लूटने में मस्त हैं।

देखिये! स्त्रियों को देखिये। सारी सम्पत्ति पुरुषों के हाथ में है उसी के बल पर एक बूढ़ा पांचवींबार एक लड़की से शादी कर रहा है और

एक बारह चौदह वर्ष की लड़की विधवा है अब वह जीवन भर शादी नहीं कर सकती, अर्थोपार्जन में अक्षम है इसलिये गुलामी के सिवाय वह दूसरा कुछ नहीं कर सकती। अथवा व्यभिचार को धंधा बनाकर वेश्या बन सकती है।

देखिये ये गांव हैं। गन्दे झोपड़ों के झुंड, इनका सब से बड़ा चिन्ह यह है कि इनके किनारे आते ही मनुष्य को दुर्गन्ध के मारे नाक बन्द करना पड़ती है। चारों तरफ शूकर घूम रहे हैं गांव में जमीदार तथा दो चार आदमियों को छोड़कर बाकी सब फटेहाल और भूखे हैं।

ये शहर हैं। कहीं कहीं ऊंची ऊंची हवेलियाँ हैं साफ सडकें हैं पर बाकी शहर गन्दा और बेकार लोगों से भरा है शैतानियत और हैवानियत पास पास खड़ी होकर नंगा नाच दिखला रही हैं।

देखिये ये बाजार हैं एक दूसरे को लूटने के, सट्टा जुवा आदि के केन्द्र।

ये हैं जेल। खूनी चोर व्यभिचारी भरे पड़े हैं और यहां रहकर रही सही आदमियत को भुलाते जा रहे हैं यहीं कुछ भले आदमी भी हैं जिनका अपराध यह है कि उनने न्याय की मांग की थी। शासकों के अत्याचारों का विरोध किया था। देखिये कुछ लोग फांसीपर लटकाये जा रहे हैं क्योंकि इनने मानव स्वतन्त्रता की और सब को रोटी मिलने की मांग की थी।

जरा इस पुलिस के जवान को देखिये! आज की दुनिया में इतना अकड़ा आदमी कहीं न मिलेगा, रिश्वत के रुपयों के मारे बेचारे का पाकिट फटा पड़ता है। घमंड में चूर है। वह भले से भले आदमी को बेइज्जत कर सकता है।

ये देखिये! ये अफसर कहलाते हैं। छोटी रिश्वत नहीं लेते, पर चुपचाप मोटी रकम डकार जाते हैं। इनको हजारों रुपया महीना मिलता है जब कि मजदूर को रूखी रोटी भी नहीं मिलती। प्रजा की आमदनी में से करीब आधी ये या इन का विभाग खा जाता है करीब आधी लड़ाई के लिये रक्खी जाती है बाकी टुकड़े प्रजाहित के नाम पर छितरा दिये जाते हैं।

आगे देखिये ये धर्मस्थान हैं, अहंकार द्वेष और अन्ध श्रद्धा के घर। लाखों आदमियों का खून बहाया है इनने, करोड़ों दिलों को तोड़ा है इनने। उस जमाने का बड़ा से बड़ा धर्म पंडित कितना मूर्ख अन्धश्रद्धालु और अविचारी होता था, बड़े से बड़े राजनैतिक और राज्यसंचालक कितने क्षुद्र और स्वार्थी होते थे इसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती।

ऐसा था वह पुराना संसार।

एक दर्शक—ऐसे नरक में लोग कैसे रहते होंगे?

प्रदर्शक—रहते थे, रोते थे, भाग्य को या भगवान को दोष देते थे, और उसी नरक से चिपटे रहते थे।

दर्शक—पर ऐसा मालूम होता है कि शोषक कम थे और शोषित अधिक। क्यों नहीं ये लोग शैतानों को मिटा डालते थे।

प्रदर्शक—इसलिये कि ये आदमी नहीं हैवान थे। मौका मिलने पर ये भी शैतान बनने को तैयार थे। जो लोग फटे हाल कंगाल थे उनको या उन में से जिस किसी को भी मौका मिलता था वह शैतान बनने को बड़ी खुशी से तैयार था। इतना ही नहीं, एक शोषित अपने से अधिक शोषित का शोषण करता था। अगर

उन्हें कोई उस नरक से निकालना चाहता तो वे ही उसके उग्र विरोधी हो जाते थे। क्षुद्र स्वार्थों के कारण इतने अन्धे थे कि वे एक दूसरे को कुचलकर ही आगे बढ़ने की कल्पना कर सकते थे। सामूहिक विकास और न्याय्य सहयोग की कल्पना करना उनके वश के बाहर की बात थी।

दर्शक–क्या उन में भला आदमी कोई न था?

प्रदर्शक–थे और सभी श्रेणियों में थे। विद्वानों साधुओं और श्रीमानों में भी सज्जन थे। अगर न होते तो आज यह नया संसार दिखाई न पड़ता। पर वे थे बहुत कम। सच्चे ज्ञानियों से और सत्यवादियों से वे लोग बाजी मार ले जाते थे जो दम्भी निर्लज्ज और आत्मश्लाघापूर्ण थे। पैसा, दंभ और आत्मश्लाघा उस युग के मुख्य शस्त्र थे। जनता को रिझाना, उसकी आँखों में धूल झोंकना और अपना स्वार्थ सिद्ध करना उस युग का मुख्य मजहब था जिसका स्थान सब मजहबों से ऊपर था। इसलिये सच्चे सेवकों की कोई न सुनता था या बहुत कम सुनता था।

दर्शक—आदमी इतना मूर्ख हो सकता है इसपर विश्वास करने को जी नहीं चाहता। इस संग्रहालय में अतिशयोक्ति से तो कुछ काम नहीं लिया गया?

मैंने कहा–बिलकुल नहीं। बल्कि कुछ कम ही कहा गया है।

सब चौंककर मेरी तरफ़ देखने लगे। और कहा–आप कौन?

मैं—पुरानी दुनिया का जीव।

दर्शक—पुरानी दुनिया के! और आप कहते हैं कि यह अतिशयोक्ति नहीं है!

मैं—हां! मैं कहता हूं कि अतिशयोक्ति नहीं है। पुरानी दुनिया शैतानों और हैवानों की दुनिया है। और उससे भी बुरी है जिसका चित्रण यहां किया गया है।

सब दर्शक आश्चर्य से मेरी ओर देखने लगे। उन्हें मेरी बातों पर विश्वास करने में बड़ी कठिनाई जा रही थी।

(१४) प्रलय पर विजय

उस दिन तय हुआ कि सब लोग आज सिनेमा देखने चलेंगे। मित्रजी ने टेलीफोन उठाकर सूचना दी, कृपाकर शाम को 'प्रलय पर विजय' खेल के लिये छः टिकिट तैयार रखिये। उत्तर–आया तैयार हैं। टिकिट के नम्बर ७६३२ से ३७ तक हैं। बैठक का नम्बर ३६१ से ३६६ है।

मैंने कहा–अगर पहिले से सूचना न दी होती तो?

मित्र–तब शायद जगह न मिलने से वापिस आना पड़ता।

मैं–अगर अभी भी जगह न होती तो?

मित्र–तो अपना नाम लिख लिया जाता और कल मिल जाती।

मैं–यह अच्छा है, नहीं तो धक्कामुक्की और समय की बर्बादी होती।

मित्र–धक्कमुक्की का तो कारण ही नहीं है क्योंकि सब जगह लोग श्रेणी बनाकर अपने नम्बर पर खड़े हो जाते हैं और समय भी बर्बाद नहीं होता क्योंकि जाते ही पता लग जाता है कि टिकिट मिल सकेगा या नहीं कितने टिकिट बाकी हैं यह हर एक दर्शक को पता लगता रहता है। टिकिट की मशीन ऐसी है कि जितने

टिकिट उस में रहते हैं उसके नम्बर टिकिट की खिड़की पर लिख जाते हैं। ज्यों ज्यों टिकट निकलते जाते हैं त्यों त्यों नम्बर बदलते जाते हैं जैसे १०००-९९९-९९८ आदि। जनता का समय बर्बाद करना यहां ठीक नहीं समझा जाता।

मैं—पर दूकानों पर तो अवश्य समय बर्बाद होता होगा।

मित्र—नहीं, दूकान की गाडियाँ मोहल्ले मोहल्ले घूमती हैं अमुक परिमाण में बांधा हुआ माल देती जाती हैं। इसलिये बहुत कम लोगों को दूकान पर जाना पड़ता है। कोई खास आवश्यकता पर जाना पड़े तो इतनी भीड़ नहीं होती कि समय बर्बाद हो।

मैंने कहा—नई दुनिया का प्रत्येक नागरिक नागरिक न कहलाया राजा कहलाया।

मित्र—राजा हमने देखा नहीं, पर राजा का पद नागरिक के पद से ऊंचा नहीं हो सकता।

मैं चुप रहा।

शाम को हम लोग सिनेमा में पहुंचे। कोई धक्कामुक्की नहीं, कोई परेशानी नहीं। अपनी कुर्सियाँ ढूंढने में दो मिनिट से अधिक न लगे यद्यपि वहां हजारों कुर्सियाँ थीं।

खेल शुरु हुआ। उसके तीन भाग थे। प्रलय के पहिले, प्रलय, और विजय। पहिले भाग में सब आनन्द बताया गया था। सन्ध्या का समय था, कहीं लोग घूमने जा रहे थे, कहीं बच्चे खेल रहे थे, कहीं लोग गाना सुन रहे थे, कहीं लोग भोजन कर रहे थे, कहीं नृत्य हो रहा था, कहीं सब कुटुम्बी बैठे गप्पें मार रहे थे। मतलब यह कि सब जगह आनन्द ही आनन्द था।

दूसरे भाग में भूकम्प का भयंकर दृश्य था। जब कि सब लोग आनन्द मना रहे थे इसी समय भयंकर भूकम्प हुआ। बड़ी बड़ी इमारतें उछल उछल कर राख हो गईं, सड़कें फट गईं, लोग दब गये, रेल की सड़कें उखड़ गईं, पुल टूट गये, चारों तरफ आक्रन्दन सुनाई देने लगा, प्रलय उपस्थित हो गया। यह सब कुछ मिनिटों में ही हो गया।

पर इस महान संकट में पड़कर भी लोग घबराये नहीं। जो लोग बचे वे सब अपने अपने मुहल्लों में इकट्ठे हुए और यह तय किया कि सब लोग मलमा साफ करने में लग जायँ। जो घर सुरक्षित हैं उन में घायलों, बच्चों और वृद्धों को भेज दिया जाय। और एक दो आदमी इधर उधर खबर देने को भेज दिये जायँ, क्योंकि टेलीफोन का सम्बन्ध टूट गया है।

कुछ मिनिटों में ही नगर भवन में सब मुहल्लों के संवाददाता आ गये। मालूम हुआ बहुत दूर तक क्षति हुई है। और बाहर समाचार भेजने के साधन नष्ट हो गये हैं इसलिये मोटर आदि नहीं जा सकती, रेल का व्यवहार भी बंद है। ब्राडकाष्ट का स्टेशन भी नष्ट हो गया है, पर हवाई स्टेशन पर कुछ हवाई जहाज सुरक्षित हैं। बस! चारों तरफ हवाई जहाज दौड़ा दिये गये एक घंटे में दुनिया भर में यह समाचार फैल गया। पता लगा कि करीब बीस हजार वर्गमील में यह उत्पात हुआ है।

नगर के सब लोग मलमा उठाने में बड़े वेग से लगे हैं। आठ आठ दस दस वर्ष के बच्चे भी दौड़ दौड़ कर काम कर रहे हैं। बेटरी की बत्तियों का ही प्रकाश काम दे रहा है नहीं तो बिजली के तार टूट जाने से सारे शहर में अंधेरा

है। तेल की लालटेनें भी जला ली गई हैं। सैकड़ों मनुष्य निकाले गये हैं और सुरक्षित स्थानों पर पहुंचाये जा रहे हैं। डाक्टर और नर्सें उनकी चिकित्सा में लगी हैं।

कितना भयंकर दृश्य था। किन्तु लोगों में कितनी कर्मठता थी। खाने पीने की किसी को फुरसत नहीं थी, सब दूसरों के प्राण बचाने में लगे थे। क्या स्त्री क्या पुरुष क्या बालक सब पसीने में तर थे। ऐसा मालूम होता था कि रात भर में ही ये सारा मलमा साफ कर डालेंगे।

इसके बाद भूकम्प पीड़ित स्थान के बाहर के दृश्य थे। कहीं लोग रेडियो में गाना सुन रहे थे कि गाना इकदम बन्द हो गया। और दूसरे ही क्षण भूकम्प के समाचार मिले। साथ ही यह सन्देश भी कि वहां आदमियों की सख्त जरूरत है। हवाई स्टेशनों पर लोग पहुंचे, थोड़ा बहुत खाना साथ लेलें, प्रकाश की बेटरियाँ और गेस की लालटेनें भी। उस तरफ मोटरें भी भेजी जायँगी जहां तक सड़कें ठीक होंगी वहां तक लोग मोटरों में जा सकते हैं आगे पैदल जाना होगा या परिस्थिति के अनुसार काम करना होगा।

बस! इस सन्देश के सुनते ही सब लोग उठ खड़े हुए। कहीं प्रमित्र और कहीं प्रमित्रा जाने को तैयार हो गये। सिनेमा भवन में जब यह खबर पहुंची तब सिनेमा बन्द हो गये। जहां जहां खबर पहुंची वहां वहां सब काम बन्द कर लोग हवाई स्टेशन पर पहुंचे।

वहां बड़ी भीड़ थी। हर आदमी चाहता था कि मैं पहिले हवाई जहाज में पहुंचूं। जिन्हें वहां जगह न मिली वे मोटर से रवाना हुए।

सारे भोजनालय जोर से काम करने लगे। खानेवालों ने शाम का खाना बन्द कर दिया जिससे वह सब तैयार भोजन भूकम्प पीड़ित क्षेत्र में भेजा जा सके।

उधर भूकम्प पीड़ित क्षेत्र में दो घंटे से सब लोग मलमा साफ करने में लगे थे कि इतने में आसमान से घर्र घर्र की आवाज सुनाई दी। चारों दिशाओं से हजारों की संख्या में वायुयान आये और उन में से आदमी उतरे। नवागन्तुकों ने मलमा साफ करने का काम लिया। स्थानीय लोग कुछ तो यही काम करते रहे और कुछ दूसरी व्यवस्थाओं के काम में लग गये। वायुयान रातभर नये नये आदमी लाते रहे और सब काम करते रहे।

सबेरे भोजन की चिन्ता थी शहर का अन्न बर्बाद हो गया था। पर वायुयान सबेरे से भोजन सामग्री लाने में लगे थे। यह बात सब ने आप से आप समझ ली थी कि ऐसे मौके पर आधा पेट रहना चाहिये।

एक कुटुम्ब में पांच आदमी थे पर उनने भोजन लिया दो का। मैनेजर ने कहा—कम से कम तीन का तो ले जाइये। पर भोजन लेने-वाले ने कहा—अभी इतना ही काफी है इस संकट में इतना भी किससे खाया जायगा?

कुटुम्ब ने थोड़ा थोड़ा खाया यहां तक कि बच्चों ने भी पर मां बाप ने बच्चों के लिये कुछ अधिक छोड़ दिया, तब बड़ा बच्चा पेट फुलाकर बोला—देखो मां, मेरा पेट तो खूब भर गया है अब मुझे भूख ही नहीं है। दूसरा बच्चा भी बोला—मेरा भी पेट भर गया है मां। और मुन्नी भी पेट दिखाकर बोली—और मेला बी।

इस दृश्य को देखते ही मैं रो पड़ा।

दूसरे दिन शाम तक करीब करीब मलमा साफ हो गया था। शाम के समय नगर चौक में सब लोग पहुंचे, वहां घोषणा हुई कि तीन आदमी नहीं मिल रहे हैं और १७ की लाशें मिली हैं। १३७७ आदमी घायल हुए हैं और उनके बचने की पूरी आशा है।

यद्यपि भूकम्प के प्रकोप को देखते हुए ये मौतें काफी कम थी फिर भी सारी जनता को उन २० आदमियों के मरने का बड़ा खेद हुआ। सब लोग इसी तरह रोने लगे जैसे कोई घर का आदमी मर गया हो। १३७७ आदमी जो बच सके इसका कारण तुरन्त ही सारे नगर का और बाहर वालों का सफाई के काम में लग जाना था।

विशाल नगर के चारों तरफ सैकड़ों ग्राम या उपनगर फैले हुए थे। रात में वहां भी वायुयानों ने आदमी उतारे थे दिन में भोजन की सामग्री उतारी गई थी। मोटर से आने वाले आदमी सहायता को आ गये थे और सड़कों के खराब हो जाने से जहां मोटर गाड़ियाँ रुक जाती थीं वहां मोटर के आदमी तुरन्त सड़क साफ करने में लग जाते थे। मोटरें वापिस आ कर बड़े औजार तथा खाद्य सामग्री ले जाती थीं।

चार पांच दिन में भूकम्प पीड़ित प्रदेश में इस पार से उस पार मोटरें रेलगाड़ियाँ आदि आने जाने लगीं थीं। एक देश की नहीं किन्तु सब देशों की शक्ति नव निर्माण में लगी हुई थी। रात दिन काम चलता था। और दो महीने के भीतर तो सारा भूकम्प-पीड़ित प्रदेश ज्यों का त्यों आबाद हो गया था।

दृश्य बड़े हृदय-द्रावक थे। एक जगह जमीन के फटने से उसमें मोटर समा गई थी पर चार पांच महिलाओं ने किस बहादुरी से वह मोटर निकाली।

जहां वायुयानों को जमीन पर आने के लिये जगह न थी वहां किस प्रकार आसमान से स्त्रियाँ और पुरुष कूद पड़ते थे और सहायता को पहुंच जाते थे।

जब घायल घरों में लाये जाते थे तो घर में उनका कैसा स्वागत होता था! किस प्रकार बच्चे तक उनकी सेवा में लग जाते थे!

नव निर्माण में किस तरह नरनारी और बालक बालिकाओं ने काम किया!

यह सब देखकर मैं चकित ही नहीं हुआ पर हर्ष के मारे मेरा गला भर आया, रोने लगा।

यह प्रलय पर मनुष्य की विजय थी। और इसका मुख्य कारण यह था कि नई दुनिया में विश्व का एक समाज है, एक राष्ट्र है, और सब का एक कुटुम्ब है। न यहां कोई शोषक है, न कोई शोषित। यहां मजहब या सम्प्रदाय नहीं हैं पर जिन्दा धर्म है और है उसके पालन करने के लिये सच्ची बहादुरी और त्याग।

(१५) गांवों की ओर

आखिर वह यात्रा-सप्ताह आ ही गया। कार्यक्रम तय हुआ कि सब वृद्धनगर तक जायँगे और वृद्धनगर में तीन चार दिन रहेंगे और रास्ते में एक एक दिन किसी किसी गांव में ठहरेंगे।

रविवार के सबेरे ही हम लोग रेल में सवार हुए।

गाड़ी चली जाती थी तीन तीन चार चार मील पर ठहरती थीं क्योंकि तीन या चार मील पर गांव आता है। दो गांवों के बीच में एक

एक लम्बा खेत रहता है। छोटे छोटे सैकड़ों खेत नहीं दिखाई देते। सब खेत पंचायती या सरकारी हैं। खेती में अधिकतर उपयोग मशीनों का होता है। लोगों को साढ़े छः घंटे काम करना होता है। आधा घंटा काम पर पहुंचने का और आधा काम से लौटने का इस प्रकार साढ़े सात घंटा लगता है।

मैंने कहा—सुशीला देवी, यात्रा-सप्ताह में यात्रा का आनन्द तो पूरा आयगा लेकिन इस समय सभी जगह छुट्टियाँ होने से लोगों को काम करते हुए देखने का अवसर न मिलेगा।

सुशीला देवी ने कहा—यात्रा-सप्ताह सभी जगह एक साथ नहीं होता किन्तु हर गांव या नगर के यात्रा सप्ताह का समय जुदा जुदा होता है। अगर यात्रा सप्ताह एक साथ हो तब सब की परेशानी बढ़ जाय। यात्रा में आप मेरे घर आय तो मैं न मिलूं और मैं आप के घर जाऊं तो आप न मिलें। सब को मुसाफिरखानों में ठहरना पड़े और रेलों में भी बड़ी भयंकर भीड़ हो जायँ मुसाफिरखानों में भी जगह न मिले। इसलिये यात्रा सप्ताह का समय सालभर घूमता ही रहता है। पहिला और अंतिम सप्ताह छोड़कर बीच के पचास सप्ताह पचास स्थानों के यात्रा सप्ताह होते हैं। अपन जहां जहां चल रहे हैं वहां वहां यात्रा सप्ताह अभी नहीं है।

मैंने सन्तुष्ट होकर कहा—आखिर यह नया संसार है। यहां समता में भी अन्धविश्वास या गतानुगतिकता से काम नहीं लिया जाता किन्तु विवेकपूर्ण समन्वय से काम लिया जाता है।

स्टेशन से लगा हुआ गांव था। रेल के स्टेशन से ही ट्राम जाती थी जो गांव के बगल से होकर खेतों में से आगे बढ़ जाती थी। मालूम हुआ करीब पचास मील की दूरी पर दूसरी रेल लाइन हैं वहां तक ट्राम जाती है। हर एक गांव के किनारे से या बीच से ट्राम गाड़ी गुजरती है। इस प्रकार हर एक गांव पक्की सड़क और ट्राम लाइन के किनारे है। अब दस दस बीस बीस झोपड़ियों के गांव नहीं है किन्तु हजार बारह सौ महलों के नगर ही गांव हैं। हां! उन घरों को महल ही कहना चाहिये। सब घर दुमंजिला हैं और पक्के बने हुए हैं। घर के आगे और बगल में थोड़ीसी जमीन है जहां घरवाले लोग शाक भाजी, पुष्प लताएँ, पपीते आदि लगा लेते हैं। सब घरों में नल से पानी पहुंचता है। खाली जमीन के एक किनारे चलते फिरते संडास बने हैं। जमीन में एक गड्ढा कर दिया जाता है उस पर लकड़ी और टीन का कमरा रख दिया जाता है वही संडास है। मल उसी गड्ढे में पड़ जाता है और हर दिन ऊपर से मिट्टी डाल दी जाती है। दूसरे साल दूसरा गड्ढा बनाया जाता है और पहिले गड्ढे का मल खाद बन जाने पर खेतों में काम में लिया जाता है। हर दिन मिट्टी पूरते रहने से दुर्गन्ध बिलकुल नहीं आती।

गांव के बीच में रंगभवन होता है। इसमें रंगमंच के आगे करीब पांच हजार आदमी बैठ सकते हैं। हर एक गांव की जनसंख्या भी पांच हजार के करीब होती है। सिनेमा इसी रंगभवन में दिखाया जाता है। व्याख्यान भी इसी में होते हैं। ग्राम पंचायत की बैठकें आदि भी इसी में होती हैं। नाटक नृत्य आदि की जगह भी यही है।

रंगभवन के चारों तरफ मैदान है यहीं पर नाना तरह के खेल खेले जाते हैं। मैदान के किनारे शिक्षण संस्था, पोष्ट आफिस, आदि हैं।

ग्राम पंचायत का कार्यालय भी यहीं है। विशाल वाचनालय भी यहीं है, जिस में करीब पंद्रह दैनिक, बीस साप्ताहिक और पचास मासिक पत्र आते हैं। रंगभवन में रेडियो भी है कोई कोई लोग रेडियो सुनते हैं। हालांकि हर एक घर में भी रेडियो का प्रबन्ध है। रंगभवन के बगल में अतिथिशाला सार्वजनिक भोजनालय अस्पताल और स्टोर हैं।

गांव का यही केन्द्र है और इसके चारों तरफ गांव की बस्ती है। बस्ती के किनारे कारखाने हैं। हर एक गांव में एक न एक कारखाना होता ही है। जहां रुई पैदा होती है वहां बिनौले निकालने के कारखाने हैं। बिस्कुट वगैरह गांव में ही बनते हैं। गांव में पैदा होनेवाली जो चीज पक्की करके बाजार में बेची जा सकती है उसके कारखाने उसी गांव में होते हैं। हां जिन कारखानों के लिये एक गांव का कच्चा माल नहीं पुग्ता वे पांच दस गांव के बीच में बनाये जाते हैं। बड़ी बड़ी कपड़े की मिलें, कागज और लोहे के कारखाने, समाचार पत्र और पुस्तकें छापनेवाले बड़े बड़े प्रेस, आदि शहरों में होते हैं। स्कूल का शिक्षण हर एक गांव में पूरा हो जाता है पर कालेज के शिक्षण के लिये नगर में जाना पड़ता है।

गांव में हर एक घर के सामने पक्की सड़क होती है तथा नगर की और भी सब सुविधाएँ यहां हैं इसलिये गांव के जीवन को कोई नापसंद नहीं करता। चारों तरफ सफाई होती है। एक तो लोग खुद ही गन्दगी नहीं करते फिर झाड़ने की मशीनों से सड़कों की सफाई कर दी जाती है। सफाई का काम स्कूल के विद्यार्थियों के जिम्मे है। सड़कों पर रात में प्रकाश का पूरा प्रबंध है।

सब जगह चीजों का एक भाव है। स्टेशनरी आप शहर में जिस भाव खरीदते हैं उसी भाव गांव में भी। इधर से उधर चीज पहुंचाने का खर्च उसमें जोड़ लिया जाता है।

मैंने देखा बाजार है ही नहीं। पूछने पर मालूम हुआ कि बाजार की लोग जरूरत नहीं समझते। एक ही चीज की बीसों दूकानों की क्या जरूरत है? बीस दूकानों पर चालीस आदमी लगेंगे। खरीदने वाले तो उतने ही है सो दूकानदार ग्राहकों की बाट देखते हुए समय बर्बाद करेंगे। समाज की इतनी शक्ति क्यों बर्बाद होना चाहिये। गांव में तीन स्टोर हैं। एक गांव के बीच में रंगभवन के पास, बाकी थोड़ी थोड़ी दूर पर। एक स्टोर को एक एक बाजार समझिये। उस में सब चीजें मिलती हैं। रंगभवन के पास जो स्टोर है वह दोनों से बड़ा है।

पुराने संसार में तो कोई दूकान इसलिये थोड़े ही खोली जाती थी की बस्ती को उसकी जरूरत है। एक ही चीज की दस दूकानें रहने पर भी ग्यारहवीं खुलती थी। भले ही उन दस दूकानों को पूरे ग्राहक न मिलते हों। पर नये संसार में यह बात नहीं है। कितने ग्राहक हैं और उन्हें सौदा देने के लिये कितने आदमी लगेंगे उसके हिसाब से [स्टोर] में आदमी रख दिये जाते हैं बाकी आदमी निर्माण के अन्य कामों में लगा दिये जाते हैं। कुछ तो यंत्रों की बहुलता से और कुछ इस प्रकार की सुव्यवस्था से मानवशक्ति की जो मितव्ययिता की गई है उसी का तो यह परिणाम है कि लोग ६-७ घंटे काम करते हैं फिर भी गांव गांव में और नगर नगर में स्वर्गीय वैभव दिखाई देता है। पुरानी दुनिया में एक तो पंचों का इतना उपयोग न होता था, दूसरे

किसी तरह पेट की रोटी के लिये हजारों आदमी निकम्मे और अनावश्यक धंधे करते थे। बस्ती को जहां पांच दूकानों की जरूरत थी वहां पचास खुलती थी इस प्रकार पैंतालीस कुटुम्ब व्यर्थ ही शक्ति समय गमाते थे। इसके सिवाय जमींदार, पूंजीपति, राजा महाराजा, सैनिक सटोरिये आदि भरे पड़े थे ये। लोग तो निकम्मे थे ही पर इनकी सेवा में हजारों मनुष्य नौकर बन कर मानव जीवन की शक्ति बरबाद कर रहे थे। इसके सिवाय लाखों करोड़ों बेकार और भिखमंगे होते थे उनकी शक्ति भी बर्बाद जाती थी। समाज के लिये वे भी बोझ थे, पर पूंजीवाद के कारण उन से कुछ काम नहीं लिया जा पाता था। पुरानी दुनिया में मानव शक्ति का कितना दुरुपयोग होता था इसकी कल्पना भी नई दुनिया का नागरिक नहीं कर सकता।

नई दुनिया में हर चीज का और शक्ति के हर एक अंश का अधिक से अधिक उपयोग किया जाता है। सड़कों के किनारे ही देखो न, पुरानी सड़कों के किनारे भी झाड़ होते थे पर नीम बंबूल बड़ पीपल आदि। जिनके फलफूल किसी विशेष काम के नहीं। पर नई दुनिया में वैज्ञानिक तरीके से नपीतुली दूरी पर आम आदि के ही झाड़ है ! फलवृक्षों की एक से एक बढ़ियाँ किस्मे तैयार की गई हैं और सड़कें उन्हीं से भरी हुई हैं। पहिले हर एक पथिक फलवृक्षों के फलों का चोर होता था अब हर एक पथिक उन का रखवाला है। करोड़ों मन फल अब सड़कों के फलवृक्षों से मिलते हैं।

पहिले उर्वर जमीनों में भी लोग घर और गांव बना लेते थे। और पहाड़ टेकरियाँ खाली पड़ी हुई थीं। पर अब बस्तियाँ प्रायः टेकरियों और पहाड़ों पर हैं। एक गांव बसाने में अब पांच सौ छः सौ एकड़ जमीन लग जाती है, पहाड़ी पर गांव बसाने में इतनी जमीन अन्न के लिये बच जाती है। टेकरी या छोटे पहाड़ों पर चढ़ने के लिये दोनों तरफ काटकाट कर ढालू रास्ते बनाये गये हैं और उनका ढाल ऐसा रक्खा गया है कि ट्राम भी उन पर मजे से चली जाती है। जिन टेकरियों और पहाड़ों पर पानी नहीं मिलता वहां तलहटी के पास बनाये गये बड़े बड़े कुंडों से एंजिन और नल द्वारा पानी पहुंचाया जाता है। स्नान आदि का पानी भी व्यर्थ नहीं जाने दिया जाता पक्की नालियों द्वारा वह सारा पानी सिंचाई के काम में लिया जाता है इसलिये पहाड़ों के ऊपर और निर्जल मुंडे शिखर अब बारह महीने नंदनवन की कल्पना सरीखे सरसब्ज दिखाई देते हैं।

मैंने सुशीलादेवी से कहा—नई दुनिया के गांव अच्छे होंगे यह तो मैं समझता ही था पर वे इतने अच्छे होंगे इसकी मैं स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता था।

सुशीला जी मुसकराने लगी।

इस गांव से ट्राम में बैठकर हम लोग पच्चीस मील पूर्व की ओर गये। यह गांव भी वैसा ही था। हम लोग शाम को पहुंचे मालूम हुआ कि बहुत से लोग खेत पर काम करने जा रहे हैं। मैंने पूछा—क्या रात में भी काम करना पड़ता है ?

मित्र जी ने कहा—आज कल दिन में गर्मी पड़ती है इसलिये दुपहरी का समय आराम करने के लिये दिया जाता है। खेतों में रात के काम होता है। अभी लोग जायँगे और एक बजे रात को लौट आयेंगे फिर सबेरे तक सोयेंगे। दस

बजे तक खापीकर फिर आराम करेंगे। शाम को काम के लिये फिर निकलेंगे। अब किसानों को कड़ी धूप में काम नहीं करना पड़ता।

मैं–कभी कभी खेतों पर अधिक काम भी आ जाता होगा?

मित्र–अवश्य। उन दिनों लोग दस घंटे काम करते हैं और काम धीमा पड़ने पर सिर्फ तीन चार घंटे। टोटल बराबर हो जाता है। नगरों में जितनी छुट्टियाँ होती हैं उतनी यहां भी, पर समय का अन्तर रहता है। उदाहरणार्थ वर्षा ऋतु में रविवार की छुट्टी नहीं रहती पर अति-वर्षा की छुट्टी रहती है या जिस दिन खेत पर काम नहीं रहता है उस दिन की छुटी रहती है। इन बातों का निर्णय ग्राम पंचायत करती है।

मैं–ग्राम पंचायत और जनता की इच्छा में मतभेद हो तब क्या किया जाता है?

मित्र–ऐसा प्रायः नहीं होता। पर जब किसी खास प्रश्न पर ऐसा मतभेद उपस्थित हो जाता है तब साधारण जनता की बैठक होती है उसमें अठारह वर्ष से अधिक उम्र के हर एक व्यक्ति को—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष-वोट देने का अधिकार है। उसी के अनुसार निर्णय होता है। ग्राम पंचायत छोटी से छोटी बात में भी मनमानी नहीं कर सकती। चुनाव हो जाने पर कोई यह सोचे कि अब दूसरे चुनाव तक चुननेवालों के रुख से कोई मतलब नहीं, तो यह भूल है। जनता कभी भी चुने हुए सदस्यों को वापिस ले सकती है या उनके निर्णय को रद कर सकती है। पर पंचायत के सदस्य ऐसी भूल कभी नहीं करते उन्हें पूर्ण निष्पक्ष रहकर काम करना पड़ता है। उनकी मनोवृत्ति भी ऐसी होती है।

मैं–खैर! यह बात प्रकरण के बाहर चली गई। पर मेरी इच्छा है कि खेत पर चला जाय।

सुशीला देवी–पहिले पेट पूजा जरूरी है।

मैं–सो तो है ही, मंगलाचरण के बिना कोई काम शुरु न करना चाहिये।

हम सब हँसते भोजनालय की ओर गये। और भोजन करके खेतों की ओर बढ़े। चांदनी रात थी आसमान साफ था। खेतों में धड़ाधड़ मशीनें चल रही थी। मशीनों से दाँयँ होती थी उन्हीं से उड़ावनी। जरा दूर पर ट्रेक्टर चल रहे थे। जहां ट्रेक्टर चला कि घास की गहरी जड़ भी उखड़ जाती थी। मालूम हुआ कि बरसाती फसल में भी खेतों में घास नहीं उगता। फिर भी मशीन के डौर रक्खे हुए हैं सात सात आठ आठ लाइन में एक साथ डौरा होता है। बोनी इस तरह चलाया जाता है कि सात सात आठ आठ लाइन डौरे से भी पौधों को धक्का नहीं लगता। रासायनिक प्रक्रिया से अच्छा खाद्द तैयार किया जाता है। खेतों का पानी बहकर बहुत ही काम बाहर जाता है। पानी के संचय से जिन खेतों की फसलमारी जाने का डर है उन में या तो चावल बोया जाता है या उन्हाली की फसल पैदा की जाती है।

एक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई है कि हर एक किस्म के बीजों पर वैज्ञानिक संस्कार डाला जाता है। गेहूं के बीज ऐसे भी मिलेंगे जो बर्फ गिरते हुए स्थानों में भी उग सकें और ऐसे भी मिलेंगे जो गर्म देशों में कीचड में भी ऊग सकें। बीज संस्कार प्रक्रिया ने पृथ्वी और पानी पर विजय प्राप्त करली है। और फसल भी जल्दी तैयार हो जाती है। बीज संस्कार, वैज्ञानिक

खाद, चूहों आदि का न होना, अच्छी मिहनत यंत्रों का उपयोग आदि के कारण फसल कई गुणी हो गई है।

मैंने कहा - खेतों की रखवाली का क्या प्रबंध है। मालूम हुआ अब इसकी जरूरत नहीं है। देश का हरएक नागरिक इसका रखवाला है। आदमी तो चोरी करता ही नहीं। करे भी क्यों? और जंगली जानवर भी अब नहीं हैं, यहां तक कि चूहे और कौवे तक नहीं हैं। तब रखवाली की क्या जरूरत? हां! सड़क के किनारे किनारे तार लगे हुए हैं जिससे कोई भूला भटका जानवर खेत में न चला जाय।

गांवों की यह व्यवस्था मेरे लिये कल्पनातीत थी। दोनों गांव देखकर तबियत खुश हो गई इसके बाद करीब पच्चीस मील आगे और बढ़े। और एक नगर में पहुँचे यह रेल का अच्छा स्टेशन था। शहर की जनसंख्या करीब अस्सी हजार थी। करीब चार हजार एकड़ में नगर बसा था पर नगर का बहु भाग टेकरियों पर था। ट्रामें भी इसलिये कहीं भी जाने में सुभीता था।

यहां एक बड़ासा तालाब था। तालाब के बीच में छोटे छोटे चबूतरे बने हुए थे। इसमें सैकड़ों बालक बालिकाएँ और वयस्क व्यक्ति भी हर दिन तैरने आते हैं। तालाब में तैरते तैरते कोई थक जाय इसलिये बीच में चबूतरे बने हुए हैं। चांदनी रात में नौका विहार करने के लिये दर्जनों नौकाएँ पड़ी हुई हैं।

हर एक स्त्री पुरुष हफ्ते में एक दिन अवश्य तैरता है और दो तीन घंटे जलक्रीड़ा में बिताता है।

मैंने पूछा—तालाब कितना गहरा होगा।

सुशीला देवी - किनारे पर पच्चीस फुट तक तीन फुट, फिर पच्चीस फुट तक चार फुट, फिर पच्चीस फुट, तक पांच फुट, इस प्रकार बढ़ते बढ़ते काफी गहरा है।

इस में कभी कोई डूबा कि नहीं।

ऐसी घटना आज तक नहीं सुनी गई। डूब ने का कारण क्या है? जगह जगह चबूतरे हैं, तैरते हुए पीपे पड़े हुए हैं, नावें हैं पानी में किसी भी तरह का घास है नहीं, छोटी छोटी मछलियों के सिवाय और कोई जन्तु भी नहीं हैं, नीचे तल में कीचड़ नहीं है फिर डूबने का क्या कारण?

यह शहर तो और भी अच्छा है। तैरने का बड़ा आराम है।

थोड़े बहुत अंश में यह आराम सब जगह पाया जाता है। अपने शहर में भी इससे छोटे छोटे दो तालाब हैं पर शहर घूमने के मारे ही आप को फुरसत नहीं मिली। गांवों में भी चार पांच गांवों के बीच में तालाब बनाये ही जाते हैं। उन में सिंगाड़े आदि की खेती भी की जाती है पर अमुक भाग तैरने के लिये सुरक्षित रक्खा जाता है।

यहां हम सब ने निर्भयता से दो घंटे तक खूब नहाया। और जलक्रीड़ा की।

स्नान करते करते मित्रजी ने कहा—यहां भी एक साधु जी रहते हैं, कहिये तो उनके दर्शन कराऊं।

मैंने कहा—अवश्य! अगर कुछ चर्चा करने का मौका मिले तो मैं एक दिन यहीं बिताने को तैयार हूं।

१६–वैज्ञानिक साधु

जब हम लोग साधुजी के यहां पहुँचे तो इनका महल देखकर मैं दंग रह गया। आलीशान कमरों में सैकड़ों यन्त्र रक्खे हुए थे और वहां कुछ युवक काम कर रहे थे। मैंने चकित होकर कहा–आप साधुजी के यहां ले चलने की बात कर रहे थे न?

मित्र–हां, वहीं तो ले आया हूं। ये वैज्ञानिक साधु हैं। इनने विज्ञान के बड़े बड़े आविष्कार किये हैं। अगर इनके आविष्कार न हुए होते तो नई दुनिया के इस रूप का जिन्दा रहना असम्भव होता।

साधुजी एक लम्बे चौड़े कमरे में बैठे थे। एक तरफ टेबल पर कुछ यंत्र से रक्खे हुए थे। दूसरी तरफ कुछ पुस्तकें और लिखने पढ़ने का सामान। बीच में तख्त पर आप बैठे थे। हम लोग प्रणाम आदि करके एक ओर बैठ गये। कुछ मिनिटों में मेरा परिचय भी दे दिया गया। इसके बाद मैंने कहा–नई दुनिया देखकर मुझे आशातीत प्रसन्नता हुई है और यह सब आप सरीखे वैज्ञानिकों का प्रताप है।

साधुजी–वैज्ञानिकों का भी इसमें हाथ है इसमें सन्देह नहीं, पर क्या तुम यह समझते हो कि केवल विज्ञान से मानव समाज इतना सुखी हो सकता था।

मैं– नहीं। इसके लिये लोगों के हृदय में संयम, और मनुष्य-मात्र में कौटुम्बिकता का भाव, तथा श्रमप्रतिष्ठा जरूरी है फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि नई दुनिया में से बिजली या यंत्र निकाल दिये जायँ तो नई दुनिया आधी न रह जायगी।

साधुजी–फिर भी लोग पुरानी दुनिया के वैज्ञानिक युग से भी अधिक सुखी रहेंगे।

मैं–पर इसका कारण यह है कि पुरानी दुनिया का सुख नई दुनिया के सुख का शतांश भी नहीं है। विज्ञान के बिना पुरानी दुनिया की अपेक्षा नई दुनिया के लोग पचास गुणे अधिक सुखी भले रहे फिर भी आज की अपेक्षा आधे भी न रहेंगे।

साधुजी–हां! इतना श्रेय तो विज्ञान को देना ही पड़ेगा।

मैं–पर क्या मैं एक प्रश्न कर सकता हूं?

साधुजी–खुशी से।

मैं–विज्ञान के सारे आविष्कार मिट्टी के तेल, पत्थर का कोयला, तथा लोहा आदि धातुओं के आधार से चल रहे हैं। पर पृथ्वी के गर्भ में तो ये चीजें सीमित हैं तब ये आविष्कार कब तक काम देंगे

साधुजी–ये चीजें तो करीब करीब काम दे चुकी। अब तो बहुत कम काम इनसे लिया जाता है। पुरानी दुनिया से नई दुनिया का विज्ञान काफी आगे बढ़ चुका है। अब हम मिट्टी से धातु बनाते हैं, अणुओं से शक्ति लेते हैं। जल प्रपात, समुद्र की लहरें हमारे डायनुमा घुमाती हैं, आसमान की बिजली हम पकड़ कर रखते हैं। अब बादलों की एक भी चमक व्यर्थ नहीं जाती। हवा का प्रत्येक तूफान लाखों बोल्ट बिजली दे जाता है। तुम विज्ञान तो पढ़े हो।

मैं–जी नहीं, फिर भी मेरी योग्यता के अनुसार जो कुछ समझा सकें समझाने की कृपा कीजिये।

साधु–देखो, यह सारा जगत परमाणुओं से बना है। असंख्य परमाणुओं से अणु बनता है।

पर अणु परमाणुओं का ठोस पिंड नहीं है। अणु की रचना सौर जगत सरीखी है। अणु के बीच में अणुसूर्य होता है जो बहुत से परमाणु का बना है। उस अणुसूर्य के चारों तरफ सैकड़ों अणुग्रह चक्कर मारा करते हैं। जैसे सूर्य के चारों तरफ पृथ्वी आदि ग्रह घूमा करते हैं। अपने में सौर जगत् सरीखा विशाल किंतु बाहर से अदृश्य, और बहुत ही छोटा अणु होता है। हरएक पदार्थ ऐसे ही अणुओं से बना है। ये अणु जल्दी नहीं बदलते इसलिये करीब करीब एक सरीखे अणुओं से जो पदार्थ बनते हैं उन्हें तत्व कहते हैं। पुरानी दुनिया में बानवे तत्व माने जाते थे पर अब उनकी संख्या और बढ़ गई है। यह तत्व-भेद अणुओं की रचना के भेद पर निर्भर है। एक तत्व के अणु में जितना बड़ा अणु सूर्य होता है उसमें जितने अणुग्रह होते हैं वे जितनी दूरी से चक्कर मारते हैं, दूसरे तत्व में वैसे नहीं होते। उसका अणुसूर्य बड़ा या छोटा होता है, अणुग्रहों की संख्या भी अधिक या कम होती है उनका भ्रमण भी बड़ा या छोटा होता है। ये अणु प्राकृतिक शक्ति के असीम भंडार हैं।

एक अणु के भीतर अगर दूसरा अणु ठुंसा जाय तो उसमें भयंकर क्रान्ति होगी। अणुसूर्य फट जायगा और उसके फटने से काफी परिणाम में गर्मी या बिजली पैदा होगी। एक रत्ती भर अणुओं को फाड़ा जाय तो उससे इतनी गर्मी पैदा होगी जितनी कई हजार मन कोयला जलाने से होती है। आज का विज्ञान इस शक्ति का उपयोग करता है, अणु परिवर्तन से वह धातु परिवर्तन करता है। इसलिये अब हमारे सामने न धातुओं की कमी का सवाल है न बिजली की कमी का। हर एक पिंड में जो गुरुत्वाकर्षण है उसीसे इतनी गति और संघर्ष पैदा होता है कि उस शक्ति के शतांश के भी उपयोग करने की हम में योग्यता नहीं है। अब हम असीम समय के लिये इस तरफ से निश्चिन्त हैं।

सुशीला—और इस निश्चिन्तता का श्रेय आपकी और माताजी की तपस्या को है।

साधुजी—ऊँह! इसमें हम लोगों का क्या? समाज ने सुविधाएँ दीं और हमने उनका उपयोग किया।

माताजी का उल्लेख होते ही मैंने पूछा—माताजी कहां हैं?

साधुजी—वे भीतर की प्रयोग शाला में बैठी हुई हैं।

मैंने सुशीला देवीजी से कहा देवीजी! मैं माताजी की चरणरज लेकर जाना चाहता हूं। इसके लिये मुझे कल तक ठहरना पड़े तो भी ठहरना चाहता हूं।

साधुजी—तुम कल तक ठहरो तो यह खुशी की बात होगी। यों तुम चाहो तो तुम्हारी माता जी अभी यहां आ सकती हैं।

मैं—नहीं मैं साधना में अन्तराय नहीं डालना चाहता।

साधुजी ने हँसकर कहा—फिर भी तुम्हें उनकी चरणरज तो न मिलेगी क्योंकि नई दुनिया के साधु साध्वियों को चरणों में रज रखना जरूरी नहीं है।

हम सब हँस पड़े। फिर मैंने कहा—पुरानी दुनिया में तो यह एक मुहावरा है।

साधुजी—पुरानी दुनिया में धूलधू-रित हुए बिना कोई साधु न कहला सकता होगा।

मैं-जी हां! पुरानी दुनिया में साधु का

धूल धूसरित और मैला कुचैला होना जरूरी है। नंगा हो, या लम्बी लम्बी जटाएँ हों, या कपड़ों और शरीर से गंदा हो तब तो साधुता सौपचास गुणी हो जाती है।

साधुजी–समाज की जैसी मांग होती है वैसे ही साधु बनते होते हैं।

मैं–बिलकुल ठीक कहा आपने। पुरानी दुनिया के समाज ने कभी ऐसे वैज्ञानिकों को साधु नहीं माना जिनने मनुष्य को सुखी बनाने के लिये प्रयोग शालाओं में दिन रात तपस्या की, मनुष्य को अमूल्य वरदान दिये और इसके लिये प्राण भी गमाये। उस ने साधु माना उन्हें, जिनने समाज की आँख में धूल झोंकी, ढोंगों से अद्भुत रस पैदा किया, हीनकलाओं से रिझाया। समाज ने वेष देखा अन्धश्रद्धा पूर्ण बातें सुनीं और साधुता का पद दे दिया। जो आदमी मूर्खों को चकमा देकर उन्हें अपनी तरफ खींच सकता है, और आज के कष्टों को भुलाकर अन्याय अत्याचारों पर उपेक्षा कराकर लोगों के दिल पर एक तरह का नशा चढ़ा सकता है वही साधु है महान साधु है। साधु की मुख्य शर्त मुफ्त खोरी, और दूसरों की सेवा के बारे में लापर्वाही है साथ ही उसे दंभी भी होना चाहिये।

साधुजी–पर ये लोग नंगे क्यों होते हैं जटा क्यों रखते हैं ? गंदे क्यों रहते हैं।

मैं–वीतरागता का ढोंग करने के लिये। वे यह बताना चाहते हैं कि हम समाज से एक चिन्दी भी नहीं लेना चाहते हैं। हालांकि चिन्दी के बदले वे तम्बू लेते हैं। ईंधन जलाते हैं, और भी नाना तरह के उपचार करते हैं।

साधुजी--खैर ! अगर तम्बू आदि न लें तो भी वे समाज की कोई बचत नहीं करते। नग्न रहने से शरीर से इतनी गर्मी निकलती है कि उसे पूरा करने के लिये साधारण खुराक से ड्योढ़ी खुराक लेना पड़ती है। खुराक के बढ़े खर्च के आगे कपड़े की बचत का क्या मूल्य है ?

मैं—पर गुरुदेव, पुरानी दुनिया के लोग जानवर हैं जानवर, उन्हें साधुता के हिसाब का रत्तीभर भी ज्ञान नहीं। बस, वे तो इतने में ही उल्लू बन जाते हैं कि देखो तो अमुक साधु कपड़ा भी नहीं रखता, कितना कष्ट उठाता है। शरीर की सफाई की तरफ भी ध्यान नहीं रखता जटाएँ बढ़ गई हैं, दुर्गंध आने लगी है। अगर कोई आसन लगाने में होश्यार हुआ, गवैया नचैया हुआ तब तो उसकी साधुता आसमान छूती है वह भगवान बन जाता है।

सुशीला–लोकहितोपयोगी असाधारण ज्ञान, सेवा, और कर्मठता से क्या कोई मतलब नहीं ?

मैं--नहीं देवीजी, ज्ञान का वहां क्या काम ? हां ! ईश्वर मोक्ष योग परलोक आदि के नाम पर गप्पें हांकना आना चाहिये, नटियों की तरह मुँह फेरकर विरक्ति का ढौंग करते हुए दुनिया को रिझाने की कला आना चाहिये, बस ! हो गई साधुता की सीमा समाप्त। लोकहितोपयोगी ज्ञान से सेवा से या कर्मठता से क्या मतलब ! वहां कर्मठता पाप है हरामखोरी पुण्य है।

सुशीला—देवी मुसकराकर आश्चर्य से मुँह मटकाकर रह गई।

मैंने कहा–आप हँसती क्या हैं देवीजी ! आप अगर पुरानी दुनिया के साधुओं का तागड़-धिन्ना देखेंगी तो क्रोध और ग्लानि से आप का

बुरा हाल हो जायगा और उनके जाल में फँसी हुई दुनिया की हैवानियत देखकर उसके साथ बात करने में भी आपको अपमान मालूम होगा।

साधुजी--सचमुच मनुष्य को बड़ी बुरी परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा है।

सुशीला--हम सब लोग क्या ऐसे ही लोगों की सन्तान हैं गुरुदेव!

साधुजी--एक दिन हमारे पुरखा बन्दर या बंदरों के भाई थे। धीरे धीरे हम इस अवस्था में आ पाये हैं।

सुशीला--तब तो सचमुच पुराने जमाने के गीत गाना एक तरह की मूर्खता ही है।

साधुजी--हां। पुराने जमाने के गीत गाना तो मूर्खता ही है पर जिन लोगों ने उस जमाने में भी मानव समाज को विवेकी, और मानवता का पुजारी बनाने की कोशिश की उनके गीत तो गाना चाहिये।

मैं--उनके व्यक्तित्व और उनकी विश्वहितैषिता के गीत गाये जा सकते हैं पर उनका अन्ध अनुकरण तो नहीं किया जा सकता।

साधुजी--कदापि नहीं। उनके जमाने में उनके कार्य मानवता के पथप्रदर्शक हो सकते हैं पर आज का जमाना उन कार्यों को पीछे छोड़ चुका है। तब उनका अनुकरण कैसे किया जा सकता है?

सुशीला--फिर पुराने महात्माओं के गीत गाने में कोई हर्ज नहीं बल्कि कृतज्ञता की दृष्टि से जरूरी भी है। पर जिन लोगों ने जमाने को आगे नहीं बढ़ाया किन्तु अपनी नाम-बड़ाई पूजा के लिये या दूसरों की कमाई पर मौज उड़ाने के लिये समाज को बहकाया अन्धश्रद्धालु बनाया, कर्मठता को भुलाने के लिये दैववाद की शराब पिलाई उनके नाम पर थूकना भी तो जरूरी हो है। जिस जनता ने सच्चे साधुओं को नहीं पहिचाना, किन्तु ढोंगी वंचक अकर्मण्य वेषधारियों का सन्मान किया उस पर धिक्कार करना भी तो जरूरी है।

इतने में आई माताजी! साधुजी ने उन्हें देखते ही कहा--आइये प्रतिनिजी, आपका एक भक्त यहां बड़ी देर से आपके चरणरज की बाट देख रहा है।

साध्वीजी ने हँसते हँसते कहा--तब मुझे चरणों में रज लगाने के लिये कहीं बाहर जाना पड़ेगा। मकान में जो रज है नहीं।

'मकान में तो क्या आपकी इस नई दुनिया में भी रज नहीं है माताजी, पर पुरानी दुनिया का बुद्दू नई दुनिया की भाषा कहां से लाये' यह कहकर मैंने माताजी के चरणों पर सिर लगाकर बार बार दोनों पैरों का चुम्बन लिया। और चुम्बन लेकर कहा--रज नहीं तो थोड़ा बहुत मैल अब पैरों में आ गया होगा माताजी।

माताजी ने जोर से मेरी पीठ पर दो धप्पे जमाये और इस सौभाग्य से मैं कृतकृत्य हो गया।

यद्यपि माता जी के दर्शन हो चुके थे पर साधु साध्वी जी के आग्रह से हम लोग रात भर वहां ठहरे। और प्रयोगशाला में जब साधु साध्वी जी के प्रयोग देखे तब मैंने पूरी तरह समझा कि दुनिया में सच्चे साधुओं की सेवा क्या रंग ला सकती है।

पुरानी दुनिया में भी वैज्ञानिक हैं पर उन में से अधिकांश राज्याधिकारियों और पूंजीपतियों के गुलाम बनकर मानव जाति के संहार की तैयारी करते रहते हैं वे एक तरह से बुद्धिजीवी कुत्ते हैं।

पर नई दुनिया में साधुता और वैज्ञानिकता का समन्वय हुआ है इसीलिये नई दुनिया नई दुनिया कहलाने लायक बन सकी है।

(१७) वृद्ध नगर में

दूसरे दिन सबेरे साधु साध्वीजी को प्रणाम कर हम लोग बिदा हुए और दुपहर को भोजन के समय तक वृद्ध नगर पहुँच गये। यहां दुमंजिले मकान कम थे पर थे सब पक्के। वृद्धों को चढ़ने उतरने की तकलीफ से बचाने के लिये एक मंजिल के ही मकान बनाये गये थे। यहां एक नई बात देखी। जब से नई दुनिया में आया था किसी घर में नौकर चाकर दिखाई नहीं दिये थे। अस्पताल में जरूर परिचर्या करने वाले थे पर बाहर कहीं नहीं। पर यहां नोकर चाकर थे। वृद्धों की सेवा के लिये चार पांच वृद्धों के पीछे एक नौकर रहता था। सब का खर्च सरकार उठाती थी। वृद्धों को भोजन कराने कपड़े धोने आदि सब तरह की परिचर्या का इन्तजाम था। हजारों वृद्ध-जिनकी उम्र कम से कम ११० वर्ष और अधिक से अधिक २०० वर्ष थी-इस नगर में रहते थे। वृद्धों के सम्बन्धी मिलने के लिये अगर आना चाहें तो एक विशाल अतिथि सदन था। हम लोग इसी अतिथि सदन में ठहरे हुए थे।

मैं ऐसे वृद्धों से मिलना चाहता था जो क्रान्ति के पहिले पैदा हुए थे और जिनने अपनी आंखों से क्रान्ति देखी थी। क्रान्ति के पहिले के जीवन का भी जिन्हें अनुभव था। भोजन करने के बाद हम लोग ऐसे ही लोगों से मिलने में लगे।

१-सब से पहिले हम जिन महाशय के पास पहुँचे वे क्रान्ति के पहिले एक नवाब थे। इन्हीं के बगल के कमरे में एक सज्जन और थे जो क्रान्ति के पहिले एक हिंदू राजा थे। अब वे न हिंदू थे न मुसलमान, आदमी थे। दोनों एक ही भवन में रहते थे। इसके सिवाय उसी भवन में तीन वृद्ध और थे। मैंने राजा और नवाब से निवेदन किया-नई दुनिया और पुरानी दुनिया के बारे में आप से कुछ सुनने की इच्छा है। आप पुरानी दुनिया में सुखी थे या नई दुनिया में?

नवाब हँसे। फिर बोले—सुख भीतर की चीज है और इस दृष्टि से नई दुनिया में जितना सुख हमें मिला उतना पुरानी दुनिया में एक दिन भी नहीं मिला। पुरानी दुनिया में घमंड के सिवाय और कोई सुख नहीं था। मेरे पास पचास बेगमें थीं पर उन मे से कोई भी मुझसे प्यार नहीं करती थी। सब ने प्यार के लिये अलग पात्र चुन लिये थे। मुझे उन पर नजर रखना पड़ती थी। और कभी कभी इतना सन्ताप होता था कि क्या कहूं। सब मेरे दुश्मन थे। एक बेटा दूसरे बेटे को और सब बेटे मुझे मार डालना चाहते थे। क्योंकि मेरी जिन्दगी उनके अधिकार में बाधक थी। बीमारी में मैं अपने को बिलकुल अनाथ अनुभव करता था।

नौकर चाकर बेचारे पूरी तरह आज्ञापालन करते थे फिर भी मुझे दिन रात उन पर चिढ़ पैदा होती थी। मेरा क्रोध गजब का था पर यह तो तुम अच्छी तरह समझ सकते हो कि क्रोध कोई सुख नहीं है।

लाखों आदमियों की कमाई मैं स्वाहा कर जाता था पर लाखों को भूखों मारकर मैं जरा भी सुखी नहीं था। मेरा विलास मेरे दुःख भुलाने का जरिया था।

मैं—पर आप तो मुसलमान थे, इसलाम में तो चार से अधिक पत्नियाँ रखने की मनाई थी। और वह भी उस हालत म जब कि चारों से

एक सा व्यवहार किया जाय। इसके सिवाय इस लाभ में तो अमीर गरीब में ऐसा भेद नहीं है, हजरत मुहम्मद हजरत उमर आदि ने बड़ी सादी जिंदगी बिताई थी।

मेरी बात सुनकर नवाब ने नाक सिकोड़कर कहा—कैसे मुसलमान। जो लोग गरीबों की कमाई मुफ्त में खाते हैं वे न हिंदू होते हैं न मुसलमान। हम लोगों को तो मजहब अपना उल्लू सीधा करने के लिये होता था। मजहब के नाम पर हम लोगों को सिखाते थे कि अल्लाह की मरजी इसी में है कि हम तुम्हारे ऊपर शासन करें। तुम मिहनत करके भूखों मरो और हम हराम में चैन करें यह सब अल्लाह की मर्जी है। इसके लिये हम प्रजा की लूटी हुई संपत्ति से बड़े बड़े अफसर नियुक्त करते थे वे हमारे गीत गाते थे, मौलवियों को वेतन देते थे मसजिद में दान देते थे कभी कभी नमाज पढ़ने चले जाते थे। मजहब का नशा लोगों में चढ़ा रहे इसकी पूरी कोशिश करते थे। प्रजा की लूट का एकाध टुकड़ा धर्मस्थानों में फेंक देने से अल्लाह और ईमान सब कुछ पा जाते थे। नई दुनिया ने हमें सिखाया कि हम कैसे शैतान थे, पर दुनिया को नरक बनाकर और उसे भरपूर लूट कर भी सुखी नहीं थे।

२–राजा साहब ने भी नवाब साहब के वक्तव्य का समर्थन किया। बोले–बिलकुल ठीक कहा नवाब भाई ने। ठीक यही दशा मेरी थी। हम लोग घोर नास्तिक और पापी थे पर धर्मावतार धर्मरक्षक आदि की पदवियाँ लगवाया करते थे। प्रजा को लूटते थे और लूट का पैसा अपने विलास में और प्रजा को भुलाये रखने में खर्च करते थे। हमारे पूर्वजों ने पहिले से ही शास्त्रों में ब्राह्मणों से लिखवा दिया था कि राजा विष्णु का अवतार होता है (नाविष्णुः पृथिवीपतिः)। इस तरह हम लोग विलास के कीड़े, घमंड के पुतले और शैतानियत के अवतार थे पर सुखी न थे। हम लोग चैन से नींद भी न ले पाते थे। जब क्रान्ति हुई तब काफी बुरा लगा लेकिन पांच वर्ष में ही समझ गये कि पहिले की अपेक्षा अब अधिक चैन में हैं।

नई दुनिया में हम लोगों ने लम्बा समय बिताया है। उस समय हमें चैन से नींद आई, स्वास्थ्य खूब अच्छा रहा, सच्चे मित्र और स्नेही मिले स्वतन्त्रता से घूमने मिला। पुरानी दुनिया में हम लोगों को लूटते थे और हमें लूटने के लिये—उल्लू बनाने के लिये—चारों तरफ से चालाक लोग घेरे रहते थे। दिन रात चिन्ता रहती थी सच्चा प्रेमी कोई न था। चापलूस और धोखेबाज हमें घेरे रहते थे। अब हम पूर्ण सन्तुष्ट हैं। नई दुनिया की बदौलत हम इतनी लम्बी आयु भी पा सके हैं।

मुझे उनके वक्तव्य से आश्चर्य और प्रसन्नता हुई। इसके बाद हम घर घर जा कर बारी बारी से अनेक व्यक्तियों से मिले। मैंने देखा काफी संख्या में वहां ऐसे वृद्ध थे जो क्रान्ति के पहिले जवानी देख चुके थे। हमने सभी श्रेणियों के वृद्धों से बातचीत की और सभी ने नई दुनिया की प्रशंसा की और पुरानी दुनिया के दुःख सुनाये।

३–एक सेठ जी थे। बोले–मैं जैन था। लाखों की जायदाद थी मेरी, सट्टा करता था। पर शान्ति उतनी ही थी जितनी लड़ाई में एक सैनिक को मिल सकती है। हर समय यही चिंता थी कि न जाने कहां से आक्रमण हो जाय और मिट जाऊं। आखिर सैकड़ों को मिटा कर मैं बना था उसी तरह मुझे भी कोई मिटा सकता था या मिटा सकते थे इसी कारण मुझे रात रात नींद न आती थी।

मैंने कहा—आप तो अपरिग्रह के गीत गाते होंगे और जिस महात्मा की आप पूजा करते होंगे वे तो बिलकुल निष्परिग्रह और दिगम्बर थे।

सेठ जी—थे और मैं उनके गीत भी गाता था क्योंकि इससे मुझे वाहवाही मिलती थी और मेरा उससे कुछ नुकसान न था। पर एक तरफ लोग दिगम्बरता के गीत गाते थे दूसरी तरफ यह भी कहते थे कि पुण्यात्मा ही सम्पत्ति के स्वामी होते हैं। इसीलिये मैंने सोचा जैसे भी बने संपत्ति इकट्ठी करो और पुण्यात्मा बनो। इस प्रकार मैं पुण्यात्मा बना या कहलाया तब जैसे गुड़ के चारों तरफ बिना बुलाये मक्खियाँ आ जाती हैं उसी तरह पंडितों ने मुझे घेरा। मैंने सोचा इन को टुकड़े डाले बिना गुजर न होगी। मैंने टुकड़े डाले, पंडित मेरे गीत गाने लगे। मुझे इनकी तुच्छता पर मन ही मन हँसना आता था। पर धीरे धीरे मुझे रोना भी आने लगा। मुझे मालूम हुआ कि ये भीतर ही भीतर मुझे उल्लू समझते हैं मन में न मेरा आदर है न मुझसे प्रेम। मुझे बड़ी ग्लानि हुई, पर क्या करता। पंडितों के गीत में मुझे स्वाद न मालूम होता था, और सट्टा युद्ध करते करते थक गया था। इस तरह कुछ दिन बाद मैं ऊब गया। हां! चापलूसी का व्यसन जरूर लग गया था इसलिये ग्लानि होते हुए भी नहीं छूटता था। पर इतने में तो क्रान्ति हुई। मैं घबराया, मैंने क्रान्ति का विरोध किया पर यह तो सूर्य को ऊगता जानकर उल्लू के द्वारा गाली देने के समान था। खैर! क्रान्ति हुई। दो चार वर्ष मुझे बड़ी बेचैनी रही। पर पीछे मैंने समझा कि सच्चा सुख नई दुनिया में ही है। मैं निश्चिन्तता से सोता था। आराम से रहता था। अब मुझे न आत्मवंचना करना पड़ती थी न पर वंचना।

४–एक जमींदार बोले—हम लोग छोटे-मोटे राजा थे। जिस के सिर पर राजा की तरह जनता की सेवा का भार बिलकुल न होता पर अत्याचार और घमंड राजा से ज्यादः होता है। किसानों को मैं खूब चूसता था, उन पर मन-मानी करता था। कानून हमारे पक्ष में था। फिर भी मुझे चैन नहीं थी। दो सशस्त्र जवान जब तक साथ में न हों तब तक घर से बाहर न निकल सकता था। इतने पर भी मेरे पिता का खून किया गया था और बड़े भाई ऐसे घायल हुए थे कि जिन्दगी भर खाट पर पड़े रहे। अगर बीच में क्रान्ति न होती तो मेरी भी किसी दिन यही दशा होती। एक तरफ इतना भयभीत जीवन था दूसरी तरफ जनता को कंगाल बना कर भी हम कंगाल रहते थे। व्यभिचार शराब तथा ऐसे ही कामों में सम्पत्ति और स्वास्थ्य बर-बाद हो जाता था। सन्तान को हम आदमी तो बना ही नहीं सकते थे। सन्तान तो जन्म से उद्दंड अहंकारपूर्ण स्वच्छन्द और विलासी होती थी। भला वह क्या आदमी बन सकती थी। कौटुं-बिक अशान्ति का तो कहना ही क्या है। कभी कभी मुझे लगता था मैं वैभव में नहीं नरक में हूं। सौभाग्य से क्रान्ति हुई, शुरु में तो मुझे उसका तेज सहन न हुआ पर पीछे से वह सह्य हुई। और बाद में मुझे कल्याणकर मालूम हुई।

५–एक थे पंडित जी, बोले—पंडित की जिंदगी का क्या पूछते हो? सोचता हूं पंडितजी से जानवर अच्छा। उसे शारीरिक कष्ट होता है पर मानसिक नहीं। मैं था तो विद्वान, पर ऐसे मूर्ख सेठों के सामने हाथ जोड़ना पड़ते थे, जिनके साथ—अगर उनके पास धन न होता तो—बात करने में भी मुझे अपमान मालूम होता। जानता था—सब ढकोसला है पर समाज को उल्लू बनाने के लिये और उल्लू समाज में सेठ जी

को पुजाने के लिये उनके गीत गाता था। जानता था कि बेईमानी का अजायबघर बनकर सेठजी ने सम्पत्ति जोड़ी है पर उनके फेंके हुए टुकड़ों के लिये कहता था सेठजी पुण्यात्मा हैं। इन्हीं टुकड़ों के कारण सत्य नहीं बोल सकता था। हजारों वर्ष पहिले धर्म के नाम पर जो बातें फैलाई गई थीं उनके खंडित हो जानेपर भी— अहितकर सिद्ध होजानेपर भी उन्हीं से चिपटा रहता था क्योंकि तभी रोटी सुरक्षित रह सकती थी और तभी इज्जत। पर कैसी हरामी जिन्दगी थी! कितनी दीनता, कितनी वंचना, कितना अन्तर्द्वेश सहना पड़ता था मुझे, और इतनेपर भी रोटी की तरफ से निराकुलता नहीं। सच बोलने के लिये छटपटाता था पर नहीं बोल पाता था। सोचता था कहां जाऊं क्या करूं? पर कुछ रास्ता नहीं सूझता था। इतने में क्रांति हुई। पहिले तो मैं घबराया कि अब हमारा क्या होगा? हम तो भूखों मर जायँगे। पर कुछ दिन बाद ही पता लग गया कि नई दुनिया में अगर कोई भूखों मरे तो यह राज्य का बड़ा भारी कलंक कहलायगा। नई दुनिया में मैं बड़े मजे में रहा और एक दार्शनिक के रूप में मैं प्रसिद्ध हुआ। मेरा दर्शन मुर्दों का दर्शन नहीं जिन्दों का दर्शन था।

६—एक सज्जन बोले—मेरे पास हजार एकड़ जमीन थी, पचास बैल थे, पचास साठ नौकर, पर सब चोर ही चोर थे। थोड़ी ही गफलत हुई कि लुटा। आये दिन एक न एक झगड़ा सिर पर सवार रहता था। मुनीम और मैनेजर भी मैंने रक्खे थे पर सब बेईमान महाचोर। दिन रात चिंता और बेचैनी रहती थी। गाली देते देते थक जाता था। और खेती भी बर्बाद होती थी। नई दुनिया आने पर जब मेरी जमीन सार्वजनिक हो गई तब पहिले की अपेक्षा सात आठ गुणा उत्पन्न होने लगा उतनी जमीन में। मैं बेहिसाब जमीन का मालिक बना था। इससे जमीन बर्बाद हो रही थी, मजूर कंगाल बन रहे थे, मैं दिन रात बेचैन रहता था। और लड़के मुफ्तखोर विलासी उद्धत और लापर्वाह हो गये थे। नई दुनिया ने सब का उद्धार कर दिया।

७—मैं साहूकारी करता था, हरामी का धंधा। पर उसमें भी चैन कहां? डूबती रकमों के मारे रात में नींद न आती थी। आये दिन कचहरियों में खड़ा रहना पड़ता था। जिसके साथ सख्ती की कि वह दुश्मन हो गया। इस प्रकार सैकड़ों दुश्मन हो गये थे। भीतर ही भीतर सब मुझे शाप दिया करते थे। नई दुनिया आई तो मैं एक सरकारी बैंक में कार्यकर्ता बन गया। नई दुनिया में जो वैज्ञानिक तरक्की हुई थी उससे जीवन के सुभीते मुझे पहिले से भी अधिक मिले। बस छः घंटे काम करना और बाकी समय मौज करना। न रकम डूबने की चिन्ता, न बुढ़ापे की चिन्ता, न लड़कों के पालन पोषण और बिगड़ने की चिन्ता। बस! आनन्द ही आनन्द हो गया।

८—मैं एक पुलिस का सिपाही था। अफसरों को झुकझुक कर सलाम करने वाला और नागरिकों के सामने ऐंठ कर चलने वाला। सब मुझ से त्रस्त थे पर कोई प्रेम न करता था, न कोई विश्वास करता था। मैं सब की घात में रहता था, सब मेरी घात में रहते थे। क्रान्ति आई, मैंने क्रान्ति का विरोध किया। पुरानी सरकार का, जिसे मैं अब डाकुओं का गिरोह ही कहूंगा, साथ दिया। पर क्रांति तो हुई, मैं बन-

राया पर पीछे मालूम हुआ यह तो स्वर्ग आया है। नई दुनिया में भी मैं सिपाही बना। रहने के लिये अच्छा घर मिला, भरपेट खाने लायक वेतन मिला। अपने बालबच्चों को भी भरपूर शिक्षा देने के साधन मिले और सभी का प्रेम-पात्र और विश्वसनीय बना।

९-हम लोग सैनिक थे, बलिदान के बकरे। खिलापिला कर मोटे ताजे किये जाते थे और शाक भाजी की तरह कटवा दिये जाते थे। जब देखो तब सिर पर मौत सवार, पत्नी की आंखों में आशंका और आंसू। हम लोग कभी तो चिन्तित और दुःखी या कभी शराबी की तरह उन्मत्त असभ्य और लापर्वाह। देश देश में इसी तरह हमारे भाई बन्धु हम से लड़वा दिये जाते थे हम लोगों का जीवन जंगली जानवरों का जीवन था। हमारे पीछे दुनिया की आधी आमदनी बर्बाद होती थी। दूसरे लोग कुछ निर्माण करने के लिये वेतन लेते हैं हम विनाश करने के लिये वेतन लेते थे। लड़ाई में कैसे कैसे सुन्दर शहर और देश बर्बाद कर देते थे किस तरह अरबों रुपयों की लागत के किले की तरह के जहाज समुद्र में डुबा देते थे, किस तरह बच्चों बूढ़ों और और विधायक कार्य करने वाले नागरिकों को मौत के घाट उतार देते थे किस प्रकार खाने की सामग्री बर्बाद कर देते थे, कपड़ों आदि के कारखाने नष्ट कर देते थे, नाश करने के साधन जुटाने के लिये किस प्रकार दिन रात एक कर देते थे इसकी याद आते ही आज रोंगटे खड़े होते हैं। इसलिये नई दुनिया का स्वागत सब से अधिक किया हम लोगों ने। आज दुनिया में कहीं सेनाएँ नहीं हैं कहीं युद्ध नहीं होते, मनुष्य की सारी शक्ति निर्माण के काम में लगी हुई है, और लोगों ने भी बलि के बकरे की मौत से बचकर विधायक कार्य में जिंदगी गुजारी है। यह सब नई दुनिया की बदौलत।

१०-मैं किसान था। चार एकड़ जमीन मेरे पास थी; पन्द्रह बीस एकड जमीन भाड़े से ले लेता था। पर कभी भर पेट रोटी नहीं मिली। मेरे पास इतनी पूंजी न थी कि मैं अच्छा खाद दे सकता; अच्छा बीज ला सकता, जमीन को अच्छी तरह तैयार कर सकता। और अगर कुछ करने की ताकत होती भी तो भाड़े की जमीन को सुधारने से क्या फायदा था। जमीन सुधारते ही जमीन का मालिक किसी दूसरे को जमीन दे देता, मनचाहा भाड़ा मांगने लगता, इसलिये किसी तरह बीज डाल देते और जो मिले उसी से गुजर करता। गुजर क्या थी किसी तरह जिन्दा रहने के लिये घास सरीखा मुट्ठी भर अन्न पेट पानी को दे देता था। सरकार की तरफ से मदद या सलाह तो मिल ही कहां सकती थी। अगर क्रान्ति न होती तो इसी तरह जानवर बन रह कर जिन्दगी पूरी हो गई होती। पर क्रान्ति हो गई। मेरे भाग्य खुल गये। मैंने लम्बी जिंदगी तक भर पेट खाया, अच्छे कपड़े पहिने, बाल-बच्चों को विद्वान होते देखा, श्रीमानों के महल सरीखे मकान में रहा, गांव की पंचायत का सदस्य बना, मेरा पुनर्जन्म हो गया।

११-मैं मजदूर था। आदमी नहीं सिर्फ मशीन का पुर्जा। जिन्दगी का कोई मूल्य न था। मेरी मिहनत की कमाई पूंजीपति खा जाते थे और मुझे नीची नजर से देखते थे। मैं इतने गंदे मकान में रहता था कि श्रीमानों का संडास भी मेरे लिये मंदिर की तरह था। पर क्रांति के

बाद मुझे ऐसा मालूम हुआ कि कारखाना मेरा है मैं उस में साझेदार हूं। इसलिये काम में आनन्द आने लगा उतने ही समय में दूना काम करने लगा। सुन्दर हवादार और आराम देने वाला स्वच्छ मकान रहने को मिला ही, साथ ही मैं पढ़लिख कर होश्यार भी हो गया। दुनिया क्या है राज्य क्या है समाज क्या है सब समझने लगा। किसी को गरीब किये बिना अमीर बना। पुराने जमाने में भी कोई कोई गरीब अमीर बन जाता थ, पर इसके लिये उसे अनेक छलछिद्र करने पड़ते थे चापलूसी और विश्वासघात करना पड़ता था लोगों की बेबसी का लाभ उठाना पड़ता था। इस प्रकार दूसरे की कब्र पर अपना महल बनाना पड़ता था। जब कि नई दुनिया में सामूहिक उन्नति हुई दूसरे को गिराये बिना सब सुखी हुए सब अमीर बने। पहिले तो मैं यही समझता था कि अपन ने पहिले जन्म में पाप किया था सो भोगना पड़ता है पर पीछे समझ में आ गया कि ऐसे सिद्धांतों के प्रचार में उन्हीं श्रीमानो का अधिक हाथ है जो हमें लूटकर मोटे ताजे बन गये हैं, आदमी ही अपनी अन्ध स्वार्थलिप्सा के कारण आदमी का दुर्भाग्य बना हुआ है। मनुष्य चाहे तो प्रयत्न से सब कुछ हो सकता है, और सामूहिक प्रयत्न से और शोषण बन्द कर देने से सभी की उन्नति हो सकती है।

१२—मैं रानी थी। बाहर वालों के लिये बड़े ऊँचे पद पर थी पर थी गुलाम से बदतर। महीनों राजा जी के दर्शन न होते थे फिर भी मेरा शीलभंग न हो जाय इसके लिये चुपचाप पहिरेदार और पहिरेदारिनें नियुक्त थीं। कहने को वे मेरी दासियाँ थीं पर वास्तव में थीं वे मेरे लिये पुलिस। उनकी झूठी रिपोर्ट से भी मेरे प्राण जा सकते थे। राजमहल में मेरे लिये कोई न्याय न था। और थीं चारों तरफ सौतें। क्या बुरी दशा थी! नारी नारी की दुश्मन बन जाती थी। हम सब की सब मर जायँ तो राजा का कोई नुकसान नहीं पर अगर राजा मरे तो हम सब की सब विधवा। रोटियों के लिये भी अपनी दुश्मन के समान किसी सौत के लड़के की कृपापात्र। एक कैकेयी ने आत्मरक्षा के लिये एक राम के साथ अत्याचार किया कि रामायण बन गई और कैकेयी राक्षसी के रूप में चित्रित कर दी गई। पर हजारों वर्षों से कितनी कैकेयियाँ पिसती रही हैं, इसके लिये एक भी दशरथ या एक भी राम को राक्षस नहीं बनना पड़ा। दिन रात होने वाले हजारों लाखों नारियों के इस उत्पीड़न को समाज ने पुरुष का पुण्य या सौभाग्य कहा। नई दुनिया ने मेरा रानीपन छीन लिया और सच्च नागरिक का महान पद दिया। तब मैं सिर उठा कर चल सकी अपने पैरों पर खड़ी हो सकी और सच्चे अधिकार के साथ आदमी की तरह अपना निर्वाह कर सकी।

१३—मैं सेठानी थी। सुन्दर होने से सेठजी का प्रेम भी था मुझ पर, इतने पर भी सेठजी की नाराजी का अर्थ समझती थी मैं। वह प्रेमी का रूठना नहीं होता था पर मालिक की फटकार होती थी। सुन्दर न होती तो सौत तयार थी। जब बहुत दिन तक सन्तान न हुई तो मेरे सामने ही बड़ी धृष्टता के साथ सौत लाने की बात चलने लगी क्योंकि मैं बच्चे पैदा करने की मशीन थी। बच्चा पैदा न हुआ कि मशीन बेकार हुई अब दूसरी मशीन आना ही चाहिये। इस काम में सेठजी ही धृष्ट हो सो बात नहीं,

किंतु मेरी सासू भी धृष्ट थी। एक नारी दूसरी नारी के कष्टों की तरफ से कितनी बेखबर थी, नारी का कितना पतन हुआ था यह देख कर आज भी मुझे आश्चर्य होता है। पर विधाता के विधान की तरह चुपचाप सहन किये बिना गुजर नहीं थी। करती भी क्या? मेरे हाथ में था क्या? कमा कर कुछ खा नहीं सकती थी एक मजदूरिन के बराबर भी न कमा सकती थी। मेरी या मुझ सरीखी सेठानियों की इस विवशता का पूरा उपयोग कौटुम्बिक और सामाजिक वातावरण में होता था? धर्मशास्त्र सिखाते थे कि पति परमेश्वर है पर पत्नी वास्तव में पत्नी नहीं है वह परमेश्वरी नहीं है दासी है। और धर्मशास्त्र यह न सिखाते तो भी समाज में नारी की स्थिति ही ऐसी ही विकट थी कि पति को परमेश्वर माने बिना उसकी गुजर ही नहीं थी। प्रेम से परमेश्वर नहीं, किन्तु विवशता से परमेश्वर मैं सुन्दर थी इसलिये कभी कभी मुझे ऐसा मालूम होता था कि मैं रूपाजीवा हूं। रूप ही मेरी जीविका है। रूपाजीवा वेश्या को कहते हैं पर जहां तक रूप और जीविका का सवाल है प्रायः सभी स्त्रियाँ—खास कर रानियाँ सेठानियाँ आदि—रूपाजीवा थीं। कवियों ने साफ शब्दों में कह दिया था कि 'सौन्दर्यधनाः स्त्रियः' अर्थात् स्त्रियों का धन सौंदर्य है। बस! सौंदर्य बेचा करें और खाया करें। यह तो थी मेरी मानसिक दुनिया। शारीरिक दुनिया यह थी कि बारह महिना एक न एक बीमारी की शिकार। मुझ से किसी को यह पूछने की जरूरत न थी कि, तबियत कैसी है सिर्फ यही पूछने की जरूरत थी कि आज कल कौनसी बीमारी चल रही है? आखिर मैं सेठानी थी, खुली हवा में जी नहीं सकती थी, और बहुत दिन के आलसी जीवन से हाथों में काम करने की ताकत भी नहीं थी। फिर स्वास्थ्य कहां से रहता। मैं सेठानी थी इसलिये हर हालत में किसी न किसी के पल्ले बँधी रह सकती थी पर स्वास्थ्य तो सेठानी नहीं था जो हर हालत में मेरे शरीर के पल्ले पड़ा रहता।

फिर भी जब क्रान्ति हुई तब मैं घबराई। और इसमें सन्देह नहीं कि एक दो वर्ष मुझे काफी कष्ट मालूम हुआ। लेकिन बाद में मैंने गौरव और स्वास्थ्य का अनुभव किया। मैं दासी से पत्नी बनी। बीमारियाँ भागीं, मैं खुली हवा में खुले वातावरण में पहुंची। मैंने देखा है अपनी सखियों को। पहिले वे इस बात से चिन्तित रहती थीं कि सन्तान न होगी तो सौत आ जायगी या बुढ़ापे में कौन सहारा देगा, पर नई दुनिया में उनको इसकी जरा भी चिन्ता न रही। कुछ दिन बाद ही मैंने समझ लिया कि सेठानी की लाश जल गई और उसके स्थान पर जीवित नारीत्व आ गया।

१४—मैं थी एक मजदूरिन। आठ नव घंटे मजदूरी करती थी, इसके सिवाय घर पर रोटी बनाना बर्तन मलना कपड़े धोना साफ-सफाई करना तथा बच्चे का लालन पालन करना। तब कहीं चिथड़े पहिनने को और घास सरीखे टिक्कड़ खाने को मिलते थे। सोचती—अगर गाय होती तो कितना अच्छा था। दूध देती और घास चरती। अगर बैल भी होती तो भी अच्छी रहती। दिन में सात आठ घंटे जोती जाती पर रातभर तो आराम में रहती। सचमुच ऐसा ही जीवन था मेरा, जिसे पशुओं से भी ईर्ष्या होती

थी। पर क्रांति होने पर नये संसार में तो मैं रानी हो गई। सिर्फ साढ़े छः घंटा काम करना पड़ता था। रोटी बनी बनाई मिलती थी, रहने को महल सरीखा मकान था। किसी को हुजूर या सरकार कहने की जरूरत नहीं थी। किसी सेठानी के वस्त्रभूषण देखकर न अपना जी जलाना पड़ता था न अपने भाग्य पर रोना पड़ता था। मेरे कपड़े साफ थे। कामपर जाते समय बच्चों को लालन पालन के लिये धाय थीं उनके शिक्षण का प्रबन्ध था। मैं पढलिखकर होश्यार बन गई थी, गांव की पंचायत में जाकर बोलती थी। इस गौरव की तो पुरानी दुनिया में मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थी। नई दुनिया ने मुझे क्या दिया इसके उत्तर में यही कहती हूं कि नई दुनिया ने मुझे क्या नहीं दिया!

१५– मैं वेश्या थी। समाज के अत्याचारों की शिकार। यों मैं बड़े घर की पुत्री थी और बड़े घर की वधू भी। पर विधवा हो जाने पर देवर ने प्रेम में फसाया। और जब गर्भ रह गया तब व्यभिचारिणी कहकर घर से निकाल दिया। इस प्रकार मेरा सौन्दर्य भी लुटा और जिन्दगी भर के बोझ से छुट्टी भी पाई, साथ ही मेरे पास जो कुछ थोड़ा बहुत धन था वह भी हथया लिया। बस, अब सौन्दर्य ही मेरा धन था इसलिये गुंडों तथा नराधमों को वही बेचकर पेट पालने लगी। कवियों ने वेश्या का नाम विलासिनी भी रक्खा है। पर वह रे विलास! जानवरों को रोज के रोज शरीर बेचना भी विलास है! ये कवि वेश्या होते तो जानते कि वेश्या–वृत्ति का विलास क्या चीज है? पर यह नरक भी कहां सुरक्षित था। रात के चौथे पहर जब गुंडों से छुट्टी पाती थी तब एक भयंकर चिन्ता सवार हो जाती थी। सोचती थी–ये तो चार दिन की जवानी के दिन हैं, पर जवानी निकल जाने ही बाद? बस! सोचते ही चक्कर आ जाता था। समाज के ही पाप से समाज से तिरस्कृत और वेदनाओं से भरा हुआ यह नारकी जीवन, और वह भी सुरक्षित नहीं। अन्त में बीमारियों का घर यह शरीर भीख मांगता हुआ किसी गली-कूचे में प्राण छोड़ेगा? अगर क्रान्ति न हुई होती तो मेरी यही दशा होती। पर क्रान्ति होते ही मुझे वेश्या जीवन से छुट्टी मिली, समाज में सन्मान मिला, और बुढ़ापे में यह वृद्ध नगर का स्वर्ग मिला।

१६–मैं सिनेमा की अभिनेत्री थी। खूब पैसा मिलता था और नाम भी चमकता था। पर थी विलास की पुतली। आमदनी से खर्च बढ़ने की जब चाहे नौबत आती थी। और प्रसिद्धि बनाये रखने के लिये सिनेमा मालिकों और संचालकों की सब इच्छाएँ पूरी करना पड़ती थीं। नाम और आमदनी होने पर भी भविष्य अन्धकारमय था। जानती थी, जवानी निकल जाने पर मालिकों के द्वारा उसी तरह फेंक दी जाऊंगी जिस तरह गन्ने का रस चूस लेने पर लोग छूंछ फेंक देते हैं। कितने प्रशंसक थे मेरे पर प्रेमी एक भी नहीं।

पर नई दुनिया में मैं भविष्य की चिन्ताओं से मुक्त हुई, अब किसी मालिक की वासना का शिकार होने का सवाल न रहा।

१७–मैं साध्वी थी। विधवा हो जाने के बाद जब जीवन में कुछ रस न रहा तब साध्वी बन गई। पर व्यर्थ। लोगों को ठगने के सिवाय किसी काम की नहीं। कहने को साधु जगत् दुनिया से अलग कहलाता था पर सच बात तो

यह है कि वह और भी गंदा संसार बन जाता था। जब क्रान्ति हुई तब हम लोगों ने सोचा अब प्रतिष्ठा न रहेगी न मुफ्त की रोटियाँ खाने को मिलेंगी। कुछ सच्चे साधुओं ने कहा—हमें क्रान्ति का स्वागत करना चाहिये। लोकहित के लिये ही हमारी साधुता थी, पर जब क्रान्ति से इतना लोकहित हो रहा है कि कोरे उपदेशों से हम अनेक जन्मों में भी नहीं कर सकते तब क्यों न हम क्रान्ति का स्वागत करें। अब हम वेषधारी नहीं किन्तु सच्चे साधु बनेंगे। मुझे यह बात जची और क्रान्ति का स्वागत किया। इसके बाद मैंने शिक्षण द्वारा समाज की काफी सेवा की। अब मुझे मुफ्तखोर कहने वाला कोई न रहा। और व्यर्थ के कष्ट और आडम्बर से भी बची।

इस प्रकार मैं जिन जिन लोगों से मिला सभी सभी ने नये संसार की तारीफ की। वृद्धनगर में आकर मैंने नये संसार का महत्व और अच्छी तरह से समझा।

(१८) विश्व भ्रमण

वृद्ध नगर तक श्री सुशीला देवी श्री प्रसन्न कुमार जी आदि साथ थे। अब मैंने यहीं उनसे विदा ली। मैंने साश्रु नयनों से गद्गद स्वर में कहा—आप लोगों के यहां मैं इस प्रकार रहा कि मैं पुरानी दुनिया में श्रीमान होता तो भी इतना आराम और इतना प्रेम घर में भी न पाता। आप लोगों से विदा लेते हुए मुझे जो वेदना हो रही है उसे मैं ही समझता हूं।

सुशीला देवी और प्रसन्नकुमार जी की आंखों में भी आंसू आ गये। इतने दिनों की सेवा और खर्च के बदले उनने कुछ भी न लिया। बल्कि जब मैं देने लगा तो झिड़क दिया। खैर! उन से विदा लेकर मैंने विश्व भ्रमण किया।

देखा दुनिया का कायापलट हो गई है। आस्ट्रेलिया में करीब चालीस करोड़ आदमी बस गये हैं। वहां चीन जापान हिन्दुस्तान ब्रह्मदेश स्याम जावा सुमात्रा आदि के बहुत से निवासी रहने लगे हैं आफ्रिका की जातियाँ भी वहां पहुँची हैं। गोरी जातियाँ तो पहिले थी ही अब और पहुंच गई हैं। पर जातिभेद कहीं नहीं है। सब में परस्पर विवाह सम्बन्ध होता है। वही मानव भाषा यहां भी बोली जाती है जो हिन्दुस्तान में बोली जाती है। अब सारे संसार की एक ही भाषा है और एक ही लिपि।

आफ्रिका में जब पहुंचा तो एक तरफ जहां वहां के बड़े बड़े जंगल साफ हो गये थे वहां सहारा के मरुस्थल का कहीं पता न था। वहां अच्छे अच्छे शहर बस गये थे। सड़कें थीं। चारों तरफ हरियाली थी। सारा आफ्रिका आज एक राष्ट्र था। एक ही जाति एक ही भाषा। दक्षिण आफ्रिका और उत्तर आफ्रिका की पोशाक में कुछ फर्क जरूर था क्योंकि उन स्थानों के जलवायु में थोड़ा अन्तर था। पर पोशाक सुविधा के विचार से थी।

वहां से अरब आया। अरब का मरुस्थल भी अब समाप्त हो गया था वहां भी स्त्रियाँ पुरुषों के समकक्ष थीं। वही मानव धर्म मानव भाषा मानव लिपि यहां भी थी।

अरब से तुर्किस्तान और ईराक होता हुआ ईरान, आया अन्य देशों की तरह यहां भी कायापलट हो गई थी। यहां से रूस में घुसा। रूस की सीमा में घुसते ही मेरी आंखें भर आईं और मैंने भक्ति से गद्गद होकर रूस को प्रणाम किया।

यह वही देश है जिस ने सब से पहिले मानवता की ज्योति जगाई थी और दुनिया को बतलाया था कि साम्राज्यवाद और पूंजीवाद को हटा देने से और मनुष्यमात्र में एक कौटुम्बिकता और एक जातीयता का भाव ला देने से किस प्रकार इसी दुनिया को कल्पित स्वर्ग से भी महान बनाया जा सकता है। जब अन्य देशों में वही पुरानी जंगली दुनिया थी तभी रूस ने नई दुनिया को अपनाया था। उस समय शिक्षण का विकास जल्दी हो इसलिये रूस ने हर एक प्रान्तीय भाषा का अधिक से अधिक प्रचार किया था, पर धीरे धीरे वे सब भाषाएँ अजायबघर की चीज हो गईं। अब तो वही मानव भाषा यहां भी चलती है जो पृथ्वी के सब राष्ट्रों ने मिलकर बनाई है, जिसे मैं हिन्दुस्तान आस्ट्रेलिया आफ्रिका आदि में सुनता बोलता आया हूं।

रूस की वन्दना कर मैं यूरोप में घुसा। अब रूस को छोड़ बाकी यूरोप का एक ही देश है। जर्मनी, इटली, बल्कान, फ्रान्स, स्पेन, पोर्तगाल, इंग्लैण्ड, बेल्जियम, स्वीडन नोर्वे का दक्षिणी बहुभाग आदि का एक ही देश राष्ट्र है। फिनलेंड पोलेण्ड रूस में शामिल हैं। इस्टोनिया आदि छोटे छोटे देश तो कभी के रूस में शामिल हैं। पेरिस यूरोप की राजधानी है।

एक जाति, एक भाषा आदि हो जाने से और राष्ट्रीयता की संकुचित भावना नष्ट हो जाने से, तथा व्यक्ति व्यक्ति में, वर्ग वर्ग में, शहर गांव में, प्रान्त प्रान्त में देश देश में, शोषक शोषित सम्बन्ध न होने से अब इस बात का किसी को खयाल नहीं आता कि हमारी राष्ट्रीय सीमा क्या है और हमें किन में मिलना चाहिये किन में नहीं। अब यूरोपियन देशों के साम्राज्य कहीं नहीं हैं। पर फिर भी ये पहिले की अपेक्षा अधिक समृद्ध सुखी हैं। इंग्लेण्ड, जो एकदिन हिंदुस्तान आदि को लूट लूट कर मोटा कहलाता था आज उससे भी अधिक मोटा समृद्ध और सुखी है यद्यपि अब इंग्लेण्ड यूरोप का सिर्फ एक प्रान्त है और उसका राज्य और कहीं नहीं है। अब वहां के बच्चों को कठिन भाषा के साथ स्पेलिंग रटने की बेवकूफी नहीं करना पड़ती। मानव भाषा ही अब सारे यूरोप की भाषा है।

इंग्लण्ड से मैं संयुक्त राज्य अमेरिका पहुंचा। अब वह संयुक्तराज्य नहीं रहा किन्तु सारे उत्तर अमेरिका का एक राज्य हो गया है। संयुक्तराज्य में कनाडा अलास्का और मेक्सिको भी शामिल हो गये हैं। और सब का एक राष्ट्र बन गया है। दक्षिण में इसकी हद पनामा नहर है। पनामा के दक्षिण में दक्षिण अमेरिका है ब्राजिल, अर्जेंटाइना, पेरू, चिली, कोलंबिया आदि सभी छोटे छोटे राष्ट्र मिलकर एक हो गये हैं। अमेरिका में न अब कहीं इंग्लेण्ड का प्रभाव है न स्पेन का। और न पुराना संयुक्तराज्य दक्षिण अमेरिका पर आर्थिक वर्चस्व भोग रहा है। सब जगह वही मानव भाषा मानव लिपि का राज्य है।

अमेरिका से मैं जापान आया। अब यह पहिले से अधिक समृद्ध हो गया है। अब यहां बार बार भूकम्प नहीं होते इसलिये लकड़ी के मकानों की अपेक्षा चूना सिमिंट के बड़े बड़े मकान ज्यादः बने गये हैं। जापान अब चीन का प्रान्त है।

कोरिया भी चीन का प्रान्त है पर अब जापान या कोई दूसरा उसका शोषण नहीं करता। उधर से चीन में आया। सारा चीन खूब समृद्ध हो गया है। एक दिन चीन की बड़ी

दुर्दशा थी कि जापान सरीखा एक छोटा सा बच्चा उसे पददलित करके लूट खसौट डालता था। अब चीन प्रशान्तमहासागर के द्वीपों के साथ समृद्ध एक देश है। पुरानी चित्रलिपि सरीखी लिपि उठ गई है वहां मानव भाषा और और मानवलिपि है।

चीन से निकल कर मैं सैबेरिया में घुसा। पहिले सैबेरिया के दक्षिणी भाग में पूर्व से पश्चिम तक रेलगाड़ी दौड़ती थी पर अब सैबेरिया पहिले से कई गुणा आबाद हो गया है। बेरिंग के किनारे से लेकर लेलिन नगर तक उत्तर सैबेरिया में भी पूर्व से पश्चिम तक बड़ी रेलवे लाइन है। और उत्तर दक्षिण की इन दोनों लाइनों को मिलानेवाली अनेक शाखारेलें हैं। अब आर्किटिक महासागर के किनारे भी घनी बस्तियाँ हैं और बिजली ने हिमपात पर विजय पाई है।

सायबेरिया से मैं फिर रूस में घुसा। मानवता के इस महान तीर्थस्थान में दूसरी बार अपने को पाकर मैंने अपने को अधिक पवित्र समझा। उधर से मैं दक्षिण की ओर आया। आमू नदी पारकर अफगानिस्तान में आया। अब अफगानिस्तान हिन्दुस्तान का ही प्रान्त है हिन्दूकुश अब हिन्दुस्तान की सीमा बन गया है अफगानिस्तान के जंगलों में अब रेलें दौड़ती हैं। हिन्दूकुश को रेल द्वारा जब पार किया तब हर्ष के मारे मेरी आंखों में आंसू आ गये।

मैंने देखा कि पृथ्वी में सब जगह यातायात की इतनी सुविधाएँ हो गई हैं कि बिना किसी अड़चन के किसी भी मार्ग से सब जगह जाया जा सकता है। एशिया यूरोप अमेरिका आफ्रिका और आष्ट्रेलिया तक रेल से मिले हुए हैं। बीच बीच में जहां थोड़ा सा समुद्र आ जाता है वहां रेल गाड़ी को जहाज में बिठला दिया जाता है। हवाई जहाज की यात्रा रेल की तरह ही आराम की हो गई है बड़े बड़े अभंकष पहाड़ अब आदमियों की चहल पहल के केन्द्र बने हुए हैं। हिमालय के जिस गौरीशंकर शिखर का मनुष्य कभी नहीं छू सका था, और जिस पर पहुंचने के लिये सैकड़ों मनुष्योंने प्राण गमाये थे उस शिखर पर अब हवाई जहाज का स्टेशन है, मुसाफिरखाना और भोजनालय है। अब सैकड़ों आदमी वहां चहलकदमी के लिये प्रति दिन आते हैं प्राणवायु की कमी की अब इतनी तकलीफ नहीं होती। मैं भी वहां पहुंचा और एक बार चारों तरफ नजर डालकर नये संसार को प्रणाम किया।

(१९) नये संसार की शासन प्रणाली

नये संसार को सारे संसार का एक राज्य कहना चाहिये। क्योंकि सारे संसार की एक भाषा है एक लिपि है सब में परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध है, हर एक आदमी इच्छानुसार या सुविधानुसार जहां चाहे बस सकता है और सारे संसार का एक संघ है। आने जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता है, आयात निर्यात पर कोई टैक्स नहीं है एक ही सिक्का सारे संसार में चल सकता है। शासन विभाग की सुविधा के लिये अलग अलग केन्द्र जरूर हैं पर अन्त में सारे संसार का एक राष्ट्र संघ है। इस प्रकार सारा संसार एक राष्ट्र है।

इस विश्व राष्ट्र शासन की इकाई है ग्राम पंचायत। ग्राम पंचायत में जन संख्या के अनुसार दस से पंद्रह सदस्य होते हैं जिसे गांव का हर एक आदमी चुनता है। सोलह वर्ष से ऊपर के हर एक व्यक्ति को चाहे वह स्त्री हो या पुरुष मत देने का

अधिकार है। चुनाव के लिये कोई आदमी खुद खड़ा नहीं हो सकता, कम से कम पचास आदमी अपने हस्ताक्षरों से किसी आदमी को उम्मेदवार खड़ा करते हैं। जो आदमी उम्मेदवार खड़ा किया जाता है उसे मतदाताओं की संख्या की अपेक्षा आधे मत तो मिलना ही चाहिये। अगर प्रतिस्पर्द्धा में कोई दूसरा आदमी न खड़ा किया गया हो तो भी उसे आधे मत तो मिलना ही चाहिये।

अधिकतर होता यह है कि शाम-सबेरे रंगभवन की चहल पहल में इस बात का निर्णय हो जाता है कि गांव के किस विभाग से किस आदमी को चुनना चाहिये। इसका यह मतलब नहीं है कि जो जिस विभाग से चुना जाय वह उसी विभाग में रहनेवाला भी हो। गांव के किसी भी भाग में रहने वाला किसी भी विभाग से चुना जासकता है। इस अनियमित निर्णय होने के बाद उम्मेदवार खड़ा करने के लिये मुहल्ले-मुहल्ले में छोटी-छोटी सभाएँ होती हैं और उसमें उम्मेदवार से कहा जाता है कि हम तुम्हें चुनाव के लिये खड़ा करते हैं।

उम्मेदवार नम्रता के साथ कहता है कि मेरी समझ में अमुक श्रीमान या श्रीमतीजी को खड़ा करना चाहिये यद्यपि मैं आप लोगों की आज्ञा के बाहर नहीं हूं फिर भी आप लोग फिर भी विचार करें। इस प्रकार उम्मेदवार से अनुमति लेकर उसे खड़ा किया जाता है और गुप्त मतदान पद्धति से उसे चुन लिया जाता है। सौ में एकाध ऐसी भी घटना होती है कि जब एक ही जगह के लिये दो उम्मेदवार होते हैं। ऐसी हालत में उम्मेदवारों की तरफ से कोई कोशिश नहीं की जाती। चुनाव में किसी को कुछ खर्च नहीं करना पड़ता। नई दुनिया के मतदाताओं को एक तो कोई फुसला नहीं सकता दूसरे इस प्रकार का प्रयत्न अक्षन्तव्य अपराध समझा जाता है।

जब चुनाव होजाता है तब चुनी हुई पंचायत खासखास काम करने वालों को नियुक्त करती है। इस नियुक्ति में पंचायत से बाहर के लोग भी आसकते हैं इसलिये होता यह है कि प्रायः बाहर के लोग ही ज्यादः नियुक्त होते हैं। पंचायत के कार्य गुप्त नहीं होते। दर्शक के रूप में कोई मतदाता वहां हाजिर रह सकता है और पूछ-ताछ भी कर सकता है। और मतदाता लोग अपने प्रतिनिधि को वापिस भी ले सकते हैं।

पंचायत को गांव का हिसाब किताब, नफा-नुकसान आदि सब बातों का प्रबन्ध करना पड़ता है। साधारण झगड़ों का निबटारा भी वही करती है। इसके अतिरिक्त वाचनालय शिक्षण-संस्था सफाई आदि का भी प्रबन्ध वही करती है।

ग्राम पंचायत के ऊपर जिला पंचायत होती है। जिलेभर के बालिग व्यक्ति इसका चुनाव करते हैं।

इसीप्रकार प्रान्त पंचायत का चुनाव भी प्रान्तभर के बालिग मताधिकार से होता है।

पर राष्ट्र पंचायत का चुनाव सीधा नहीं होता वह प्रान्तपंचायतों से होता है। और राष्ट्र-पंचायतें मिलकर विश्वसंघ का निर्माण करतीं हैं।

विश्वसंघ के कार्य में विश्व न्यायालय, अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस, अन्तर्राष्ट्रीय यातायात, सब समुद्री स्टेशनों का प्रबन्ध, सोना, चांदी लोहा कोयला तेल आदि की खदानों का प्रबन्ध, अन्तर्राष्ट्रीय लेनदेन आदि हैं।

राष्ट्रीय पंचायत के हाथ में राष्ट्रीय न्यायालय, राष्ट्रीय पुलिस, अन्तर्प्रान्तीय यातायात और लेनदेन, आदि है।

प्रान्तीय पंचायत में प्रान्त से सम्बन्ध रखने वाले सब विषय हैं। इसी प्रकार जिला पंचायत में जिले से सम्बन्ध रखनेवाले।

कहीं पर दैवकोप से उपज कम हो तो उसका समीकरण किया जाता है। एक गांव के घाटे को दूसरे गांव, एक जिले के घाटे को दूसरे जिले, एक प्रान्त के घाटे को दूसरे प्रान्त, और एक राष्ट्र के घाटे को दूसरे राष्ट्र या विश्वसंघ पूरा करता है।

अगर किसी प्रदेश की उपज से जनसंख्या का अच्छी तरह निर्वाह नहीं होता तो उधर के आदमी दूसरी जगह बसाकर समीकरण कर लिया जाता है। किसी में भी जातीय या राष्ट्रीय भेद-भावना न होने से इसमें कोई अड़चन नहीं होती।

इस प्रकार राज्य पूरी तरह सेवक संस्था बन गया है। उसकी भयंकरता नष्ट हो चुकी है। हर एक आदमी की आवाज का मूल्य है। दुरभिमान और रूढ़िप्रियता न होने से हर तरह के सुधार तुरन्त किये जाते हैं।

(२०) क्या क्या गया

नये संसार में करीब पचास हजार मीलकी यात्रा मैंने की और प्रायः सभी देश मैंने देखे पर निम्न लिखित चीजें कहीं न दिखाई दीं।

१—सेना—विश्व का एक संघ बन जाने से तथा शोषण न रहने से अब युद्ध होते ही नहीं इसलिये किसी राष्ट्र के पास सेना नहीं है। सैनिक शब्द एक गाली हो गया है और यह गाली उन्हें दी जाती है जो न्याय के आगे झुकने में आनाकानी करते हैं या अपनी शारीरिक ताकत का थोड़ा बहुत अभिमान प्रदर्शित करते हैं। यद्यपि इतनी कठोर गाली देने का मौका बहुत कम आता है।

२—भिखारी—सब को काम देना समाज या सरकार का काम है, साधुओं का इन्तजाम भी सरकार करती है इसलिये किसी को भीख नहीं मांगना पड़ती। अनाथ बालकों वृद्धों आदि का पालन पोषण भी सरकार करती है। विशेष बीमार और पागल आदि को खिलाने की जिम्मेदारी भी सरकार पर है इसलिये उन्हें भी भीख मांगने की जरूरत नहीं है। हालांकि पागल आदि कहीं दिखते नहीं हैं।

३—बादशाह राजा नवाब अधिनायक—शुद्ध प्रजातन्त्र होने से इनकी जरूरत ही नहीं है।

४—जमीदार अमीर गरीब—शोषण न होने से ये भी नहीं रहे हैं। हां! सब सुखी हैं और समृद्ध हैं इसलिये सब को अमीर जरूर कह सकते हैं पर यह तो सारे नये संसार की अमीरी हुई, व्यक्ति विशेष की नहीं।

५—जातिभेद—सब की एक ही मनुष्य जाति है। अब भोजन और विवाह सब का सब जगह हो सकता है। पुरानी जाति पांति अब निर्मूल हो गई है। अछूत वगैरह का अब कहीं पता भी नहीं है।

६—धर्मभेद—अब सत्य ही सब का धर्म है। हिन्दू धर्म, इसलाम, ईसाई धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म आदि धर्म या सम्प्रदाय अब नहीं हैं।

७—खूनी—आर्थिक कारणों से तो खून होते ही नहीं, किन्तु अहंकार आदि भी अब इतनी मात्रा में नहीं हैं कि उनसे खून की नौबत आ जाय।

८–चोर–गरीबी न होने तथा नैतिक संस्कार वातावरण के कण कण में भरे होने से मामूली चोर भी नहीं हैं। और सिर्फ धनचोर ही नहीं, किन्तु नामचोर भी नहीं है।

९–ऋणग्रस्त, साहूकार–पूंजीवाद के अभाव से अब साहुकारी धंधा गैरकानूनी हो गया है। और आमदनी से अधिक खर्च करने की मनाई है इसलिये कोई ऋणग्रस्त नहीं हैं। विशेष आवश्यकता पर सरकार मदद करती ही है।

१०–अपढ़–शिक्षा अनिवार्य है इसलिये छोटे बच्चों को छोड़ कर और कोई अपढ़ नहीं है।

११–बेकार–सब को योग्यतानुसार काम दिया जाता है और उसके योग्य वेतन, तब बेकार कौन रह सकता है? अब किसी को जवानी के प्रारम्भ में जीविका के लिये चिन्तित नहीं रहना पड़ता न दर दर भटकना पड़ता है।

१२–कायर–अपने कर्तव्य को पूरा करने में कोई मरते दम तक पीछे नहीं हटता।

१३–लांच रिश्वत–पहिले तो जनता ही इतनी सजग और अपने अधिकारों को जानने वाली और दूसरों की सुविधा छीनने को पाप समझने वाली है इसलिये वह किसी को लांचरिश्वत दे नहीं सकती, फिर सरकारी नौकर भी इतने नीच प्रकृति के नहीं होते कि रिश्वत की परिस्थिति पैदा करें और रिश्वत लें, अगर ऐसी घटना हो जाय तो किसी भी आदमी की शिकायत पर ऊंचे से ऊंचे दर्जे के अधिकारी को ध्यान देना पड़ता है। अगर रिश्वत की छोटीसी भी घटना हो जाय तो सारी प्रजा में खलबली मच जाय, और लांच लेने वाले को लज्जा के मारे जिन्दा रहना तक मुश्किल हो जाय। इसलिये लांचरिश्वत या इसी रूप में दिये गये इनाम आदि कोई नहीं लेता।

१४–व्यभिचार–वैवाहिक स्वतन्त्रता सुविधा पूरी है इसलिये व्यभिचार का कोई कारण नहीं।

१५–वेश्या–न स्त्रियों पर सामाजिक अत्याचार होते हैं न उन्हें जीविका की कमी है इसलिये वेश्या की गंदी प्रथा है ही नहीं।

१६–बलात्कार–नारी न तो अब कमजोर है और न पुरुष में ऐसी शैतानियत है कि बलात्कार की घटनाएँ हो सकें।

१७–अकाल–यातायात के साधन इतने बढ़ गये हैं और विश्वमात्र में भाईचारा इतना बढ़ गया है कि एक जगह के संकट को दूर करने के लिये सारा संसार सहायता को दौड़ पड़ता है। इसके सिवाय प्रकृति पर इतनी विजय भी पाली गई है कि अकाल पड़ने नहीं पाते।

१८–अनाथ–अकाल मृत्युओं के न होने और बाल वृद्धों के पालन पोषण की जिम्मेदारी सरकार के हाथ में होने से कोई अनाथ नहीं होता।

१९–विशेष रोगी–खानपान संयम, वंशपरम्परा से आई हुई बीमारियों का उन्मूलन, तथा चिकित्सा शास्त्र का असाधारण विकास हो जाने से कुष्ट, हिस्टीरिया, क्षय आदि बीमारियाँ होतीं ही नहीं।

२० मांस भक्षण–संसार में अन्न की बहुतायत होने से तथा मनुष्य का हृदय दयालु होजाने से, मांस भक्षण कोई नहीं करता। यहां तक कि अब पशुवध भी कोई नहीं करता। अनावश्यक और घातक पशु पक्षी अब कहीं रह भी नहीं गये हैं।

२१–धूमपान–बीड़ी सिगरेट अब कोई नहीं

पीता, इससे स्वास्थ्य नाश भी होता है, हवा बिगड़ने से या तमाखु के धुएँ से दूसरों को कष्ट भी होता है इसलिये यह पाप और असभ्यता कोई नहीं करता।

२२ मद्यपान-दवाई के सिवाय अब मद्य का उपयोग कोई नहीं करता।

२३-जुवाड़ी-जूआ कोई नहीं खेलता।

२४-दंभी साधु-समाज के विवेक पूर्ण होने से तथा अन्याय आदि की मनोवृत्ति न रहने से एक तो साधुओं की आवश्यकता नहीं के बराबर रह गई है और जो थोड़ी बहुत आवश्यकता है उसकी पूर्ति खास खास ज्ञानी और सेवक व्यक्ति करते हैं, पर उन्हें जीविका या मानप्रतिष्ठा की पर्वाह नहीं होती इसलिये उन्हें दम्भ की जरूरत भी नहीं पड़ती।

२५-गुंडा-नये संसार वालों को इस शब्द का अर्थ समझना भी कठिन है।

२६-घूंघट पर्दा-नारी हर बात में पुरुष के समकक्ष है इसलिये इस पागलपन और इस कायरता की कल्पना भी नये संसार में कोई व्यक्ति नहीं कर सकता।

२७ कृतघ्न-लोग हर एक के उपकार को बड़े ध्यान से याद रखते हैं और कृतज्ञ बनने में अपना गौरव समझते हैं।

२८ घातक जीवजन्तु-शेर बाघ सांप बिच्छू छिपकली, शूकर, हरिण, गीदड़, भेड़िया, खटमल मच्छर, टिड्डी आदि जीव जन्तु अब कहीं नहीं हैं। हां अजायब घर में जानकारी के लिये रक्खे गये हैं।

इस प्रकार पुरानी दुनिया से बहुतसी खराब चीजें निर्मूल हो गई हैं। हां! पुरानी दुनिया के चित्रण में ये चीजें सिनेमा या नाटकों में दिखाई देती हैं फिर भी बहुत सी चीजें इस रूप में भी दिखाई नहीं जातीं।

२१-क्या क्या घटा

नये संसार में बहुत-सी बुराइयाँ निर्मूल ही हो गई हैं पर कुछ ऐसी हैं जो बिलकुल निर्मूल तो नहीं हो पाईं फिर भी बहुत घटगई हैं।

१-विधवा या विधुर-अकाल मरणों में एकदम कमी होने से विधवा विधुर बहुत ही कम होते हैं।

२-झगड़े-मामूली बातचीत के झगड़े रह गये हैं वे भी बहुत कम। मारपीट के झगड़े तो प्रायः सुने ही नहीं जाते।

३-बीमार-बहुत कम आदमी बीमार होते हैं।

४-चाय-चाय का रिवाज बहुत घट गया है। कभी कहीं कोई औषध के रूप में कभी कभी लेता है। व्यसन किसी को नहीं है।

५-पहरेदार-चोरों के न होने से पहिरेदार करीब करीब हैं ही नहीं। बहुत ही महत्वपूर्ण स्थानों में एक-एक दो-दो पहिरेदार रहते हैं।

६-भाषाएँ और लिपियाँ-पहिले ऊटपटांग या अनियमित सैकड़ों भाषाएं थीं पर अब दुनिया में एक ही मानवभाषा और मानव-लिपि चलती है। हां! शीघ्र लेखन की संक्षिप्त लिपि अवश्य है तथा विशेष प्रसंग के लिये सांकेतिक भाषा भी।

७-वकील-न्यायालय की जटिलताएँ न होने से वकील अब बहुत कम हो गये हैं।

८-वैयक्तिक नौकर-व्यक्तिगत या घरू कामों के लिये अब नौकर नहीं रक्खे जाते। सब स्वावलम्बन से काम लेते हैं। इसके सिवाय अब घरू काम भी बहुत कम रह गये हैं। क्योंकि

सार्वजनिक भोजनालय तथा मशीनों ने घरू काम बहुत कम कर दिये हैं। वृद्ध-नगर में तथा बहुत असाधारण व्यक्तियों के घरों में सरकार की अनुमति से घरू काम के लिये नौकर--या सहयोगी--मिलते हैं।

९ असत्य वचन-झूठ प्रायः लोग बोलते ही नहीं। अजानकारी आदि से कभी किसी के मुँह से झूठ निकल जाय तो बात दूसरी है।

१० तलाक-वैवाहिक सम्बन्ध जीवन भर निभाया जाता है। लाख में एकाध दम्पति के तलाक की बारी आती है।

२२—क्या क्या बढ़ा

१ शालाएँ—अब हर एक गांव में पाठशाला जरूर है और हर एक बालक और बालिका को शिक्षण लेना पड़ता है।

२ वाचनालय—हर एक गांव में हैं और बड़े व्यवस्थित हैं।

३ पुस्तकें--पाठकों की संख्या बढ़ जाने से पुस्तकों का प्रकाशन काफी होता है। हर एक घर में एक छोटासा पुस्तक भंडार मिलेगा।

४ यातायात—आने जाने के साधन खूब बढ़ गये हैं। हर एक गांव पक्की सड़क के द्वारा दूसरे गांवों से जुड़ा हुआ है इसी प्रकार ट्राम से भी जुड़ा हुआ है। रेलें और हवाई जहाज खूब बढ़ गये हैं। नदियों के द्वारा भी यातायात बढ़ गया है।

५ टेलीफोन--गांव गांव में हैं।

६ रेडियो--घर घर में हैं।

६ फर्नीचर—हर एक घर में दो तीन मेजें चार पांच कुर्सियाँ, दो तीन बेंचे, एकाध अलमारी और तीन चार पलंग जरूर होते हैं।

८ प्रकाश—गांवों की भी सड़कों पर बिजली की बत्तियाँ हैं और घरों में भी हैं।

९ बिजली—कारखानों, घरू मशीनों, रेल ट्राम, प्रकाश आदि के सभी काम बिजली से होते हैं इसलिये बिजली खूब बढ़ गई है।

१० यंत्र—घर घर में मशीने हैं।

११ स्वच्छता—घर, सड़कें, खेत, जानवरों के स्थान सब साफ हैं।

१२ बगीचे—हर एक गांव में एक न एक बगीचा होता ही है।

१३ सिनेमा—गांव गांव में पहुँचे हैं।

१४ ललित कलाएँ--हर एक आदमी को काफी आराम मिलता है इसलिये गाना बजाना नृत्य चित्र आदि ललित कलाओं का खूब विकास और प्रसार हुआ है।

१५ खाद्य—अन्न फल और दूध की उत्पत्ति खूब बढ़ गई है।

१६ वस्त्र--अब कोई फटे कपडे या चिथड़े पहिने नहीं रहता।

१७—घर--घरों की संख्या तो विशेष नहीं बढ़ी है पर उनका परिमाण बढ़ गया है। अब हर एक कुटुम्ब को अच्छा बड़ा मकान मिलता है।

१८ जानकारी--लोगों की जानकारी खूब बढ़ गई है।

१९ संयम--ईमानदारी, सत्यवचन, इन्द्रिय-विजय, शान्ति, विनय आदि संयम हर एक में बढ़ गया है।

२० सभ्यता--अतिथि सत्कार, शिष्टाचार, कृतज्ञता आदि गुण भी खूब बढ़े हैं।

२१ कर्मठता--श्रम-प्रतिष्ठा, वीरता, निर्भयता आदि गुण भी खूब बढ़े हैं इससे मनुष्य खूब कर्मशील बन गया है। आलसी और कामचोर

व्यक्ति अब ढूंढने से मुश्किल से मिलेंगे वे भी बहुत थोड़ी मात्रा में।

२२ सौन्दर्य--शरीर अब बहुत सुडौल और सुन्दर होता है। पुरानी दुनिया सरीखे बदसूरत आदमी तो कहीं दिखाई ही नहीं देते।

इस प्रकार मानव जीवन को सुखी करने वाले अनेक गुण और साधन बढ़ गये हैं।

ऐसा है यह नया संसार।

उपसंहार

नये संसार का यह ऐसा चित्र है जिसे कसौटी बनाकर वर्तमान परिस्थिति की समीक्षा करना चाहिये और जहां जो कमी मालूम हो वहां उसकी पूर्ति चाहिये। आशा यह की गई है कि सौ दो सौ वर्ष के भीतर इस संसार की सुधारणा नये संसार सरीखी हो जाय। होने को तो यह भी हो सकता है कि किसी किसी बात में खासकर वैज्ञानिक क्षेत्र में-आज से सौ वर्ष बाद का जमाना नये संसार में चित्रित जमाने से भी आगे बढ़ जाय, फिर भी असली कसोटी मनुष्य मनुष्य के बीच का पारस्परिक सहयोग सम्बन्ध आदि है और है उसी सर्वकल्याणकर सामाजिकता को कसौटी बना कर मनुष्यमात्र का आध्यात्मिक विकास। यह विकास ही नये संसार का वास्तविक चिन्ह है। सत्यामृत में मुख्य सन्देश यही है कि मानव जगत को इस नये संसार के रूप में परिणत किया जाय।

सत्यामृत का उपसंहार

सत्यामृत का दूसरा नाम मानव धर्म शास्त्र है। और यहां धर्म शास्त्र का मतलब तनिक व्यापक है इसमें उन सब कर्तव्यों नीतियों और मानसशुद्धि का समावेश होता है जो मनुष्य की आध्यात्मिक सामाजिक राजनैतिक आर्थिक समुन्नति के लिये जरूरी है। धर्मशास्त्र का अर्थ ईश्वर आदि के गीत गा लेना या कुछ रीतिरिवाजों या नियमोपनियमों का पालन कर लेना नहीं है।

सत्यामृत का अन्तिम अध्याय नया संसार है। कर्तव्याकर्तव्य के निर्णय में सत्यामृत के पहिले सत्रह अध्यायों में अगर कहीं अस्पष्टता हो तो 'नया संसार' शीर्षक अठारहवें अध्याय से उस की जांच कर लेना चाहिये। सत्यामृत के उन अध्यायों में वर्तमान परिस्थिति का भी कुछ ध्यान रक्खा गया है किंतु परिस्थिति बदल जाने पर उससे आगे बढ़ना चाहिये। और आज के रूप से चिपट कर न रहना चाहिये। हो सकता है कि आज जो परम सुधार हो, कल वही पिछड़ जाय और मनुष्य उससे आगे निकल जाय तो उस समय बाह्य विधान से चिपटे रहना ठीक नहीं है भले ही वह सत्यामृत में लिखा हो। ऐसी परिस्थिति में नये संसार को कसौटी बनाना चाहिये और दुनिया अगर नये संसार के चित्र से भी जब आगे बढ़ जाय तो सत्यामृत को कृतकृत्य समझ कर नई परिस्थिति का स्वागत करना चाहिये।

सत्यामृत के पिछले प्रकरणों में से उदाहरण के लिये कुछ खास खास प्रकरणों का उल्लेख कर दिया जाता है जिससे पारिस्थितिक दृष्टि से उस पर विचार करने में सुभीता हो।

योग—आज की दुनिया में भक्तियोग वगैरह को भी स्थान है भले ही वह अपवाद रूप में ही क्यों न हो। पर आदर्श तो कर्मयोग ही है इसलिये विकास करते करते एक ऐसी अवस्था

आ सकती है जब भक्तियोग आदि को अपवाद रूप में भी जगह न रहे।

सर्वधर्म समभाव—जिस देश में बहुत धर्म हैं या पुराने धर्मों से, सम्प्रदायों से, लोग चिपटे हुए हैं वहां विवेकपूर्ण सर्वधर्म समभाव भक्तिमय या आदरमय होगा। पर समाज का विकास होने पर उपेक्षामय सर्वधर्मसमभाव श्लाघ्य हो सकता है। मन्दिर मसजिद गिरजाघर उठाये जा सकते हैं।

अवस्था समभाव—इसका मतलब अन्याय और दुःख के सामने सिर झुकाये रहने में नहीं है किन्तु इनके हटाने के लिये आये हुए संकटों में स्थिर रहने के लिये—कभी निराश न होने के लिये—है। नाथ्यभावना आदि दैववाद के पोषण के लिये नहीं है।

व्यक्ति देव—आज जो उपयुक्त या उपयुक्तमाय हैं आगे चलकर वे ईषदुपयुक्त या अनुपयुक्त तक हो सकते हैं। ऐसी हालत में पुराने नामों से—भले ही वे सत्यामृत में आये हों—चिपटकर रहना अच्छा नहीं।

अतथ्य—आज जितना अतथ्य सहा जा सकता है भविष्य में उतना न सहा जायगा। सत्य के साथ तथ्य की भी मात्रा बढ़ जायगी।

दुर्जन, अतिग्रह—आज ये उपपाप हैं पर नये संसार में इनकी गिनती पाप में—डकैती चोरी में हो जायगी।

दान—दान--खास कर धनदान--आज जरूरी धर्म है पर नये संसार में वह अनावश्यक हो जायगा।

विवाह पद्धति—विवाह पद्धति में नर-नारी समभाव की दृष्टि है फिर भी थोड़े बहुत अंश में नर नारी का कार्यक्षेत्र अलग अलग मान कर सप्तपदी आदि का वर्णन हुआ है पर नये संसार में इस में परिवर्तन की जरूरत होगी। दाम्पत्य की बहुत सी सूचनाओं की नये संसार में जरूरत न रहे यह भी हो सकता है।

अर्थ विभाजन—नये संसार में अर्थ-विभाजन के नियम और भी अच्छे हो सकते हैं।

इस प्रकार और भी प्रकरण ऐसे हो सकते हैं जिनकी उपयोगिता नये संसार में नहीं रहेगी या बहुत कम रहेगी पर जब तक नया संसार नहीं आया है तब तक उनका काफी उपयोग है और उनसे आज के मानव समाज की प्रगति हो सकती है प्रगति की राह में आगे बढ़ जाने पर पीछे के विधानों से चिपटे रहने की जरूरत नहीं है।

मानव-धर्मशास्त्र दुनिया के धर्मशास्त्रों का विरोध नहीं करता फिर भी वह किसी में अन्धश्रद्धालु होने को पसन्द नहीं करता फिर चाहे वह वेद कुरान हो या म० कार्ल मार्क्स का सन्देश हो। देशकाल के अनुसार मानव के अधिक से अधिक हित की कोशिश करना चाहिये। यह न भूल जाना चाहिये कि धर्मशास्त्र हमारे लिये है हम धर्मशास्त्र के लिये नहीं हैं। और सत्यामृत को भी इसी कसौटी पर कसते रहना चाहिये।
